आचार्य कुन्दकुन्द देव विरचित

कुन्दकुन्दभारती

[आचार्य कुन्दकुन्द के समस्त प्रमाणिक ग्रन्थों का हिन्दी अर्थ सहित संकलन]

पं. (डॉ.) पन्नालाल साहित्याचार्य पी एच. डी.

निर्देशक - श्री वर्णी दिगम्बर जैन गुरुकुल, पिसनहारी की मढिया, जबलपुर

प्रकाशक

समस्त दिगम्बर जैन समाज खेकड़ा (मेरठ) उ.प्र.

प्रथमावृत्ति-१९७० द्वितीयावृत्ति-महावीर जयन्ती १९९२

प्रकाशकीय

हमारे पूर्व पुण्य के उदय से पूज्य 108 उपाध्याय श्री ज्ञानसागर जी महाराज का आगमन खेकडा नगर में हुआ। उनकी पावन प्रेरणा से ही समाज में छायी हुई उदासी ने अपने पैर समेटे। नगर के आबालवृद्ध ने चेतनता का अनुभव किया। उनकी उसी प्रेरणा का परिणाम था कि हम अनुभवविहीन होते हुए भी जीवन की दिशा को परिशुद्धता की ओर ले जाने वाले चिरस्मरणीय कार्यक्रम करने में सक्षम हो सके।

पूज्य उपाध्याय श्री का आशीष् ही हमारे पुण्योदय एवं सफलता के लिये पर्याप्त सिद्ध हुआ। नही तो हम में से कितनों ने इस छोटे से नगर में इतने अधिक विद्वानों का समागम देखा ही नहीं था। उनका समागम मात्र ही नहीं बल्कि उनके समीप बैठने का, उनसे धर्मामृत पान करने का समय भी हम सभी को मिला। इस समारोह ने तो हमारे दिलों में धर्म के प्रति अप्रतिम स्नेह और आस्था को जन्म दिया है, वह हमें आगे बढाने में सहकारी हो, ऐसी भावना करते है। जिन कार्यक्रमों की दिल पर इतनी अधिक छाप है उसके विषय कुछ लिखने को कलम तैयार होना चाहती है, इसलिये उसकी अत्यल्प सूचना न देने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहा हू।

दिनांक 23 अप्रेल 1989 से 30 अप्रेल 1989 तक में हुए धार्मिक कार्यक्रमों ने संक्षिप्त जानकारी इस प्रकार है, जो कि हमें आज भी नव-नूतन बनी हुई है -

उत्तर भातरस्थ मेरठ मण्डलान्तर्गत धर्मनगरी खेकडा (उ प्र) में परम पूज्य आध्यात्मिक सन्त उपाध्याय श्री 108 ज्ञानसागर महाराज के पावन सानिध्य में दिनाक 23 अप्रैल 1989 को प्रात जिनवाणी की भव्य शोभायात्रा दिगम्बर जैन बडा मन्दिर से प्रस्थान होकर नगर परिक्रमा करके जिनमन्दिर आयी। अनन्तर श्री सुखमालचन्द जैन द्वारा ध्वजारोहण, श्री जिनेन्द्र कुमार जैन द्वारा मगलकलश स्थापन, श्री श्रेयान्सकुमार जैन द्वारा दीपप्रज्वलन, श्री ईश्वरचन्द्र सुभाषचन्द जैन खेकडा द्वारा भक्तिपूर्वक उपाध्याय श्री के करकमलों में जिनवाणी भेंट की गई और श्री राकेशकुमार जैन द्वारा श्रुतदेवता पूजन हुई। व्याख्यान वाचस्पति डॉ श्रेयान्स कुमार जैन बडोत के द्वारा श्रुतभक्ति, आचार्यभक्ति पूर्वक आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी द्वारा रचित प्रवचनसार ग्रन्थराज का मंगलाचरण करके चारित्रचूलिकाधिकार की वाचना प्रारम्भ हुई। परम पूज्य उपाध्याय श्री 108 ज्ञानसागर महाराज का मंगल प्रवचन हुआ। उपाध्याय श्री ने श्रुतावतारकथा के आश्रयपूर्वक श्रुत की महत्ता बतलायी एव आचार्य श्री कुन्दकुन्दस्वामी की देन और चारित्राधिकार की उपयोगिता पर विशेष प्रकाश डाला।

तदनन्तर मध्याह्न दो बजे से वाचना हुई। प्रवचनसार चारित्राधिकार की वाचना 23 अप्रैल से 27 अप्रैल तक प्रात और दोपहर एक-एक घण्टे तक चलती रही। प्रमुख वाचनाकार डॉ दरबारीलाल जी कोठिया एव डॉ श्रेयान्सकुमार जैन बडौत रहे। प्रतिदिन प्रात और दोपहर आगम विषयक शकाओं का समाधान डॉ दरबारीलाल जी कोठिया, डॉ लालबहादुर शास्त्री तथा उपाध्याय श्री ज्ञानसागर महाराज ने किया। श्रोतावर्ग ने वर्तमान

विवादास्पद विषयों से सम्बन्धित शंकायें उपस्थित की जिनका यथोचित समाधान पाकर श्रोतावर्ग अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ। रात्रि में गणमान्य विद्वानों के सैद्धान्तिक प्रवचन होते रहे।

तत्त्वजिज्ञासु पुरुष एवं महिला वर्ग इतना अधिक जागरुक रहा कि द्रव्यसंग्रह के प्रवचन के लिये प्रात 5-30 बजे मन्दिर भर जाता रहा। प्रतिदिन प्रौढवर्ग के द्रव्यसंग्रह और छहढाला पर डॉ श्रेयान्सकुमार जैन के प्रवचन हुए तथा बालक-बालिकाओं को ब्र बहिन सुनीता शास्त्री, ब्र बहिन अनिता शास्त्री, पं दीपचन्द छाबडा व पं राजकुमार जैन बडौत ने नैतिक शिक्षा, छहढाला आदि का शिक्षण दिया। दो सौ विद्यार्थियों ने शिक्षण प्राप्त किया।

दिनांक 28 अप्रैल से 30 अप्रैल तक विशेष कार्यक्रम आयोजित किये थे, जो निम्न तरह रहे-

28 अप्रैल 1989 को प्रात 8 बजे जिनवाणी की भव्यरथयात्रा अनेकों हाथी-घोडों एवं कलात्मक झांकियों सहित, बैण्ड वादनों की मधुरिम संगीत ध्वनि तथा जैन अजैन विशाल जनसमूह के साथ दिगम्बर जैन बडा मन्दिर से आध्यात्मिक संगोष्ठी स्थल जैन इण्टर कालेज के विशाल पाण्डाल में पहुंची। रथ में जिनवाणी सहित श्री राजकुमार जैन, खेकडा एवं रथ में सारथी पद पर श्री राकेशकुमार जैन निवासी खेकडा आसीन थे। जिनवाणी की भव्य रथयात्रा के बीच आध्यात्मिक सन्त उपाध्याय श्री 108 ज्ञानसागर महाराज, क्षुल्लक श्री 105 वैराग्यसागर महाराज चल रहे थे। उस समय जय-जयकार के नाद से आकाश मण्डल गुंजायमान हो रहा था। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि इन्द्रगण आकाशमण्डल से जिनवाणी की प्रभावना देख प्रसन्न हो रहे हों। खेकडा के प्रत्येक वर्ग ने शोभायात्रा में स्वागतद्वार बनाये एवं सत्कार किया। प्रत्येक प्रतिष्ठान पर जैन ध्वजा फहरा रही थी। अनन्तर श्री प्रदीपकुमार जैन, खेकडा के द्वारा ध्वजारोहण, श्रीमती शशिबाला धर्मपत्नी श्री अरुणकुमार जैन निवासी बडौत द्वारा उद्घाटन और श्री राकेशकुमार जैन खेकडा के कर कमलों द्वारा दीप प्रज्वलन होने पर उपाध्याय श्री 108 ज्ञानसागर महाराज के मंगल आशीर्वाद पूर्वक संगोष्ठी का प्रथम उद्घाटन सत्र पूर्ण हुआ।

द्वितीय सत्र दोपहर 2 बजे डॉ लालबहादुर शास्त्री देहली की अध्यक्षता में संगोष्ठी प्रारम्भ हुई। डॉ दरबारीलाल कोठिया ने प्रवचनसार की वाचना करते हुए चारित्र की महत्ता पर विशेष प्रकाश डाला। डॉ जयकुमार जैन मुजफ्फरनगर ने निश्चय-व्यवहार पर शोध पत्र प्रस्तुत किया। ब्र श्री राकेश जैन जबलपुर ने "दसण" शब्द पर विशेष चिन्तन प्रस्तुत किया और समस्त विद्वानों को दंसण शब्द के यथार्थ भाव को समझने के लिय प्रेरित किया। अनन्तर श्री पं सागरमल जैन विदिशा का निश्चय-व्यवहार पर सैद्धान्तिक ओजस्वी प्रवचन हुआ। ब्र अनिता शास्त्री सोनागिर ने बडी सुन्दर शैली में आचार्य कुन्दकुन्द की महत्ता बतलायी तथा आंग्लभाषा परक भजन से विशाल श्रोताओं को तालियों की गडगडाहट करने के लिए बाध्य कर दिया। बाद में योगाचार्य श्री फूलचन्द जैन छतरपुर ने विभिन्न योगासन दिखलाकर शरीर स्वस्थता के तरीके बतलाये। शरीर की स्वस्थता आत्मानुभव के लिए आवश्यक है। श्रोतागण बडी भक्ति और उत्साह के साथ जिनवाणी को हृदयंगम कर रहे थे।

रात्रिकालीन सत्र डॉ दरबारीलाल जी कोठिया की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ जिसमें सर्वप्रथम डॉ श्रेयान्सकुमार जैन बडौत ने छहढाला की प्रथम ढाल पर प्रवचन किया। डा कपूरचन्द जैन ने "कुन्दकुन्द साहित्य

में पुद्गलद्रव्य की अवधारणा" शोध पत्र प्रस्तुत किया। डा फूलचन्द जैन वाराणसी ने वर्तमान में प्राचीन पाण्डुलिपियों के प्रकाशन और प्रचार पर जोर दिया। डा रमेशचन्द जैन ने श्रुत के महत्व को बतलाते हुए आचार्य कुन्दकुन्द साहित्य की विशेषताओं पर प्रकाश डाला। पं श्रीयांसकुमार जैन किरतपुर ने कहा काम, बन्ध, भोग कथाओं से बचकर धर्मकथा की प्रवृत्ति बनाना चाहिए। अध्यक्षीय भाषण में डा कोठिया ने आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा प्रतिपादित निमित्त-उपादान की मीमांसा प्रस्तुत की।

दिनांक 29 अप्रैल को प्रात कालीन सत्र श्री पं सागरमल जैन की अध्यक्षता में प्रारम्भ हुआ। डा रमेशचन्द जैन बिजनौर ने वाचना की। डा अशोककुमार जैन पिलानी ने अनेकान्त की मीमांसा प्रस्तुत की। अनन्तर श्री पं शिवचरणलाल जैन मैनपुरी ने सर्वज्ञता और केवलज्ञान पर गम्भीर विचार व्यक्त किये। क्रमबद्धपर्याय का सहेतुक निराकरण किया सभी समाज ने प्रवचन की महती सराहना की। अध्यक्षीय भाषण श्री पं सागरमल जैन विदिशा ने दिया अनन्तर उपाध्याय श्री ने बडा सुन्दर वैराग्योत्पादक मंगल प्रवचन दिया समाज ने अमृतपान किया।

मध्याह्न सत्र के अध्यक्ष श्री पं शिवचरणलाल जैन मैनपुरी मनोनीत किये गये। वाचनाकार डा श्रेयान्सकुमार जैन बडौत, श्री पं सागरमल जैन विदिशा, पं महेन्द्रकुमार जैन, डा सुरेन्द्रकुमार जैन, डा कपूरचन्द जैन के व्याख्यानों के बाद पं नीरज जैन का जिनवाणी महिमा पर बडा प्रभावी वक्तव्य हुआ। विशाल जनसमूह ने करतलध्वनि से स्वागत किया। अध्यक्षीय भाषण श्री पं शिवचरणलाल जैन का हुआ जिन्होंने निमित्त-उपादान की मैत्री पर महत्वपूर्ण प्रकाश डाला। रात्रिकालीन सत्र श्री पं नीरज जैन सतना की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ श्री पं विजयकुमार जैन, महावीर जी का छहढाला पर प्रवचन हुआ अनन्तर श्री पं शिवचरणलाल जैन ने "नमामि शान्तिजिनवरं स्तोत्र" पाठ किया। अनन्तर श्री पं सागरमल जैन विदिशा का श्रोताओं को मन्त्रमुग्ध करने वाला प्रभावी व्याख्यान हुआ। अध्यक्षीय भाषण के बाद सभा सम्पन्न हुई। तत्पश्चात् रात्रि 9-30 बजे से 11 बजे तक स्थानीय कलाकारों द्वारा एक सुन्दर नाटक सम्पन्न हुआ। बाद में श्री कौशिक एण्ड पार्टी मुजफ्फरनगर द्वारा मुनि ब्रह्मगुलाल के वैराग्य दृश्य को दर्शाया गया।

दिनांक 30 अप्रैल को प्रात कालीन सत्र श्री पं महेन्द्रकुमार जैन की अध्यक्षता में प्रारम्भ हुआ डा श्रेयान्सकुमार जैन बडौत ने प्रवचनसार की वाचना की। डा लालबहादुर शास्त्री का निश्चय-व्यवहार के ऊपर विशेष व्याख्यान हुआ। निमित्त-उपादान विषय पर श्री पं शिवचरणलाल जैन मैनपुरी का महत्वपूर्ण व्याख्यान हुआ। अनन्तर श्री पं नीरज जैन सतना ने णमो लोए सव्वसाहूणं को स्पष्ट किया। उन्होंने कहा कि नय वस्तु के जानने के साधन है, लड़ने के साधन नहीं। जिनवाणी के चारों अनुयोगों की उपादेयता पर विशेष बल दिया देव, शास्त्र, गुरु की गरिमा पर सुन्दर व्याख्यान दिया। अनन्तर उपाध्याय श्री 108 ज्ञानसागर महाराज ने सैद्धान्तिक विषयों का आलम्बन लेकर प्रभावी प्रवचन किया। जिससे आर्षमार्ग पर समाज चलने को कटिबद्ध हुई। अनन्तर बैकड़ा के समस्त वर्गों के प्रतिनिधियों ने बाजार से जुलूस रूप में पाण्डाल में आकर उपाध्याय श्री एवं क्षुल्लकश्री के चरणों में बडी भक्तिपूर्वक चातुर्मास हेतु श्रीफल समर्पित किये।

मध्याहन में प्रवचनसार की वाचना के अनन्तर डा दरबारीलाल जी का शास्त्रीय व्याख्यान हुआ। योगाचार्य फूलचन्द का जैन योग और ध्यान के महत्व पर प्रवचन हुआ श्री पं दरबारीलाल कोठिया का अध्यक्षीय भाषण हुआ।

रात्रिकालीन समापन सत्र में छहढाला के शिक्षण से प्रारम्भ हुए सत्र में डा कस्तूरचन्द जैन श्री महावीर जी और श्री पं सागरमल जैन के प्रवचन के बाद समागत सभी गणमान्य विद्वानों का विशेष सम्मान व आभार दिगम्बर जैन समाज की ओर से किया गया।

इस कार्यक्रम ने हमारे ज्ञान का वर्धन तो किया ही, साथ ही साथ हमें अपने द्रव्य एवं समय का सदुपयोग करने की दिशा में भी अमूल्य ज्ञान प्राप्त कराया। उस समय प्राप्त हुई आय का सदुपयोग करने का निर्णय इसी के आधार पर लिया गया। विद्वानों के बीच इसकी चर्चा की। सुझाव मिला कि जिस प्रवचनसार की वाचना यहां हुई है उसका ही पुनर्मुद्रण आधुनिक सम्पादन के साथ क्यों न कराया जाए। विचार ने निर्णय का रूप भी लिया। विद्वानों को कार्य करने के निर्देश भी दे दिये गये। सुदूर दक्षिण से तथा उत्तर भारत में प्राप्त प्रतियों के आधार पर उसका सम्पादन कार्य होना था। लगभग एक वर्ष के अन्तराल में यह कार्य सम्भव हो सका।

सम्पादन हो जाने के बाद उसके पुन रूपान्तरण की आवश्यकता महसूस की गई। रूपान्तरण का कार्य डॉ जयकुमार जैन को सौपा गया। [illegible]। फलस्वरूप वह अनुवाद ही पूर्ण नहीं हो सका।

पुन अनुवाद करने का निश्चय किया गया और अब का कार्य ब्र राकेश जैन जबलपुर को सौपा गया। उन्होंने अपनी व्यस्तता दिखाते हुए लगभग पांच माह में अनुवाद पूर्ण किया। अनुवाद की पाण्डुलिपि की प्रतियां आचार्य 108 श्री विद्यासागर जी, उपाध्याय 108 श्री ज्ञानसागर जी तथा डॉ श्रेयान्सकुमार जैन बडौत के पास भेजी गई। परन्तु इस अनुवाद को कुछ परम्परित कमियों के कारण प्रकाशित कराने का मानस तैयार न हो सका।

समय यूं ही व्यतीत हो रहा था। अत उपाध्याय श्री 108 ज्ञानसागर जी के सानिध्य में पुन बैठकर निर्णय लिया कि "यदि प्रवचनसार नहीं छप पा रहा है तो क्यों न कोई उन्हीं आचार्य का अन्य ग्रन्थ मुद्रित कर दिया जाये"। सुझाव समयोचित था। अत कुन्दकुन्दभारती का नाम प्रस्तावित किया गया। यह ग्रन्थ पूर्णत आचार्य कुन्दकुन्द से प्रसूत है और इसकी प्रथम आवृत्ति आज से लगभग 22 वर्ष पूर्व प्रकाशित हुई थी। अत आज अनुपलब्ध भी हो रहा था तथा इसकी आवश्यकता स्वाध्यायी जनों द्वारा निरन्तर होती रही। इसलिये इसके प्रकाशन का ही निर्णय सर्वमान्य किया गया।

हमें खुशी है कि इस ग्रन्थ को प्रकाशित करने की सहर्ष स्वीकृति डॉ पन्नालाल जी साहित्याचार्य ने दी।

और तभी से उसका प्रकाशन का कार्य आरम्भ कर दिया गया। बीच में क्षेत्र का अन्तराल होने के कारण समयोचित त्वरितता न मिल सकने से इसे भी लगभग दो माह में प्रकाशित कर पा रहे हैं।

ग्रन्थ को पूर्व प्रकाशित रूप में ही रखा गया है। इसमें किसी प्रकार का परिवर्तन या सम्वर्द्धन नहीं किया गया है। मात्र इसके कि जहां प्रेस सम्बन्धी अशुद्धियां रह गयीं थीं, उन्हें दूर करने का प्रयत्न किया गया है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन ने यथेष्ट सावधानी रखी गई है परन्तु अल्पज्ञ होने के कारण अशुद्धियां रह जाना संभव है। अत विद्वानों से विनय करते हैं कि वह रोषपरित्याग कर हमें उत्साहित करने का प्रयास करें।

इसके प्रकाशन में हमें अनेक विद्वानों के सुझाव तथा सहयोग मिला। सारी समाज की ओर से उनका आभार व्यक्त करते हैं। पं पन्नालाल जी का आभार मानने के लिये तो शब्द भी नहीं हैं जिन्होंने कि समाचार पाते ही अपनी स्वीकृति का पत्र हमें प्रेषित कर दिया। साथ आभार मानते हैं श्रुत भण्डार प्रकाशन समिति फलटन का, जिनकी मुद्रित प्रति से ही इसकी पुनर्मुद्रण की व्यवस्था बन सकी।

समाज के उदार दानदाताओं से जो राशि हमें प्राप्त हुई थी। उसी द्रव्य से हम इस ग्रन्थराज को प्रकाशित कर रहे हैं। अत उनका भी आभार मानना उचित होगा। हम अपेक्षा रखते है कि उनका सहयोग हमें समाज के प्रत्येक कार्य में इसी तरह मिलता रहेगा।

इस समय पूज्य उपाध्याय श्री 108 ज्ञानसागर जी एव उनके संघ को भूल पाना असभव होगा, कारण उनकी ही प्रेरणा से यह कार्य सम्पन्न हो सका है। हमें तो कभी आशा ही नहीं थी कि हम इस प्रकार से जिनवाणी मां की सेवा कर सकेंगे। यह मात्र उनके शुभाशीष् का परिणाम है, जो आपके सामने उपस्थित होने का साहस समाज में आ सका। अत उनके चरणकमलों में नमोऽस्तु करते हुए विनय करते हैं कि उनका शुभाशीष् एवं पावन प्रेरणा सारी समाज को निरन्तर मिलती रहे। और हम सभी उनके बताये मार्ग के अनुसार देव, शास्त्र, गुरु की सेवा-साधना तथा प्रभावना में तत्पर हो सकें।

अन्त में समस्त समाज के व्यक्तियों का भी आभार व्यक्त करता हूं कि जिससे यह कार्य निर्विघ्न पूर्ण हो सका। तथा अपेक्षा रखते हैं कि हमें उन्नति करने के लिए समाज के ज्येष्ठ एवं सम्भ्रान्तजनों का निर्देश मिलता रहेगा। व्यक्तिश नाम लिखने में भूल की अथवा अक्रम की सभावना होने के कारण हम यहां सभी का आभार एक साथ एव एक शब्द में ही स्वीकार करते हैं।

धन्यवाद,

खेकडा (उ प्र)
13-3-1992

समस्त दिगम्बर जैन समाज,
खेकडा (मेरठ) उ प्र.

***
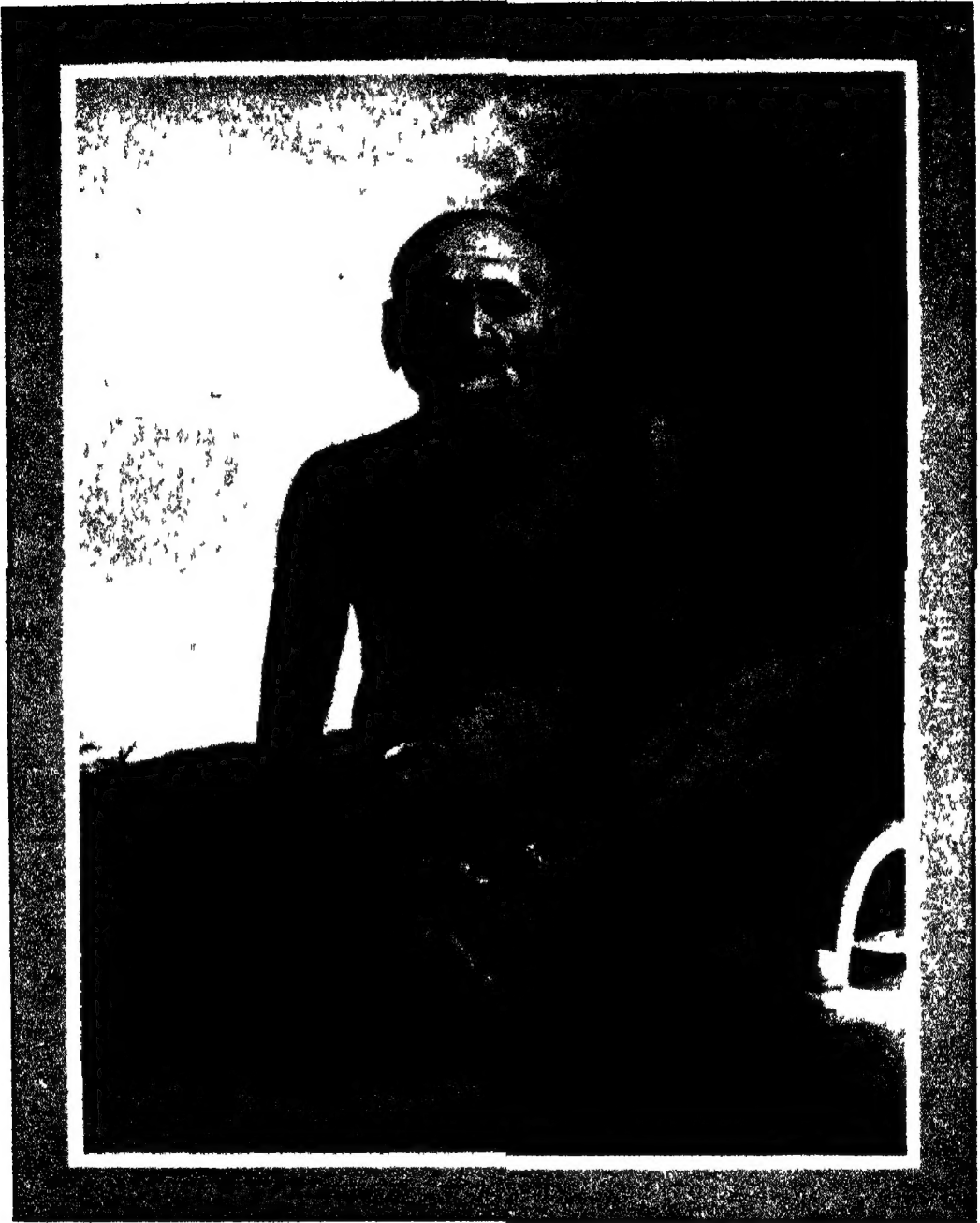
चारित्र चक्रवर्ती १०८ आचार्य श्री शान्तिसागर जी महाराज

आचार्य शांति सागर महाराज

आचार्य सूर्य सागर महाराज
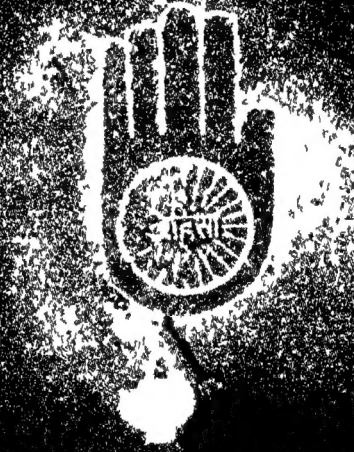
आचार्य विजय सागर महाराज

आचार्य सुमति सागर महाराज

आचार्य विमल सागर महाराज

प्रस्तावना

कुन्दकुन्दभारती का यह संस्करण

एक समय था कि जब लोगों की धारणा शक्ति अधिक थी, जिसके कारण वे सूत्ररूप संक्षिप्त वचन को हृदयगत कर उसके द्वारा संकेतित समस्त विषय से परिचित हो जाते थे। उस समय जो शास्त्ररचना हुई वह सूत्ररूप में हुई। भूतबलि और पुष्पदन्त महाराज ने जो षट्खण्डागम की रचना की वह प्राकृत के सूत्रों में ही थी। अधिक विस्तार हुआ तो प्राकृत गाथाओं की रचना शुरु हुई। सूत्ररचना का यह क्रम न केवल धर्मशास्त्र तक सीमित रहा किन्तु न्याय, व्याकरण, साहित्य, योगशास्त्र और कामशास्त्र तक की रचनाएं सूत्ररूप में हुई। धीरे-धीरे जब लोगों की धारणाशक्ति कम होने लगी तब सूत्रों के ऊपर वृत्तियों और गाथाओं के ऊपर चूर्णियों की रचना शुरु हुई। समय ने रुख बदला जिससे वृत्तिग्रन्थों पर भाष्य रचनाएं होने लगीं। न्याय, व्याकरण आदि समस्त विषयों पर भाष्य लिखे गये। ये भाष्य विस्तृत टीकारूप में रचे गये जिनमें उक्त, अनुक्त और दुरुक्त विषयों की विस्तृत चर्चाएं सामने आईं। उस समय की जनता भी इस भाष्यरूप टीकाओं को पसन्द करती थी जिससे उनका प्रसार बढ़ा। यह भाष्य रचनाओं का क्रम अधिकतर विक्रम संवत् १००० तक चलता रहा। उसके बाद लोगों की व्यस्तता बढ़ने लगी जिससे भाष्य रचनाओं की ओर से उनकी रुचि घटने लगी। वे मूलग्रन्थकर्ता के भाव को संक्षेप में ही समझने की रुचि रखने लगे। लोगों की इस रुचि में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई जिसके फलस्वरूप आज अध्ययनकर्ताओं का मन टीका और भाष्य ग्रन्थों से हटकर मूलकर्ता के भाव के प्रति ही जिज्ञासु हो उठा है।

कुन्दकुन्दस्वामी की अल्पकाय रचनाओं पर अमृतचन्दसूरि ने वैदुष्यपूर्ण टीकाएं लिखीं। जयसेनाचार्य, पद्मप्रभमलधारी देव और श्रुतसागर सूरि ने भी इन पर काम किया है। परन्तु आज का मानव अन्यान्य कार्यों में इतना अधिक व्यस्त हो गया है कि वह इन सब विस्तृत टीकाओं में अपना उपयोग नहीं लगाना चाहता वह संक्षेप में ही मूलकर्ता के भाव को समझना चाहता है। जैनसमाज में कुन्दकुन्द स्वामी के प्रति महान् आदर का भाव है, उनकी रचनाएं अमृत का घूंट समझी जाती हैं। जनता उनका रसास्वादन तो करना चाहती है पर उसके पास इतना समय नहीं है कि वह अधिक विस्तार में पड सके। फलत यह भाव उत्पन्न हुआ कि कुन्दकुन्द स्वामी के समस्त ग्रन्थों का एक संकलन संक्षिप्त हिन्दी अनुवाद के साथ तैयार किया जाय और उसे "कुन्दकुन्दभारती" नाम दिया जाय। यह भावना तब और भी अधिक रूप में प्रकट हुई जब कि स्वर्गीय पं जुगलकिशोर जी मुख्त्यार ने समन्तभद्र स्वामी का "स्तुतिविद्या" का काम मुझे सौंपते हुए यह लिखा कि मैं समन्तभद्र स्वामी के समस्त ग्रन्थों का एक संकलन "समन्तभद्र भारती" के नाम से निकालना चाहता हूं। मैंने श्री मुख्त्यार जी की आज्ञा शिरोधार्य कर स्तुतिविद्या का कार्य पूर्ण कर दिया। स्वयंभूस्तोत्र, युक्त्युशासन, देवागम तथा रत्नकरण्डश्रावकाचार पर उन्होंने स्वयं काम किया और वे जीवन के अन्त-अन्त तक इस कार्य में लगे रहे। समन्तभद्र के समस्त ग्रन्थों का संकलन समन्तभद्र भारती के नाम से वे निकालना चाहते थे पर साधनों की न्यूनता से वे एक संकलन नहीं निकाल सके। उन्हें जब जितना साधन मिला उसी के अनुसार वे प्रकीर्णक रूप से समन्तभद्र की रचनाओं को प्रकाशित करते रहे और यही कारण है कि वे प्रकीर्णक के रूप में सब ग्रन्थों को प्रकाशित कर गये हैं।

मुख्त्यार जी की समन्तभद्रभारती के प्रकाशन की भावना को देखकर मेरे मन में कुन्दकुन्दभारती के प्रकाशन की भावना उत्पन्न हुई। कालिदास ग्रन्थावली के नाम से प्रकाशित कालिदास के समस्त ग्रन्थों का एक संकलन भी मेरी उक्त भावना के उत्पन्न होने में कारण रहा है। उसी भावना के फलस्वरूप मैंने कुन्दकुन्द स्वामी के समस्त ग्रन्थों का संक्षिप्त अनुवाद कर भी लिया था परन्तु उसके प्रकाशन की काललब्धि नहीं आई इसलिये वह अनुवाद रखा रहा। अब श्री बालचन्द देवचंद जी शहा मंत्री, श्री चा च आचार्य शान्तिसागर दिगम्बर जैन जिनवाणी जीर्णोद्धार संस्था के सौजन्य से इसके प्रकाशन का सुअवसर आया है। इस संकलन में मैंने पूज्य वर्णी जी से प्राप्त विशिष्ट दृष्टि के आधार पर संकलन का क्रम इस प्रकार रक्खा है -

१ पंचास्तिकाय, २ समयसार, ३ प्रवचनसार, ४ नियमसार, ५ आष्टपाहुड, ६ बारसणुपेक्खा और ७ भत्तिसंगह।

इस संस्करण में पंचास्तिकाय, समयसार और प्रवचनसार की गाथाओं का चयन अमृतचन्द्र सूरिकृत संस्कृत टीका के आधार पर किया गया है। जयसेन सूरिकृत टीका में व्याख्यात विशिष्ट गाथाओं का उल्लेख टिप्पण में किया गया है। जो महानुभाव इन ग्रन्थों का विस्तार से स्वाध्याय करना चाहते हैं वे अलग से जिज्ञासा को पूर्ण कर सकते हैं और जो कुन्दकुन्द स्वामी की पवित्र भारती का पाठ करते हुए संक्षेप में उसका भाव जानना चाहते हैं वे इस संस्करण से लाभ उठावें।

आचार्यश्री कुन्दकुन्द

कुन्दकुन्दाचार्य और उनका प्रभाव

दिगम्बर जैनाचार्यों में कुन्दकुन्द का नाम सर्वोपरि है। मूर्तिलेखों, शिलालेखों, ग्रन्थप्रशस्तिलेखों एव पूर्वाचार्यों के संस्करणों में कुन्दकुन्द स्वामी का नाम बडी श्रद्धा के साथ लिया मिलता है।

मंगलं भगवान्वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्।।

इस मंगल पद्य के द्वारा भगवान् महावीर और उनके प्रधान गणधर गौतम के बाद कुन्दकुन्द स्वामी को मगल कहा गया है। इनकी प्रशस्ति में कविवर वृन्दावन का निम्नांकित सवैया अत्यन्त प्रसिद्ध है, जिसमें बतलाया गया है कि मुनीन्द्र कुन्दकुन्द-सा आचार्य न हुआ है, न है और न होगा -

जासके मुखारविन्दतैं प्रकाश भासवृन्द
स्याद्वाद जैन वैन इंद कुन्दकुन्द से।
तासके अभ्यासतैं विकास भेद ज्ञात होत
मूढ सो लखे नहीं कुबुद्धि कुन्दकुन्द से।
देत हैं अशीस शीस नाय इन्द चन्द जाहि
मोह मार खंड मारतंड कुन्दकुन्द से।
विशुद्धि बुद्धि वृद्धिदा प्रसिद्धा ऋद्धि सिद्धिदा
हुए न हैं न होंहिगे मुनिंद कुन्दकुन्द से।।

श्री कुन्दकुन्द स्वामी के इस जयघोष का कारण है उनके द्वारा प्रतिपादित वस्तुतत्त्व का, विशेषतया आत्मतत्त्व का विशद वर्णन। समयसार आदि ग्रन्थों में उन्होंने पर से भिन्न तथा स्वकीय गुण पर्यायों से अभिन्न आत्मा का जो वर्णन किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। उन्होंने इन ग्रन्थों में अध्यात्मधारा रूप जिस मन्दाकिनी को प्रवाहित किया है उसके शीतल एवं पावन प्रवाह में अवगाहन कर भवभ्रमण श्रान्त पुरुष शाश्वत शान्ति को प्राप्त करते हैं।

कुन्दकुन्दाचार्य का विदेहगमन

श्री कुन्दकुन्दाचार्य के विषय मे यह मान्यता प्रचलित है कि वे विदेह क्षेत्र गये थे और सीमंधरस्वामी की दिव्यध्वनि से उन्होंने आत्मतत्त्व का स्वरूप प्राप्त किया था। विदेहगमन का सर्वप्रथम उल्लेख करने वाले आचार्य देवसेन (वि सं दसवीं शती) हैं। जैसा कि उनके दर्शनसार से प्रकट है।

> **जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण।**
> **ण विबोहइ तो समणा कह सुमग्गं पयाणंति।। ४३।।**

इसमे कहा गया है कि यदि पद्मनन्दिनाथ, सीमन्धरस्वामी द्वारा प्राप्त दिव्यध्वनि से बोध न देते तो श्रमण - मुनिजन सच्चे मार्ग को कैसे जानते ?

देवसेन के बाद ईसा की बारहवीं शताब्दी के विद्वान् जयसेनाचार्य ने भी पंचास्तिकाय की टीका के आरम्भ में निम्नलिखित अवतरण पुष्पिका में कुन्दकुन्द स्वामी के विदेहगमन की चर्चा की है -

"अथ श्रीकुमारनन्दिसिद्धान्तदेवशिष्यैः प्रसिद्धकथान्यायेन पूर्वविदेहं गत्वा वीतरागसर्वज्ञश्रीमंदरस्वामितीर्थंकरपरमदेवं दृष्ट्वा तन्मुखकमलविनिर्गतदिव्यवाणीश्रवणावधारितपदार्थाच्छुद्धात्मतत्वादिसारार्थं गृहीत्वा पुनरप्यागतैः श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवैः पद्मनन्द्याद्यपराभिधेयैरन्तस्तत्वबहिस्तत्वगौणमुख्यप्रतिपत्त्यर्थं अथवा शिवकुमारमहाराजादिसंक्षेपरुचिशिष्यप्रतिबोधनार्थं विरचिते पंचास्तिकायप्राभृतशास्त्रे यथाक्रमेणाधिकारशुद्धिपूर्वकं तात्पर्यव्याख्यानं कथ्यते।"

जो कुमारनन्दि सिद्धान्तदेव के शिष्य थे, प्रसिद्ध कथा के अनुसार पूर्वविदेह क्षेत्र जाकर वीतराग सर्वज्ञ श्रीमंदरस्वामी तीर्थंकर परमदेव के दर्शन कर तथा उनके मुखकमल से विनिर्गत दिव्यध्वनि श्रवण से अवधारित पदार्थों से शुद्ध आत्मतत्व आदि सारभूत अर्थ को ग्रहण कर जो पुन वापिस आये थे तथा पद्मनन्दी आदि जिनके दूसरे नाम थे, ऐसे श्रीकुन्दकुन्दाचार्य देव के द्वारा अन्तस्तत्त्व की मुख्य रूप से और बहिस्तत्त्व की गौणरूप से प्रतिपत्ति कराने के लिये अथवा शिवकुमार महाराज आदि संक्षेप रुचि वाले शिष्यों को समझाने के लिये पंचास्तिकाय प्राभृत शास्त्र रचा गया।

षट्प्राभृत के संस्कृत टीकाकार श्री श्रुतसागर सूरि ने अपनी टीका के अन्त में भी कुन्दकुन्द स्वामी के विदेहगमन का उल्लेख किया है -

"श्रीमत्पद्मनन्दिकुन्दकुन्दाचार्यवक्रग्रीवाचार्यैलाचार्यगृद्धपिच्छाचार्यनामपंचकविराजितेन चतुरङ्गुलाकाशगमनर्द्धिना पूर्वविदेहपुण्डरीकिणीनगरवन्दितश्रीमन्धरापरनामस्वयंप्रभजिनेन तत्प्राप्तश्रुतज्ञानसम्बोधितभारतवर्षभव्यजीवेन श्रीजिनचन्द्रसूरिभट्टारकपट्टाभरणभूतेन कलिकालसर्वज्ञेन विरचिते षट्प्राभृतग्रन्थे "

पद्मनन्दी, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य और गृध्रपिच्छाचार्य, इन पांच नामों से जो युक्त थे, चार अंगुल ऊपर आकाशगमन की ऋद्धि जिन्हें प्राप्त थी, पूर्वविदेह क्षेत्र के पुण्डरीकिणी नगर में जाकर श्रीमन्धर अपर नाम स्वयंप्रभ जिनेन्द्र की जिन्होंने वन्दना की थी, उनसे प्राप्त श्रुतज्ञान के द्वारा जिन्होंने भरतक्षेत्र के भव्य जीवों को सम्बोधित किया था जो जिनचन्द्र सूरिभट्टारक के पट्ट के आभूषण स्वरूप थे तथा कलिकाल के सर्वज्ञ थे, ऐसे कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा विरचित षट्प्राभृत ग्रन्थ में

उपर्युक्त उल्लेखों से साक्षात् सर्वज्ञदेव की वाणी सुनने के कारण कुन्दकुन्द स्वामी की अपूर्व महिमा प्रख्यापित की गई है। किन्तु कुन्दकुन्द स्वामी के ग्रन्थों में उनके स्वमुख से कहीं विदेहगमन की चर्चा उपलब्ध नहीं होती। उन्होंने समयप्राभृत के प्रारम्भ में सिद्धों की वन्दना पूर्वक निम्न प्रतिज्ञा की है -

वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गइं पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवलिभणियं।। १।।

इसमें कहा गया है कि मैं श्रुतकेवली के द्वारा भणित समयप्राभृत को कहूंगा। यद्यपि "सुयकेवलिभणियं" इस पद की टीका में श्री अमृतचन्द्र स्वामी ने कहा है - "अनादिनिधनश्रुतप्रकाशितत्वेन, निखिलार्थसाक्षात्कारिकेवलिप्रणीतत्वेन, श्रुतकेवलिभि स्वयमनुभवद्भिरभिहितत्वेन च प्रमाणतामुपगतस्य।"

अर्थात् अनादिनिधन परमागम शब्द ब्रह्मद्वारा प्रकाशित होने से, तथा सब पदार्थों के समूह का साक्षात् करने वाले केवली भगवान् सर्वज्ञदेव के द्वारा प्रणीत होने से और स्वयं अनुभव करने वाले श्रुतकेवलियों के द्वारा कहे जाने से जो प्रमाणता को प्राप्त है।

तो भी इस कथन से यह स्पष्ट नहीं होता कि मैंने केवली की वाणी प्रत्यक्ष सुनी है अत केवली इसके कर्ता है। यहां तो मूलकर्ता की अपेक्षा केवली का उल्लेख जान पडता है। जयसेनाचार्य ने भी केवली का साक्षात् कर्ता के रूप में कोई उल्लेख नहीं किया है। उन्होंने "सुयकेवलीभणियं" की टीका इस प्रकार की है - "श्रुते परमागमे केवलिभि सर्वज्ञैर्भणितं श्रुतकेवलिभणितम्। अथवा श्रुतकेवलिभणितं गणधरकथितमिति।"

अर्थात् श्रुत - परमागम में केवली - सर्वज्ञ भगवान् के द्वारा कहा गया। अथवा श्रुतकेवली - गणधर के द्वारा कहा गया।

फिर भी देवसेन आदि के उल्लेख सर्वथा निराधार नहीं हो सकते। देवसेन ने आचार्यपरम्परा से जो चर्चाएं चली आ रही थीं उन्हें दर्शनसार में निबद्ध किया है। इससे सिद्ध होता है कि कुन्दकुन्द के विदेहगमन की चर्चा दर्शनसार की रचना के पहले भी प्रचलित रही होगी।

कुन्दकुन्दाचार्य के नाम

पंचास्तिकाय के टीकाकार जयसेनाचार्य ने कुन्दकुन्द के पद्मनन्दी आदि अपर नामों का उल्लेख किया है। षट्प्राभृत के टीकाकार श्रुतसागरसूरि ने पद्मनन्दी, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य और गृधपिच्छाचार्य इन पांच नामों का निर्देश किया है। नन्दिसंघ से संबद्ध विजयनगर के शिलालेख में भी जो लगभम १३८६ ई का है, उक्त पांच नाम बतलाये गये है। नन्दिसंघ की पट्टावली में भी उपर्युक्त पांच नाम निर्दिष्ट हैं। परन्तु अन्य शिलालेखों में पद्मनन्दी और कुन्दकुन्द अथवा कोण्डकुन्द इन दो नामों का ही उल्लेख मिलता है।

कुन्दकुन्द का जन्मस्थान

इन्द्रनन्दी आचार्य ने पद्मनन्दी को कुण्डकुन्दपुर का बतलाया है। इसीलिये श्रवणबेलगोला के कितने ही शिलालेखों में उनका कोण्डकुन्द नाम लिखा है। श्री पी वी देसाई ने "जैनिज्म इन साउथ इण्डिया" में लिखा है कि गुण्टकल रेलवे स्टेशन से दक्षिण की ओर लगभग ४ मील पर एक कोनकुण्डल नाम का स्थान है जो अनन्तपुर जिले के गुटी तालुके में स्थित है। शिलालेख में उसका प्राचीन नाम "कोण्डकुन्दे" मिलता है। यहां के निवासी इसे आज भी "कोण्डकुन्दि" कहते हैं। बहुत कुछ संभव है कि कुन्दकुन्दाचार्य का जन्मस्थान यही हो।

कुन्दकुन्द के गुरु

संसार से नि स्पृह वीतराग साधुओं के माता-पिता के नाम सुरक्षित रखने - लेखबद्ध करने की परम्परा प्राय नहीं रही है। यही कारण है कि समस्त आचार्यों के माता-पिता विषयक इतिहास की उपलब्धि प्राय नहीं है। हां, इनके गुरुओं के नाम किसी न किसी रूप में उपलब्ध होते हैं। पंचास्तिकाय की तात्पर्यवृत्ति में जयसेनाचार्य ने कुन्दकुन्दस्वामी के गुरु का नाम कुमारनन्दिसिद्धान्तदेव लिखा है और नन्दिसंघ की पट्टावली में उन्हें जिनचन्द्र का शिष्य बतलाया गया है। परन्तु कुन्दकुन्दाचार्य ने बोधपाहुड के अन्त में अपने गुरु के रूप में भद्रबाहु का स्मरण करते हुए अपने आपको भद्रबाहु का शिष्य बतलाया है। बोधपाहुड की गाथाएं इस प्रकार है -

सद्दविआरो हुओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।
सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स।। ६१।।
बारस अंगवियाणं चउदस पुव्वंग विउलवित्थरणं।
सुयणाणि भद्दबाहू गमयगुरु भयवओ जयओ।। ६२।।

प्रथम गाथा में कहा गया है कि जिनेन्द्र भगवान् महावीर ने अर्थरूप से जो कथन किया है वह भाषा सूत्रों में शब्दविकार को प्राप्त हुआ अर्थात् अनेक प्रकार के शब्दों में ग्रथित किया गया है। भद्रबाहु के शिष्य ने उसे उसी रूप में जाना है और कथन किया है। द्वितीय गाथा में कहा गया है कि बारह अंगों और चौदह पूर्वों के विपुल विस्तार के वेत्ता गमक गुरु भगवान् श्रुतकेवली भद्रबाहु जयवंत हों।

ये दोनों गाथाएं परस्पर में संबद्ध हैं। पहली गाथा में अपने आपको जिन भद्रबाहु का शिष्य कहा है और दूसरी गाथा में उन्हीं का जयघोष किया है। यहां भद्रबाहु से अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु ही ग्राह्य जान पडते हैं। क्योंकि द्वादश अंग और चौदह पूर्वों का विपुल विस्तार उन्ही से संभव था। इसका समर्थन समयप्राभृत के पूर्वोक्त प्रतिज्ञा वाक्य "वंदित्तु सव्वसिद्धे" से भी होता है। जिसमें उन्होंने कहा है कि मैं श्रुतकेवली के द्वारा प्रतिपादित समयप्राभृत को कहूंगा। श्रवणबेलगोला के अनेक शिलालेखों में यह उल्लेख मिलता है कि अपने शिष्य चन्द्रगुप्त के साथ भद्रबाहु यहां पधारे और वही एक गुफा में उनका स्वर्गवास हुआ। इस घटना को आज ऐतिहासिक तथ्य के रूप में स्वीकृत किया गया है।

अब विचारणीय बात यह रहती है कि यदि कुन्दकुन्द को अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु का साक्षात् शिष्य माना जाता है तो वे विक्रम शताब्दी से ३०० वर्ष पूर्व ठहरते है और उस समय जबकि ग्यारह अंग और चौदह पूर्वों के जानकार आचार्यों की परम्परा विद्यमान थी तब उनके रहते हुए कुन्दकुन्दस्वामी की इतनी प्रतिष्ठा कैसे संभव हो सकती है और कैसे उनका अन्वय चल सकता है ? इस स्थिति में कुन्दकुन्द को उनका परम्परा शिष्य ही माना जा सकता है, साक्षात् नही। श्रुतकेवली भद्रबाहु के द्वारा उपदिष्ट तत्व उन्हें गुरु परम्परा से प्राप्त रहा होगा, उसी के आधार पर उन्होंने अपने आपको भद्रबाहु का शिष्य घोषित किया है। बोधपाहुड के संस्कृत टीकाकार श्रीश्रुतसागरसूरि ने भी "भद्दबाहुसीसेण" का अर्थ विशाखाचार्य कर कुन्दकुन्द को उनका परम्परा शिष्य ही स्वीकृत किया है। श्रुतसागरसूरि की पंक्तियां निम्न प्रकार हैं -

"भद्रबाहुशिष्येण अर्हद्बलिगुप्तिगुप्तापरनामद्वयेन विशाखाचार्यनाम्ना दशपूर्वधारिणामेकादशाचार्याणा मध्ये प्रथमेन ज्ञातम्।"

इन पंक्तियों द्वारा कहा गया है कि यहां भद्रबाहु के शिष्य से विशाखाचार्य का ग्रहण है। इन विशाखाचार्य के अर्हद्बलि और गुप्तिगुप्त ये दो नाम और भी हैं तथा ये दशपूर्व के धारक ग्यारह आचार्यों के मध्य प्रथम आचार्य थे। भद्रबाहु अन्तिम श्रुतकेवली थे जैसा कि श्रुतसागरसूरि ने ६२ वीं गाथा की टीका में कहा है -

"पंचानां श्रुतकेवलिनां मध्येऽन्त्यो भद्रबाहु "

अर्थात् भद्रबाहु पांच श्रुतकेवलियों में अन्तिम श्रुतकेवली थे। अत उनके द्वारा उपदिष्ट तत्व को उनके शिष्य विशाखाचार्य ने जाना। उसी की परम्परा आगे चलती रही। गमकगुरु का अर्थ श्रुतसागरसूरि ने उपाध्याय किया है सो विशाखाचार्य के लिये यह विशेषण उचित ही है।

कुन्दकुन्द स्वामी का समय

कुन्दकुन्द स्वामी के समय निर्धारण पर "प्रवचनसार" की प्रस्तावना में डॉ ए एन उपाध्ये ने, "समन्तभद्र" की प्रस्तावना में स्व श्री जुगलकिशोर जी मुख्त्यार ने, "पंचास्तिकाय" की प्रस्तावना में डॉ ए चक्रवर्ती ने तथा "कुन्दकुन्द प्राभृत संग्रह" की प्रस्तावना में श्री पं कैलाशचन्द जी शास्त्री ने विस्तार से चर्चा की है। लेख विस्तार

के भय से मै उन सब चर्चाओं के अवतरण नही देना चाहता। जिज्ञासु पाठकों को तत् तत् ग्रन्थों से जानने की प्रेरणा करता हुआ कुन्दकुन्द स्वामी के समय निर्धारण के विषय में प्रचलित मात्र दो मान्यताओं का उल्लेख कर रहा हूं। एक मान्यता प्रो हार्नले द्वारा संपादित नन्दिसंघ की पट्टावलियों के आधार पर यह है कि कुन्दकुन्द विक्रम की पहली शताब्दी के विद्वान् थे। वि सं ४९ में वे आचार्य पर प्रतिष्ठित हुए, ४४ वर्ष की अवस्था में उन्हें आचार्य पद मिला, ५१ वर्ष १० महीने तक वे उस पद पर प्रतिष्ठित रहे और उनकी कुल आयु ९५ वर्ष १० माह १५ दिन की थी। डॉ ए चक्रवर्ती ने पंचास्तिकाय की प्रस्तावना में अपना यही अभिप्राय प्रकट किया है। और दूसरी मान्यता यह है कि वे विक्रम की दूसरी शताब्दी के उत्तरार्ध अथवा तीसरी शताब्दी के प्रारम्भ के विद्वान् हैं। जिसका समर्थन श्री स्व नाथूराम जी प्रेमी तथा पं जुगलकिशोर जी मुख्त्यार आदि विद्वान् करते आये हैं।

कुन्दकुन्द के ग्रन्थ और उनकी महत्ता

दिगम्बर जैन ग्रन्थों मे कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित ग्रन्थ अपना अलग प्रभाव रखते हैं। उनकी वर्णन शैली ही इस प्रकार की है कि पाठक उससे वस्तुस्वरूप का अनुगम बड़ी सरलता से कर लेता है। व्यर्थ के विस्तार से रहित, नपे-तुले शब्दों में किसी बात को कहना इन ग्रन्थों की विशेषता है। कुन्दकुन्द की वाणी सीधी हृदय पर असर करती है। निम्नांकित ग्रन्थ कुन्दकुन्द स्वामी के द्वारा रचित निर्विवाद रूप से माने जाते हैं तथा जैन समाज में उनका सर्वोपरि मान है - १ पंचास्तिकाय, २ समयसार, ३ प्रवचनसार, ४ नियमसार, ५ अष्टपाहुड (दंसणपाहुड, चरित्तपाहुड, सुत्तपाहुड, बोधपाहुड, भावपाहुड, मोक्खपाहुड, सीलपाहुड और लिंगपाहुड) ६ बारसणुपेक्खा और ७ भत्तिसंगहो।

इनके सिवाय "रयणसार" नाम का ग्रन्थ भी कुन्दकुन्द स्वामी के द्वारा रचित प्रसिद्ध है परन्तु उसके अनेक पाठ भेद देखकर विद्वानों का मत है कि यह कुन्दकुन्द के द्वारा रचित नहीं है अथवा इसके अन्दर अन्य लोगों की गाथाएं भी सम्मिलित हो गई हैं। भाण्डारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट पूना से हमने १८२५ संवत् की लिखित हस्तलिखित प्रति बुलाकर उससे मुद्रित रयणसार की गाथाओं का मिलान किया तो बहुत अन्तर मालूम हुआ। मुद्रित प्रति में बहुत-सी गाथाएं छूटी हुई हैं तथा नवीन गाथाएं मुद्रित हैं। उस प्रति पर रचयिता का नाम नहीं है। उधर सूची में भी यह प्रति अज्ञात लेखक के नाम से दर्ज है। चर्चा आने पर पं परमानन्द जी शास्त्री ने बतलाया कि हमने ७०-८० प्रतियां देखीं हैं, सबका यही हाल है। मुद्रित प्रति में अपभ्रंश का एक दोहा भी शामिल हो गया है तथा कुछ इस अभिप्राय की गाथाएं है जिनका कुन्दकुन्द की विचारधारा से मेल नहीं खाता। यही कारण है कि मैंने इस संग्रह में उसका संकलन नहीं किया है। प्रसिद्धि को देखकर गाथाओं का अनुवाद शुरू किया था और आधे से अधिक गाथाओं का अनुवाद हो भी चुका था पर मुद्रित प्रति के पाठों पर संतोष न होने से पूना से हस्तलिखित प्रति बुलाई। मिलान करने पर जब भारी भेद देखा तब उसे सम्मिलित करने का विचार छोड दिया। इन्द्रनन्दि के श्रुतावतार के अनुसार षट्खण्डागम के आद्य भाग पर कुन्दकुन्द स्वामी के द्वारा रचित परिकर्म ग्रन्थ का उल्लेख मिलता है। इस ग्रन्थ का उल्लेख षट्खण्डागम के विशिष्ट पुरस्कर्ता आचार्य वीरसेन ने अपनी टीका में कई जगह किया है। इससे पता चलता है कि उनके समय तक तो वह उपलब्ध रहा। परन्तु आजकल उसकी उपलब्धि नहीं है। शास्त्रभाण्डारों, खासकर दक्षिण के शास्त्रभण्डारों में इसकी खोज की जानी चाहिये। मूलाचार भी कुन्दकुन्द स्वामी के द्वारा रचित माना जाने लगा है क्योंकि उसकी अन्तिम पुष्पिका में "इति मूलाचारविवृत्तौ द्वादशोऽध्याय । कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीतमूलाचाराख्यविवृति । कृतिरियं वसुनन्दिन श्रमणस्य" यह उल्लेख पाया जाता है। विशेष परिज्ञान के लिये पुरातन वाक्य सूची की प्रस्तावना में स्व पं. जुगलकिशोर जी मुख्त्यार का सन्दर्भ पठितव्य है।

कुन्दकुन्द साहित्य में साहित्यिक सुषमा

कुन्दकुन्दाचार्य ने अधिकांश गाथा छन्द का, जो कि आर्या नाम से प्रसिद्ध है, प्रयोग किया है। कहीं अनुष्टुप्

और उपजाति का भी प्रयोग किया है। एक ही छन्द को पढ़ते-पढ़ते बीच में यदि विभिन्न छन्द आ जाता है तो उससे पाठक को एक विशेष प्रकार का हर्ष होता है। कुन्दकुन्द स्वामी के कुछ अनुष्टुप् छन्दों का नमूना देखिये।

ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो।
आलंबणं च मे आदा अवसेसाइं वोसरे।। ५७।। भावप्राभृत
एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा।। ५९।। भावप्राभृत
सुहेण भाविदं णाणं दुहे जादे विणस्सदि।
तम्हा जहाबलं जोई अप्पा दुक्खेहिं भावए।। ६२।। मोक्षप्राभृत
विरदो सव्वसावज्जे तिगुत्ती पिहिदिंदिओ।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे।। १२५।।
जो समो सव्वभूदेसु थावरेसु तसेसु वा।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे।। १२६।। नियमसार
चेया उ पयडी अट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ।
पयडी वि चेययट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ।। ३१२।।
एवं बंधो उ दुण्ह वि अण्णोण्णप्पच्चया हवे।
अप्पणो पयडीए य संसारो तेण जायए।। ३१३।। समयप्राभृत

एक उपजाति का नमूना देखिए -

णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिएण, लुक्खस्स लुक्खेण दुराहियेण।
णिद्धस्स लुक्खेण हवेदि बंधो जहण्णवज्जे विसमे समे वा।। प्रवचनसार

अलंकारों की पुट भी कुन्दकुन्द स्वामी ने यथास्थान दी है। जैसे, अप्रस्तुत प्रशंसा का एक उदाहरण देखिये -

ण मुयइ पयडि अभव्वो सुट्ठु वि आयण्णिऊण जिणधम्मं।
गुडदुद्धं पि पिवंता ण पण्णया णिव्विसा होंति।। १३७।। भावप्राभृत

थोड़े से हेर-फेर के साथ यह गाथा समयप्राभृत में आई है। उपमालंकार की छटा देखिये -

जह तारयाण चंदो मयराओ मयउलाण सव्वाणं।
अहिओ तह सम्मत्तो रिसिसावयदुविहधम्माणं।। १४३।।
जह फणिराओ रेहइ फणमणिमाणिक्ककिरणविप्फुरिओ।
तह विमलदंसणधरो जिणभत्ती पवयणो जीवो।। १४४।।
जह तारयाण सहियं ससहरबिंबं खमंडले विमले।
भाविय तह वयविमलं जिणलिंगं दंसणविसुद्धं।। १४५।।
जह सलिलेण ण लिप्पइ कमलिणिपत्तं सहावपयडीए।
तह भावेण ण लिप्पइ कसायविसए हि सुप्पुरिसो।। १५३।। भावप्राभृत

रूपालंकार की बहार देखिये -

जिणवरचरणंबुरुहं णमंति जे परमभत्तिराएण।
ते जम्मवेल्लिमूलं खणंति वरभावसत्थेण।। १५२।।
ते धीर वीर पुरिसा खमदमखग्गेण विप्फुरंतेण।
दुज्जयपबलबलुद्धरकसायभडणिज्जिया जेहिं।। १५५।।

मायावेल्लि असेसा मोहमहातरुवरम्मि आरुढा।
विसयविसपुप्फफुल्लिय लुणंति मुणि णाणसत्थेहिं।। १५७।। भावप्राभृत

कहीं पर कूटक पद्धति का भी अनुसरण किया है। यथा,

तिहि तिण्णि धरवि णिच्चं तियरहिओ तह तिएण परियरओ।
दो दोस विप्पमुक्को परमप्पा झायए जोई।। ४४।। मोक्षप्राभृत

अर्थात् तीन के द्वारा (तीन योग-शीत, उष्ण, वर्षायोग के द्वारा) तीन (मन-वचन-काय) को धारणकर, निरन्तर तीन से (शल्यत्रय से) रहित, तीन से (रत्नत्रय से) सहित और दो दोषों (रागद्वेष) से मुक्त रहने वाला योगी परमात्मा का ध्यान करता है।

कुन्दकुन्द का शिलालेखों तथा उत्तरवर्ती ग्रन्थों में उल्लेख

कुन्दकुन्द स्वामी अत्यन्त प्रसिद्ध और सर्वमान्य आचार्य थे अत इनका उल्लेख अनेक शिलालेखों में मिलता है तथा इनके उत्तरवर्ती ग्रन्थकारों ने बडी श्रद्धा के साथ इनका संस्मरण किया है। जैन सन्देश के शोधांकों के आधार पर कुछ उल्लेखों का यहां संकलन किया जाता है-

श्रीमतो वर्धमानस्य वर्द्धमानस्य शासने।
श्रीकोण्डकुन्दनामाभून्मूलसंघाग्रणीर्गणी।। श्र. बे शि ५५/६६/४९२

वन्द्यो विभुर्भुवि न कैरिह कोण्डकुन्द ,
कुन्दप्रभाप्रणयितकीर्तिविभूषिताश ।
यश्चारुचारणकराम्बुजचंचरीक-
श्चक्रे श्रुतस्य भरते प्रयत प्रतिष्ठाम्।। श्र बे शि ५४/६७

तस्यान्वये भूविदिते बभूव य पद्मनन्दिप्रथमाभिधान ।
श्रीकोण्डकुन्दादिमुनीश्वराख्यस्तत्संयमादुद्गतचारणर्द्धि ।। श्र बे शि ४०/६०

श्रीपद्मनन्दीत्यनवद्यनामा ह्याचार्यशब्दोत्तरकोण्डकुन्द ।
द्वितीयमासीदभिधानमुद्यच्चरित्रसंजातसुचारणर्द्धि ।। श्र बे शि ४२-३-७-५०

इत्याद्यनेकसूरिष्वथ सुपदमुपेतेषु दीव्यत्तपस्या-
शास्त्राधारेषु पुण्यादजनि स जगतां कोण्डकुन्दो यतीन्द्र ।
रजोभिरस्पृष्टतमत्वमन्तर्बाह्योऽपि संव्यंजयितुं यतीश ,
रज पदं भूमितलं विहाय चचार मन्ये चतुरंगुलं स ।। श्र बे शि १०५

तदीयवंशाकरत प्रसिद्धादभूददोषा यतिरत्नमाला।
बभौ यदन्तर्मणिवन्मुनीन्द्रस्य कुण्डकुन्दोदितचण्डदण्ड ।। श्र बे शि १०८

श्रीमूलसंघेऽजनि कुन्दकुन्द सूरिर्महात्माखिलतत्त्ववेदी।
सीमन्धरस्वामिपदप्रबन्दी पंचाह्वयो जैनमतप्रदीप ।। धर्मकीर्ति, हरिवंशपुराण

कवित्वनलिनीग्रामनिबोधनसुधाघृणिम्।
वन्द्यैर्वन्द्यमहं वन्दे कुन्दकुन्दाभिधं मुनिम्।। मु विद्यानन्दि-सुदर्शन च

श्रीमूलसंघेऽजनि नन्दिसंघस्तस्मिन् बलात्कारगणोऽतिरम्य ।
तत्रापि सारस्वतनाम्नि गच्छे स्वच्छाशयोऽभूदिह पद्मनन्दी।।
आचार्यकुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामति ।
एलाचार्यो गृध्रपिच्छ इति तन्नाम पंचधा।। सा. इ. इन्स नै १५२

कुन्दकुन्दमुनिं वन्दे चतुरंगुलचारणम्।
कलिकाले कृतं येन वात्सल्यं सर्वजन्तुषु।। सोमसेनपुराण
सृष्टेः समयसारस्य कर्ता सूरिपदेश्वरः।
श्रीमच्छ्रीकुन्दकुन्दाख्यस्तनोतु मतिमेदुराम्।। अजितब्रह्महनूमच्चरित्र
सन्नन्दिसंघसुरवर्त्मदिवाकरोऽभूच्छ्रीकुन्दकुन्द इति नाम मुनीश्वरोऽसौ।
जीयात् स वै विहितशास्त्रसुधारसेन मिथ्याभुजंगरलं जगत प्रणष्टम्।। - मेधावी धर्मसंग्रह श्रावकाचार
आसाद्य घुसदां सहायमसमं गत्वा विदेहं जवा-
दद्राक्षीत् किल केवलेक्षणमिनं द्योतक्षमध्यक्षत ।
स्वामी साम्यपदाधिरूढधिषण श्रीनन्दिसंघश्रियो
मान्यः सोऽस्तु शिवाय शान्तमनसां श्रीकुन्दकुन्दाभिध ।। - अमरकीर्तिसूरि, जिनसहस्रनाम टीका
श्रीमूलसंघेऽजनि नन्दिसंघस्तस्मिन् बलात्गणेऽतिरम्ये।
तत्राभवत्पूर्वपदांशवेदी श्रीमाघनन्दी नरदेववन्द्य ।।
पदे तदीये मुनिमान्यवृत्तौ जिनादिचन्द्र समभूदतन्द्र ।
ततोऽभवत्पंचसुनामधामा श्रीपद्मनन्दी मुनिचक्रवर्ती।। नन्दिसंघ पट्टावली

कुन्दकुन्दाचार्य की नयव्यवस्था

वस्तु स्वरूप का अधिगम ज्ञान, प्रमाण और नय के द्वारा होता है। प्रमाण वह है जो पदार्थ में रहने वाले परस्पर विरोधी दो धर्मों को एक साथ ग्रहण करता है और नय वह है जो पदार्थ में रहने वाले परस्पर विरोधी दो धर्मों में से एक को प्रमुख और दूसरे को गौणकर विवक्षानुसार क्रम से ग्रहण करता है। नयों का निरूपण करने वाले आचार्यों ने उनका शास्त्रीय और आध्यात्मिक दृष्टि से विवेचन किया है। शास्त्रीय दृष्टि की नय विवेचना में नय के द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक तथा उनके नैगमादि सात भेद निरूपित किये गये हैं और आध्यात्मिक दृष्टि में निश्चय तथा व्यवहार नय का निरूपण है। यहां द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों ही निश्चय में समा जाते हैं और व्यवहार में उपचार कथन रह जाता है। शास्त्रीय दृष्टि में वस्तु स्वरूप की विवेचना का लक्ष्य रहता और आध्यात्मिक दृष्टि में उस नय विवेचना के द्वारा आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने का अभिप्राय रहता है। इन दोनों दृष्टियों का अन्तर बतलाते हुए कुन्दकुन्द प्राभृत संग्रह की प्रस्तावना में पृष्ठ ८२ पर श्रीमान् सिद्धान्ताचार्य पं कैलाशचन्द्र जी ने निम्नांकित पंक्तियां बहुत ही महत्वपूर्ण लिखी हैं -

"शास्त्रीयदृष्टि वस्तु का विश्लेषण करके उसकी तह तक पहुंचने की चेष्टा करती है। उसकी दृष्टि में निमित्त कारण के व्यापार का उतना ही मूल्य है जितना उपादान कारण के व्यापार का। और परसंयोगजन्य अवस्था भी उतनी ही परमार्थ है जितनी स्वाभाविक अवस्था। जैसे उपादान कारण के बिना कार्य नहीं होता वैसे ही निमित्त कारण के बिना भी कार्य नहीं होता। अत कार्य की उत्पत्ति में दोनों का सम व्यापार है। जैसे मिट्टी के बिना घट उत्पन्न नहीं होता वैसे ही कुम्हारचक्र आदि के बिना भी घट उत्पन्न नहीं होता। ऐसी स्थिति में वास्तविक स्थिति का विश्लेषण करने वाली शास्त्रीय दृष्टि किसी एक के पक्ष में अपना फैसला कैसे दे सकती है ? इसी तरह मोक्ष जितना यथार्थ है संसार भी उतना यथार्थ है। और संसार जितना यथार्थ है उसके कारण कलाप भी उतने ही यथार्थ हैं। संसार दशा न केवल जीव की अशुद्ध दशा का परिणाम है और न केवल पुद्गल की अशुद्ध दशा का परिणाम है। किन्तु जीव और पुद्गल के मेल से उत्पन्न हुई अशुद्ध दशा का परिणाम है। अतः शास्त्रीय दृष्टि से जितना सत्य जीव का अस्तित्व है और जितना सत्य पुद्गल का अस्तित्व है उतना ही सत्य उन दोनों का मेल और संयोगज विकार भी है। वह सांख्य की तरह पुरुष में आरोपित नहीं है किन्तु प्रकृति और पुरुष के संयोगजन्य बन्ध

का परिणाम है अत शास्त्रीय दृष्टि से जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, पुण्य, पाप और मोक्ष सभी यथार्थ और सारभूत हैं। अत सभी का यथार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। और चूंकि उसकी दृष्टि में कार्य की उत्पत्ति में निमित्त कारण भी उतना ही आवश्यक है जितना कि उपादान कारण, अत आत्मप्रतीति में निमित्तभूत देव, शास्त्र और गुरु वगैरह का श्रद्धान भी सम्यग्दर्शन है। उसमें गुणस्थान भी हैं, मार्गणास्थान भी है - सभी हैं। शास्त्रीय दृष्टि का किसी वस्तु विशेष के साथ कोई पक्षपात नहीं है। वह वस्तु स्वरूप का विश्लेषण किसी के हित -अहित को दृष्टि में रख कर नहीं करती"।

आध्यात्मिक दृष्टि का विवेचन करते हुए पृष्ठ ८३ पर लिखा है -

"शास्त्रीय दृष्टि के सिवाय एक दृष्टि आध्यात्मिक भी है। उसके द्वारा आत्मतत्त्व को लक्ष्य में रखकर वस्तु का विचार किया जाता है। जो आत्मा के आश्रित हो उसे अध्यात्म कहते हैं। जैसे वेदान्ती ब्रह्म को केन्द्र में रखकर जगत् के स्वरूप का विचार करते हैं वैसे ही अध्यात्म दृष्टि आत्मा को केन्द्र में रखकर विचार करती है। जैसे वेदान्त में ब्रह्म ही परमार्थ सत् है और जगत् मिथ्या है, वैसे ही अध्यात्म विचारणा में एक मात्र शुद्ध बुद्ध आत्मा ही परमार्थ सत् है और उसकी अन्य सब दशाएं व्यवहार सत्य हैं। इसी से शास्त्रीय क्षेत्र में जैसे वस्तुतत्व का विवेचन द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों के द्वारा किया जाता है वैसे ही अध्यात्म में निश्चय और व्यवहार नय के द्वारा आत्मतत्व का विवेचन किया जाता है और निश्चय दृष्टि को परमार्थ और व्यवहार दृष्टि को अपरमार्थ कहा जाता है। क्योंकि निश्चय दृष्टि आत्मा के यथार्थ शुद्ध स्वरूप को दिखलाती है और व्यवहारदृष्टि अशुद्ध अवस्था को दिखलाती है। अध्यात्मी मुमुक्षु शुद्ध आत्मतत्त्व को प्राप्त करना चाहता है अत उसकी प्राप्ति के लिये सबसे प्रथम उसे उस दृष्टि की आवश्यकता है जो आत्मा के शुद्ध स्वरूप का दर्शन करा सकने में समर्थ है। ऐसी दृष्टि निश्चय दृष्टि है अत मुमुक्षु के लिये वही दृष्टि भूतार्थ है। जिससे आत्मा के अशुद्ध स्वरूप का दर्शन होता है वह व्यवहार दृष्टि उसके लिये कार्यकारी नहीं है अत वह अभूतार्थ कही जाती है। इसी से आचार्य कुन्दकुन्द ने समयप्राभृत के प्रारम्भ में "ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो य सुद्धणयो" लिखकर व्यवहार अभूतार्थ और शुद्धनय अर्थात् निश्चय को भूतार्थ कहा है।"

कुन्दकुन्द स्वामी ने समयसार और नियमसार में आध्यात्मिक दृष्टि से आत्मस्वरूप का विवेचन किया है अत इनमें निश्चयनय और व्यवहार नय ये दो भेद ही दृष्टिगत होते हैं। वस्तु के एक - अभिन्न और स्वाश्रित -परनिरपेक्ष त्रैकालिक स्वभाव को जानने वाला नय निश्चयनय है और अनेक - भेदरूप वस्तु तथा उसके पराश्रित - परसापेक्ष परिणमन को जानने वाला नय व्यवहारनय है। यद्यपि अन्य आचार्यों ने निश्चयनय के शुद्ध निश्चयनय और अशुद्ध निश्चयनय इस प्रकार दो भेद किये हैं तथा व्यवहारनय के सद्भूत, असद्भूत, अनुपचरित और उपचरित के भेद से अनेक भेद स्वीकृत किये हैं। परन्तु कुन्दकुन्द स्वामी ने इन भेदों के चक्र में न पड़कर मात्र दो भेद स्वीकृत किये हैं। अपने गुण पर्यायों से अभिन्न आत्मा के त्रैकालिक स्वभाव को उन्होंने निश्चयनय का विषय माना है और कर्म के निमित्त से होने वाली आत्मा की परिणति को व्यवहारनय का विषय कहा है। निश्चयनय आत्मा में काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारों को स्वीकृत नहीं करता। चूंकि वे पुद्गल के निमित्त से होते हैं अत उन्हें पुद्गल के मानता है। इसी तरह गुणस्थान तथा मार्गणा आदि विकल्प जीव के स्वभाव नहीं हैं अत निश्चयनय उन्हें स्वीकृत नहीं करता। इन सबको आत्मा के कहना व्यवहारनय का विषय है। निश्चयनय स्वभाव को विषय करता है, विभाव को नहीं। जो स्व में स्व के निमित्त से सदा रहता है वह स्वभाव है जैसे जीव के ज्ञानादि, और जो स्व में पर के निमित्त से होते हैं वे विभाव हैं जैसे जीव में क्रोधादि। ये विभाव, चूंकि आत्मा में ही पर के निमित्त से होते हैं इसलिये इन्हें कथंचित् आत्मा के कहने के लिये जयसेन आदि आचार्यों ने निश्चयनय में शुद्ध और अशुद्ध का विकल्प स्वीकृत किया है परन्तु कुन्दकुन्द महाराज विभाव को आत्मा का मानना स्वीकृत नहीं करते, वे

उसे व्यवहार का ही विषय मानते हैं। अमृतचन्द्रसूरि ने भी इन्हीं का अनुसरण किया है।

यद्यपि वर्तमान में जीव की बद्धस्पृष्ट दशा है और उसके कारण रागादि विकारी भाव उसके अस्तित्व में प्रतीत हो रहे हैं तथापि निश्चयनय जीव की अबद्धस्पृष्ट दशा और उसके फलस्वरूप रागादि रहित - वीतराग परिणति की ही अनुभूति कराता है। स्वरूप की अनुभूति कराना इस नय का उद्देश्य है अतः वह संयोगज दशा और संयोगज परिणामों की ओर से मुमुक्षु का लक्ष्य हटा देना चाहता है। निश्चयनय का उद्घोष है कि हे मुमुक्षु प्राणिन्! यदि तू अपने स्वभाव की ओर लक्ष्य नहीं करेगा तो इस संयोगजदशा और तज्जन्य विकारों को दूर करने का तेरा पुरुषार्थ कैसे जागृत होगा ?

अध्यात्म दृष्टि आत्मा में गुणस्थान तथा मार्गणा आदि के भेदों का अस्तित्व भी स्वीकृत नहीं करती। वह परनिरपेक्ष आत्मस्वभाव को और उसके प्रतिपादक निश्चयनय को ही भूतार्थ तथा उपादेय मानती है और परसापेक्ष आत्मा के विभाव और उसके प्रतिपादक व्यवहारनय को अभूतार्थ तथा हेय मानती है। इसकी दृष्टि में एक निश्चय ही मोक्षमार्ग है, व्यवहार नहीं। यद्यपि व्यवहार मोक्षमार्ग, निश्चय मोक्षमार्ग का साधक है तथापि वह साध्यसाधक के विकल्प से हटकर एक निश्चय मोक्षमार्ग को ही अंगीकृत करती है। व्यवहार मोक्षमार्ग इसके साथ चलता है इसका निषेध यह नहीं करती।

पंचास्तिकाय और प्रवचनसार में आचार्य ने आध्यात्मिक दृष्टि के साथ शास्त्रीय दृष्टि को भी प्रश्रय दिया है इसलिए इन ग्रन्थों में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों का भी वर्णन प्राप्त होता है सम्यग्दर्शन के विषयभूत जीवादि पदार्थों का वर्णन करने के लिए शास्त्रीय दृष्टि को अंगीकृत किये बिना काम नही चल सकता। इसलिए द्रव्यार्थिक नय से जहां जीव के नित्य - अपरिणामी स्वभाव का वर्णन किया जाता है वहां पर्यायार्थिक नय से उसके अनित्य - परिणामी स्वभाव का भी वर्णन किया जाता। द्रव्य, यद्यपि गुण और पर्यायों का एक अभिन्न-अखण्ड पिण्ड है तथापि उनका अस्तित्व बतलाने के लिए उनका भेद भी स्वीकृत किया जाता है। इसीलिए द्रव्य में गुण और पर्यायों का भेदाभेद दृष्टि से निरूपण मिलता है। इन ग्रन्थों में व्यवहार और निश्चय मोक्षमार्ग की भी चर्चा की गयी है तथा उनमें साधक-साध्यभाव का उल्लेख किया गया है।

प्रवचनसार के अन्त में अमृतचन्द्र स्वामी ने द्रव्यनय, पर्यायनय, अस्तित्वनय, नास्तित्वनय, नामनय, स्थापनानय, नियतिनय, अनियतिनय, कालनय, अकालनय, पुरुषकारनय, दैवनय, निश्चयनय, व्यवहारनय, शुद्धनय तथा अशुद्धनय आदि ४७ नयों के द्वारा आत्मा का निरूपण किया है। इन नयों को द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक अथवा निश्चय और व्यवहारनय का विषय न बनाकर स्वतन्त्र रूप से प्रतिपादित किया गया है।

निश्चयनय की भूतार्थता और व्यवहारनय की अभूतार्थता

आध्यात्मिक दृष्टि में भूतार्थग्राही होने से निश्चयनय को भूतार्थ और अभूतार्थग्राही होने से व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा गया है। इसकी संगति अनेकान्त के आलोक में ही सम्पन्न होती है क्योंकि व्यवहारनय की अभूतार्थता निश्चयनय की अपेक्षा है। स्वरूप और स्वप्रयोजन की अपेक्षा नहीं। उसे सर्वथा अभूतार्थ मानने में बड़ी आपत्ति दिखती है। श्री अमृतचन्द्र सूरि ने समयसार की ४६ वीं गाथा की टीका में लिखा है -

"व्यवहारो हि व्यवहारिणां म्लेच्छभाषेव म्लेच्छानां परमार्थप्रतिपादकत्वादपरमार्थोऽपि तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयितुं न्याय्य एव। तमन्तरेण तु शरीराज्जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनात् त्रसस्थावराणां भस्मन इव निःशंकमुपमर्दनेन हिंसाऽभावात् भवत्येव बन्धस्याभावः। तथा रक्तो द्विष्टो विमूढो जीवो बध्यमाने मोचनीय इति रागद्वेषमोहेभ्यो जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनेन मोक्षोपायपरिग्रहणाभावाद् भवत्येव मोक्षस्याभावः"।

यही भाव तात्पर्यवृत्ति में जयसेनाचार्य ने भी दिखलाया है -

"यद्यप्ययं व्यवहारनयो बहिर्द्रव्यालम्बनत्वेनाभूतार्थस्तथापि

रागादिबहि द्रव्यालम्बनरहितविशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावालम्बनसहितस्य परमार्थस्य प्रतिपादकत्वाद् दर्शयितुमुचितो भवति। यदा पुनर्व्यवहारनयो न भवति तदा शुद्धनिश्चयनयेन त्रसस्थावरजीवा न भवन्तीति मत्वा नि शंकोपमर्दनं कुर्वन्ति जना । ततश्च पुण्यरूपधर्माभाव इत्येकं दूषणं, तथैव शुद्धनयेन रागद्वेषमोहरहित पूर्वमेव मुक्तो जीवस्तिष्ठतीति मत्वा मोक्षार्थमनुष्ठानं कोऽपि न करोति, ततश्च मोक्षाभाव इति द्वितीयं च दूषणम्। तस्माद् व्यवहारनयव्याख्यानमुचितं भवतीत्यभिप्राय "।

इन अवतरणों का भाव यह है -

यद्यपि व्यवहारनय अभूतार्थ है तो भी जिस प्रकार म्लेच्छों को समझाने के लिये म्लेच्छ भाषा का अंगीकार करना उचित है - उसी प्रकार व्यवहारी जीवों को परमार्थ का प्रतिपादक होने से तीर्थ की प्रवृत्ति के निमित्त, अपरमार्थ होने पर भी व्यवहार नय का दिखलाना न्यायसंगत है। अन्यथा व्यवहार के बिना परमार्थनय से जीव, शरीर से सर्वथा भिन्न दिखाया गया है, इस दशा में जिस प्रकार भस्म का उपमर्दन करने से हिंसा नही होती उसी प्रकार त्रस स्थावर जीवों का नि शंक उपमर्दन करने से हिंसा नहीं होगी और हिंसा के न होने से बन्ध का अभाव हो जायगा, बन्ध के अभाव से संसार का अभाव हो जायगा। इसके अतिरिक्त "रागी द्वेषी और मोही जीव बन्ध को प्राप्त होता है। अत उसे ऐसा उपदेश देना चाहिये कि जिससे वह राग, द्वेष और मोह से छूट जावे, यह जो आचार्यों ने मोक्ष का उपाय बतलाया है वह व्यर्थ हो जायगा। क्योंकि परमार्थ से जीव, राग, द्वेष, मोह से भिन्न ही दिखाया जाता है। जब भिन्न है तब मोक्ष के उपाय स्वीकृत करना असंगत होगा, इस तरह मोक्ष का भी अभाव हो जायगा।

नय श्रुतज्ञान के विकल्प है और श्रुत स्वार्थ और परार्थ की अपेक्षा दो प्रकार का है। जिससे अपना अज्ञान दूर हो वह स्वार्थ श्रुत है और जिससे दूसरे का अज्ञान दूर हो वह परार्थश्रुत है। नयों का प्रयोग पात्र भेद की अपेक्षा रखता है। एक ही नय से सब पात्रों का कल्याण नहीं हो सकता। कुन्दकुन्द स्वामी ने स्वयं भी समयसार की १२ वीं गाथा में इसका विभाग किया है कि शुद्धनय किसके लिये और अशुद्धनय किसके लिये आवश्यक है। शुद्धनय से तात्पर्य निश्चय नय का और अशुद्धनय से तात्पर्य व्यवहारनय का लिया गया है।

गाथा इस प्रकार है -

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे।। १२।।

अर्थात्, जो परमभाव को देखने वाले हैं उनके द्वारा तो शुद्धनय का कथन करने वाला शुद्धनय जानने के योग्य है और जो अपरमभाव में स्थित हैं वे व्यवहारनय के द्वारा उपदेश देने के योग्य हैं।

नयों के विसंवाद से मुक्त होने के लिये कहा गया है -

जइ जिणमअं पवज्जह तो मा ववहारणिच्छए मुयह।
एकेण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण पुण तच्चं।।

अर्थात्, यदि जिनेन्द्र भगवान् के मत की प्रवृत्ति चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनों नयों को मत छोडो। क्योंकि यदि व्यवहार को छोडोगे तो तीर्थ की प्रवृत्ति क लोप हो जावेगा अर्थात् धर्म का उपदेश ही नहीं हो सकेगा, फलत धर्मतीर्थ का लोप हो जावेगा और यदि निश्चय को छोडोगे तो तत्व के स्वरूप का ही लोप हो जावेगा, क्योंकि तत्व को कहने वाला तो वही है।

यही भाव श्री अमृतचन्द्र सूरि ने कलश काव्य में दरशाया है -

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदांके,
जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहा ।

सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै-
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव ।। १४ ।।

अर्थात् जो जीव स्वयं मोह का वमन कर निश्चय और व्यवहारनय के विरोध को ध्वस्त करने वाले एवं स्यात्पद से चिह्नित जिनवचन में रमण करते हैं वे शीघ्र ही उस समयसार का अवलोकन करते है जो कि परम ज्योति स्वरूप है, नवीन नहीं है अर्थात् द्रव्यदृष्टि से नित्य है और अनयपक्ष - एकान्तपक्ष से जिसका खण्डन नहीं हो सकता।

इस सन्दर्भ का सार है -

चूंकि वस्तु, सामान्य विशेषात्मक अथवा द्रव्य पर्यायात्मक है अत उसके दोनों अंशों की ओर दृष्टि रहने पर ही वस्तु का पूर्ण विवेचन होता है। सामान्य अथवा द्रव्य को ग्रहण करने वाला नय द्रव्यार्थिक नय कहलाता है और विशेष अथवा पर्याय को ग्रहण करने वाला नय पर्यायार्थिक नय कहलाता है। आध्यात्मिक ग्रन्थों में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के स्थान पर निश्चय और व्यवहार नय का उल्लेख किया गया है। द्रव्य के त्रैकालिक स्वभाव को ग्रहण करने वाला निश्चयनय है और विभाव को ग्रहण करने वाला व्यवहारनय है। एक काल में दोनों नयों से पदार्थ को जाना तो जा सकता है पर उसका कथन नही किया जा सकता। कथन क्रम से ही किया जाता है। वक्ता अपनी विवक्षानुसार जिस समय जिस अंश को कहना चाहता है वह विवक्षित अथवा मुख्य अंश कहलाता है और वक्ता जिस अंश को नही कहना चाहता है वह अविवक्षित अथवा गौण कहलाता है। "स्यात्" निपात का अर्थ कथंचित् - किसी प्रकार होता है। वक्ता किसी विवक्षा से जब पदार्थ के एक अंश का वर्णन करता है तब वह दूसरे अंश को गौण तो कर देता है पर सर्वथा छोडता नही है क्योंकि सर्वथा छोड देने पर एकान्तवाद का प्रसंग आता है और उससे वस्तुतत्व का पूर्ण विवेचन नही हो पाता। इसी अभिप्राय से आचार्यों ने कहा है कि जो दोनों नयों के विरोध को नष्ट करने वाले स्यात्पद चिह्नित जिनवचन में रमण करते हैं वे ही समयसार रूप परम ज्योति को प्राप्त करते हैं।

सम्यग्दृष्टि जीव वस्तु तत्व का परिज्ञान प्राप्त करने के लिये दोनों नयों का आलम्बन लेता है परन्तु श्रद्धा में वह अशुद्ध नय के आलम्बन को हेय समझता है। यही कारण है कि वस्तु स्वरूप का यथार्थ परिज्ञान होने पर अशुद्धनय का आलम्बन स्वयं छूट जाता है। कुन्दकुन्द स्वामी ने उभयनयों के आलम्बन से वस्तु स्वरूप का प्रतिपादन किया है इसलिये वह निर्विवाद रूप से सर्वग्राह्य है।

आगे संकलित ग्रन्थों का परिचय दिया जाता है।

पंचास्तिकाय -

इसमें श्री अमृतचन्द्राचार्य कृत टीका के अनुसार १७३ और श्री जयसेनाचार्य कृत टीका के अनुसार १८१ गाथाएं हैं। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ये पांच द्रव्य अस्तिकाय हैं क्योंकि ये अणु अर्थात् प्रदेशों की अपेक्षा महान् हैं - बहुप्रदेशी हैं।[1] लोक के अन्दर समस्त द्रव्य परस्पर में प्रविष्ट होकर स्थित है फिर भी अपने-अपने स्वभाव को नहीं छोडते हैं। सत्ता का स्वरूप बतलाकर द्रव्य का लक्षण करते हुए कहा है कि जो विभिन्न पर्यायों को प्राप्त हो उसे द्रव्य कहते हैं। द्रव्य सत्ता से अभिन्न है एतावता सत् ही द्रव्य का लक्षण है। अथवा जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से सहित हो वह द्रव्य है। अथवा जो गुण और पर्यायों का आश्रय हो वह द्रव्य है।

चूंकि अनेकान्त जिनागम का जीव - प्राण है इसलिये उसमें विवक्षावश द्रव्य में अस्ति, नास्ति, अस्तिनास्ति,

---

1 जीवा पुग्गलकाया धम्माधम्मा तहेव आगासं।
अत्थित्तम्हि य णियदा अणण्णमइया अणुमहंता ।। ४ ।।
"अणवोऽत्र प्रदेशा मूर्तामूर्ताश्च निर्विभागांशास्तैः महान्तोऽणुमहान्तः प्रदेशप्रचयात्मका इति सिद्धं तेषां कायत्वम्।" सं टीका

अवक्तव्य, अस्तिअवक्तव्य, नास्तिअवक्तव्य और अस्तिनास्तिअवक्तव्य इन सात भंगों का निरूपण किया है। इन प्रत्येक भंगों के साथ विशिष्ट विवक्षा को दिखाने वाला, कथंचित् अर्थ का द्योतक "स्यात्" शब्द लगाया जाता है। जैसे स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति आदि। ये सात भंग विवक्षा से ही सिद्ध होते हैं। इसके लिये गाथा है -

सिय अत्थि णत्थि उहयं अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं।
दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि।। १0।।

अर्थात् द्रव्य स्वचतुष्टय की अपेक्षा अस्तिरूप है, परचतुष्टय की अपेक्षा नास्तिरूप है, क्रमश स्वचतुष्टय और परचतुष्टय की अपेक्षा उभय - अस्तिनास्तिरूप है, एक साथ स्वचतुष्टय-परचतुष्टय की अपेक्षा अवक्तव्य रूप है, अस्ति और अवक्तव्य के संयोग की अपेक्षा अस्ति अवक्तव्य है, नास्ति और अवक्तव्य के संयोग की अपेक्षा नास्तिअवक्तव्य है, और अस्तिनास्ति तथा अवक्तव्य के संयोग की अपेक्षा अस्तिनास्ति अवक्तव्य है।

"असत् का जन्म और सत् का विनाश नहीं होता" इस सनातन सिद्धान्त को स्वीकृत करते हुए कहा गया है कि भाव-सत् रूप पदार्थ का न नाश होता है और न उत्पाद। किन्तु पर्यायों में ही ये होते हैं। अर्थात् पदार्थ, द्रव्यदृष्टि से नित्य है और पर्यायदृष्टि से अनित्य है। यह एकान्त भी कुन्दकुन्द स्वामी को स्वीकार्य नहीं है कि सत् का विनाश नही होता और असत् का उत्पत्ति नहीं होती। वे कहते हैं कि मनुष्य मरकर देव हो गया, यहां सद्रूप मनुष्य पर्याय का विनाश हुआ और असत् रूप देवपर्याय का उत्पाद हुआ। मनुष्य पर्याय में मनुष्य सत् रूप ही है। और देवपर्याय असत् रूप ही है, क्योंकि एक काल में दो पर्यायों का सद्भाव नही हो सकता। इस तरह जब पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा कथन होता है तब सत् का विनाश और असत् की उत्पत्ति होती है। "सत् का विनाश और असत् की उत्पत्ति नहीं होती" यह द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा कथन है। संसारी जीव के साथ ज्ञानावरणादि कर्म अनादिकाल से बद्ध हैं, उनका अभाव करने पर ही सिद्ध पर्याय प्रकट होती है। यहां संसारी पर्याय में सिद्ध पर्याय का सद्भाव नहीं है क्योंकि दोनों में सहानवस्थान नाम का विरोध है अत संसारी पर्याय का नाश होने पर ही असत् रूप सिद्ध पर्याय उत्पन्न होती है। इस तरह पर्याय दृष्टि से सत् का विनाश और असत् का उत्पाद होता है परन्तु द्रव्यदृष्टि से जो जीव संसारी पर्याय में था वही सिद्ध पर्याय को प्राप्त करता है अत क्या नष्ट हुआ और क्या उत्पन्न हुआ ? कुछ भी नहीं।

तदनन्तर जीवादि छह द्रव्यों के सामान्य लक्षण कहकर २६ गाथाओं में पीठबन्ध समाप्त किया है। इसके बाद जीवादि द्रव्यों का विशेष व्याख्यान शुरु होता है। उसमें जीव के संसारी और सिद्ध इन दो भेदों का वर्णन करते हुए सिद्ध जीव का लक्षण निम्न प्रकार कहा है -

कम्ममलविप्पमुक्को उड्ढं लोगस्स अंतमधिगंता।
सो सव्वणाणदरिसी लहदि सुहमणिंदियमणंतं।। २८।।

अर्थात् सिद्ध जीव कर्मरूपी मल से विप्रमुक्त हैं - सदा के लिये छूट चुके हैं, ऊर्ध्वगति स्वभाव के कारण लोक के अन्त को प्राप्त हैं, सबको जानने देखने वाले हैं और अनिन्द्रिय अनन्त सुख को प्राप्त हैं।

जीव द्रव्य का वर्णन करने के लिये -

जीवोत्ति हवदि चेदा उवओग विसेसिदो पहू कत्ता।
भोत्ता य देहमत्तो ण हि मुत्तो कम्मसंजुत्तो।। २७।।

इस गाथा द्वारा जीव, चेतयिता, उपयोग, प्रभु, कर्ता, भोक्ता, देहमात्र, मूर्त और कर्मसंयुक्त इन नौ अधिकारों का निरूपण किया है। इन सब अधिकारों में नय विवक्षा से कथन किया गया है।

कम्मेण विणा उदयं जीवस्स ण विज्जदे उवसमं वा।
खइयं खओवसमियं तम्हा भावं तु कम्मकदं।। ५८।।

इस गाथा द्वारा स्पष्ट किया है कि कर्मों के बिना औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव नहीं हो सकते इसलिये ये भाव कर्मनिमित्त से होते हैं। ७३ वीं गाथा तक जीव द्रव्य का वर्णन करने के बाद पुद्गल द्रव्य का वर्णन शुरु होता है।

प्रारम्भ में पुद्गल के स्कन्ध, स्कन्धदेश, स्कन्धप्रदेश और परमाणु ये चार भेद हैं तथा चारों के निम्न प्रकार लक्षण है –

खंधं सयलसमत्थं तस्स दु अद्धं भणंति देसोत्ति।
अद्धद्धं च पदेसो परमाणू चेव अविभागी।। ७५।।

अनन्त परमाणुओं के पिण्ड को स्कन्ध, उससे आधे को देश, देश के आधे को प्रदेश और अविभागी अंश को परमाणु कहते हैं।

इस अधिकार में पुद्गल द्रव्य के बादरबादर आदि छह भेदों तथा स्कन्ध और परमाणुरूप दो भेदों का भी सुन्दर वर्णन है। यह अधिकार ८२ वी गाथा तक चलता है। उसके बाद धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाश द्रव्य का वर्णन है तथा चूलिका नामक अवान्तर अधिकार के द्वारा द्रव्यों की विशेषता का वर्णन किया गया है। इसी अधिकार के अन्त में काल द्रव्य का वर्णन कर चुकने के बाद पंचास्तिकायों के जानने का फल बहुत ही हृदयग्राही शब्दों में व्यक्त किया है –

एवं पवयणसारं पंचत्थिसंगहं वियाणित्ता।
जो मुयदि रागदोसे सो गाहदि दुक्खपरिमोक्खं।। १०३।।

इस तरह आगम के सारभूत पंचास्तिकाय संग्रह को जानकर जो राग और द्वेष को छोडता है वह दु खों से छुटकारा पाता है।

प्रथम स्कन्ध १०४ गाथाओं में पूर्ण हुआ है। तदनन्तर द्वितीय स्कन्ध में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को मोक्षमार्ग बतलाकर इन तीनों का स्पष्ट स्वरूप बतलाया है। इस द्वितीय श्रुतस्कन्ध का नाम नवपदार्थाधिकार है। अर्थात् इसमें जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष इन नौ पदार्थों का वर्णन किया है। प्रत्येक पदार्थ का वर्णन यद्यपि संक्षिप्त है तथापि इतना सारगर्भित है कि सारभूत समस्त प्रतिपाद्य विषयों का उसमें पूर्ण समावेश पाया जाता है। निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमार्ग का वर्णन करते हुए निश्चयनय और व्यवहारनय का उत्तम सामजस्य बैठाया है। अमृतचन्द्र स्वामी ने इस प्रकरण का समारोप करते हुए लिखा है –"अत एवोभयनयायत्ता पारमेश्वरी तीर्थप्रवर्तनेति" अर्थात् जिनेन्द्र भगवान् की तीर्थप्रवर्तना दोनों नयों के अधीन है। यहां निश्चय मोक्षमार्ग को साध्य तथा व्यवहार मोक्षमार्ग को साधक बताया गया है। यही भाव आपने तत्वार्थसार ग्रन्थ में भी प्रकट किया है –

निश्चयव्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थित: ।
तत्राद्य. साध्यरूप स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम्।। २।।
श्रद्धानाधिगमोपेक्षा. शुद्धस्य स्वात्मनो हि या ।
सम्यक्त्वज्ञानवृत्तात्मा मोक्षमार्ग. स निश्चय ।। ३।।
श्रद्धानाधिगमोपेक्षा या: पुन स्यु. परात्मनाम्।
सम्यक्त्वज्ञानवृत्तात्मा स मार्गो व्यवहारत: ।। ४।। नवमाधिकार

अर्थात् निश्चय और व्यवहार के भेद से मोक्षमार्ग दो प्रकार का है। उसमे पहला –निश्चय साध्यरूप है और दूसरा –व्यवहार उसका साधन है। शुद्ध स्वात्म द्रव्य की श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र रूप निश्चय मोक्षमार्ग है तथा परात्म द्रव्य की श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र रूप व्यवहार मोक्षमार्ग है। नियमसार में कुन्दकुन्द स्वामी ने भी निश्चय

और व्यवहार के भेद से नियम - सम्यग्दर्शनादि का द्विविध निरूपण किया है। आध्यात्मिक दृष्टि निश्चय ही को मोक्षमार्ग मानती है। वह मोक्षमार्ग का निरूपण, निश्चय और व्यवहार के भेद से दो प्रकार का मानती है परन्तु मोक्षमार्ग का एक निश्चय रूप ही स्वीकृत करती है। निश्चय को ही स्वीकृत करती है इसका फलितार्थ यह नहीं है कि वह व्यवहार मोक्षमार्ग को छोड देती है। उसका अभिप्राय है कि निश्चय के साथ व्यवहार तो नियम से होता ही है पर व्यवहार के साथ निश्चय हो भी और न भी हो। निश्चय मोक्षमार्ग, कार्य का साक्षात् जनक है इसलिए उसे मोक्षमार्ग स्वीकृत किया गया है परन्तु व्यवहार मोक्षमार्ग, परम्परा से कार्य का जनक है इसलिए उसे मोक्षमार्ग स्वीकृत नहीं किया गया है। शास्त्रीय दृष्टि परम्परा से कार्य जनक को भी कारण स्वीकृत करती है अत उसकी दृष्टि में व्यवहार को भी मोक्षमार्ग स्वीकृत किया गया है।

स्वसमय और परसमय का सूक्ष्मतम वर्णन करते हुए कितना सुन्दर कहा है -

जस्स हिदयेणुमत्तं वा परदव्वम्हि विज्जदे रागो।
सो ण वि जाणदि समयं सगस्स सव्वागमधरो वि।। १६७।।

अर्थात् जिसके हृदय में परद्रव्य (अरहंत आदि) विषयक राग अणुमात्र भी विद्यमान है वह समस्त आगम का धारी होकर भी स्वसमय को नही जानता है।

सूक्ष्म परसमय का वर्णन करते हुए कहा है कि यदि ज्ञानी- सराग सम्यग्दृष्टि जीव भी अज्ञान- शुद्धात्म परिणति से विलक्षण अज्ञान के कारण, शुद्ध संप्रयोग- अरहन्त आदि की भक्ति से दु खमोक्ष- सांसारिक दु खों से छुटकारा होता है, यदि ऐसा मानता है तो वह भी परसमयरत कहलाता है। गाथा इस प्रकार है -

अण्णाणादो णाणी जदि मण्णदि सुद्धसंपयोगादो।
हवदित्ति दुक्खमोक्खं परसमयरदो हवदि जीवो।। १६५।।

इस गाथा[1] की संस्कृत टीका में अमृतचन्द्रसूरि ने कहा है कि सिद्धि के साधनभूत अरहन्त आदि भगवन्तों में भक्तिभाव से अनुरंजित चित्तप्रवृत्ति यहां शुद्ध संप्रयोग है। अज्ञान अंश के आवेश से यदि ज्ञानवान् भी, "उस शुद्ध संप्रयोग से मोक्ष होता है" ऐसे अभिप्राय के द्वारा खिन्न होता हुआ उसमें (शुद्धसंप्रयोग में) प्रवर्ते तो वह भी रागांश के सद्भाव के कारण परसमयरत कहलाता है तो फिर निरंकुश रागरूप कालिमा से कलंकित अन्तरंगवृत्ति वाला इतर-जन क्या परसमयरत नहीं कहलावेगा ? अवश्य कहलायेगा। तात्पर्य यह है कि जब सरागसम्यग्दृष्टि भी रागांश के विद्यमान होने से परसमयरत है तब जो स्पष्ट ही राग से कलुषित है वह परसमय कैसे नहीं होगा ?

श्री कुन्दकुन्दस्वामी ने स्पष्ट कहा है -

अरहंत सिद्धचेदिय पवयणगणभत्तिसंपण्णो।
बंधदि पुण्णं बहुसो ण दु सो कम्मक्खयं कुणदि।। १६६।।

अर्थात् अरहन्त-सिद्ध परमेष्ठी, जिनप्रतिमा तथा साधु समूह की भक्ति से संपन्न मनुष्य बहुत प्रकार का पुण्य बन्ध करता है परन्तु कर्मों का क्षय नहीं करता। कर्मक्षय का प्रमुख कारण प्रशस्त और अप्रशस्त - सभी प्रकार के राग का अभाव होना ही है। पूर्ण वीतरागदशा होने पर अन्तर्मुहूर्त के अन्दर नियम से घातिचतुष्क का क्षय होकर अरहन्त अवस्था प्रकट हो जाती है। जिसकी अरहन्त अवस्था प्रकट हो जाती है वह उसी भव से निर्वाण को प्राप्त करता है।

अरहंतसिद्ध चेदिय पवयणभत्तो परेण णियमेण।
जो कुणदि तवोकम्मं सो सुरलोगं समादियदि।। १७१।।

अर्थात् अरहन्त, सिद्ध, जिनप्रतिमा तथा जिनागम की भक्ति से युक्त जो पुरुष उत्कृष्ट संयम के साथ तपस्या

1 "अर्हदादिषु भगवत्सु सिद्धिसाधनीभूतेषु भक्तिबलानुरंजिता चित्तवृत्तिरत्र शुद्धसंप्रयोग । अथ खल्वज्ञानलवावेशाद्यदि यावज्ज्ञानवानपि ततः शुद्धसंप्रयोगान्मोक्षो भवतीत्यभिप्रायेण खिद्यमानस्तत्र प्रवर्तते तदा तावत्सोऽपि रागलवसद्भावात्परसमयरत इत्युपगीयते। अथ न किं पुनर्निरंकुशरागकलिकलंकितान्तरंगवृत्तिरितरो जन इति"।

करता है वह स्वर्गलोक को प्राप्त होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि अरहन्तादिक की भक्ति रूप शुभ राग देवायु के बन्ध का कारण है, मोक्ष का कारण नहीं। इसे परम्परा से ही मोक्ष का कारण कहा जा सकता है।

मोक्ष का साक्षात् कारण बतलाते हुए ग्रन्थान्त में कहा है -

तह्मा णिव्वुदिकामो रागं सव्वत्थ कुणदि मा किंचि।
सो तेण वीदरागो भवियो भवसायरं तरदि।। १७२।।

इसलिये निर्वाण की इच्छा रखने वाला पुरुष सर्वत्र - शुभ-अशुभ सभी अवस्थाओं में कुछ भी राग मत करे। उसी से यह भव्य जीव वीतराग होता हुआ भवसागर - संसाररूपी समुद्र को तरता है। अर्थात मोक्ष का साक्षात् कारण परम वीतराग भाव ही है।

इस वीतराग भाव के विषय में श्री अमृतचन्द्र स्वामी ने लिखा है -

"तदिदं वीतरागत्वं व्यवहारनिश्चयाविरोधेनैवानुगम्यमानं भवति समीहितसिद्धये न पुनरन्यथा।"

अर्थात् इस वीतरागता का अनुगमन यदि व्यवहार और निश्चयनय का विरोध न करते हुए किया जाता है तो वह समीहित - चिराभिलषित मोक्ष की सिद्धि के लिये होता है अन्य प्रकार नहीं।

१७२ वी गाथा की टीका में विस्तार से कहा गया है कि मुमुक्षु प्राणी व्यवहार और निश्चयनय के आलम्बन से किस प्रकार आत्म समीहित को सिद्ध करता है। अमृतचन्द्र सूरि कहते हैं कि जो केवल व्यवहारनय का अवलम्बन लेते हैं वे बाह्य-क्रियाओं को करते हुए भी ज्ञान चेतना का कुछ भी सन्मान नहीं करते इसलिये प्रभूत पुण्यभार से, मन्थरित चित्तवृत्ति होते हुए सुरलोक आदि के क्लेशों की परम्परा से चिरकाल तक संसार सागर में ही परिभ्रमण करते रहते हैं। ऐसे जीवों के विषय में कहा है -

चरणकरणप्पहाणा ससमयपरमत्थमुक्कवावारा।
चरणकरणस्स सारं णिच्छयसुद्धं ण जाणंति।।

अर्थात् जो बाह्य आचरण के कर्तृत्व को ही प्रधान मानते हैं तथा स्वसमय के परमार्थ - वास्तविक स्वरूप में मुक्त व्यापार हैं - स्वसमय - स्वकीय शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति में कुछ भी उद्यम नहीं करते वे बाह्याचरण के सारभूत शुद्ध निश्चय को जानते ही नही है।

इसी प्रकार जो केवल निश्चयनय का आलम्बन लेकर बाह्याचरण से विरक्त बुद्धि हो जाते हैं - पराङ् मुख हो जाते हैं वे भिन्न साध्य-साधन रूप व्यवहार की उपेक्षा कर देते हे तथा अभिन्न साध्य-साधन रूप निश्चय को प्राप्त होते नही हैं इसलिये अधर में लटकते हुए केवल पाप का बन्ध करते हैं। ऐसे जीवों के विषय में कहा है -

णिच्छयमालंबंता णिच्छयदो णिच्छयं अयाणंता।
णासंति चरणकरणं बाहिरचरणालसा केई।।

अर्थात् जो निश्चय के वास्तविक स्वरूप को नहीं जानते हुए निश्चयाभास को ही निश्चय मानकर उसका आलम्बन लेते हैं वे बाह्याचरण में आलसी होते हुए प्रवृत्ति रूप चारित्र को नष्ट करते हैं।

यही भाव अपने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ में प्रकट किया है -

निश्चयमबुध्यमानो यो निश्चयतस्तमेव संश्रयते।
नाशयति करणचरणं स बहि करणालसो बाल ।। ५०।।

अर्थ स्पष्ट है।

इसी प्रकार जो निश्चय और व्यवहार के यथार्थ स्वरूप को न समझकर निश्चयाभास और व्यवहाराभास दोनों का आलम्बन लेते हैं वे भी समीहित सिद्धि से वंचित रहते हैं। जानने में केवल निश्चय और केवल व्यवहार के आलम्बन से विमुख हो जो अत्यन्त मध्यस्थ रहते हैं अर्थात् पदार्थ के जानने में अपने-अपने पद के अनुसार दोनों नयों का आलम्बन लेकर अन्त में दोनों नयों के विकल्प से परे रहने वाली निर्विकल्प भूमिका - शुद्धात्म परिणति

को प्राप्त होते हैं वे शीघ्र ही संसार समुद्र को तैरकर शब्दब्रह्म - शास्त्रज्ञान के स्थायीफल के भोक्ता होते हैं - मोक्ष को प्राप्त होते हैं। यही भाव इन्होंने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में भी दिखाया है -

व्यवहारनिश्चयौ य. प्रबुध्य तत्त्वेन भवति माध्यस्थ ।
प्राप्नोति देशनाया. स एव फलमविकलं शिष्य. ।। ८ ।।

अर्थात् जो यथार्थ रूप से व्यवहार और निश्चय को जानकर मध्यस्थ होता है - किसी एक के पक्ष को पकडकर नहीं बैठता, वही शिष्य देशना - गुरूपदेश के पूर्ण फल को प्राप्त होता है।

पंचास्तिकाय में सम्यग्दर्शन के विषयभूत पंचास्तिकायों और छह द्रव्यो का प्रमुख रूप से वर्णन है।

समयप्राभृत अथवा समयसार

"वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवलीभणियं" इस प्रतिज्ञावाक्य से मालूम होता है कि इस ग्रन्थ का नाम कुन्दकुन्दस्वामी को समयपाहुड (समयप्राभृत) अभीष्ट था। परन्तु पीछे चलकर "प्रवचनसार" और "नियमसार" इन सारान्त नामों के साथ यह भी "समयसार" नाम से प्रचलित हो गया। "समयते एकत्वेन युगपज्जानाति गच्छति च" अर्थात् जो पदार्थों को एक साथ जाने अथवा गुणपर्यायरूप परिणमन करे वह समय है इस निरुक्ति के अनुसार समय शब्द का अर्थ जीव होता है और "प्रकर्षेण आसमन्तात् भृतम् इति प्राभृतम्" जो उत्कृष्टता के साथ सब ओर से भरा हुआ है - जिसमें पूर्वापर विरोधरहित सांगोपांग वर्णन हो उसे प्राभृत कहते हैं। इस निरुक्ति के अनुसार प्राभृत का अर्थ शास्त्र होता है। "समयस्य प्राभृतम्" इस समास के अनुसार समयप्राभृत का अर्थ जीव - आत्मा का शास्त्र होता है। ग्रन्थ का चालू नाम समयसार है अत इसका अर्थ त्रैकालिक शुद्धस्वभाव अथवा सिद्धपर्याय है।

समयप्राभृत ग्रन्थ निम्नलिखित १० अधिकारों में विभाजित है - १ पूर्वरंग, २ जीवाजीवाधिकार, ३ कर्तृकर्माधिकार, ४ पुण्यपापाधिकार, ५ आस्रवाधिकार, ६ संवराधिकार, ७ निर्जराधिकार, ८ बन्धाधिकार, ९ मोक्षाधिकार और १० सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार। नयों का सामंजस्य बैठाने के लिये अमृतचन्द्रसूरि ने पीछे से स्याद्वादाधिकार और उपायोपेयभावाधिकार नामक दो स्वतन्त्र परिशिष्ट और जोडे हैं। अमृतचन्द्रसूरि कृत टीका के अनुसार समग्र ग्रन्थ ४१५ गाथाओं में समाप्त हुआ है और जयसेनाचार्यकृत टीका के अनुसार ४४२ गाथाओं में। उपर्युक्त अधिकारों का प्रतिपाद्य विषय इस प्रकार है -

१ पूर्वरंगाधिकार कुन्दकुन्दस्वामी ने स्वयं पूर्वरगनाम का कोई अधिकार सूचित नही किया है, परन्तु संस्कृत टीकाकार अमृतचन्द्र सूरि ने ३८ वीं गाथा की समाप्ति पर पूर्वरंग समाप्ति की सूचना दी है। इन ३८ गाथाओं में प्रारम्भ की १२ गाथाए पीठिका रूप में है। जिनमें ग्रन्थकर्ता ने मंगलाचरण, ग्रन्थप्रतिज्ञा, स्वसमय-परसमय का व्याख्यान तथा शुद्धनय और अशुद्धनय के स्वरूप का दिग्दर्शन कराया है। इन नयो के ज्ञान के बिना समयप्राभृत को समझना अशक्य है। पीठिका के बाद ३८ वी गाथा तक पूर्वरग नाम का अधिकार है जिसमें आत्मा के शुद्ध स्वरूप का निदर्शन कराया गया है। शुद्धनय आत्मा में जहा परद्रव्यजनित विभावभाव को स्वीकृत नही करता वहां वह अपने गुण और पर्यायों के साथ भेद भी स्वीकृत नहीं करता। वह इस बात को भी स्वीकृत नहीं करता कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये आत्मा के गुण है, क्योंकि इनमें गुण और गुणी का भेद सिद्ध होता है। वह, यह घोषित करता है कि आत्मा सम्यग्दर्शनादि रूप है। "आत्मा प्रमत्त है और आत्मा अप्रमत्त है" इस कथन को भी शुद्धनय स्वीकृत नहीं करता, क्योंकि इस कथन में आत्मा प्रमत्त और अप्रमत्त पर्यायों में विभक्त होता है। वह तो आत्मा को एक ज्ञायक ही स्वीकृत करता है। जीवाधिकार में जीव के निजस्वरूप का कथन कर उसे परपदार्थों और परपदार्थों के निमित्त से होने वाले विभावो से पृथक् निरूपित किया है। नोकर्म मेरा नही है, द्रव्यकर्म मेरा नहीं है, और भावकर्म भी मेरा नही है, इस तरह इन पदार्थों से आत्मतत्व को पृथक् सिद्धकर ज्ञेय-ज्ञायकभाव एवं भाव्यभावक भाव की अपेक्षा भी आत्मा को ज्ञेय तथा भाव्य से पृथक् सिद्ध किया है। जिस प्रकार दर्पण अपने में

प्रतिबिम्बित मयूर से भिन्न है उसी प्रकार आत्मा अपने ज्ञान में आये हुए घटपटादि ज्ञेयों से भिन्न है और जिस प्रकार दर्पण ज्वालाओं के प्रतिबिम्ब से संयुक्त होने पर भी तज्जन्य ताप से उन्मुक्त रहता है। इसी प्रकार आत्मा अपने अस्तित्व में रहने वाले सुख-दु खरूप कर्मफल के अनुभव से रहित है। इस तरह प्रत्येक पर पदार्थों से भिन्न आत्मा के अस्तित्व का श्रद्धान करना जीवतत्व के निरूपण का लक्ष्य है। इस प्रकरण के अन्त में कुन्दकुन्द स्वामी ने उद्घोष किया है -

> अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइयो सदा रूवी।
> णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तं पि।। ३८।।

अर्थात् निश्चय से मैं एक हूं, शुद्ध हूं, दर्शन-ज्ञान से तन्मय हूं, सदा अरूपी हूं, अन्य परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है।

इस सब कथन का तात्पर्य यह है कि यह जीव, पुद्गल के संयोग से उत्पन्न हुई संयोगज पर्याय में आत्मबुद्धिकर उनकी इष्ट-अनिष्ट परिणति में हर्ष-विषाद का अनुभव करता हुआ व्यर्थ ही रागी-द्वेषी होता है और उनके निमित्त से नवीन कर्मबन्ध कर अपने संसार की वृद्धि करता है। जब यह जीव, पर पदार्थों से भिन्न निज शुद्ध स्वरूप की ओर लक्ष्य करने लगता है तब पर पदार्थों से इसका ममत्वभाव स्वयमेव दूर होने लगता है।

२ जीवाजीवाधिकार जीव के साथ अनादिकाल से कर्म-नोकर्म रूप पुद्गल द्रव्य का सम्बन्ध चला आ रहा है। मिथ्यात्व दशा में यह जीव शरीर रूप नोकर्म की परिणति को आत्मा की परिणति मानकर उसमें अहंकार करता है - इस रूप ही मैं हूं ऐसा मानता है। अत सर्वप्रथम इसकी शरीर से पृथक्ता सिद्ध की है। उसके बाद ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म और रागादिक भावकर्मों से इसका पृथक्त्व दिखाया है। आचार्य महाराज ने कहा है कि हे भाई ! ये सब पुद्गल द्रव्य के परिणमन से निष्पन्न हैं अत पुद्गल के हैं, तू इन्हें जीव क्यों मान रहा है ? यथा -

> एए सव्वे भावा पुग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा।
> केवलिजिणेहिं भणिया कह ते जीवोत्ति वुच्चंति।। ४४।।

जो स्पष्ट ही अजीव हैं उनके अजीव कहने में तो कोई खास बात नहीं है परन्तु जो अजीवाश्रित परिणमन जीव के साथ घुल-मिलकर अनित्य तन्मयीभाव से तादात्म्य जैसी अवस्था को प्राप्त हो रहे हैं उन्हें अजीव सिद्ध करना इस अधिकार की विशेषता है। रागादिक भाव अजीव हैं, गुणस्थान, मार्गणा, जीवसमास आदि भाव अजीव हैं यह बात यहां तक सिद्ध की गई है। अजीव हैं - इसका यह तात्पर्य नहीं कि ये घटपटादि के समान अजीव हैं। यहां "अजीव हैं" इसका इतना ही तात्पर्य है कि ये जीव की स्वभाव परिणति नहीं है। यदि जीव की स्वभाव परिणति होती तो त्रिकाल में इनका अभाव नहीं होता। परन्तु जिस पौद्गलिक कर्म की उदयावस्था में ये भाव होते हैं उसका अभाव होने पर ये स्वयं विलीन हो जाते हैं। अग्नि के संसर्ग से पानी में उष्णता आती है परन्तु वह उष्णता सदा के लिये नहीं आती है। अग्नि का सम्बन्ध दूर होते ही दूर हो जाती है। इसी प्रकार क्रोधादि द्रव्यकर्मों के उदय काल में होने वाले रागादि भाव आत्मा में अनुभूत होते हैं परन्तु व संयोगज भाव होने से आत्मा के विभाव भाव हैं, स्वभाव नहीं, इसीलिये इनका अभाव हो जाता है।

ये रागादिक भाव आत्मा को छोडकर अन्य पदार्थों में नहीं होते इसलिये उन्हें आत्मा के कहने के लिये अन्य आचार्यों ने एक अशुद्धनिश्चयनय की कल्पना की है। वे, "शुद्धनिश्चयनय से आत्मा के नहीं हैं परन्तु अशुद्धनिश्चयनय से आत्मा के हैं, ऐसा कथन करते हैं परन्तु कुन्दकुन्द स्वामी विभाव को आत्मा मानने के लिये तैयार नहीं हैं। उन्हें आत्मा के कहना, वे व्यवहारनय का विषय मानते हैं और उस व्यवहार का जिसे कि उन्होंने अभूतार्थ कहा है।

इसी प्रसंग में जीव का स्वरूप बतलाते हुए कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है -

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं।। ४९।।

अर्थात् हे भव्य ! तू आत्मा को ऐसा जान कि वह रसरहित है, रूपरहित है, गन्ध रहित है, अव्यक्त अर्थात् स्पर्श रहित है, शब्दरहित है, अलिंगग्रहण है अर्थात् किसी खास लिंग से उसका ग्रहण नहीं होता तथा जिसका कोई आकार निर्दिष्ट नही किया गया है, ऐसा है, किन्तु चेतना गुण वाला है।

यहां चेतनागुण जीव का स्वरूप है और रस, गन्ध आदि उसके स्वरूप नही हैं। पर पदार्थ से उसका पृथक्त्व सिद्ध करने के लिये ही यहां उनका उल्लेख किया गया है। वर्णादिक और रागादिक - सभी जीव से भिन्न हैं - जीवेतर हैं। इस तरह इस जीवाजीवाधिकार में आचार्य ने मुमुक्षु प्राणी के लिये पर पदार्थ से भिन्न जीव के शुद्धस्वरूप का दर्शन कराया है। साथ ही उससे सम्बन्ध रखने वाले पदार्थ को अजीव दिखलाया है। यह जीवाजीवाधिकार ३९ वी गाथा से लेकर ६८ वीं गाथा तक चला है।

३ **कर्तृकर्माधिकार** जीव और अजीव (पौद्गलिक कर्म) अनादि काल से सम्बद्ध अवस्था को प्राप्त हैं इसलिये प्रश्न होना स्वाभाविक है कि इनके अनादि सम्बन्ध का कारण क्या है ? जीव ने कर्म को किया या कर्म ने जीव को किया ? यदि जीव ने कर्म को किया तो जीव में ऐसी कौन-सी विशेषता थी कि जिससे उसने कर्म को किया ? यदि बिना विशेषता के ही किया तो सिद्ध भगवान् भी कर्म को करें, इसमें क्या आपत्ति है ? और कर्म ने जीव को किया तो कर्म में ऐसी विशेषता कहां से आई कि वे जीव को कर सकें - उसमें रागादिक भाव उत्पन्न कर सकें। बिना विशेषता के ही यदि कर्म रागादिक करते हैं तो कर्म के अस्तित्व काल में सदा रागादिक उत्पन्न होना चाहिये ? इस प्रश्नावली से बचने के लिये यह समाधान किया गया है कि जीव के रागादि परिणामों से पुद्गल द्रव्य में कर्म रूप परिणमन होता है और पुद्गल के कर्मरूप परिणमन - उनकी उदयावस्था का निमित्त पाकर आत्मा में रागादिक भाव उत्पन्न होते हैं। इस समाधान में जो अन्योन्याश्रय दोष आता है उसे अनादि संयोग मानकर दूर किया गया है। इस कर्तृकर्माधिकार में कुन्दकुन्द स्वामी ने इसी बात का बडी सूक्ष्मता से वर्णन किया है।

अमृतचन्द्र स्वामी ने कर्ता, कर्म और क्रिया का लक्षण लिखते हुए कहा है -

य परिणमति स कर्ता य. परिणामो भवेत्तु तत्कर्म।
या परिणमति क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया।। ५१।।

अर्थात् जो परिणमन करता है वह कर्ता कहलाता है, जो परिणाम होता है उसे कर्म कहते हैं, और जो परिणति होती है वह क्रिया कहलाती है। वास्तव में ये तीनों ही भिन्न नही हैं एक द्रव्य की ही परिणतियां हैं।

निश्चय नय, कर्तृकर्म भाव उसी द्रव्य में मानता है जिसमें व्याप्य-व्यापक भाव अथवा उपादानोपादेय भाव होता है। जो कार्य रूप परिणत होता है उसे व्यापक या उपादान कहते हैं और जो कार्य होता है उसे व्याप्य या उपादेय कहते हैं। "मिट्टी से घट बना" यहां मिट्टी व्यापक या उपादान है और घट व्याप्य या उपादेय है। यह व्याप्य-व्यापक भाव या उपादानोपादेय भाव सदा एक द्रव्य में ही होता है, दो द्रव्यों में नहीं क्योंकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप परिणमन त्रिकाल में भी नहीं कर सकता। जो उपादान के कार्य रूप परिणमन में सहायक होता है वह निमित्त कहलाता है जैसे मिट्टी के घटाकार परिणमन में कुम्भकार तथा दण्ड, चक्र आदि। और उस निमित्त की सहायता से उपादान में जो कार्य होता है वह नैमित्तिक कहलाता है जैसे कुम्भकार आदि की सहायता से मिट्टी में हुआ घटाकार परिणमन। यह निमित्त-नैमित्तिक भाव दो विभिन्न द्रव्यों में भी बन जाता है परन्तु उपादानोपादेय भाव या व्याप्य-व्यापक भाव एक द्रव्य में ही बनता है। जीव के रागादि भाव का निमित्त पाकर पुद्गल में कार्यरूप परिणमन होता है और पुद्गल की उदयावस्था का निमित्त पाकर जीव में रागादि भाव उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार दोनों में निमित्त-नैमित्तिक भाव होने पर भी निश्चयनय उनमें कर्तृकर्मभाव को स्वीकृत नहीं करता।।

निमित्त-नैमित्तिक भाव के होने पर भी कर्तृकर्मभाव न मानने में युक्ति यह दी है कि ऐसा मानने पर निमित्त में द्विक्रियाकारित्व का दोष आता है अर्थात् निमित्त अपने परिणमन का भी कर्ता होगा और उपादान के परिणमन का भी कर्ता होगा, जो कि संभव नहीं है। कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है -

जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे।
जोगुवजोगा उप्पादगा य तेसिं हवदि कत्ता।। १००।।

जीव न तो घट को करता है, न पट को करता है और न बाकी के अन्यद्रव्यों को करता है जीव के योग और उपयोग ही उनके कर्ता हैं।

इसकी टीका में अमृतचन्द्र स्वामी ने लिखा है - जो घटादिक और क्रोधादिक परद्रव्यात्मक कर्म हैं यदि इन्हें आत्मा व्याप्य-व्यापक भाव से करता है तो तद्रूपता का प्रसंग आता है और निमित्त-नैमित्तिक भाव से करता है तो नित्य कर्तृत्व का प्रसंग आता है परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि आत्मा उनसे न तो तन्मय ही है और न नित्यकर्ता ही है अत न तो व्याप्य-व्यापक भाव से कर्ता है और न निमित्त-नैमित्तिक भाव से। किन्तु अनित्य जो योग और उपयोग है वे ही घट-पटादि द्रव्यों के निमित्त कर्ता हैं। उपयोग और योग आत्मा के विकल्प और व्यापार हैं अर्थात् जब आत्मा ऐसा विकल्प करता है कि मैं घट को बनाऊं, तब काय योग के द्वारा आत्मा के प्रदेशों में चंचलता आती है और चंचलता की निमित्तता पाकर हस्तादिक के व्यापार द्वारा दण्ड निमित्तक चक्र भ्रमित होता है तब घटादिक की निष्पत्ति होती है। यह विकल्प और योग अनित्य हैं, कदाचित् अज्ञान के द्वारा करने से आत्मा इनका कर्ता हो भी सकता है परन्तु पर द्रव्यात्मक कर्मों का कर्ता कदापि नही हो सकता। यहा निमित्त कारण को दो भागों में विभाजित किया है - एक साक्षात् निमित्त और दूसरा परम्परा निमित्त। कुम्भकार अपने योग और उपयोग का कर्ता है, यह साक्षात् निमित्त की अपेक्षा कथन है क्योंकि इनके साथ कुम्भकार का साक्षात् सम्बन्ध है और कुम्भकार के योग तथा उपयोग से दण्ड तथा चक्रादि में जो व्यापार होता है तथा उससे जो घटादिक की उत्पत्ति होती है वह परम्परा निमित्त की अपेक्षा कथन है। जब परम्परा निमित्त से होने वाले निमित्त-नैमित्तिक भाव को गौणकर कथन किया जाता है तब यह बात कही जाती है कि जीव घट-पटादि का कर्ता नहीं है परन्तु जब परम्परा निमित्त से होने वाले निमित्त-नैमित्तिक भाव को प्रमुखता देकर कथन किया जाता है तब जीव घट-पटादिक का कर्ता होता है। तात्पर्यवृत्ति की निम्न पंक्तियों से यही भाव प्रकट होता है -

"इति परम्परया निमित्तरूपेण घटादिविषये जीवस्य कर्तृत्वं स्यात्। यदि पुन मुख्यवृत्त्या निमित्तकर्तृत्वं भवति तर्हि जीवस्य नित्यत्वात् सर्वदैव कर्मकर्तृत्वप्रसंगात् मोक्षाभाव "। गाथा १००

इस प्रकार परम्परा निमित्त रूप से जीव घटादिक का कर्ता होता है, यदि मुख्य वृत्ति से जीव को निमित्त कर्ता माना जावे तो जीव के नित्य होने से सदा ही कर्मकर्तृत्व का प्रसंग आ जायगा और उस प्रसंग से मोक्ष का अभाव हो जायेगा।

"घट का कर्ता कुम्हार नहीं है, पट का कर्ता कुविन्द नही है और रथ का कर्ता बढ़ई नही है, यह कथन लोकविरुद्ध अवश्य प्रतीत होता है पर यथार्थ में जब विचार किया जाता है तब कुम्हार, कुविन्द और बढ़ई अपने-अपने उपयोग और योग के ही कर्ता होते हैं। लोक में जो उनका कर्तृत्व प्रसिद्ध है वह परम्परा निमित्त की अपेक्षा ही संगत होता है।

मूल प्रश्न यह था कि कर्म का कर्ता कौन है ? तथा रागादिक का कर्ता कौन है ? इस प्रश्न के उत्तर में जब व्याप्य-व्यापक भाव या उपादानोपादेय भाव की अपेक्षा विचार किया जाता है तब यह बात आती है कि चूंकि कर्मरूप परिणमन पुद्गल रूप उपादान में हुआ है इसलिए इसका कर्ता पुद्गल ही है जीव नहीं। परन्तु जब परम्परा निमित्त-नैमित्तिक भाव की अपेक्षा विचार होता है तब जीव के रागादिक भावों का निमित्त पाकर पुद्गल में कर्म

रूप परिणमन हुआ है इसलिए उनका कर्ता जीव है। उपादानोपादेय भाव की अपेक्षा रागादिक का कर्ता जीव है और परम्परा निमित्त-नैमित्तिक भाव की अपेक्षा उदयावस्था को प्राप्त रागादिक द्रव्यकर्म।

जीवादिक नौ पदार्थों के विवेचन के बीच में कर्तृकर्म भाव की चर्चा छेड़ने में कुन्दकुन्द स्वामी का इतना ही अभिप्राय ध्वनित होता है कि यह जीव अपने आपको किसी पदार्थ का कर्ता, धर्ता तथा हर्ता मानकर व्यर्थ ही रागद्वेष के प्रपंच मे पड़ता है। अपने आपको पर का कर्ता मानने से अहंकार उत्पन्न होता है और पर की इष्ट-अनिष्ट परिणति मे हर्ष-विषाद का अनुभव होता है। जब तक पर पदार्थों और तन्निमित्तक वैभाविक भावों में हर्ष-विषाद का अनुभव होता रहता है तब तक यह जीव अपने ज्ञाता-द्रष्टा स्वभाव में सुस्थिर नहीं होता। वह मोह की धारा में बहकर स्वरूप से च्युत रहता है। मोक्षाभिलाषी जीव को अपनी यह भूल सबसे पहले सुधार लेनी चाहिए। इसी उद्देश्य से आस्रवादि तत्वों की चर्चा करने के पूर्व कुन्दकुन्द स्वामी ने सचेत किया है कि हे मुमुक्षु प्राणी ! तू कर्तृत्व के अहंकार से बच, अन्यथा रागद्वेष की दल-दल में फंस जावेगा।

"आत्मा कर्मों का कर्ता और भोक्ता नहीं है" निश्चय नय के इस कथन का विपरीत फलितार्थ निकाल कर जीवों को स्वच्छन्द नहीं होना चाहिए। क्योंकि अशुद्ध निश्चयनय से जीव रागादिक भावों का और व्यवहार नय से कर्मों का कर्ता तथा भोक्ता स्वीकृत किया गया है। परस्पर विरोधी नयों का सामंजस्य पात्र भेद के विचार से ही सम्पन्न होता है।

इसी कर्तृकर्माधिकार में अमृतचन्द्र स्वामी ने अनेक नय पक्षों का उल्लेख कर तत्ववेदी पुरुष को उनके पक्ष से अतिक्रान्त - परे रहने वाला बताया है। आखिर, नय वस्तुस्वरूप को समझने के साधन हैं, साध्य नहीं। एक अवस्था ऐसी भी आती है जहां व्यवहार और निश्चय दोनों प्रकार के नयों के विकल्पों का अस्तित्व नहीं रहता, प्रमाण अस्त हो जाता है और निक्षेप चक्र का तो पता ही नही चलता कि वह कहां गया -

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाण,
क्वचिदपि न च विद्मो याति निक्षेपचक्रम्।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मि-
न्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव।। ९।।

४ पुण्यपापाधिकार संसारचक्र से निकलकर मोक्ष प्राप्त करने के अभिलाषी प्राणी को पुण्य का प्रलोभन अपने लक्ष्य से भ्रष्ट करने वाला है इसलिये कुन्दकुन्द स्वामी आस्रवाधिकार का प्रारम्भ करने के पहले ही इसे सचेत करते हुए कहते हैं कि हे मुमुक्षु ! तू मोक्ष रूपी महानगर की यात्रा के लिये निकला है। देख, कहीं बीच में ही पुण्य के प्रलोभन में नहीं पड जाना। यदि उसके प्रलोभन में पड़ा तो एक झटके में ऊपर से नीचे आ जावेगा और सागरों पर्यन्त के लिये उसी पुण्यमहल में नजरकैद हो जायगा।

अधिकार के प्रारम्भ में कुन्दकुन्द महाराज कहते हैं कि लोग अशुभ को कुशील और शुभ को सुशील कहते हैं परन्तु वह शुभ सुशील कैसे हो सकता है ? जो इस जीव को संसार में ही प्रविष्ट रखता है - उससे बाहर नहीं निकलने देता। बन्धन की अपेक्षा सुवर्ण और लोह - दोनों की बेड़ियां समान हैं। जो बन्धन से बचना चाहता है उसे सुवर्ण की बेडी भी तोड़ना होगी।

वास्तव में यह जीव पुण्य का प्रलोभन तोड़ने में असमर्थ-सा हो रहा है। यदि अपने आत्म स्वातन्त्र्य तथा शुद्ध स्वभाव की ओर इसका लक्ष्य बन जावे तो कठिन नहीं है। दया, दान, व्रताचरण आदि के भाव लोक में पुण्य कहे जाते हैं और हिंसादि पापों में प्रवृत्ति रूप भाव पाप कहे जाते हैं। पुण्य के फल स्वरूप पुण्य प्रकृतियों का बन्ध होता है और पाप के फलस्वरूप पाप प्रकृतियों का। जब उन पुण्य और पाप प्रकृतियों का उदयकाल आता है तब इस जीव को सुख-दुःख का अनुभव होता है। परमार्थ से विचार किया जावे तो पुण्य और पाप - दोनों प्रकार की

प्रकृतियों का बन्ध इस जीव को संसार में ही रोकने वाला है। इसलिये इनसे बचकर उस तृतीयावस्था को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिये जो पुण्य और पाप - दोनों के विकल्प से परे है। उस तृतीयावस्था में पहुंचने पर ही यह जीव कर्मबन्ध से बच सकता है और कर्म बन्ध से बचने पर ही जीव का वास्तविक कल्याण हो सकता है। उन्होंने कहा है -

परमट्ठबाहिरा जे अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति।
संसारगमणहेदुं वि मोक्खहेउं अजाणंता।। १५४।।

जो परमार्थ से बाहय है अर्थात् ज्ञानात्मक आत्मा के अनुभव से शून्य है वे अज्ञान से संसार गमन का कारण होने पर भी पुण्य की इच्छा करते है तथा मोक्ष के कारण को जानते भी नहीं है।

यहां आचार्य महाराज ने कहा है कि जो मनुष्य परमार्थ ज्ञान से रहित है वे अज्ञानवश मोक्ष का साक्षात् कारण जो वीतराग परिणति है उसे तो जानते नहीं है और पुण्य को मोक्ष का साक्षात् कारण समझकर उसकी उपासना करते है जब कि यह पुण्य ससार की ही प्राप्ति का कारण है। यहां पुण्य रूप आचरण का निषेध नहीं है किन्तु पुण्याचरण को मोक्ष का साक्षात् मार्ग मानने का निषेध किया है। ज्ञानी जीव अपने पद के अनुरूप पुण्याचरण करता है और उसके फल स्वरुप प्राप्त हुए इन्द्र, चक्रवर्ती आदि के वैभव का उपभोग भी करता है परन्तु श्रद्धा में यही भाव रखता है कि हमारा यह पुण्याचरण मोक्ष का साक्षात् कारण नहीं है तथा उसके फल स्वरूप जो वैभव प्राप्त होता है वह मेरा स्वपद नहीं है। यहां इतनी बात ध्यान में रखने योग्य है कि जिस प्रकार पापाचरण बुद्धि पूर्वक छोडा जाता है उस प्रकार बुद्धि पूर्वक पुण्याचरण नही छोडा जाता, वह तो शुद्धोपयोग की भूमिका में प्रविष्ट होने पर स्वयं ही छूट जाता है।

जिनागम का कथन नय सापेक्ष होता है अत शुद्धोपयोग की अपेक्षा शुभोपयोग रूप पुण्य को त्याज्य कहा गया है परन्तु अशुभोपयोग रूप पाप की अपेक्षा उसे उपादेय बताया गया है। शुभोपयोग में यथार्थ मार्ग जल्दी मिल सकता है परन्तु अशुभोपयोग में उसकी संभावना ही नही है। जैसे प्रात काल सम्बन्धी सूर्य लालिमा का फल सूर्योदय है और सायंकाल सम्बन्धी सूर्य लालिमा का फल सूर्यास्त है। इसी आपेक्षिक कथन को अंगीकृत करते हुए श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने मोक्षपाहुड में कहा है -

वरवयतवेहिं सग्गो मा दुक्खं होउ णिरय इयरेहिं।
छायातवट्ठियाण पडिवालंताण गुरुभेयं।। २५।।

और इसी अभिप्राय से पूज्यपाद स्वामी ने भी इष्टोपदेश में शुभोपयोग रूप व्रताचरण से होने वाले दैव पद को कुछ अच्छा कहा है और अशुभोपयोग रूप पापाचरण से होने वाले नारक पद को बुरा कहा है -

वरं व्रतै पदं दैवं नाव्रतैर्वत नारकम्।
छायातास्थयोर्भेद प्रतिपालयतोर्महान्।। ३।।

अर्थात् व्रतो से देवपद पाना कुछ अच्छा है परन्तु अव्रतों से नारक पद पाना अच्छा नही है। क्योंकि छाया और धूप में बैठकर प्रतीक्षा करने वालों में महान् अन्तर है।

अशुभोपयोग सर्वथा त्याज्य ही है और शुद्धोपयोग उपादेय ही है। परन्तु शुभोपयोग पात्रभेद की अपेक्षा हेय और उपादेय दोनों रूप है।[1] किन्हीं-किन्हीं आचार्यों ने सम्यग्दृष्टि के पुण्य को मोक्ष का कारण बताया है और मिथ्यादृष्टि के पुण्य को बन्ध का कारण। उनका यह कथन भी नय विवक्षा से संगत होता है। वस्तु तत्व का यथार्थ विश्लेषण करने पर यह बात अनुभव में आती है कि सम्यग्दृष्टि जीव की, मोह का आंशिक अभाव हो जाने से, आंशिक

1 सम्मादिट्ठी पुण्णं ण होइ ससारकारणं णियमा।
मोक्खस्स होइ हेउं जइ वि णिदाणं ण सो कुणई।। ४०४।। भावसग्रहे देवसेनस्य

निर्मोह अवस्था हुई है वही उसकी निर्जरा का कारण है और जो शुभ राग रूप अवस्था है वह बन्ध का ही कारण है। बन्ध के कारणों की चर्चा करते हुए कुन्दकुन्द स्वामी ने एक ही बात कही है -

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपत्तो।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज।। १५०।।

रागी जीव कर्मों को बांधता है और विराग को प्राप्त हुआ जीव कर्मों को छोडता है। यह भी जिनेश्वर का उपदेश है, इससे कर्मों मे राग मत करो।

यहां आचार्य ने शुभ अशुभ दोनों प्रकार के राग को ही बन्ध का कारण कहा है। यह बात जुदी है कि शुभराग से शुभ कर्म का बन्ध होता है और अशुभ राग से अशुभ कर्म का। शुभ राग के समय शुभ कर्मों मे स्थिति अनुभाग बन्ध अधिक होता है और अशुभ राग मे अशुभ कर्मों मे स्थिति-अनुभाग बन्ध अधिक होता है। वैसे प्रकृति और प्रदेश बन्ध तो यथासंभव व्युच्छित्ति पर्यन्त सभी कर्मों का होता रहता है।

यह पुण्यपापाधिकार १४५ से १६३ गाथा तक चलता है।

५ आस्रवाधिकार सक्षेप में जीव द्रव्य की दो अवस्थाएं है - एक संसारी और दूसरी मुक्त। इनमें संसारी अवस्था अशुद्ध होने से हेय है और मुक्त अवस्था शुद्ध होने से उपादेय है। संसार अवस्था का कारण आस्रव और बन्ध तत्व है तथा मोक्ष अवस्था का कारण संवर और निर्जरा तत्व है। आत्मा के जिन भावों से कर्म आते हैं उन्हें आस्रव कहते हैं। ऐसे भाव चार हैं - १ मिथ्यात्व, २ अविरमण, ३ कषाय और ४ योग। यद्यपि तत्वार्थसूत्रकार ने इन चार के सिवाय प्रमाद का भी वर्णन किया है परन्तु कुन्दकुन्द स्वामी प्रमाद को कषाय का ही एक रूप मानते हैं अत उन्होंने चार आस्रवों का ही वर्णन किया है। इन्ही चार के निमित्त से आस्रव होता है। मिथ्यादृष्टि गुणस्थान मे चारो ही आस्रव हैं, उसके बाद अविरतसम्यग्दृष्टि तक अविरमण, कषाय और योग ये तीन आस्रव हैं। पंचम गुणस्थान मे एक देश अविरमण का अभाव हो जाता है। छठवें गुणस्थान से दशवें गुणस्थान तक कषाय और योग ये दो आस्रव है और उसके बाद ११, १२, और १३ वें गुणस्थान मे मात्र योग आस्रव है। तथा चौदहवें गुणस्थान में आस्रव बिलकुल ही नहीं है।

इस अधिकार की खास चर्चा यह है कि ज्ञानी अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव के आस्रव और बन्ध नहीं होते। जब कि करणानुयोग की पद्धति से अविरत सम्यग्दृष्टि को आदि लेकर तेरहवें गुणस्थान तक क्रम से ७७, ६७, ६३, ५६, ५८, २२, १७, १, १, १ प्रकृतियों का बन्ध बताया है। यहां कुन्दकुन्द स्वामी का यह अभिप्राय है कि जिस प्रकार मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी के उदयकाल मे इस जीव के तीव्र अर्थात् अनन्त संसार का कारण बन्ध होता था उस प्रकार का बन्ध सम्यग्दृष्टि जीव के नही होता। सम्यग्दर्शन की ऐसी अद्‌भुत महिमा है कि उसके होने के पूर्व ही बध्यमान कर्मों की स्थिति घटकर अन्त कोडाकोडी सागर प्रमाण हो जाती है और सत्ता मे स्थित कर्मों की स्थिति इससे भी संख्यात हजार सागर कम रह जाती है। वैसे भी अविरत सम्यग्दृष्टि जीव के ४१ और प्रकृतियों का आस्रव और बन्ध तो रुक ही जाता है। वास्तविक बात यह है कि सम्यग्दृष्टि जीव के सम्यग्दर्शन रूप परिणामों से बन्ध नही होता। उसके जो बन्ध होता है उसका कारण अप्रत्याख्यानावरणादि कषायों का उदय है। सम्यग्दर्शनादि भाव, मोक्ष के कारण हैं वे बन्ध के कारण नहीं हो सकते किन्तु उनके सद्‌भावकाल मे रागादिक भाव हैं वे ही बन्ध के कारण है। इसी भाव को अमृतचन्द्रसूरि ने निम्नांकित कलश में प्रकट किया है -

रागद्वेषविमोहानां ज्ञानिनो यदसंभवः।
तत एव न बन्धोऽस्य ते हि बन्धस्य कारणम्।। ११६।।

चूंकि ज्ञानी जीव के राग, द्वेष और विमोह का अभाव है इसलिये उसके बन्ध नहीं होता। वास्तव में रागादिक ही बन्ध के कारण है जहां जघन्य रत्नत्रय को बन्ध का कारण बतलाया है वहां भी यही विवक्षा ग्राह्य है कि उसके

काल में जो रागादिक भाव हैं वे बन्ध के कारण है। रत्नत्रय को उपचार से बन्ध का कारण कहा गया है।

यह आस्रवाधिकार १६४ से १८० गाथा तक चलता है।

६ **संवराधिकार** आस्रव का विरोधी तत्व संवर है अत. आस्रव के बाद ही उसका वर्णन किया जा रहा है।[1] "आस्रवनिरोध. संवर " आस्रव का रुक जाना संवर है। यद्यपि अन्य ग्रन्थकारों ने गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र को संवर कहा है किन्तु इस अधिकार में कुन्दकुन्द स्वामी ने भेद विज्ञान को ही सवर का मूल कारण बतलाया है। उनका कहना है कि उपयोग, उपयोग में ही है, क्रोधादिक में नहीं है और क्रोधादिक, क्रोधादिक ही में है उपयोग में नहीं हैं। कर्म और नोकर्म तो स्पष्ट ही आत्मा से भिन्न हैं अत उनसे भेदज्ञान प्राप्त करने में महिमा नही है। महिमा तो उस रागादिक भावकर्मों से अपने ज्ञानोपयोग को भिन्न करने में है जो तन्मयीभाव को प्राप्त होकर एक दिख रहे हैं। अज्ञानी जीव इस ज्ञानधारा और रागादि धारा को भिन्न-भिन्न नहीं समझ पाता इसलिये वह किसी पदार्थ का ज्ञान होने पर उसमें तत्काल रागद्वेष करने लगता है परन्तु ज्ञानी जीव उन दोनों धाराओं के अन्तर को समझता है इसलिये वह किसी पदार्थ को देखकर उसका ज्ञाता-द्रष्टा तो रहता है परन्तु रागी-द्वेषी नहीं बनता। जहां यह जीव रागादिक को अपने ज्ञाता-द्रष्टा स्वभाव से भिन्न अनुभव करने लगता है वही उनके सम्बन्ध से होने वाले रागद्वेष से बच जाता है। रागद्वेष से बच जाना ही सच्चा संवर है। किसी वृक्ष को उखाडना हो तो उसके पत्ते नोचने से काम नही चलेगा, उसकी जड पर प्रहार करना होगा। रागद्वेष की जड हैं भेदविज्ञान का अभाव। अत भेदविज्ञान के द्वारा उन्हें अपने स्वरुप से पृथक् समझना यही उनके नष्ट करने का वास्तविक उपाय है। इस भेदविज्ञान की महिमा का गान करते हुए भी अमृतचन्द्रसूरि ने कहा है -

भेदविज्ञानतः सिद्धा. सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन।। १३१।।

आज तक जितने सिद्ध हुए हैं वे सब भेदविज्ञान से ही सिद्ध हुए हैं और जितने संसार में बद्ध हैं वे भेदविज्ञान के अभाव से ही बद्ध हैं।

इस भेदविज्ञान की भावना तब तक करते रहना चाहिये जब तक कि ज्ञान, पर से च्युत होकर ज्ञान में ही प्रतिष्ठित नही हो जाता। पर पदार्थ से ज्ञान को भिन्न करने का पुरुषार्थ चतुर्थगुणस्थान से शुरु होता है और दशम गुणस्थान के अन्तिम समय में समाप्त होता है। वहां वह जीव परमार्थ से अपनी ज्ञानधारा को रागादिक की धारा से पृथक् कर लेता है। इस दशा में इस जीव का ज्ञान, सचमुच ही ज्ञान में प्रतिष्ठित हो जाता है और इसीलिये जीव के रागादिक के निमित्त से होने वाले बन्ध का सर्वथा अभाव हो जाता है। मात्र योग के निमित्त से सातावेदनीय का आस्रव और बन्ध होता है सो भी सापरायिक आस्रव और स्थिति तथा अनुभाग बन्ध नहीं। मात्र ईर्यापथ आस्रव और प्रकृति-प्रदेश बन्ध होता है। अन्तर्मुहूर्त के भीतर ऐसा जीव नियम से केवलज्ञान प्राप्त करता है। अहो भव्यप्राणियो ' संवर के इस साक्षात् मार्ग पर अग्रसर होओ जिससे आस्रव और बन्ध से छुटकारा मिले।

संवराधिकार १८१ से १९२ गाथा तक चलता है।

७ **निर्जराधिकार** सिद्धों के अनन्तवें भाग और अभव्यराशि से अनन्तगुणित कर्म परमाणुओं की निर्जरा संसार के प्रत्येक प्राणी के प्रतिसमय हो रही है पर ऐसी निर्जरा से किसी का कल्याण नही होता। क्योंकि जितने कर्म परमाणुओं की निर्जरा होती हे। उतने ही कर्म परमाणु आस्रव पूर्वक बन्ध को प्राप्त हो जाते हैं। कल्याण उस निर्जरा से होता है जिसके होने पर नवीन कर्म परमाणुओं का आस्रव और बन्ध नही होता। इसी उद्देश्य से यहां कुन्दकुन्द महाराज ने संवर के बाद ही निर्जरा पदार्थ का निरुपण किया है। सवर के बिना निर्जरा की कोई सफलता नहीं है।

---

1 तत्त्वार्थसूत्र नवमाध्याय १ सूत्र २ "स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयचारित्रै." ।

निर्जराधिकार के प्रारम्भ में ही कहा गया है -

उवभोगमिंदियेहिं दव्वाणमचेदणाणमिदराण।

जं कुणदि सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं।। १६३ ।।

सम्यग्दृष्टि जीव के इन्द्रियों के द्वारा जो चेतन अचेतन पदार्थों का उपभोग होता है वह सब निर्जरा के निमित्त होता है। अहो ' सम्यग्दृष्टि जीव की कैसी उत्कृष्ट महिमा है कि उसके पूर्वबद्ध कर्म उदय में आ रहे हैं और उनके उदय काल में होने वाला उपभोग भी हो रहा है परन्तु उससे नवीन बन्ध नही होता। किन्तु पूर्वबद्ध कर्म अपना फल देकर खिर जाते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव कर्म और कर्म के फल का भोक्ता अपने आपको नहीं मानता। उनका ज्ञायक तो होता है वह, परन्तु भोक्ता नही। भोक्ता अपने ज्ञायक स्वभाव का ही होता है। यही कारण है कि उसकी वह प्रवृत्ति निर्जरा का कारण बनती है।

सम्यग्दृष्टि जीव के ज्ञान और वैराग्य की अद्भुत सामर्थ्य है। ज्ञान सामर्थ्य की महिमा बतलाते हुए कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है कि जिस प्रकार विष का उपभोग करता हुआ वैद्य पुरुष मरण को प्राप्त नही होता उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष पुद्गल कर्मों के उदय का उपभोग करता हुआ बन्ध को प्राप्त नही होता। वैराग्य सामर्थ्य की महिमा बतलाते हुए कहा है कि जिस प्रकार अरतिभाव से मदिरा का पान करने वाला मनुष्य मद को प्राप्त नही होता, उसी प्रकार अरतिभाव से द्रव्य का उपभोग करने वाला ज्ञानी पुरुष बन्ध को प्राप्त नहीं होता। कैसी अद्भुत महिमा ज्ञान और वैराग्य की है कि उसके होने पर सम्यग्दृष्टि जीव मात्र निर्जरा को करता है, बन्ध को नही। अन्य ग्रन्थों में इस अविद्या की निर्जरा का कारण तपश्चरण कहा गया है परन्तु कुन्दकुन्द स्वामी ने तपश्चरण को यथार्थ तपश्चरण बनाने वाला जो ज्ञान और वैराग्य है उसी का सर्वप्रथम वर्णन किया है। ज्ञान और वैराग्य के बिना तपश्चरण निर्जरा का कारण न होकर शुभ बन्ध का कारण होता है। ज्ञान और वैराग्य से शून्य तपश्चरण के प्रभाव से यह जीव अनन्त बार मुनिव्रत धारण कर नौवें ग्रैवेयक तक उत्पन्न हो जाता है परन्तु उतने मात्र से संसार भ्रमण का अन्त नही होता।

अब प्रश्न यह है कि सम्यग्दृष्टि जीव के क्या निर्जरा ही निर्जरा होती है बन्ध बिलकुल नही होता ? इसका उत्तर करणानुयोग की पद्धति से यह होता है कि सम्यग्दृष्टि जीव के निर्जरा का होना प्रारम्भ हो गया। मिथ्यादृष्टि जीव के ऐसी निर्जरा आज तक नही हुई। किन्तु सम्यग्दर्शन के होते ही वह ऐसी निर्जरा का पात्र बन जाता है। "सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिना क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जरा " - आगम में गुणश्रेणी निर्जरा के ये दस स्थान बतलाये हैं। इनमें निर्जरा उत्तरोत्तर बढती जाती है। सम्यग्दृष्टि जीव के निर्जरा और बन्ध दोनों चलते हैं। निर्जरा के कारणों से निर्जरा होती है और बन्ध के कारणों से बन्ध होता है। जहां बन्ध का सर्वथा अभाव होकर मात्र निर्जरा ही निर्जरा होती है ऐसा तो सिर्फ चौदहवां गुणस्थान है। उसके पूर्व चतुर्थगुणस्थान से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक निर्जरा और बन्ध दोनों चलते हैं। यह ठीक है कि जैसे-जैसे यह जीव उपरितन गुणस्थानों में चढता जाता है वैसे-वैसे निर्जरा में वृद्धि और बन्ध में न्यूनता होती जाती है। सम्यग्दृष्टि जीव के ज्ञान और वैराग्यशक्ति की प्रधानता हो जाती है इसलिये बन्ध के कारणों की गौणता कर ऐसा कथन किया जाता है कि सम्यग्दृष्टि के निर्जरा ही होती है, बन्ध नहीं। इसी निर्जराधिकार में कुन्दकुन्द स्वामी ने सम्यग्दर्शन के आठ अंगों का विशद वर्णन किया है।

यह अधिकार १६३ से लेकर २३६ गाथा तक चलता है।

८ बन्धाधिकार आत्मा और पौद्गलिक कर्म - दोनों ही स्वतन्त्र द्रव्य हैं और दोनों में चेतन अचेतन की अपेक्षा पूर्व-पश्चिम जैसा अन्तर है। फिर भी इनका अनादिकाल से संयोग बन रहा है। जिस प्रकार चुम्बक में लोहा को खींचने की और लोहा में खिंचने की योग्यता है उसी प्रकार आत्मा में कर्म रूप पुद्गल को खींचने की और

कर्म रूप पुद्गल में खिंचने की योग्यता है। अपनी-अपनी योग्यता के कारण दोनों का एक क्षेत्रावगाह हो रहा है। इसी एक क्षेत्रावगाह को बन्ध कहते हैं। इस बन्ध दशा के कारणों का वर्णन करते हुए आचार्य ने स्नेह अर्थात् रागभाव को ही प्रमुख कारण बतलाया है। अधिकार के प्रारम्भ में ही वे एक दृष्टान्त देते हैं कि जिस प्रकार धूलिबहुल स्थान में कोई मनुष्य शस्त्रों से व्यायाम करता है, ताड तथा केले आदि के वृक्षों को छेदता-भेदता है, इस क्रिया से उसके शरीर के साथ धूलि का सम्बन्ध होता है सो इस सम्बन्ध के होने में कारण क्या है ? उस व्यायामकर्ता के शरीर में जो स्नेह-तैल लग रहा है, वही उसका कारण है। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव, इन्द्रिय विषयों में व्यापार करता है, उस व्यापार के समय जो कर्म रूपी धूलि का सम्बन्ध उसकी आत्मा के साथ होता है, उसका कारण क्या है ? उसका कारण भी उसकी आत्मा में विद्यमान स्नेह अर्थात् रागभाव है। यह रागभाव जीव का स्वभाव नहीं किन्तु विभाव है और वह भी द्रव्य कर्मों की उदयावस्था रूप कारण से उत्पन्न हुआ है।

आस्रवाधिकार में आस्रव के जो चार प्रत्यय - मिथ्यादर्शन, अविरमण, कषाय और योग बतलाये हैं वे ही बन्ध के भी प्रत्यय - कारण हैं। इन्हीं प्रत्ययों का संक्षिप्त नाम रागद्वेष अथवा अध्यवसान भाव है। इन अध्यवसान भावों का जिनके अभाव हो जाता है वे शुभ-अशुभ कर्मों के साथ बन्ध को प्राप्त नहीं होते। जैसा कि कहा है -

एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणि।
ते असुहेण सुहेण व कम्मेण मुणी ण लिंपंति।। २७०।।

मैं किसी की हिंसा करता हूं तथा कोई अन्य जीव मेरी हिंसा करते हैं। मैं किसी को जिलाता हूं तथा कोई अन्य मुझे जिलाते हैं। मैं किसी को सुख-दु ख देता हूं तथा कोई अन्य मुझे सुख-दु ख देते हैं - यह सब भाव अध्यवसान भाव कहलाते हैं। मिथ्यादृष्टि जीव इन अध्यवसान भावों को कर कर्म बन्ध करता है और सम्यग्दृष्टि जीव उनसे दूर रहता है।

सम्यग्दृष्टि जीव बन्ध के इस वास्तविक कारण को समझता है इसलिये वह उसे दूर कर निर्बन्ध अवस्था को प्राप्त होता है परन्तु मिथ्यादृष्टि जीव इस वास्तविक कारण को नहीं समझ पाता इसलिये करोडों वर्ष की तपस्या के द्वारा भी वह निर्बन्ध अवस्था को प्राप्त नहीं कर पाता। मिथ्यादृष्टि जीव धर्म का आचरण - तपश्चरण आदि करता भी है परन्तु "धम्मं भोगणिमित्तं ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं" धर्म को भोग के निमित्त करता है, कर्म क्षय के निमित्त नही।

अरे भाई ! सच्चा कल्याण यदि करना चाहता है तो इन अध्यवसान भावों को समझ और उन्हें दूर करने को पुरुषार्थ कर।

कितने ही जीव निमित्त की मान्यता से बचने के लिये ऐसा व्याख्यान करते हैं कि आत्मा में रागादिक अध्यवसान भाव स्वत होते हैं, उनमें द्रव्यकर्म की उदयावस्था निमित्त नहीं है। ऐसे जीवों को बन्धाधिकार की निम्न गाथाओं का मनन कर अपनी श्रद्धा ठीक करनी चाहिए -

जह फलिहमणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं।
रंगिज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादीहिं दव्वेहिं।। २७८।।
एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रागादीहिं दोसेहिं।। २७९।।

जैसे स्फटिक मणि आप शुद्ध है, वह स्वयं ललाई आदि रंग रूप परिणमन नहीं करता किन्तु लाल आदि द्रव्यों से ललाई आदि रंग रूप परिणमन करता है। इसी प्रकार ज्ञानी जीव आप शुद्ध है, वह स्वयं राग आदि विभाव रूप परिणमन नहीं करता, किन्तु अन्य राग आदि दोषों - द्रव्यकर्मोदय जनित विकारों से रागादि विभाव भाव रूप परिणमन करता है।

श्री अमृतचन्द्र स्वामी ने भी कलशा के द्वारा उक्त भाव प्रकट किया है -

न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककान्त ।
तस्मिन्निमित्तं परसंग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत् ।। १७५ ।।

जिस प्रकार अर्ककान्त - स्फटिकमणि स्वयं ललाई आदि को प्राप्त नही होता उसी प्रकार आत्मा स्वयं रागादि के निमित्त भाव को प्राप्त नहीं होता उसमें निमित्त परसंग ही है - आत्मा के द्वारा किया हुआ पर का संग ही है।

ज्ञानी जीव स्वभाव और विभाव के अन्तर को समझता है। वह स्वभाव को अकारण मानता है पर विभाव को सकारण मानता है। ज्ञानी जीव स्वभाव में स्वत्व बुद्धि रखता है और विभाव में परत्व बुद्धि। इसीलिये वह बन्ध से बचता है।

यह अधिकार २३७ से लेकर २८७ गाथा तक चलता है।

९ **मोक्षाधिकार** आत्मा की सर्वकर्म से रहित जो अवस्था है उसे मोक्ष कहते हैं। मोक्ष शब्द ही इसके पूर्व रहने वाली बद्ध अवस्था का प्रत्यय कराता है। मोक्षाधिकार में मोक्ष प्राप्ति के कारणों का विचार किया गया है। प्रारम्भ में ही कुन्दकुन्दस्वामी लिखते हैं - जिस प्रकार चिर काल से बन्धन में पडा हुआ कोई पुरुष उस बन्धन के तीव्र, मन्द या मध्यमभाव को जानता है तथा उसके कारणों को भी समझता है परन्तु उस बन्धन का - बेडी का छेदन नहीं करता है तो उस बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता। इसी प्रकार जो जीव कर्म बन्ध के प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग बन्ध को जानता है तथा उनकी स्थिति आदि को भी समझता है परन्तु उस बन्ध को छेदने का पुरुषार्थ नहीं करता तो वह उस कर्म बन्ध से मुक्त नहीं हो सकता।

इस सन्दर्भ में कुन्दकुन्द स्वामी ने बडी उत्कृष्ट बात कही है। मेरी समझ से वह उत्कृष्ट बात महाव्रताचरण रूप सम्यक्चारित्र है। हे जीव ! तुझे श्रद्धान है कि "मैं कर्म बन्धन से बद्ध हूं और बद्ध होने के कारणों को भी जानता हूं" परन्तु तेरा यह श्रद्धान और ज्ञान तुझे कर्म बन्ध से मुक्त करने वाला नहीं है। मुक्त करने वाला तो यथार्थ श्रद्धान और ज्ञान के साथ होने वाला सम्यक्चारित्र रूप पुरुषार्थ ही है। जब तक तू इस पुरुषार्थ को अगीकृत नहीं करेगा तब तक बन्धन से मुक्त होना दुर्भर है। मात्र ज्ञान और दर्शन को लिये हुए तेरा सागरों पर्यन्त का दीर्घकाल यों ही निकल जाता है पर तू बन्धन से मुक्त नही हो पाता। परन्तु उस श्रद्धान ज्ञान के साथ जहां चारित्र रूपी पुरुषार्थ को अगीकृत करता है वहां तेरा कार्य बनने में विलम्ब नही लगता। यहा तक कि अन्तर्मुहूर्त में भी काम बन जाता है।

हे जीव ! तूं मोक्ष किसका करना चाहता है ? आत्मा का करना चाहता हूं। पर सयोगी पर्याय के अन्दर तूंने आत्मा को समझा या नहीं ? इस बात का तो विचार कर। कही इस संयोगी पर्याय को ही तो तूंने आत्मा नही समझ रक्खा है। मोक्ष प्राप्ति का पुरुषार्थ करने के पहले आत्मा और बन्ध को समझना आवश्यक है। कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है -

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं।
बंधो छेएदव्वो सुद्धो अप्पा य घेत्तव्वो।। २९५ ।।

जीव और बन्ध अपने-अपने लक्षणों से जाने जाते हैं सो जानकर बन्ध तो छेदने के योग्य है और जीव - आत्मा ग्रहण करने के योग्य है।

शिष्य कहता है भगवन् ! वह उपाय तो बताओ जिसके द्वारा मैं आत्मा का ग्रहण कर सकू। उत्तर में कुन्दकुन्द महाराज कहते हैं -

कह सो घिप्पइ अप्पा पण्णाए सो उ घिप्पए अप्पा।

जह पण्णाइ विहत्तो तह पण्णा एव घित्तव्वो।। २९६।।

उस आत्मा का ग्रहण कैसे किया जावे ? प्रज्ञा - भेदज्ञान के द्वारा आत्मा का ग्रहण किया जावे। जिस तरह प्रज्ञा से उसे विभक्त किया था उसी तरह प्रज्ञा से उसे ग्रहण करना चाहिये।

पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो।

अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णायव्वा।। २९७।।

प्रज्ञा के द्वारा ग्रहण करने योग्य जो चेतयिता है वही मै हूं और अवशेष जो भाव है वे मुझसे पर हैं।

इस प्रकार स्व-पर के भेदविज्ञान पूर्वक जो चारित्र धारण किया जाता है वही मोक्ष प्राप्ति का वास्तविक पुरुषार्थ है। मोह और क्षोभ से रहित आत्मा की परिणति को चारित्र कहते हैं। व्रत, समिति, गुप्ति आदि इसी वास्तविक चारित्र की प्राप्ति मे साधक होने से चारित्र कहे जाते हैं।

यह अधिकार २८८ से लेकर ३०७ गाथा तक चलता है।

१० सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार आत्मा के अनन्त गुणों में ज्ञान ही सबसे प्रमुख गुण है। उसमें किसी प्रकार का विकार शेष न रह जावे, इसलिये पिछले अधिकारों में उक्त-अनुक्त बातों का एक बार फिर से विचार कर ज्ञान को सर्वथा निर्दोष बनाने का प्रयत्न इस सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार में किया गया है।

"आत्मा पर द्रव्य के कर्तृत्व से रहित है" इसके समर्थन में कहा गया है कि प्रत्येक द्रव्य अपने ही गुण पर्याय रूप परिणमन करता है अन्य द्रव्य रूप नहीं, इसलिये वह पर का कर्ता नही हो सकता, अपने ही गुण और पर्यायों का कर्ता हो सकता है। यही कारण है कि आत्मा कर्मों का कर्ता नहीं है। कर्मों का कर्ता पुद्गल द्रव्य है क्योंकि ज्ञानावरणादि रूप परिणमन पुद्गल द्रव्य में ही हो रहा है। इसी तरह रागादिक का कर्ता आत्मा ही है, पर द्रव्य नही, क्योंकि रागादि रूप परिणमन आत्मा ही करता है। निमित्त प्रधानदृष्टि को लेकर पहले अधिकार में पुद्गलजन्य होने के कारण राग को पौद्गलिक कहा है। यहां उपादान प्रधान दृष्टि को लेकर कहा गया है कि चूंकि रागादि रूप परिणमन आत्मा का होता है, अत वे आत्मा के हैं। अमृतचन्द्र सूरि ने तो यहां तक कहा है कि जो जीव रागादिक की उत्पत्ति में पर द्रव्य को ही निमित्त मानते हैं वे शुद्धबोधविधुरान्धबुद्धि हैं तथा मोहरूपी नदी को नही तैर सकते -

रागजन्मनि निमित्तता परद्रव्यमेव कलयन्त ये तु ते।

उत्तरन्ति न हि मोहवाहिनीं शुद्धबोधविधुरान्धबुद्धय ।। २२१।।

कितने ही महानुभाव अपनी एकान्त उपादान की मान्यता का समर्थन करने के लिये इस कलश का अवतरण दिया करते है पर वे श्लोक में पडे हुए "एव" शब्द की ओर दृष्टिपात् नहीं करते। यहां अमृतचन्द्रसूरि "एव" शब्द के द्वारा यह प्रकट कर रहे है कि जो राग की उत्पत्ति में पर द्रव्य को ही कारण मानते हैं, स्वद्रव्य को नहीं मानते, वे मोह नदी को नहीं तैर सकते। रागादिक की उत्पत्ति में परद्रव्य निमित्त कारण है और स्वद्रव्य उपादानकारण है। जो पुरुष स्वद्रव्य रूप उपादानकारण को न मानकर परद्रव्य को ही कारण मानते हैं - मात्र निमित्त कारण से उनकी उत्पत्ति मानते हैं वे मोह नदी को नही तैर सकते। यह ठीक है कि निमित्त, कार्य रूप परिणत नहीं होता परन्तु कार्य की उत्पत्ति में उसका साहाय्य अनिवार्य आवश्यक है। अन्तरंग-बहिरंग कारणों से कार्य की उत्पत्ति होती है, यह जिनागम की निर्विवाद सनातन मान्यता है। यहां जिस निमित्त के साथ कार्य का अन्वय-व्यतिरेक रहता है वही निमित्त शब्द से विवक्षित है इसका ध्यान रखना चाहिये।

आत्मा पर का - कर्म का कर्ता नहीं है, यह सिद्ध कर जीव को कर्म चेतना से रहित सिद्ध किया गया है। इसी तरह ज्ञानी जीव अपने ज्ञायक स्वभाव का ही भोक्ता है, कर्मफल का भोक्ता नही है, यह सिद्ध कर उसे

कर्मफलचेतना से रहित सिद्ध किया गया है। ज्ञानी तो एक ज्ञानचेतना से ही सहित है, उसी के प्रति उसकी स्वत्वबुद्धि रहती है।

इस अधिकार के अन्त मे एक बात और बडी सुन्दर कही गई है। कुन्दकुन्द स्वामी कहते है कि कितने ही लोग मुनिलिंग अथवा गृहस्थ के नाना लिंग धारण करने की प्रेरणा इसलिये करते है कि ये मोक्षमार्ग है परन्तु कोई लिंग मोक्ष का मार्ग नही है, मोक्ष का मार्ग तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता है। इसलिये -

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेव।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु।। ४१२।।

मोक्षमार्ग में आत्मा को लगाओ, उसी का ध्यान करो, उसी का चिन्तन करो और उसमे विहार करो, अन्य द्रव्यों मे नही।

इस निश्चयपूर्ण कथन का कोई यह फलितार्थ न निकाल ले कि कुन्दकुन्दस्वामी मुनिलिंग और श्रावकलिंग का निषेध करते है। इसलिये वे लगे हाथ अपनी नय विवक्षा को प्रकट करते हैं -

ववहारिओ पुण णओ दोण्णिवि लिंगाणि भणइ मोक्खपहे।
णिच्छयणओ ण इच्छइ मोक्खपहे सव्वलिंगाणि।। ४१४।।

परन्तु व्यवहार नय दोनों लिंगों को मोक्षमार्ग कहता है और निश्चयनय मोक्षमार्ग में सभी लिंगों को इष्ट नही मानता।

इस तरह विवाद के स्थलों को कुन्दकुन्द स्वामी तत्काल स्पष्ट करते हुए चलते हैं। जिनागम का कथन नय विवक्षा पर अवलम्बित है, यह तो सर्वसंमत बात है, इसलिये व्याख्यान करते समय वक्ता अपनी नय विवक्षा को प्रकट करते चले और श्रोता भी उस नय विवक्षा से व्याख्यात तत्व को उसी नय विवक्षा से ग्रहण करने का प्रयास करें तो विसंवाद होने का अवसर ही नहीं आवे।

यह अधिकार ३०८ से लेकर ४१५ गाथा तक चलता है।

११ स्याद्वादाधिकार और उपायोपेयभावाधिकार ये अधिकार अमृतचन्द्र स्वामी ने स्वरचित आत्मख्याति टीका के अंग रूप लिखे हैं। इतना स्पष्ट है कि समयप्राभृत या समयसार अध्यात्मग्रन्थ हैं। अध्यात्मग्रन्थों का वस्तुतत्व सीधा आत्मा से सम्बन्ध रखने वाला होता है। इसलिये उसके कथन मे निश्चयनय का आलम्बन प्रधान रूप से लिया जाता है। पर पदार्थ से सम्बन्ध रखने वाले व्यवहारनय का आलम्बन गौण रहता है। जो श्रोता दोनों नयों के प्रधान और गौणभाव पर दृष्टि नहीं रखते है उन्हें भ्रम हो सकता है। उनके भ्रम का निराकरण करने के उद्देश्य से ही अमृतचन्द्र स्वामी ने इन अधिकारों का अवतरण किया है।

स्याद्वादाधिकार में उन्होंने स्याद्वाद के वाच्यभूत अनेकान्त का समर्थन करने के लिये तत्-अतत्, सत्-असत्, एक-अनेक, नित्य-अनित्य आदि अनेक नयों से आत्मतत्व का निरूपण किया है। अन्त में कलश काव्यों के द्वारा इसी बात का समर्थन किया है। अमृतचन्द्र स्वामी ने अनेकान्त को परमागम का जीव - प्राण और समस्त नयों के विरोध को नष्ट करने वाला माना है। जैसा कि उन्होंने स्वरचित पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ के मंगलाचरण के रूप में कहा है -

परमागमस्य जीवं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम्।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्।। २।।

आत्मख्याति टीका के प्रारम्भ में भी उन्होंने यही आकांक्षा प्रकट की है -

अनन्तधर्मणस्तत्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मन ।
अनेकान्तमयी मूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम्।। २।।

अनेक धर्मात्मक परमात्मतत्व के स्वरूप का अवलोकन करने वाली अनेकान्तमयी मूर्ति निरन्तर ही प्रकाशमान रहे।

इसी अधिकार मे उन्होंने जीवत्व शक्ति, चिति शक्ति आदि ४७ शक्तियों का निरूपण किया है जो नय विवक्षा के परिज्ञान से ही सिद्ध होता है।

उपायोपेयाधिकार मे उपायोपेयभाव की चर्चा की गई है, जिसका सार यह है -

पाने योग्य वस्तु जिससे प्राप्त की जाती है वह उपाय है और उस उपाय के द्वारा जो वस्तु प्राप्त की जावे वह उपेय है। आत्मारूप वस्तु यद्यपि ज्ञानमात्र वस्तु है तो भी उसमें उपायोपेय भाव विद्यमान है। क्योंकि उस आत्मवस्तु के एक होने पर भी उसमें साधक और सिद्ध के भेद से दोनों प्रकार का परिणाम देखा जाता है। अर्थात् आत्मा ही साधक है और आत्मा ही सिद्ध है। उन दोनों परिणामों में जो साधकरूप है वह उपाय कहलाता है और जो सिद्ध रूप है वह उपेय कहलाता है। यह आत्मा अनादिकाल से मिथ्यादर्शन, ज्ञान और चारित्र के कारण संसार में भ्रमण करता है। जब तक व्यवहार रत्नत्रय को निश्चय रूप से अंगीकृत कर अनुक्रम से अपने स्वरूपानुभव की वृद्धि करता हुआ निश्चय रत्नत्रय की पूर्णता को प्राप्त होता है तब तक तो साधक भाव है और निश्चय रत्नत्रय की पूर्णता से समस्त कर्मों का क्षय होकर जो मोक्ष प्राप्त होता है वह सिद्ध भाव है। इन दोनों भाव रूप परिणमन ज्ञान का ही है इसलिये वही उपाय है और वही उपेय है। यह गुण की प्रधानता से कथन है।

प्रवचनसार

प्रथम सस्कृत टीकाकार श्री अमृतचन्द्र सूरि के मतानुसार प्रवचनसार में २७५ गाथाएं है और वह ज्ञानाधिकार, ज्ञेयाधिकार तथा चारित्राधिकार के भेद से तीन श्रुतस्कन्धों मे विभाजित है। प्रथम श्रुतस्कन्ध में ९२, दूसरे श्रुतस्कन्ध मे १०८ और तीसरे श्रुतस्कन्ध में ७५ गाथाएं है। द्वितीय संस्कृत टीकाकार श्री जयसेनाचार्य के मतानुसार प्रवचनसार मे ३११ गाथाए है। जिनमे प्रथम श्रुतस्कन्ध मे १०१, द्वितीय श्रुतस्कन्ध मे ११२ और तृतीय श्रुतस्कन्ध में ९७ गाथाएं है। इन स्कन्धों मे प्रतिपादित विषयों की सक्षिप्त जानकारी इस प्रकार है।

१ **ज्ञानाधिकार** चारित्र दो प्रकार का है सराग चारित्र और वीतराग चारित्र। प्रारम्भ में इन दोनों चारित्रों का फल बतलाते हुए कहते है कि दर्शन और ज्ञान की प्रधानता से युक्त चारित्र से जीव को देव, धरणेन्द्र और चक्रवर्ती आदि के विभव के साथ निर्वाण की प्राप्ति होती है अर्थात् सराग चारित्र से स्वर्गादिक और वीतराग चारित्र से निर्वाण प्राप्त होता है। दोनों का फल बतलाते हुए फलितार्थ रूप में यह भाव भी प्रकट किया गया है कि चूंकि जीव का परम प्रयोजन निर्वाण प्राप्त करना है अत उसका साधक वीतराग चारित्र ही उपादेय है और स्वर्गादिक की प्राप्ति का साधक सराग चारित्र हेय है।

चारित्र का स्वरूप बतलाते हुए कहा है -

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो।। ७।।

अर्थात् चारित्र ही वास्तव में धर्म है, आत्मा का जो समभाव है वह धर्म कहलाता है तथा मोह - मिथ्यात्व एव क्षोभ - रागद्वेष से रहित आत्मा का जो परिणाम है वह समभाव है। इस तरह चारित्र और धर्म में एकत्व बतलाते हुए कहा है कि आत्मा की जो मोहजन्य विकारों से रहित परिणति है वही चारित्र अथवा धर्म है। ऐसा चारित्र जब इस जीव को प्राप्त होता है तभी वह निर्वाण को प्राप्त होता है। यही भाव हिन्दी के महान् कवि पं दौलतराम जी ने छहढाला मे प्रकट किया है -

जो भाव मोह तें न्यारे दृग ज्ञान व्रतादिक सारे।
सो धर्म जबहि जिय धारे तब ही सुख अचल निहारे।।

मोह से पृथक् जो दर्शन, ज्ञान, व्रत आदिक आत्मा के भाव है वे ही धर्म कहलाते है। ऐसा धर्म, जब यह जीव धारण करता है तब ही अचल - अविनाशी - मोक्ष सुख को प्राप्त होता है।

धर्म की इस परिभाषा से, उसका पुण्य से पृथक्करण स्वयमेव हो जाता है अर्थात् शुभोपयोग परिणति रूप जो आत्मा का पुण्यभाव है वह मोहजन्य विकार होने से धर्म नही है। उसे निश्चय धर्म का कारण होने से व्यवहार से धर्म कहते हैं।

चारित्र रूप धर्म से परिणत आत्मा यदि शुद्धोपयोग से युक्त है तो वह निर्वाण सुख का - मोक्ष को, अनन्त आनन्द को प्राप्त होता है और यदि शुभोपयोग से सहित है तो स्वर्गसुख को प्राप्त होता है। चूंकि स्वर्गसुख प्राप्त करना ज्ञानी जीव का लक्ष्य नही है अत उसके लिये वह हेय है। अशुभ, शुभ और शुद्ध के भेद से उपयोग के तीन भेद हैं। अशुभोपयोग के द्वारा यह जीव कुमनुष्य, तिर्यंच तथा नारकी होकर हजारों दु खों को भोगता हुआ संसार में भ्रमण करता है। तथा शुभोपयोग के द्वारा देव और चक्रवर्ती आदि उत्तम मनुष्य गति के सुख भोगता है। शुद्धोपयोग का फल बतलाते हुए कुन्दकुन्द स्वामी ने शुद्धोपयोग के धारक जीवों के सुख का कितना हृदयहारी वर्णन किया है। देखिये -

अइसयमादसमुत्थं विसयातीदं अणोवममणंतं।
अव्वुच्छिण्ण च सुहं सुद्धुवयोगप्पसिद्धाण।। १३।।

शुद्धोपयोग से प्रसिद्ध - कृतकृत्यता को प्राप्त हुए अरहन्त और सिद्ध परमेष्ठी को जो सुख प्राप्त होता है वह अतिशय पूर्ण है, आत्मोत्थ है, विषयों से परे है, अनुपम है, अनन्त है तथा कभी व्युच्छिन्न - नष्ट होने वाला नही है।

शुद्धोपयोग के फलस्वरूप यह जीव उस सर्वज्ञ अवस्था को प्राप्त करता है जिसमे इसके लिए कुछ भी परोक्ष नहीं रह जाता है। वह लोकालोक के समस्त पदार्थों को एक साथ जानने लगता है। सर्वज्ञता आत्मा का स्वभाव है परन्तु वह राग परिणति के कारण प्रकट नही हो पाता। दशमगुणस्थान के अन्त में ज्यों ही वह राग परिणति का सर्वथा क्षय करता है त्यों ही अन्तर्मुहूर्त के भीतर नियम से सर्वज्ञ हो जाता है। आगम में छद्मस्थ वीतराग का काल अन्तर्मुहूर्त ही बतलाया है जबकि वीतराग सर्वज्ञ का काल सिद्धपर्याय की अपेक्षा सादि-अनन्त है। वेदान्त आदि दर्शनों में आत्मा को व्यापक कहा है परन्तु कुन्दकुन्द स्वामी ज्ञान की अपेक्षा ही आत्मा को व्यापक कहते हैं। चूंकि आत्मा लोक-अलोक को जानता है अत वह लोक-अलोक में व्यापक है। प्रदेश विस्तार की अपेक्षा प्राप्त शरीर के प्रमाण ही है।

ज्ञान, ज्ञेय को जानता है फिर भी उन दोनों में पृथक् भाव है। यह ज्ञान की स्वच्छता का ही फल है। देखिये इसका कितना सुन्दर वर्णन है -

ण पविट्ठो णाविट्ठो णाणी णेयेसु रूवमिव चक्खू।
जाणदि पस्सदि णियदं अक्खातीदो जगमसेसं।। २६।।

जिस प्रकार चक्षु रूप को जानता है परन्तु रूप में प्रविष्ट नही होता और न रूप ही चक्षु में प्रविष्ट होता है उसी प्रकार इन्द्रियातीत ज्ञान का धारक आत्मा समस्त जगत् को जानता है फिर भी उसमें प्रविष्ट नहीं होता और न समस्त जगत् ज्ञान में प्रविष्ट होता है। ज्ञान और ज्ञेय के प्रदेश एक दूसरे में प्रविष्ट नही होते मात्र ज्ञान-ज्ञेय की अपेक्षा ही इनमें प्रविष्ट का व्यवहार होता है।

केवलज्ञान का धारक शुद्धात्मा, पदार्थों को जानता हुआ भी उन पदार्थों के रूप न परिणमन करता है, न उन्हें ग्रहण करता है और न उनमें उत्पन्न होता है इसलिये अबन्धक कहा गया है। यथार्थ में ज्ञान की हीनाधिकता बन्ध का कारण नहीं है किन्तु उसके काल में पाई जाने वाली रागद्वेष रूप परिणति ही बन्ध का कारण है। चूंकि केवलज्ञानी आत्मा रागद्वेष की परिणति से रहित है अत वह अबन्धक है। यद्यपि सयोगकेवली अवस्था में

सातावेदनीय का बन्ध कहा गया है तथापि स्थिति और अनुभाव बन्ध से रहित होने के कारण उसकी विवक्षा नहीं की गई है। गाथा निम्न प्रकार है -

ण वि परिणमदि ण गेण्हदि उप्पज्जदि णेव तेसु अत्थेसु।
जाणण्णवि ते आदा अबंधगो तेण पण्णत्तो।। ५२।।

जिस प्रकार ज्ञान आत्मा का अनुजीवी गुण है उसी प्रकार सुख भी आत्मा का अनुजीवी गुण है। प्रत्येक आत्मा के अन्दर सुख का असीम सागर लहरा रहा है पर उस ओर इस आत्मा का लक्ष्य नहीं जाता। अज्ञानावस्था में यह आत्मा शरीरादि पर पदार्थों में सुख का अन्वेषण करता है और उन्हें सुख का स्थान समझ उनमें राग भाव करता है। आचार्य महाराज आत्मा की इस भूल को निरस्त करने के लिये कहते हैं कि यह आत्मा स्पर्शनादि इन्द्रियों के द्वारा इष्ट विषयों को प्राप्त कर स्वयं स्वभाव से ही सुख रूप परिणमन करता है, शरीर सुख रूप नहीं है, और न शरीर सुख का कारण है। शरीरों में वैक्रियिक शरीर सुखोपभोग की अपेक्षा उत्तम माना जाता है परन्तु वह भी सुख रूप नही है और न सुख का कारण है। जड रूप शरीर से चैतन्य गुण के अविनाभावी सुख की उद्‌भूति हो नहीं सकती। विषयों से सुख नहीं होता, इस विषय में देखिये कितना स्पष्ट कथन है -

तिमिरहरा जइ दिट्ठी जणस्स दीवेण णत्थि कादव्वं।
तध सोक्खं सयमादा विसया किं तत्थ कुव्वंति।। ६७।।

जिस जीव की दृष्टि अन्धकार को हरने वाली होती है उसे दीपक से क्या प्रयोजन है। इसी प्रकार जिस की आत्मा स्वयं सुख रूप है उसे विषयों से क्या प्रयोजन है ?

ज्ञान और सुख का प्रगाढ सम्बन्ध है। चूंकि अरहन्त अवस्था में अतीन्द्रिय ज्ञान प्रकट हुआ है अत अतीन्द्रिय सुख भी उनके प्रकट होता है। अनन्त ज्ञान होते ही अनन्त सुख प्रकट हो जाता है। अनन्त सुख आत्मजन्य है, उसमें इन्द्रियों की सहायता अपेक्षित नहीं होती। यह आत्मजन्य सुख अरहन्त तथा सिद्ध अवस्था में ही प्रकट होता है। स्वाभाविक सुख देवों के नहीं होता, क्योंकि वे पंचेन्द्रियों के समूह रूप शरीर की पीड़ा से दु खी होकर रमणीय विषयों में प्रवृत्ति करते हैं। जब तक यह आत्मा सुखानुभव के लिये रमणीय पदार्थों की आकांक्षा करता है तब तक उसे स्वाभाविक सुख प्राप्त नहीं हुआ है यह निश्चय से समझना चाहिये। यह आत्मजन्य सुख शुद्धोपयोग से ही प्राप्त हो सकता है, शुभोपयोग से नहीं। शुभोपयोग के द्वारा इन्द्र तथा चक्रवर्ती के पद को प्राप्त हुए जीव सुखी जैसे मालूम होते हैं परन्तु परमार्थ से सुखी नहीं है। यदि परमार्थ से सुखी होते तो विषयों में - पंचेन्द्रिय सम्बन्धी भोगोपभोगों में झंपापात नहीं करते।

शुभोपयोग के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले इन्द्रियजन्य सुख का वर्णन देखिये कितना मार्मिक है -

सपरं बाधासहिदं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।
जं इंदिएहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा।। ७३।।

इन्द्रियों से प्राप्त होने वाला जो सुख है वह सपर - पराधीन है, बाधा सहित - क्षुधातृषा आदि की बाधा से सहित है, विच्छिन्न - बीच-बीच में विनष्ट होता रहता है, बन्ध का कारण है तथा विषम है। वास्तव में वह दु ख रूप ही है।

जब इन्द्रियजन्य सुख को परमार्थ से दु ख की श्रेणी में ही रख दिया तब पुण्य और पाप में अन्तर नहीं रह जाता। दोनों ही सासारिक दु खों के कारण होने से समान हैं। सासारिक दु.खों से उत्तीर्ण होकर शाश्वत् सुख की प्राप्ति के लिये तो शुद्धोपयोग की ही शरण ग्राह्य है। पुण्य और पाप की समानता को सिद्ध करते हुए कहा है -

ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसो त्ति पुण्णपावाणं।
हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो।। ७७।।

पुण्य और पाप में विशेषता नहीं है - समानता है, ऐसा जो नहीं मानता है वह मोह से आच्छादित होता हुआ भयंकर अपार संसार में भ्रमण करता रहता है।

मोह से किस प्रकार निर्मुक्त हुआ जा सकता है, इसका समाधान करते हुए लिखा है -

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाण मोहो खलु जादि तस्स लयं।। ८०।।

जो द्रव्य, गुण और पर्याय की अपेक्षा अरहन्त को जानता है वह आत्मा को जानता है और जो आत्मा को जानता है उसका मोह नियम से नाश को प्राप्त होता है। भाव यह है कि मोह से सम्बन्ध छुडाने के लिये इस जीव को सबसे पहले शुद्ध आत्मस्वभाव की ओर अपना लक्ष्य बनाना आवश्यक है। ज्यों ही यह जीव अपने ज्ञाता-द्रष्टा स्वरूप की ओर लक्ष्य करता है त्यों ही बुद्धिपूर्वक होने वाले रागादिक भाव नष्ट होने लगते हैं।

कहा भी है -

जीवो ववगदमोहो उवलद्धो तच्चमप्पणो सम्मं।
जहदि जदि रागदोसे सो अप्पाण लहदि सुद्धं।। ८१।।

मोह से रहित और आत्मा के सम्यक् स्वरूप को प्राप्त हुआ जीव यदि राग और द्वेष को छोडता है तो शुद्ध आत्मा को प्राप्त हो जाता है। आज तक जितने अरहन्त हुए हैं वे इसी विधि से कर्मों के अंशो - चार घातिया कर्मों को नष्ट कर अरहन्त हुए हैं तथा उपदेश देकर अन्त में निर्वाण को प्राप्त हुए हैं।

मोहक्षय का दूसरा उपाय बतलाते हुए कहा है -

जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खादीहिं बुज्झदो णियमा।
खीयदि मोहोवचयो तम्हा सत्थं समधिदव्वं।। ८६।।

जो पुरुष प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा जिन प्रणीत शास्त्र से जीवाजीवादि पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करता है उसका मोह का संचय नियम से नष्ट हो जाता है। इसलिये शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए।

द्रव्य, गुण और पर्याय को अर्थ कहते हैं। संसार का प्रत्येक पदार्थ इन तीन रूप ही है अत इनका जान लेना आवश्यक है। चूंकि इनका यथार्थ ज्ञान जिनेन्द्र प्रतिपादित शास्त्र से ही हो सकता है इसलिये इन शास्त्रों का अध्ययन करना आवश्यक है।

मोहक्षय का तीसरा उपाय बतलाते हुए कहा है -

णाणप्पमप्पाण पर च दव्वत्तणाहिसंबद्ध।
जाणदि जदि णिच्छयदो जो सो मोहक्खयं कुणदि।। ८९।।

जो जीव द्रव्यत्व से सबद्ध ज्ञानस्वरूप आत्मा को तथा शरीरादि परद्रव्य को जानता है वह निश्चय से मोह का क्षय करता है। तात्पर्य यह है कि स्वपर का भेदविज्ञान मोह क्षय का कारण है।

उपर्युक्त पंक्तियों में मोह क्षय के जो तीन उपाय बतलाये हैं वे पृथक्-पृथक् न होकर एक दूसरे से संबद्ध हैं। प्रथम उपाय में आत्मलक्ष्य की ओर जोर दिया गया है और उसका माध्यम अरहन्त का ज्ञान बताया गया है अर्थात् अरहन्त के द्रव्य, गुण, पर्याय और अपने द्रव्य, गुण, पर्याय का तुलनात्मक मनन करने से इस जीव का लक्ष्य पर से हटकर स्व की ओर आकृष्ट होता है और जब स्व की ओर लक्ष्य आकृष्ट होने लगा तब मोह को नष्ट होने में विलम्ब नहीं लगता। जो मनुष्य दर्पण के माध्यम से अपने चेहरे पर लगे हुए कालुष्य को देख रहा है वह उसे नष्ट करने का पुरुषार्थ न करे यह संभव नहीं है। जो जीव मोह - मिथ्यात्व को नष्ट कर चुकता है वह मोह के आश्रय से रहने वाले रागद्वेष को स्थिर नहीं रख सकता। मिथ्यात्व यदि जड के समान है तो रागद्वेष उसकी शाखाओं के समान हैं। जड के नष्ट होने पर शाखाएं हरी भरी नहीं रह सकतीं। प्रथम उपाय में इस जीव का लक्ष्य स्वरूप की

और आकृष्ट किया गया था परन्तु स्वरूप में लक्ष्य की स्थिरता आगम ज्ञान के बिना संभव नहीं है इसलिये द्वितीय उपाय में शास्त्राध्ययन की प्रेरणा की गई है। मूलत वीतराग सर्वज्ञ देव के द्वारा प्रतिपादित और परत संसार, शरीर और भोगों से निर्विण्ण परमर्षियों के द्वारा रचित शास्त्रों के स्वाध्याय से स्वरूप की श्रद्धा में बहुत स्थिरता आती है। तृतीय उपाय में स्वपर भेदज्ञान की ओर प्रेरित किया है। स्वाध्याय का फल तो स्व - अपने शुद्ध स्वरूप का जानना ही है जिसने ग्यारह अंग और नौ पूर्वों का अध्ययन करके भी स्व को नहीं जाना उसका उतना भारी अध्ययन भी निष्फल ही कहा जाता है। जहा स्व का ज्ञान होता है वहां पर का ज्ञान अवश्य होता है अत स्वपर भेदविज्ञान ही शास्त्र स्वाध्याय का फल है तथा यही मोहक्षय का प्रमुख साधन है। इस प्रकार तीनों उपायों में अपृथक्ता है।

इस स्कन्ध (अध्याय) के अन्त में कहा गया है -

जो णिहदमोहदिट्ठी आगमकुसलो विरागचरियम्मि।
अब्भुट्ठिदो महप्पा धम्मो त्ति विसेसिदो समणो।। ९२।।

जिसने मोहदृष्टि - मिथ्यात्व को नष्ट कर दिया है, जो आगम में कुशल है - आगम का यथार्थ ज्ञाता है और विरागचर्या - वीतराग चारित्र मे उद्यमवन्त है ऐसा महान् - श्रेष्ठ आत्मा का धारक श्रमण-साधु "धर्म है" इस प्रकार कहा गया है। यहा धर्म धर्मी में अभेद विवक्षा कर धर्मी को ही धर्म कहा गया है।

२ **ज्ञेयतत्त्वाधिकार** जो ज्ञान का विषय हो उसे ज्ञेय तत्व कहते है। सामान्य रूप से ज्ञान का विषय अर्थ है। अर्थ द्रव्यमय है और द्रव्य गुण-पर्याय रूप है। इस तरह विस्तार से द्रव्य, गुण और पर्याय का जिक्र ही ज्ञान का विषय है वही ज्ञेय है, इसी का द्वितीय श्रुतस्कन्ध में वर्णन किया गया है। गुण, सामान्य और विशेष के भेद से दो प्रकार के होते हैं। अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व आदि सामान्य गुण हैं क्योंकि ये सभी द्रव्यों में पाये जाते हैं और चेतनत्व, मूर्तत्व आदि विशेष गुण हैं क्योंकि ये खास-खास द्रव्यों में ही पाये जाते हैं। गुण, द्रव्य का सहभावी विशेष है और पर्याय क्रमभावी परिणमन है। जो जीव, पर्याय को ही सब कुछ समझ कर उसी मे मूढ रहता है - इष्ट-अनिष्ट पर्याय मे रागद्वेष करता है उसे "पज्जयमूढा हि परसमया" इन शब्दों के द्वारा पर्यायमूढ और परसमय कहा गया है। स्वसमय ओर परसमय का विभाग करते हुए कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है -

जे पज्जयेसु णिरदा जीवा परसमयिगत्ति णिद्दिट्ठा।
आदसहावम्मि ठिदा ते सगसमया मुणेदव्वा।। २।।

जो जीव पर्यायों मे निरत-लीन हैं वे परसमय कहे गये हैं और जो आत्मस्वभाव में स्थित हैं वे स्वसमय जानने योग्य है। ज्ञाता, द्रष्टा रहा आत्मा का स्वभाव है, रागी, द्वेषी होना विभाव है तथा नर-नारकादि अवस्थाए धारण करना आत्मा की पर्यायें हैं। जो जीव, पदार्थों का ज्ञाता-द्रष्टा है अर्थात् उन्हे विरागभाव से जानता देखता है वह स्वसमय है किन्तु जो इससे विपरीत पदार्थों को जानता हुआ रागद्वेष करता है। और उसके फलस्वरूप कर्मबन्ध कर नर-नारकादि पर्यायों में भ्रमण करता है वह परसमय है।

द्रव्य का लक्षण बतलाते हुए कहा है -

अपरिच्चत्तसहावेणुप्पादव्वयधुवत्तसंबद्ध।
गुणव च सपज्जाय जत्त दव्वत्ति वुच्चंति।। ३।।

जो अपने स्वभाव को न छोडता हुआ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से संबद्ध है अथवा गुण और पर्यायों से सहित है उसे द्रव्य कहते हैं। सामान्य रूप से द्रव्य का लक्षण "सत्" कहा है और सत् वह है जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से तन्मय हो। उत्पाद के बिना व्यय नही हो सकता, व्यय के बिना उत्पाद नही हो सकता, और ध्रौव्य के बिना उत्पाद, व्यय दोनों नही हो सकते। इससे सिद्ध है कि उत्पादादि तीनो परस्पर अविनाभाव को प्राप्त हैं। यद्यपि उत्पादादि

तीनों पर्याय में होते हैं परन्तु पर्याय द्रव्य से अभिन्न है इसलिये द्रव्य के कहे जाते हैं। द्रव्य गुणी है और सत्ता गुण है। गुण गुणी में प्रदेश भेद नहीं होता इसलिये इनमें पृथक्त्व नहीं है। परन्तु गुण और गुणी का भेद है, संज्ञा, लक्षण आदि की विभिन्नता है इसलिये अन्यत्व विद्यमान है। पृथक्त्व और अन्यत्व का लक्षण इस प्रकार बतलाया है -

पविभत्तपदेसत्तं पुधत्तमिदि सासणं हि वीरस्स।
अण्णत्तमतब्भावो ण तब्भवं भवदि कधमेगं।। १४।।

प्रविभक्त प्रदेशों का होना "पृथक्त्व" है और प्रदेश भेद न होने पर भी तद्रूप नहीं होना "अतद्भाव" है।

इस तरह सामान्य रूप से द्रव्य का लक्षण कहकर उसके चेतन और अचेतन की अपेक्षा दो भेद किये हैं। चेतन द्रव्य, सिर्फ जीव ही है और अचेतन द्रव्य, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल के भेद से पांच प्रकार का है। इन्हीं द्रव्यों के लोक और अलोक की तथा मूर्त और अमूर्त की अपेक्षा भी दो-दो भेद किये हैं। अलोक सिर्फ आकाश रूप है और लोक, षड्द्रव्यमय है। मूर्त, पुद्गल द्रव्य है और अमूर्त, शेष पांच द्रव्य रूप है। चूंकि पुद्गल द्रव्य मूर्त है इसलिये उसके स्पर्श, रस, गन्ध और रूप नामक गुण भी मूर्त हैं और जीवादि पाच द्रव्य अमूर्त हैं इसलिये उनके गुण भी अमूर्त हैं।

जीवादिक समस्त द्रव्य अपना-अपना स्वत सिद्ध अस्तित्व रखते हैं और लोकाकाश में एक क्षेत्रावगाह रूप से स्थित होने पर भी अपनी-अपनी स्वतन्त्र सत्ता को नही छोडते हैं। इन जीवादि द्रव्यों में काल द्रव्य एकप्रदेशी है क्योंकि वह एकप्रदेशी होकर भी अपना कार्य करने में पूर्ण समर्थ है परन्तु अन्य पाच द्रव्य बहुप्रदेशी हैं क्योंकि उनका एक प्रदेश स्वद्रव्य रूप से कार्य करने में समर्थ नहीं है अथवा स्वभाव से ही कालद्रव्य एकप्रदेशी और शेष पांच द्रव्य बहुप्रदेशी हैं। बहुप्रदेशी द्रव्यों को अस्तिकाय कहा है और एकप्रदेशी द्रव्य को अनस्तिकाय कहा है।

यद्यपि जीवद्रव्य स्वभाव की अपेक्षा कर्मरूप पुद्गल द्रव्य के सम्बन्ध से रहित है तथापि अनादिकाल से इनका परस्पर संयोग सम्बन्ध चला आ रहा है। कर्मरूप पुद्गल द्रव्य के सम्बन्ध से जीव मलिन हो रहा है और मलिन होने के कारण बार-बार इन्द्रियादि प्राणों को धारण करता है। देखिये, कितना मार्मिक कथन है -

आदा कम्ममलिमसो धारदि पाणे पुणो पुणो अण्णे।
ण जहदि जाव ममत्तं देहपधाणेसु विसयेसु।। ५८।।

कर्म से मलिन आत्मा जब तक शरीरादि विषयों में ममत्वभाव को नही छोडता है तब तक बार-बार अन्य प्राणो को धारण करता रहता है।

इसके विपरीत प्राणधारण करने से कौन छूटता है, इसका वर्णन देखिये -

जो इंदियादिविजई भवीय उवओगमप्पगं झादि।
कम्मेहिं सो ण रंजदि किह तं पाणा अणुचरंति।। ५९।।

जो इन्द्रियादि का विजयी होकर उपयोग स्वरूप आत्मा का ध्यान करता है वह कर्मों से रक्त नहीं होता तथा जो कर्मों से रक्त नहीं होता, प्राण उसका अनुचरण- पीछा कैसे कर सकते है ?

छह द्रव्यों में प्रयोजनभूत द्रव्य जीव ही है। अत उसका विशेष विस्तार से वर्णन करना आचार्य को अभीष्ट है। जीव द्रव्य की विशेषता बतलाते हुए उन्होंने कहा है कि आत्मा जीव उपयोगात्मक है अर्थात् उपयोग ही आत्मा का लक्षण है। वह उपयोग, ज्ञान और दर्शन के भेद से दो प्रकार का कहा गया है। यही उपयोग अशुद्ध और शुद्ध के भेद से दो प्रकार का होता है। अशुद्ध उपयोग के शुभ और अशुभ की अपेक्षा दो भेद हैं। जीव का जो उपयोग, अरहन्त, सिद्ध तथा साधु परमेष्ठियों को जानता है उनकी श्रद्धा तथा भक्ति करता है तथा अन्य जीवों पर अनुकम्पा से सहित होता है वह शुभ उपयोग कहलाता है और जो विषयकषायों से परिपूर्ण है, मिथ्या शास्त्रश्रवण, दुर्ध्यान और दुष्टजनों की गोष्ठी से सहित है, उग्र है तथा उन्मार्ग में तत्पर है वह अशुभ उपयोग है। तथा जो शुभ अशुभ के

विकल्प से हटकर मध्यस्थ भाव से अपने ज्ञान दर्शन स्वभाव का ध्यान करता है वह शुद्ध उपयोग है। जब जीव के शुभोपयोग होता है तब वह पुण्य का संचय करता है। जब अशुभोपयोग होता है तब पाप का संचय करता है और जब शुभ-अशुभ दोनों उपयोगों का अभाव होकर जीव स्वयं शुद्धोपयोग होता है तब किसी भी कर्म का संचय नहीं करता। अर्थात् शुद्धोपयोग कर्मबन्ध का कारण नहीं है।

शुद्धोपयोगी बनने के लिये इस जीव को शरीरादि परद्रव्यों से पृथग्भाव का चिन्तन करना होता है। जैसा कि कहा है -

णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारण तेसिं।
कत्ता ण ण कारयिता अणुमंता णेव कत्तीणं।। ६८।।

ऐसा चिन्तन करना चाहिये कि "मै शरीर नही हूं, मन नहीं हूं, वाणी नहीं हूं तथा इन सबके जो कारण हैं मै उनका न कर्ता हूं और न अनुमंता ही हू" क्योकि ये सब पुद्गल द्रव्य के परिणमन हैं, उनका कर्ता मै कैसे हो सकता हूं ?

पुद्गल के परमाणु और स्कन्ध की अपेक्षा दो भेद हैं। परमाणु एकप्रदेशी है, एक रूप, एक रस, एक गन्ध और दो स्पर्शों - शीत-उष्ण अथवा स्निग्ध-रूक्ष में से एक एक से सहित है, शब्द रहित है। तथा दो से लेकर सख्यात, असंख्यात और अनन्त परमाणुओं का जो पिण्ड है वह स्कन्ध कहलाता है। परमाणु अपने स्निग्ध और रूक्ष गुण के कारण दूसरे परमाणुओं के साथ मिलकर स्कन्ध अवस्था को प्राप्त होता है। परमाणु में पाये जाने वाले स्निग्ध और रूक्ष गुणों के एक से लेकर अनन्त तक अविभाग प्रतिच्छेद होते हैं। इन सभी प्रतिच्छेदों में अगुरुलघु गुण रूप अन्तरंग कारण और काल द्रव्य रूप बहिरग कारण के सहयोग से षड्गुणी हानि और वृद्धि होती रहती है। हानि चलते-चलते जब स्निग्ध और रूक्ष गुण का एक अविभाग प्रतिच्छेद रह जाता है तब वह परमाणु जघन्यगुण वाला परमाणु कहलाता है। ऐसे परमाणु का दूसरे परमाणु के साथ बन्ध नहीं होता। पुन वृद्धि का दौर शुरु होने पर जब वह अविभाग प्रतिच्छेद एक से बढ़कर अधिक संख्या को प्राप्त हो जाता है तब सामान्य अपेक्षा से फिर उस परमाणु का बन्ध होने लगता है। दो अधिक गुण वाले परमाणुओं मे बन्ध योग्यता होती है, गुणों की समानता होने पर सदृश गुण वाले परमाणुओं का बन्ध नहीं होता। यह बन्ध स्निग्ध स्निग्ध का, रूक्ष रूक्ष का तथा स्निग्ध और रूक्ष का भी होता है। अविभाग प्रतिच्छेदों की संख्या तीन पांच आदि विषम हो अथवा दो चार आदि सम हो, दोनों ही अवस्थाओं मे बन्ध होता है। विशेषता इतनी है कि जघन्य गुणवाले परमाणुओं का बन्ध नहीं होता। इसके लिये कुन्दकुन्द स्वामी की निम्न गाथा है -

णिद्धा वा लुक्खा वा अणुपरिणामा समा व विसमा वा।
समदो दुराधिगा जदि बज्झंति हि आदिपरिहीणा।। ७३।।

अर्थ ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है।

इसी सन्दर्भ मे अमृतचन्द्र स्वामी ने ७४ वीं गाथा की संस्कृत टीका मे निम्नांकित प्राचीन श्लोक "उक्तं च" कहकर उद्धृत किये हैं -

णिद्धा णिद्धेण बज्झंति लुक्खा लुक्खा य पोग्गला।
णिद्ध लुक्खा य बज्झंति रूवा रूवी य पोग्गला।।
णिद्धस्स णिद्धेण दुराहियेण लुक्खस्स लुक्खेण दुराहियेण।
णिद्धस्स लुक्खेण हवेदि बंधो जहण्णवज्जे विसमे समे वा।।

पुद्गल परमाणुओं के बन्ध की यह प्रक्रिया अनादिकाल से चली आ रही है।

इस प्रकार नोकर्मवर्गणाओं के परस्पर सम्बन्ध से निर्मित शरीर से ममत्वभाव छोड़कर आत्मस्वरूप में जो

स्थिर रहता है वह कर्म और नोकर्म के सम्बन्ध से दूर हटकर निर्वाण अवस्था को प्राप्त होता है। नोकर्मरूप शरीरादि परद्रव्यों से आत्मा को पृथक् करने के लिये उसके शुद्ध स्वरूप पर बार-बार दृष्टि देना चाहिये।

आत्मा के साथ कर्मों का बन्ध क्यों हो रहा है ? इसका समाधान आचार्य महाराज ने बहुत ही सारपूर्ण शब्दों में दिया है देखिये -

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा।
एसो बंधसमासो जीवाण जाण णिच्छयदो।। ८७।।

रागी जीव कर्मों को बांधता है और राग से रहित आत्मा कर्मों से मुक्त होता है निश्चयनय से जीवों के कर्मबन्ध का यह संक्षिप्त कथन है।

वास्तव में जीव की राग परिणति ही कर्मबन्ध का कारण है अत आत्मा के वीतराग स्वभाव का लक्ष्य कर राग को दूर करने का पुरुषार्थ करना चाहिये।

"शरीर-धन, सासारिक सुख-दु ख, शत्रु-मित्र आदि, इस जीव के नही हैं क्योंकि ये सब अध्रुव-विनश्वर हैं। एक उपयोगस्वरूप ध्रुव आत्मा ही आत्मा का है" ऐसा विचार कर जो स्व-पर का भेदज्ञान करता हुआ "स्व" का ध्यान करता है वही मोह की सुदृढ गांठ को नष्ट करता है। जो मोह की गाठ को नष्ट कर चुकता है अर्थात मिथ्यात्व को छोड चुकता है - "परपदार्थ सुख-दु ख के कर्ता हैं' इस मिथ्या मान्यता को निरस्त कर चुकता है वही रागद्वेष को नष्ट कर श्रमण अवस्था में सुख-दु ख में समताभाव रखता हुआ अविनाशी स्वाधीन सुख को पाप्त होता है।

इस प्रकार द्वितीय श्रुतस्कन्ध मे ज्ञेयतत्वों का विस्तार से वर्णन कर जीव को स्वय स्वसन्मुख होने का उपदेश दिया गया है। आत्मा से अतिरिक्त पदार्थ ज्ञेय तो हो सकते हैं पर ग्राह्य नही हो सकते। ग्राह्य एक स्वकीय शुद्ध आत्मा ही हो सकता है।

३ चारित्राधिकार चारित्राधिकार का प्रारम्भ करते हुए कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं -

पडिवज्जदु सामण्ण जदि इच्छदि दुक्खपरिमोक्खं।। १।।

दु खों से यदि परिमोक्ष - पूर्णमुक्ति चाहते हो तो श्रामण्य - मुनिपद को धारण करो।

सम्यग्दर्शन से मोक्षमार्ग शुरु होता है और सम्यक्चारित्र से उसकी पूर्णता होती है।[1] जब तक सम्यक्चारित्र - परमयथाख्यात चारित्र नही होता तब तक यह जीव मोक्ष को प्राप्त नही होता। इसलिये मोक्ष का साक्षात् मार्ग चारित्र है, यह जानकर चारित्र धारण करने का प्रयास करना चाहिये। यहा इतना स्मरणीय है कि कुन्दकुन्द स्वामी प्रारम्भ में ही चारित्र की परिभाषा कहते हुए लिख चुके हैं कि मोह और क्षोभ से रहित आत्मा की परिणति ही साम्यभाव है और ऐसा साम्यभाव ही चारित्र कहलाता है। ऐसे चारित्र से ही कर्मों का क्षय होकर शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है। चारित्रगुण का पूर्ण विकास मुनिपद में होता है अत मुनिपद धारण करने के लिये आचार्य ने भव्यजीवों को सम्बोधित किया है। जो भव्यजीव मुनिपद धारण करने के लिये उन्मुख होता है उसे सर्वप्रथम क्या करना चाहिये ? इसका उल्लेख करते हुए कहा है -

आपिच्छ बंधुवग्गं विमोइदो गुरुकलत्तपुत्तेहिं।
आसिज्ज णाणदंसणचरित्ततववीरियायारं।। २।।

---

1 अत्राह शिष्य - केवलज्ञानोत्पत्तौ मोक्षकारणभूतरत्नत्रयपरिपूर्णतायां सत्यां तस्मिन्नेव क्षणे मोक्षेण भाव्य सयोगययोगिजिनगुणस्थानद्वये कालो नास्तीति। परिहारमाह - यथाख्यातचारित्र जात पर किन्तु परमयथाख्यात नास्ति। अत्र दृष्टान्त - यथा चौरव्यापाराभावेऽपि पुरुषस्य चौरससर्गो दोष जनयति तथा चारित्रविनाशकचारित्रमोहोदयाभावेऽपि सयोगकेवलिना निरष्क्रियशुद्धात्मचरणविलक्षणो योगत्रयव्यापारश्चारित्रमल जनयति, योगत्रयगते पुनरयोगिजिने चरमसमय विहाय शेषाघातिकर्मोदयश्चारित्रमल जनयति, चरमसमये तु मन्दोदये सति चारित्रमलाभावान्मोक्ष गच्छति। - बृहद्द्रव्यसग्रहे गाथा १३।

बन्धुवर्ग से पूछकर तथा माता-पिता स्त्री, पुत्रों से छुटकारा पाकर ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य इन पांच आचारों को प्राप्त करे। बन्धुवर्ग तथा माता-पिता आदि गुरुजनों से किस प्रकार आज्ञा प्राप्त करे इसका वर्णन अमृतचन्द्र स्वामी ने बहुत ही सुन्दर किया है -

"एवं बन्धुवर्गमापृच्छते - अहो इदं जनशरीरबन्धुवर्गवर्तिन आत्मनोऽस्य जीवस्य आत्मा न किंचिदपि युष्माक भवतीति निश्चयेन यूयं जानीत। तत आपृष्टा यूयमयमात्मा अद्योद्भिन्नज्ञानज्योति आत्मानमेवात्मनोऽनादिबन्धुमुपसर्पति।"

"मुनिपद धारण करने के लिये इच्छुक भव्य अपने बन्धुवर्ग से पूछता है - हे इस जन के शरीर सम्बन्धी बन्धुजनों के शरीर में रहने वाले आत्माओ ! इस जन का आत्मा आप लोगों का कुछ भी नहीं है यह आप निश्चय से जानो, इसीलिये आप से पूछा जा रहा है। आज इस जन की ज्ञानज्योति प्रकट हुई है अत एव यह आत्मा अनादिबन्धुस्वरूप जो स्वकीय आत्मा है उसी के समीप जाता है।"

इस तरह समस्त लोगों से आज्ञा प्राप्तकर गृहबन्धन से मुक्त हो, गुणी तथा कुल, रूप और वय आदि से विशिष्ट योग्य गणी - आचार्य के पास जाकर उनसे प्रार्थना करता है - हे भगवन् ! मुझे स्वीकृत करो - चरणों में आश्रय प्रदान करो। मैने निश्चय कर लिया है कि मै अन्य लोगों का नही हूं और अन्य लोग मेरे नहीं हैं, मेरा किसी के साथ ममत्व भाव नही है इसलिये मै यथाजात - दिगम्बर मुद्रा का धारक बनना चाहता हूं।

शिष्य की योग्यता देखकर आचार्य उसे पांच महाव्रत, पांच समिति, पांच इन्द्रियदमन, छह आवश्यक, केशलोंच, आचेलक्य, अस्नान, भूमिशयन, अदन्तधावन, खडे-खडे भोजन करना और दिन में एक बार ही भोजन करना . इन अट्ठाईस मूलगुणों का उपदेश देकर उस यथाजात - निर्ग्रन्थ वेष को प्रदान करते हैं जो मूर्च्छा तथा आरम्भ आदि से रहित है और अपुनर्भव - मोक्ष का कारण है।

मुनिमुद्रा को धारण कर भव्यजीव अपने ज्ञान-दर्शन स्वभाव में लीन रहता हुआ बाह्य में अट्ठाईस मूलगुणों का निरतिचार पालन करता है। वह सदा प्रमाद छोड़कर गमनागमन आदि क्रियाओं को करता है। क्योंकि जिनागम का कथन है कि जीव मरे अथवा न मरे जो अयत्नाचार पूर्वक चलता है उसके हिंसा निश्चित रूप से होती है और जो यत्नाचारपूर्वक चलता है उसके जीवघात हो जाने पर भी हिंसा जनित बन्ध नहीं होता है।

साधु को यह त्याग परनिरपेक्ष- पर पदार्थों की अपेक्षा से रहित होकर ही करना चाहिये क्योंकि जो साधु पर पदार्थों की अपेक्षा रखता है उसके अभिप्राय की निर्मलता नही हो सकती और अभिप्राय की निर्मलता के बिना कर्मों का क्षय नहीं हो सकता। गृहीत प्रवृत्ति में दोष लगने पर आचार्य के समीप उसका प्रतिक्रमण करता है और आगामी काल के लिये उस दोष का प्रत्याख्यान करता है।

निर्ग्रन्थ साधु आगम का अध्ययन कर अपनी श्रद्धा को सुदृढ और चारित्र को निर्दोष बनाता है। आगम के स्वाध्याय की उपयोगिता बताते हुए कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं -

आगमहीणो समणो णेवप्पाण परं वियाणादि।
अविजाणंतो अत्थे खवेदि कम्माणि किध भिक्खू।। ३३।।

आगम से रहित साधु निज और पर को नहीं जानता तथा जो निज और पर को नहीं जानता अर्थात् भेद ज्ञान से रहित है वह कर्मों का क्षय कैसे कर सकता है ?

आगमचक्खू साहू इंदियचक्खूणि सव्वभूदाणि।
देवा य ओहिचक्खू सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू।। ३४।।

मुनि आगमचक्षु है, संसार के समस्त प्राणी इन्द्रिय चक्षु हैं, देव अवधि चक्षु हैं और सिद्ध सर्वतश्चक्षु है अर्थात् मुनि आगम से सब कुछ जानते हैं, संसार के साधारण प्राणी इन्द्रियों से जानते हैं, देव अवधिज्ञान से जानने हैं और

सिद्ध भगवान् केवलज्ञान के द्वारा समस्त पदार्थों को जानते हैं।

आगमपुव्वा दिट्ठी ण भवदि जस्सेह संजमो तस्स।
णत्थित्ति भणइ सुत्तं असंजदो हवदि किध समणो।। ३६।।

जिसके आगमपूर्वक दृष्टि नहीं है अर्थात् आगम का स्वाध्याय कर जिसने अपनी तत्व श्रद्धा को सुदृढ नहीं किया है उसके संयम नहीं होता, ऐसा जिनशास्त्र कहते हैं। फिर जो असंयमी है - संयम से रहित है वह श्रमण - साधु कैसे हो सकता है ?

आगम का अध्ययन मात्र ही कार्यकारी नहीं है, तत्वार्थ का श्रद्धान भी कार्यकारी है और मात्र श्रद्धान ही कार्यकारी नहीं है उसके साथ संयम का आचरण भी कार्यकारी है। इस विषय को देखिये, कुन्दकुन्द स्वामी कैसा स्पष्ट करते हैं -

ण हि आगमेण सिज्झदि सद्दहणं जदि ण अत्थि अत्थेसु।
सद्दहमाणो अत्थे असंजदो वा ण णिव्वादि।। ३७।।

यदि पदार्थ विषयक श्रद्धान नहीं है तो सिर्फ आगम के ज्ञान से यह जीव सिद्ध नहीं हो सकता और पदार्थ का श्रद्धान करता हुआ भी यदि असंयत है - संयम से रहित है तो वह निर्वाण को प्राप्त नहीं हो सकता।

ज्ञान की गरिमा बतलाते हुए कहा है -

जं अण्णाणी कम्मं खवेइ भवसयसहस्सकोडीहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेइ उस्सासमेत्तेण।। ३८।।

अज्ञानी जीव सैकडों, हजारों तथा करोडों भव में जिस कर्म के खिपाता है तीन गुप्तियों का धारक ज्ञानी जीव उसे उच्छ्वास मात्र में खिपा देता है। यहा "तीन गुप्तियों का धारक" इस विशेषण से सम्यक्चारित्र की भी सत्ता अनिवार्य बतलाई गई है। बिना सम्यक्चारित्र के अंग और पूर्व का पाठी जीव भी सर्व कर्मक्षय करने में समर्थ नहीं है।

आगम ज्ञान का प्रयोजन स्व-पर का ज्ञान कर पर पदार्थों में मूर्च्छा छोडना है। यदि आगम का ज्ञाता होकर भी कोई पर पदार्थों में मूर्च्छा को नहीं छोडता है तो वह मोक्ष को प्राप्त नही हो सकता। कुन्दकुन्द स्वामी के वचन देखिये -

परमाणुपमाणं वा मुच्छा देहादिएसु जस्स पुणो।
विज्जदि जदि सो सिद्धिं ण लहदि सव्वागमधरो वि।। ३९।।

जिसके शरीरादि पर पदार्थों में परमाणु प्रमाण भी मूर्च्छा - आत्मीय बुद्धि है वह समस्त आगम का धारक होने पर भी सिद्धि को प्राप्त नहीं होता।

साधु को श्रमण कहते हैं अत श्रमण की परिभाषा करते हुए कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं -

समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो।
समलोट्ठकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो।। ४१।।

जो शत्रु और बन्धुवर्ग में समान बुद्धिवाला है, जो सुख-दु ख, प्रशंसा-निन्दा में समान है, पत्थर के ढेले और सुवर्ण में समभाव है तथा जीवन और मरण में समान है, वह श्रमण कहलाता है।

कैसा श्रमण कर्मक्षय कर सकता है ? इसका समाधान देखिये -

अत्थेसु जो ण मुज्झदि ण हि रज्जदि णेव दोसमुवयादि।
समणो जदि सो णियदं खवेदि कम्माणि विविधाणि।। ४४।।

जो श्रमण पर पदार्थों में मोह को प्राप्त नहीं होता - उनमें आत्मबुद्धि नहीं करता और न उनमें रागद्वेष करता है

वह निश्चित ही नाना प्रकार के कर्मों का क्षय करता है।

शुभोपयोगी और शुद्धोपयोगी के भेद से मुनियों के दो भेद हैं। इनमें शुद्धोपयोगी मुनि आस्रव से रहित होते हैं और शेष मुनि आस्रव से सहित। शुभोपयोगी मुनि, अरहन्त आदिक परमेष्ठियों की भक्ति करते हैं तथा प्रवचन - परमागम से युक्त शुद्धात्म स्वरूप के उपदेशक महामुनियों में गोवत्स के समान वात्सल्य भाव रखते हैं। गुरुजनों के आने पर उठकर उनका सत्कार करते हैं, जाने पर अनुगमन के द्वारा उनके प्रति आदर प्रकट करते हैं, दर्शन और ज्ञान का उपदेश करते हैं, शिष्यों को दीक्षा देते हैं, उनका पोषण करते हैं, जिनेन्द्र पूजा का उपदेश देते हैं, ऋषि, मुनि, यति और अनगार इन चार प्रकार के मुनि संघों का उपकार करते हैं, अपने पद के अनुकूल उनका वैयावृत्य करते हैं, रोग अथवा क्षुधा-तृषा आदि से पीडित श्रमण के प्रति आत्मीय भाव प्रकट कर उनकी दु ख निवृत्ति का प्रयास करते हैं, ग्लान, वृद्ध, बालक आदि मुनियों की सेवा के निमित्त लौकिक जनों - गृहस्थों के साथ संभाषण आदि करते हैं। शुभोपयोगी मुनियों की यह प्रशस्त चर्या अपुनर्भव अर्थात् मोक्ष का साक्षात् कारण नहीं है परन्तु उससे सांसारिक सुख रूप स्वर्ग की प्राप्ति होती है। उनकी यह प्रशस्त चर्या परम्परा से मोक्ष का कारण है।

शुद्धोपयोगी मुनि इन सब विकल्पों से दूर हटकर शुद्धात्म स्वरूप के चिन्तन में लीन रहते हैं। करणानुयोग की पद्धति से यह शुद्धोपयोग श्रेणी से प्रारम्भ होता है तथा अपनी उत्कृष्ट सीमा पर पहुंचकर कर्म क्षय का कारण होता है।

मुनि मुद्रा धारणकर भी जो लौकिकजनों के सम्पर्क में हर्ष मानते हैं तथा उन्मार्ग में प्रवृत्ति करते हैं वे श्रमणाभास हैं तथा अनन्त संसार के पात्र होते हैं। भावलिंग सहित मुनिमुद्रा इस जीव को बत्तीस बार से अधिक धारण नहीं करनी पडती,[1] उसी के भीतर वह मोक्ष को प्राप्त हो जाता है परन्तु मात्र द्रव्यलिंग सहित मुनिमुद्रा धारण करने की संख्या निश्चित नहीं है। अनन्त बार भी वह यह पद धारण करता है परन्तु उसके द्वारा नवमग्रैवेयक से अधिक का पद प्राप्त नहीं कर सकता।

अन्त में अमृतचन्द्र स्वामी ने ४७ नयों का अवलम्बन लेकर आत्मा का दिग्दर्शन कराया है। इस तरह प्रवचनसार सचमुच ही प्रवचनसार "आगम का सार" है। इसकी रचना अत्यन्त प्रौढ और सारगर्भित है।

नियमसार

नियमसार में १८७ गाथाएं को १२ अधिकारों में विभक्त किया गया है। अधिकारों के नाम इस प्रकार हैं- १ जीवाधिकार, २ अजीवाधिकार, ३ शुद्धभावाधिकार, ४ व्यवहारचारित्राधिकार, ५ परमार्थप्रतिक्रमणाधिकार, ६ निश्चयप्रत्याख्यानाधिकार, ७ परमालोचनाधिकार, ८ शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्ताधिकार, ९ परमसमाध्यधिकार, १0 परमभक्त्यधिकार, ११ निश्चयपरमावश्यकाधिकार और १२ शुद्धोपयोगाधिकार।

१. **जीवाधिकार** नियम का अर्थ लिखते हुए कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं -

णियमेण य जं कज्जं तण्णियमं णाणदंसणचरित्तं।
विवरीय परिहरत्थं भणिदं खलु सारमिदि वयणं।। ३।।

जो नियम से करने योग्य हो उन्हें नियम कहते हैं। नियम से करने योग्य ज्ञान, दर्शन और चारित्र है। विपरीत ज्ञान, दर्शन और चारित्र का परिहार करने के लिए नियम शब्द के साथ सार पद का प्रयोग किया है। इस तरह नियमसार का अर्थ सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र है। संस्कृत टीकाकार श्री पद्मप्रभमलधारी देव ने भी कहा है -

"नियमशब्दस्तावत् सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रेषु वर्तते, नियमसार इत्यनेन शुद्धरत्नत्रयस्वरूपमुक्तम्।"

---

1 चत्तारि वारमुवसमसेढिं समरुहदि खविदकम्मंसो।
बत्तीसं वाराइं संजममुवलहिय णिव्वादि।। ६१९।। कर्मकाण्ड

अर्थात् नियम शब्द सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में आता है तथा नियमसार इस शब्द से शुद्ध रत्नत्रय का स्वरूप कहा गया है।

जिन शासन में मार्ग और मार्ग का फल इन दो पदार्थों का कथन है। उनमें मार्ग - मोक्ष का उपाय - सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र कहलाता है और निर्वाण, मार्ग का फल कहलाता है। इन्ही तीन का वर्णन इस ग्रन्थ में किया गया है। सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन का लक्षण लिखते हुए कहा है -

अत्तागमतच्चाणं सद्दहणादो हवेइ सम्मत्तं।
ववगयअसेसदोसो सयलगुणप्पा हवे अत्तो।। ५।।

आप्त, आगम और तत्वों के श्रद्धान से सम्यक्त्व - सम्यग्दर्शन होता है। जिसके समस्त दोष नष्ट हो गये हैं तथा जो सकल गुण स्वरूप है वह आप्त है। क्षुधा, तृषा आदि अठारह दोष कहलाते हैं और केवलज्ञान आदि गुण कहे जाते हैं। आप्त भगवान् क्षुधातृषा आदि समस्त दोषों से रहित हैं तथा केवलज्ञानादि परमविभव - अनन्त गुण रूप ऐश्वर्य से सहित हैं। यह आप्त ही परमात्मा कहलाता है। इससे विपरीत आत्मा परमात्मा नही हो सकता।

आगम और तत्व का वर्णन करते हुए लिखा है -

तस्स मुहग्गदवयणं पुव्वावरदोसविरहियं सुद्धं।
आगममिदि परिकहियं तेण दु कहिया हवंति तच्चत्था।। ८।।

उन आप्त भगवान् के मुख से उद्गत - दिव्यध्वनि से प्रकटित तथा पूर्वापर विरोध रूप दोष से रहित जो शुद्ध वचन है वह आगम कहलाता है आगम के द्वारा कथित जो जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल हैं वे तत्वार्थ हैं। वे तत्वार्थ नाना गुण और पर्याय से सहित हैं। इन तत्वार्थों में स्वपरावभासी होने से जीवतत्व प्रधान है। उपयोग, जीव का लक्षण है। उपयोग के ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग की अपेक्षा दो भेद हैं। ज्ञानोपयोग स्वभाव और विभाव के भेद से दो प्रकार का है। केवलज्ञान स्वभाव ज्ञानोपयोग है और विभाव ज्ञानोपयोग, सम्यग्ज्ञान तथा मिथ्याज्ञान की अपेक्षा दो प्रकार का है। विभाव सम्यग्ज्ञानोपयोग के मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय के भेद से चार भेद हैं और विभाव मिथ्याज्ञानोपयोग के कुमति, कुश्रुत और विभंगावधि की अपेक्षा तीन भेद हैं। इसी तरह दर्शनोपयोग के भी स्वभाव और विभाव की अपेक्षा दो भेद हैं। उनमें केवलदर्शनोपयोग स्वभाव दर्शनोपयोग है तथा चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन और अवधिदर्शन ये तीन दर्शन विभाव दर्शनोपयोग हैं।

पर्याय के भी पर की अपेक्षा से सहित और पर की अपेक्षा से रहित, इस तरह दो भेद हैं। अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय के भेद से पर्याय दो प्रकार की होती है। पर के आश्रय से होने वाली षड्गुणी हानिवृद्धि रूप जो ससारी जीव की परिणति है वह विभाव अर्थपर्याय है तथा सिद्ध परमेष्ठी की जो षड्गुणी हानिवृद्धिरूप परिणति है वह जीव की स्वभाव अर्थपर्याय है। प्रदेशवत्त्व गुण के विकार रूप जो जीव की परिणति है अर्थात् जिसमें किसी आकार की अपेक्षा रक्खी जाती है उसे व्यंजनपर्याय कहते हैं। इसके भी स्वभाव और विभाव की अपेक्षा दो भेद होते हैं। अन्तिम शरीर से किंचिदून जो सिद्ध परमेष्ठी का आकार है वह जीव की स्वभाव व्यंजनपर्याय है और कर्मोपाधि से रचित जो नर-नारकादि पर्याय है वह विभाव व्यंजनपर्याय है।

व्यवहारनय से आत्मा पुद्गल कर्म का कर्ता और भोक्ता है तथा अशुद्ध निश्चयनय से कर्मजनित रागादि भावों का कर्ता है। सस्कृत टीकाकार ने नय विवक्षा से कर्तृत्व और भोक्तृत्व भाव को स्पष्ट करते हुए कहा है कि निकटवर्ती अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा आत्मा द्रव्यकर्मों का कर्ता है तथा उनके फलस्वरूप प्राप्त होने वाले सुख-दु ख का भोक्ता है। अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा समस्त मोह, राग, द्वेष रूप भाव कर्मों का कर्ता है तथा उन्हीं का भोक्ता है। अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा शरीररूप नोकर्मों का कर्ता और भोक्ता है तथा उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से घट-पटादि का कर्ता और भोक्ता है। जहां निश्चयनय और व्यवहारनय के

भेद से नय के दो भेद ही विवक्षित है वहा आत्मा निश्चयनय की अपेक्षा अपने ज्ञानादि गुणों का कर्ता-भोक्ता होता है और व्यवहारनय से रागादि भावकर्मों का।

श्री पद्मप्रभमलधारी देव ने कहा है -

द्वौ हि नयौ भगवदर्हत्परमेश्वरेण प्रोक्तौ द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्चेति। द्रव्यमेवार्थ प्रयोजनमस्येति द्रव्यार्थिक । पर्याय एव प्रयोजनमस्येति पर्यायार्थिक । न खलु एक नयायत्तोपदेशो ग्राह्य किन्तु तदुभयायत्तोपदेश ।

भगवान् अर्हन्त परमेश्वर ने दो नय कहे हैं - एक द्रव्यार्थिक और दूसरा पर्यायार्थिक। द्रव्य ही जिसका प्रयोजन है वह द्रव्यार्थिकनय है और पर्याय ही जिसका प्रयोजन है वह पर्यायार्थिकनय है। एक नय के अधीन उपदेश ग्राह्य नही है किन्तु दोनों नयों के अधीन उपदेश ग्राह्य है।

यह उल्लेख पीछे किया जा चुका है कि नय वस्तु स्वरूप को समझने के साधन हैं, वक्ता पात्र की योग्यता देखकर विवक्षानुसार उभय नयों को अपनाता है। यह ठीक है कि उपदेश के समय एक नय मुख्य तथा दूसरा नय गौण होता है परन्तु सर्वथा उपेक्षित नही होता।

इस परिप्रेक्ष्य में जब त्रैकालिक स्वभाव को ग्रहण करने वाले द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा कथन होता है तब जीव द्रव्य रागादिक विभाव परिणति तथा नर-नारकादिक व्यंजनपर्यायों से रहित है यह बात आती है और जब पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा कथन होता है तब जीव इन सबसे सहित है यह बात आती है।

२ **अजीवाधिकार** पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पाच अजीव पदार्थ हैं। पुद्गल द्रव्य, अणु और स्कन्ध के भेद से दो प्रकार का होता है। उनमें स्कन्ध के अतिस्थूल, स्थूल, स्थूलसूक्ष्म, सूक्ष्मस्थूल, सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म के भेद से ६ भेद हैं। पृथिवी आदि, तेल आदि छाया-आतप आदि, चक्षु के सिवाय शेष चार इन्द्रियों के विषय, कार्मणवर्गणा और द्व्यणुकस्कन्ध ये अतिस्थूल आदि स्कन्धो के उदाहरण हैं। अणु के कारण-अणु और कार्य-अणु के भेद से दो भेद हैं। पृथिवी, जल, अग्नि और वायु इन चार धातुओं की उत्पत्ति का जो कारण है उसे कारण परमाणु कहते हैं और स्कन्धो के अवसान को अर्थात् स्कन्धो में भेद होते-होते जो अन्तिम अश रह जाता है उसे कार्य परमाणु कहते है। परमाणु का लक्षण इस प्रकार कहा है -

अत्तादि अत्तमज्झ अत्तंत णेव इदिये गेज्झं।
अविभागी ज दव्व परमाणु त विजाणाहि।। २६।।

वही जिसका आदि है वही मध्य है, वही अन्त है, जिसका इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण नही होता तथा जिसका दूसरा विभाग नही हो सकता उसे परमाणु जानना चाहिये।

इस परमाणु मे एक रस, एक गन्ध, एक रूप और शीत-उष्ण में से कोई एक तथा स्निग्ध-रूक्ष में से कोई एक इस प्रकार दो स्पर्श पाये जाते हैं। दो या उससे अधिक परमाणुओं के पिण्ड को स्कन्ध कहते हैं। अणु और स्कन्ध के भेद से पुद्गल द्रव्य के दो भेद हैं।

जीव और पुद्गल के गमन का जो निमित्त है उसे धर्मद्रव्य कहते हैं। जीव और पुद्गल की स्थिति का जो निमित्त है उसे अधर्मद्रव्य कहते हैं। जीवादि समस्त द्रव्यों के अवगाह का जो निमित्त है उसे आकाश कहते हैं। समस्त द्रव्यों की अवस्थाओं के बदलने में जो सहकारी कारण है वह कालद्रव्य है। यह काल द्रव्य समय और आवली के भेद से दो प्रकार का होता है। अथवा अतीत, वर्तमान और भावी (भविष्यत्) की अपेक्षा तीन प्रकार का है। सख्यात आवलियों से गुणित सिद्ध राशि का जितना प्रमाण है उतना अतीत काल है। वर्तमान काल समय मात्र है और भावी (भविष्यत्) काल, समस्त जीवराशि तथा समस्त पुद्गल द्रव्यों से अनन्त गुणा है।

नियमसार में कालद्रव्य वर्णन की ३१ और ३२ वीं गाथा में परम्परागत अशुद्ध पाठ चला आ रहा है। सस्कृत टीकाकार का भी उस ओर लक्ष्य गया नही जान पडता है। ३१ वी गाथा मे "तीदो संखेज्जावलि हद संठाणप्पमाण

तु" ऐसा पाठ नियमसार में है परन्तु गोम्मटसार जीवकाण्ड में "तीदो संखेज्जावलि हद सिद्धाणं पमाण तु" ऐसा पाठ है। नियमसार की एतद्विषयक संस्कृत टीका भी भ्रान्त मालूम पडती है। ३२ वीं गाथा में "जीवादु पुग्गलादोऽणंतगुणा चावि संपदा समया" ऐसा पाठ है परन्तु इस पाठ से समस्त अर्थ गडबडा गया है। इसका सही पाठ ऐसा होना चाहिए "जीवादु पुग्गलादोऽणंतगुणा भावि संपदा समया" इस पाठ के मानने पर भावी काल का वर्णन भी गाथोक्त हो जाता है और उसका जीवकाण्ड से मेल खा जाता है। इस पाठ में गाथा का अर्थ होता है कि भावी काल जीव तथा पुद्गल राशि से अनन्त गुणा है और संपदा अर्थात् साम्प्रत/वर्तमान काल समय मात्र है। लोकाकाश में लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेशों पर जो कालाणु स्थित हैं वे परमार्थ - निश्चयकाल द्रव्य हैं। "भावि" के स्थान पर "चावि" पाठ लेखकों के प्रमाद से आ गया जान पडता है।

धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन चार द्रव्यों का परिणमन सदा शुद्ध ही रहता है परन्तु जीव और पुद्गल द्रव्य में शुद्ध-अशुद्ध दोनों प्रकार का परिणमन होता है। मूर्त अर्थात् पुद्गल द्रव्य के संख्यात, असख्यात और अनन्त प्रदेश होते हैं। धर्म, अधर्म और एक जीव द्रव्य के असंख्यात प्रदेश होते हैं। लोकाकाश के भी असंख्यात प्रदेश हैं परन्तु समस्त आकाश के अनन्त प्रदेश हैं। काल द्रव्य एक प्रदेशी है। उपर्युक्त छह द्रव्यों में पुद्गल द्रव्य मूर्त है, शेष पांच द्रव्य अमूर्त हैं। एक जीव द्रव्य चेतन है शेष पांच द्रव्य अचेतन हैं। पुद्गल का परमाणु आकाश के जितने अंश को घेरता है उसे प्रदेश कहते हैं।

३ शुद्धभावाधिकार जब तत्वों को हेय और उपादेय इन दो भेदों में विभाजित करते हैं तब पर जीवादि बाह्य तत्व हेय हैं और कर्मरूप उपाधि से रहित स्वकीय स्वयं अर्थात् शुद्ध आत्मा उपादेय है। जब तत्वों को हेय-उपादेय तथा ज्ञेय तीन भेदों में विभाजित करते हैं तब जीवादि बाह्य तत्व ज्ञेय हैं, स्वकीय शुद्ध आत्मा उपादेय है और उसका विभाव परिणमन हेय है। तात्पर्य यह है कि आत्मद्रव्य का परिणमन स्वभाव और विभाव के भेद से दो प्रकार का होता है। जो स्व में स्व के निमित्त से होता है वह स्वभाव परिणमन कहलाता है जैसे जीव का ज्ञान-दर्शन रूप परिणमन। और जो स्व में पर के निमित्त से होता है वह विभाव परिणमन कहलाता है। जैसे जीव का रागद्वेषादि रूप परिणमन। इन दोनों प्रकार के परिणमनों में स्वभाव परिणमन उपादेय है और विभाव परिणमन हेय है।

शुद्ध भावाधिकार में आत्मा को इन्हीं विभाव परिणामों से पृथक् सिद्ध करने के लिये कहा गया है कि निश्चय से रागादिक विभाव स्थान, मान-अपमान के स्थान, सांसारिक सुखरूप हर्षभाव के स्थान, सांसारिक दु ख रूप अहर्षभाव के स्थान, स्थितिबन्ध स्थान, प्रकृतिबन्ध स्थान, प्रदेशबन्ध स्थान और अनुभाग बन्ध स्थान आत्मा के नही है। क्षायिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक और औदयिक भाव के स्थान आत्मा के नहीं है[1]। चातुर्गतिक परिभ्रमण, जन्म, जरा, मरण, भय, शोक, कुल, योनि, जीवसमास तथा मार्गणास्थान जीव के नही है। नहीं होने का कारण यही एक है कि ये पर के निमित्त से होते हैं। यद्यपि वर्तमान में ये आत्मा के साथ तन्मयी भाव को प्राप्त हो रहे हैं तथापि उनका यह तन्मयीभाव त्रैकालिक नही है। ज्ञानदर्शनादि गुणों के साथ जैसा त्रैकालिक तन्मयीभाव है वैसा रागादिक के साथ नहीं है। अग्नि के सम्बन्ध से पानी में जो उष्णता आई है वह यद्यपि पानी के साथ तन्मयीभाव को प्राप्त हुई जान पडती है तथापि अग्नि का सम्बन्ध दूर हो जाने पर, नष्ट हो जाने के कारण वह सर्वथा तन्यमीभाव को प्राप्त नहीं होती है। यही कारण है कि शीतस्पर्श तो पानी का स्वभाव कहा जाता है और उष्ण स्पर्श विभाव।

स्वभाव की दृष्टि से आत्मा निर्दण्ड - मन, वचन और काय के व्यापार रूप योग से रहित, निर्द्वन्द्व, निर्मम, निष्कलंक, नीराग, निर्द्वेष, निर्मूढ, निर्ग्रन्थ, नि शल्य, निर्दोष, निष्काम, नि क्रोध, निर्मान और निर्मद है। रूप, रस,

1 णो खइयभावठाणा णो खयउवसम सहाव ठाणावा।
ओदइयभावठाणा णो उवसमणे सहाव ठाणा वा।। ४१।। नियमसार

गन्ध, स्पर्श, स्त्री-पुरुष-नपुंसक पर्याय, संस्थान तथा संहनन जीव के नही है। तात्पर्य यह है कि आत्मा, द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से रहित है। आत्मा रस, रूप, गन्ध और स्पर्श के रहित है, चेतना गुण वाला है, शब्द रहित है, अलिंगग्रहण है, और अनिर्दिष्ट संस्थान है। स्वरूपोपादान की अपेक्षा आत्मा चेतना गुण से सहित है और पररूपापोहन की अपेक्षा रसरूपादि से रहित है।

स्वभावदृष्टि से कहा गया है -

> जारिसया सिद्धप्पा भवयल्लिय जीव तारिसा होंति।
> जरमरणजम्ममुक्का अट्ठगुणालंकिया जेण।। ४७।।

अर्थात् जैसे सिद्ध जीव है वैसे ही संसारस्थ जीव भी है। जैसे सिद्ध जीव जरा, मरण और जन्म से रहित तथा अष्टगुणों से अलंकृत है वैसे ही संसारी जीव भी जरामरणादि से रहित तथा अष्ट गुणों से अलंकृत है। यहा इतना स्मरण रखना आवश्यक है कि यह कथन मात्र स्वभाव दृष्टि से है वर्तमान की व्यक्तता से नहीं। संसारी जीव में सिद्ध परमेष्ठी के समान होने की योग्यता है, इसका इतना ही तात्पर्य है। वर्तमान में जीव का संसार पर्याय रूप अशुद्ध परिणमन चल रहा है। चूंकि एक काल में एक ही परिणमन हो सकता है अत जिस समय जीव का अशुद्ध परिणमन चल रहा है उस समय शुद्ध परिणमन का अभाव ही है परन्तु शुद्ध परिणमन की योग्यता जीव में सदा रहती है इसलिये अशुद्ध परिणमन के समय भी उसका शुद्ध परिणमन कहा जाता है। वर्तमान में जन्म-जरा-मरण के दु ख भोगते रहने पर भी संसारी जीव को सिद्धात्मा के सदृश कहने का तात्पर्य इतना है कि आचार्य इस जीव को आत्मस्वरूप की ओर आकृष्ट करना चाहते है। जैसे किसी धनिक व्यक्ति का पुत्र, माता-पिता के मर जाने पर स्वकीय सपत्ति का बोध न होने पर भिखारी बना फिरता है, उसे कोई ज्ञानी पुरुष समझाता है कि तूं भिखारी क्यों बन रहा है, तू तो अमुक सेठ के समान लक्षाधीश है, अपने धन को प्राप्त कर इस भिखारी दशा से मुक्ति पा। इसी प्रकार अपने ज्ञान-दर्शन स्वभाव को भूलकर यह जीव वर्तमान की अशुद्ध परिणति में आत्मीय बुद्धि कर दु खी हो रहा है, उसे ज्ञानी आचार्य समझाते हैं - अरे भाई ' तूं तो सिद्ध भगवान् के समान है, जन्म-मरण के चक्र को अपना मानकर दु खी क्यों हो रहा है ? आचार्य के उपदेश से निकट भव्य जीव अपने स्वभाव की ओर लक्ष्य बनाकर सिद्धात्मा के समान शुद्ध परिणति को प्राप्त कर लेते है परन्तु दीर्घ संसारी जीव स्वभाव की ओर लक्ष्य न देने के कारण इसी संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं। शुद्धभावाधिकार में शुद्धभाव की ओर भी आत्मा का लक्ष्य जावे इसी अभिप्राय से वर्णन किया गया है। यह कथन द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा है। पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा वर्तमान में जीव की जो पर्याय है उससे नकारा नही किया जा रहा है। मात्र उस ओर से दृष्टि को हटाकर स्वभाव की ओर लगाने का प्रयास किया गया है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप ये चारों उपाय स्वभावदृष्टि को प्राप्त करने में परम सहायक है। इसीलिये इन्हें प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिये। विपरीताभिविनिवेश से रहित आत्मतत्व का जो श्रद्धान है वह सम्यग्दर्शन है। संशय, विभ्रम तथा अनध्यवसाय से रहित आत्मतत्व का जो ज्ञान है वह सम्यग्ज्ञान है। आत्मस्वरूप में स्थिर रहना सम्यक्चारित्र है और उसी में प्रतपन करना सम्यक्तप है। यह निश्चयनय का कथन है। चल, मलिन और अगाढ दोषों से रहित तत्वों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। हेयोपादेय तत्वों को जानना सम्यग्ज्ञान है। महाव्रतादि रूप आचरण सम्यक्चारित्र है और उपवासादि तप करना सम्यक्तप है। यह व्यवहारनय का कथन है।

कार्य की उत्पत्ति बहिरंग और अन्तरंग कारणों से होती है अत सम्यक्त्व की उत्पत्ति के बहिरंग और अन्तरंग कारणों का कथन करते हुए श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है-

सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा।
अंतरहेऊ भणिदा दंसणमोहस्स खयपहुदी।। ५३।।

अर्थात् सम्यग्दर्शन का बाह्य निमित्त जिनागम तथा उसके ज्ञाता-पुरुष हैं और अन्तरग निमित्त दर्शनमोहकर्म का क्षय आदिक है।

अन्तरंग निमित्त के होने पर कार्य नियम से होता है परन्तु बहिरंग निमित्त के होने पर कार्य की उत्पत्ति होने का नियम नहीं है। हो भी और नहीं भी हो।

इस अधिकार में कर्मजनित अशुद्ध भावों को अनात्मीय बतलाकर स्वाश्रित शुद्धभाव को आत्मीय बतलाया है।

४ व्यवहारचारित्राधिकार इस अधिकार में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इन पांच महाव्रतों का, ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और प्रतिष्ठापन इन पांच समितियों का, मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति इन तीन गुप्तियों का तथा अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पांच परमेष्ठियों का स्वरूप बतलाया गया है। हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार और परिग्रह ये पांच पाप के पनाले हैं। इनके माध्यम से आत्मा में कर्मों का आस्रव होता है अतः इनका निरोध करना सम्यक्चारित्र है। पांच पापों का पूर्ण त्याग हो जाने पर पांच महाव्रत प्रकट होते हैं उनकी रक्षा के लिये ईर्या आदि पांच समितियां और तीन गुप्तियों का पालन करना आवश्यक है। महाव्रतों की रक्षा के लिये प्रवचन - आगम में इन आठ को माता की उपमा दी गई है इसीलिये इन्हें अष्टप्रवचनमातृका कहा गया है। व्यवहारनय से यह तेरह प्रकार का चारित्र कहलाता है। इस अधिकार में इसी व्यवहार चारित्र का वर्णन है।

५ परमार्थप्रतिक्रमणाधिकार इस अधिकार में कर्म और नोकर्म से भिन्न आत्मस्वरूप का वर्णन करते हुए सर्वप्रथम कहा गया है कि "मैं नारकी नहीं हूं, तिर्यंच नहीं हूं, मनुष्य नहीं हूं, देव नहीं हूं, गुणस्थान, मार्गणा तथा जीवसमास नहीं हूं, न इनका करने वाला हूं, न कराने वाला हूं और न अनुमोदना करने वाला हूं। बालवृद्ध आदि अवस्थाएं तथा राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया और लोभ रूप विकारी भाव भी मेरे नहीं हैं। मैं तो एक ज्ञायकस्वभाव वाला स्वतन्त्र जीव द्रव्य हूं" इस प्रकार भेदाभ्यास करने से जीव मध्यस्थ होता है और मध्यस्थ भाव से चारित्र होता है। उस चारित्र को दृढ करने के लिए प्रतिक्रमण होता है। यथार्थ में प्रतिक्रमण किसके होता है? इसका कितना स्पष्ट वर्णन कुन्दकुन्द स्वामी ने किया है। देखिये -

मोत्तूण वयणरयणं रागादीभाववारणं किच्चा।
अप्पाणं जो झायदि तस्स दु होदित्ति पडिकमणं।। ८३।।

जो वचनरचना को छोड़कर तथा रागादिभावों का निवारण कर आत्मा का ध्यान करता है उसके प्रतिक्रमण होता है ऐसे परमार्थप्रतिक्रमण के होने पर ही चारित्र निर्दोष हो सकता है।

६ निश्चयप्रत्याख्यानाधिकार प्रत्याख्यान का अर्थ त्याग है। यह त्याग विकारी भावों का ही किया जा सकता है स्वभाव का नहीं - ऐसा विचार करता हुआ जो समस्त वचनों के विस्तार को छोड़कर शुभ-अशुभ भावों का निवारण करता है तथा आत्मा का ध्यान करता है उसी के प्रत्याख्यान होता है। शुभ-अशुभ भाव इस जीव के आत्मध्यान में बाधक हैं अतः प्रत्याख्यान करने वाले को सबसे पहले शुभ-अशुभ भावों को समझ उन्हें दूर करने का प्रयास करना चाहिये। निश्चय प्रत्याख्यान की सिद्धि के लिये आचार्य महाराज ने इस प्रकार की भावनाओं का होना आवश्यक बतलाया है -

ममत्तिं परिवज्जामि णिम्मत्तिमुवट्ठिदो।
आलंबणं च मे आदा अवसेसं च वोसरे।। ९९।।

मं निर्ममत्व भाव को प्राप्त कर ममत्व भाव को छोडता हूं। मेरा आलम्बन मेरा आत्मा ही है, शेष आलम्बनों को मै छोडता हूं।

आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे।। १००।।

मेरे ज्ञान मे आत्मा है, मेरे दर्शन मे आत्मा है, मेरे चारित्र मे आत्मा है, मेरे प्रत्याख्यान मे आत्मा है मेरे संवर तथा योग - शुद्धोपयोग में आत्मा है।

एगो मे सासदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा।। १०२।।

ज्ञान-दर्शन स्वभाव वाला एक आत्मा ही मेरा है। पर पदार्थों के संयोग से होने वाले शेष सब भाव मुझसे बाह्य है - मेरे स्वभावभूत नहीं हैं।

सम्मं मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केणवि।
आसाए वोसरित्ता ण समाहिं पडिवज्जए।। १०४।।

सब जीवों मे मेरे साम्यभाव है, किसी के साथ मेरा वैरभाव नहीं है, मैं सब आशाओं को छोडकर निश्चय से समाधि को प्राप्त होता हूं।

णिक्कसायस्स दंतस्स सूरस्स ववसायिणो।
संसारभयभीदस्स पच्चक्खाणं सुहं हवे।। १०५।।

जो कषाय रहित है, इन्द्रियों का दमन करने वाला है, शूरवीर है, उद्यमवन्त है और ससार के भय से भीत है उसी के सुख स्वरूप प्रत्याख्यान होता है।

७ **परमालोचनाधिकार** परमालोचना किसके होती है ? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं -

णोकम्मकम्मरहियं विहावगुणपज्जएहिं वदिरित्तं।
अप्पाण जो झायदि समणस्सालोयण होदि।। १०७।।

जो नोकर्म और कर्म से रहित तथा विभावगुण और पर्यायों से भिन्न आत्मा का ध्यान करता है ऐसे श्रमण - मुनि के ही आलोचना होती है।

आगम में १ आलोचना, २ आलुंछन, ३ अविकृतीकरण और ४ भावशुद्धि के भेद से आलोचना के चार अंग कहे गये हैं। इन अंगों के पृथक्-पृथक् लक्षण इस प्रकार हैं -

जो पस्सदि अप्पाण समभावे संठवित्तु परिणामं।
आलोयणमिदि जाणह परम जिणंदस्स उवएसं।। १०९।।

जो जीव अपने परिणाम को समभाव में स्थापित कर आत्मा को देखता है - अनुभवता है वह आलोचन है ऐसा जिनेन्द्र भगवान् का उपदेश जानो।

कम्ममहीरुहमूलच्छेदसमत्थो सकीयपरिणामो।
साहीणो समभावो आलुंछणमिदि समुद्दिट्ठं।। ११०।।

कर्म रूप वृक्ष का मूलच्छेद करने में समर्थ जो समभाव रूप स्वाधीन जिन परिणाम है वह आलुछण है।

कम्मादो अप्पाणं भिण्णं भावेइ विमलगुणणिलयं।
मज्झत्थभावणाए वियडीकरणं त्ति विण्णेयं।। १११।।

जो मध्यस्थ भावना में स्थित हो कर्म से भिन्न तथा निर्मलगुणों के आलय स्वरूप अपनी आत्मा का ध्यान करता है वह अविकृतिकरण है अर्थात् ऐसा विचार करना कि कर्मोदय जनित विकार मेरे नहीं हैं।

मदमाणमायलोहविज्जियभावो दु भावसुद्धित्ति।
परिकहियं भव्वाणं लोयालोयप्पदरिसीहिं।। ११२।।

मद, मान, माया और लोभ से रहित जो निज का भाव है वही भावशुद्धि है ऐसा सर्वत्र जिनेन्द्र भगवान् ने भव्यजीवों के लिये कहा है।

व्यवहारनय से भूतकाल सम्बन्धी दोषों का पश्चात्ताप करना प्रतिक्रमण है। वर्तमानकाल सम्बन्धी दोषों का निराकरण करना आलोचना है और भविष्यत्काल सम्बन्धी दोषों का त्याग करना प्रत्याख्यान है। व्यवहारनय सम्बन्धी प्रतिक्रमणादि की सफलता तब ही है जब निश्चय सम्बन्धी प्रतिक्रमणादि प्राप्त हो जावें।

८ **शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्ताधिकार** व्यवहारदृष्टि से प्रायश्चित्त के अनेक रूप सामने आते हैं परन्तु निश्चयनय से उसका क्या रूप होना चाहिये इसका दिग्दर्शन श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने इस अधिकार में किया है। वे कहते हैं कि व्रत, समिति, शील और संयम रूप परिणाम तथा इन्द्रियदमन का भाव ही वास्तविक प्रायश्चित्त है। यह प्रायश्चित्त निरन्तर करते रहना चाहिये। आत्मीय गुणों के द्वारा विकारी भावों पर विजय प्राप्त करना सच्चा प्रायश्चित्त है। इसीलिये कहा है -

कोहं खमया माणं समद्दवेणज्जवेण मायं च।
संतोसेण य लोहं जयदि खु ए चहुविहकसाए।। ११५।।

क्षमा से क्रोध को, मार्दव से मान को, आर्जव से माया को और संतोष से लोभ को - इस प्रकार श्रमण इन चार कषायों को जीतता है।

कषाय विकारीभाव है, उनके रहते हुए प्रायश्चित्त की कोई प्रतिष्ठा नहीं होती, इसलिये क्षमादिगुणों के द्वारा कषायरूप विकारीभावों को जीतने का उपदेश दिया गया है। इसी अधिकार में कहा है कि अधिक कहने से क्या, उत्कृष्ट तपश्चरण ही साधुओं का प्रायश्चित्त है। यह प्रायश्चित्त उनके अनेक कर्मों के क्षय का हेतु है। अनन्तानन्त भवों में इस जीव ने जो शुभाशुभ कर्मों का समूह संचित किया है वह तपश्चरण रूप प्रायश्चित्त के द्वारा ही नष्ट हो सकता है, इसलिये तपश्चरण अवश्य ही करना चाहिये। ध्यान भी प्रायश्चित्त का सर्वोपरि रूप है क्योंकि यह जीव आत्मस्वरूप के आलम्बन से ही समस्त विकारी भावों का परिहार कर सकता है। ध्यान का फल बतलाते हुए कहा है कि जो शुभ-अशुभ वचनों की रचना तथा रागादि भावों का निवारण कर आत्मा का ध्यान करता है उसके अवश्य ही प्रायश्चित्त होता है।

९ **परमसमाधि-अधिकार** आत्मपरिणामों का स्वरूप में सुस्थिर होना परमसमाधि है। इसकी प्राप्ति भी आत्मध्यान से ही होती है। कहा है -

वयणोच्चरणकिरियं परिचत्ता वीयरायभावेण।
जो झायदि अप्पाणं परमसमाही हवे तस्स।। १२२।।

जो मुनि समता भाव से रहित है उसके लिए वनवास, आतापनयोग आदि कायक्लेश, नाना प्रकार के उपवास, अध्ययन और मौन क्या लाभ पहुंचा सकते हैं ? अर्थात् कुछ भी नहीं। कुन्दकुन्द के वचन देखिये -

किं काहदि वणवासो कायकिलेसो विचित्त उववासो।
अज्झयणमोणपहुदी समदारहियस्स समणस्स।। १२४।।

सामायिक और परमसमाधि को पर्यायवाचक मानते हुए कुन्दकुन्द स्वामी ने १२५-१३३ तक नौ गाथाओं में स्पष्ट किया है कि स्थायी सामायिक किसके हो सकती है ? परमसमाधि का अधिकारी कौन है ? उन गाथाओं का भाव यह है कि जो समस्त सावद्य - पापसहित कर्मों से विरक्त है, तीन गुप्तियों का धारक है तथा इन्द्रियों का दमन करने वाला है, जो समस्त त्रस-स्थावर जीवों में समताभाव रखता है, जिसकी आत्मा सदा संयम, नियम और

तप में लीन रहती है, राग और द्वेष जिसके विकार उत्पन्न नहीं कर सकते, जो आर्तरौद्र नामक दुर्ध्यानों से सदा दूर रहता है, जो पुण्य और पाप भाव का निरन्तर त्याग करता है और जो धर्म्य तथा शुक्लध्यान को सतत् धारण करता है उसी के स्थायी सामायिक-परमसमाधि हो सकती है, अन्य के नहीं।

१० परमभक्ति अधिकार "भजनं भक्तिः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार उपासना को भक्ति कहते हैं। "पूज्यानां गुणेष्वनुरागो भक्तिः" पूज्य पुरुषों के गुणों में अनुराग होना भक्ति है यह भक्ति का वाच्यार्थ है। सर्वश्रेष्ठ भक्ति निर्वृत्तिभक्ति है अर्थात् मुक्ति की उपासना। निर्वृतिभक्ति, योगभक्ति - शुद्धस्वरूप के ध्यान से सम्पन्न होती है। निर्वृति भक्ति किसके होती है ? इसका समाधान कुन्दकुन्द स्वामी के शब्दों में देखिये -

सम्मत्तणाणचरणे जो भत्तिं कुणइ सावगो समणो।
तस्स दु णिव्वुदिभत्ती होदित्ति जिणेहि पण्णत्तं।। १३४।।

जो श्रावक अथवा श्रमण, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की भक्ति करता है उसी के निर्वृत्ति भक्ति होती है ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है।

योगभक्ति किसके होती है ? इसका समाधान देखिये -

रागादीपरिहारे अप्पाणं जो दु जुंजदे साहू।
सो जोगभत्तिजुत्तो इदरस्स य कह हवे जोगो।। १३७।।

जो साधु अपने आपको रागादि के परिहार में लगाता है अर्थात् रागादि विकारी भावों पर विजय प्राप्त करता है वही योगभक्ति से युक्त होता है। अन्य साधु के योग कैसे हो सकता है ?

११ निश्चयपरमावश्यकाधिकार जो अन्य के वश नहीं है वह अवश है तथा अवश का जो कार्य है वह आवश्यक है। अवश - सदा स्वाधीन रहने वाला श्रमण ही मोक्ष का पात्र होता है। जो साधु शुभ या अशुभ भाव में लीन है वह अवश नहीं है किन्तु अन्यवश है, उसका कार्य आवश्यक कैसे हो सकता है ? जो परभाव को छोड़कर निर्मल स्वभाव वाले आत्मा का ध्यान करता है वह आत्मवश - स्ववश - स्वाधीन है उसका कार्य आवश्यक कहलाता है। आवश्यक प्राप्त करने के लिये कुन्दकुन्द स्वामी कितनी महत्वपूर्ण देशना देते हैं, देखिये -

आवासं जइ इच्छसि अप्पसहावेसु कुणदि थिरभावं।
तेण दु सामण्णगुणं संपुण्णं होदि जीवस्स।। १४७।।

हे श्रमण ! यदि तूं आवश्यक की इच्छा करता है तो आत्मस्वभाव में स्थिरता कर, क्योंकि जीव का श्रामण्य-श्रमणपन उसी से संपूर्ण होता है।

और भी कहा है कि जो श्रमण आवश्यक से रहित है वह चारित्र से भ्रष्ट माना जाता है इसलिये पूर्वोक्त विधि से आवश्यक करना चाहिये। आवश्यक से सहित श्रमण अन्तरात्मा होता है और आवश्यक से रहित श्रमण बहिरात्मा होता है।

समता, वन्दना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और कायोत्सर्ग ये छह आवश्यक कहलाते हैं, इनका यथार्थ रीति से पालन करने वाला श्रमण ही यथार्थ श्रमण है।

१२ शुद्धोपयोगाधिकार इस अधिकार के प्रारम्भ में ही कुन्दकुन्द स्वामी ने निम्नलिखित महत्वपूर्ण गाथा लिखी है -

जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणयेण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं।। १५९।।

केवलज्ञानी व्यवहारनय से सबको जानते देखते हैं परन्तु निश्चयनय से आत्मा को ही जानते देखते हैं।

इस कथन का फलितार्थ यह नहीं लगाना चाहिये कि केवली, निश्चयनय से सर्वज्ञ नहीं है मात्र आत्मज्ञ हैं,

क्योंकि आत्मज्ञता में ही सर्वज्ञता गर्भित है। वास्तव में आत्मा किसी भी पदार्थ को तब ही जानता है जबकि उसका विकल्प आत्मा में प्रतिफलित होता है। जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्बित घट-पटादि पदार्थ दर्पणरूप ही होते हैं उसी प्रकार आत्मा में प्रतिफलित पदार्थों के विकल्प आत्मरूप ही होते हैं। परमार्थ से आत्मा उन विकल्पों से परिपूर्ण आत्मा को ही जानता है अतः आत्मज्ञ कहलाता है। उन विकल्पों के प्रतिफलित होने में लोकालोक के समस्त पदार्थ कारण होते हैं अतः व्यवहार से उन सबका भी ज्ञाता अर्थात् सर्वज्ञ, द्रष्टा अर्थात् सर्वदर्शी कहलाता है।

जब जीव का उपयोग - ज्ञानदर्शन स्वभाव, शुभ-अशुभ रागादिक विकारी भावों से रहित हो जाता है तब वह शुद्धोपयोग कहा जाता है। परिपूर्ण शुद्धोपयोग यथाख्यात चारित्र का अविनाभावी है। यथाख्यातचारित्र के अविनाभावी शुद्धोपयोग के होने पर वह जीव अन्तर्मुहूर्त के अन्दर नियम से केवलज्ञानी बन जाता है। इस अधिकार में कुन्दकुन्द स्वामी ने ज्ञान और दर्शन के स्वरूप का सुन्दर विश्लेषण किया है।

इसी शुद्धोपयोग के फलस्वरूप जीव अष्टकर्मों का क्षय कर अव्याबाध, अनिन्द्रिय, अनुपम पुण्य-पाप के विकल्प से रहित, पुनरागमन से रहित, नित्य, अचल और परके आलम्बन से रहित निर्वाण को प्राप्त होता है। कर्मरहित आत्मा लोकाग्र तक ही जाता है क्योंकि धर्मास्तिकाय का अभाव होने से उसके आगे गमन नही हो सकता।

अष्टपाहुड

प्रसिद्ध है कि कुन्दकुन्द स्वामी ने चौरासी पाहुडों की रचना की थी पर वे सब उपलब्ध नही हैं। संस्कृत टीकाकार श्री श्रुतसागर सूरि को सर्वप्रथम इसके १ दसणपाहुड, २ चरित्तपाहुड, ३ सुत्तपाहुड, ४ बोधपाहुड, ५ भावपाहुड और ६ मोक्खपाहुड ये छह पाहुड उपलब्ध हुए होंगे इसलिये उन्होंने इन पर संस्कृत टीका लिखकर "षट्प्राभृतम्" के नाम से उनका सकलन कर दिया और माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई से उसका प्रकाशन हुआ। पीछे चलकर शीलपाहुड और लिंगपाहुड ये दो पाहुड और मिल गये इसलिये पूर्वोक्त छह पाहुडो में जोडकर सबका अष्टपाहुड नाम से एक संकलन प्रकाशित किया गया। इन पर पं जयचन्द्र जी छावडा ने हिन्दी वचनिका लिखी तथा बम्बई, दिल्ली और मारोठ आदि स्थानों से उसका प्रकाशन हुआ। इन सबका संस्कृत और हिन्दी टीका सहित एक विशाल संकलन हमारे द्वारा सपादित होकर महावीरजी से प्रकाशित हो चुका है। ये आठो पाहुड स्वतन्त्र स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं परन्तु एक संकलन में प्रकाशित होने के कारण वे "अष्टपाहुड" इस एक ग्रन्थ के रूप में प्रसिद्ध हो गये हैं। यहां संक्षेप से इन प्राभृत ग्रन्थों का प्रतिपाद्य विषय निरूपित किया है।

१ **दंसणपाहुड** इसमें ३६ गाथाएं हैं। आत्मा के समस्त गुणों में सम्यग्दर्शन की महिमा सबसे महान् है। सम्यग्दर्शन ही धर्म का मूल कारण है। ऐसी कुन्दकुन्द स्वामी की देशना है। दसणपाहुड के प्रारम्भ में ही वे लिखते हैं -

दंसणमूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साण।
तं सोऊण सकण्णे दंसणहीणो ण वंदिव्वो।।२।।

जिनेन्द्र भगवान् ने शिष्यों के लिये सम्यग्दर्शन मूलक धर्म का उपदेश दिया है सो उसे अपने कानों से सुनकर सम्यग्दर्शन से रहित मनुष्य की वन्दना नहीं करना चाहिये।

जो मनुष्य सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं वास्तव में वे ही भ्रष्ट हैं क्योंकि सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट मनुष्य को निर्वाण की प्राप्ति नही हो सकती, किन्तु जो चारित्र से भ्रष्ट हैं वे सम्यग्दर्शन का अस्तित्व रहने से पुनः चारित्र को प्राप्त कर निर्वाण प्राप्त कर सकते हैं। जो मनुष्य सम्यग्दर्शन रूपी रत्न से भ्रष्ट हैं वे अनेक शास्त्रों को जानते हुए भी आराधना से रहित होने के कारण उसी संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं। सम्यग्दर्शन से रहित जीव करोडों वर्ष तक उग्र तपश्चरण करने के बाद भी बोधि को प्राप्त नहीं कर सकता, जबकि भरत चक्रवर्ती जैसे भव्यजीव दीक्षा

लेते ही अन्तर्मुहूर्त के अन्दर केवलज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। जिस प्रकार मूल के नष्ट हो जाने पर वृक्ष के परिवार की वृद्धि नहीं होती उसी प्रकार सम्यक्त्व के नष्ट हो जाने पर मनुष्य की श्रीवृद्धि नहीं होती, वह निर्वाण को प्राप्त नहीं कर सकता।

स्वयं सम्यक्त्व से रहित होकर भी जो दूसरे सम्यक्त्व सहित जीवों से अपनी पादवन्दना कराते हैं वे मरकर लूले और गूंगे होते हैं अर्थात् स्थावर होते हैं तथा उन्हें बोधि की प्राप्ति दुर्लभ रहती है। इसी प्रकार जो जानकर भी लज्जा, भय या गौरव के कारण मिथ्यादृष्टि जीव की पादवन्दना करते हैं वे पाप की ही अनुमोदना करते हैं, उन्हें भी बोधि की प्राप्ति नहीं होती।

कुन्दकुन्द स्वामी ने बताया है कि सम्यक्त्व से ज्ञान होता है, ज्ञान से समस्त पदार्थों की उपलब्धि होती है और समस्त पदार्थों की उपलब्धि को प्राप्त मनुष्य श्रेय तथा अश्रेय को जानता है। इसी दंसणपाहुड में सम्यग्दृष्टि जीव का लक्षण बतलाते हुए कहा है कि जो छहद्रव्य, नौ पदार्थ, पंचास्तिकाय तथा सात तत्वों का श्रद्धान करता है उसे ही सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये। जीवादि पदार्थों का श्रद्धान करना व्यवहारनय से सम्यग्दर्शन है और आत्मा का श्रद्धान करना निश्चय सम्यग्दर्शन है। वह सम्यग्दर्शन समस्त गुणरूपी रत्नों में सारभूत है तथा मोक्षमहल की पहली सीढ़ी है।

जो असंयमी है वह वन्दनीय नही है भले ही वह वस्त्र से रहित हो। वस्त्र को त्याग देना ही संयम की परिभाषा नहीं है किन्तु उसके साथ सम्यग्दर्शनादि गुणों का प्रकट होना ही संयम की परिभाषा है। सम्यग्दर्शनादि गुणों के बिना वस्त्ररहित और वस्त्रसहित - दोनों ही एक समान हैं, उनमें एक भी संयमी नहीं है।

२ चारित्रपाहुड चारित्रपाहुड में ४४ गाथाएं हैं। इनमें चारित्र का निरूपण किया गया है। चारित्रपाहुड का प्रारम्भ करते हुए कुन्दकुन्द महाराज कहते है कि मोक्षाराधना का साक्षात् कारण सम्यक्चारित्र ही है। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र आत्मा के अविनाशी -अनन्तभाव है। इन्ही में शुद्धता लाने के लिए जिनेन्द्र भगवान् ने दो प्रकार के चारित्र का कथन किया है। चारित्र के दो भेद हैं - एक सम्यक्त्वाचरण और दूसरा सयमाचरण। नि शंकित, नि कांक्षित, निर्विचिकित्सित, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितीकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये सम्यग्दर्शन के आठ अंग हैं। इन आठ अंगों में विशुद्धता को प्राप्त हुआ सम्यक्त्व जिनसम्यक्त्व कहलाता है। ज्ञानसहित जिन सम्यक्त्व का आचरण सम्यक्त्वाचरण नाम का चारित्र है। इसे दर्शनाचार भी कहते हैं। सयमाचरण के सागार और अनगार के भेद से दो भेद हैं। गृहस्थों का आचरण सागाराचरण और मुनियों का आचरण अनगाराचरण कहलाता है। सागाराचरण के दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्तत्याग,, रात्रिभक्तत्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग और उद्दिष्टत्याग ये ग्यारह भेद हैं, इन्ही को ग्यारह प्रतिमा कहते हैं। समन्तभद्राचार्य ने रत्नकरण्डश्रावकाचार में जो ग्यारह प्रतिमाओं का वर्णन किया है उसका मूलाधार यही मालूम होता है। सागार संयमाचरण, पाच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शीलव्रत के भेद से बारह भेदों में विभाजित है। उपर्युक्त ग्यारह प्रतिमाओं में इसी बारह प्रकार के सागाराचरण का पालन होता है।

स्थूलहिंसा, स्थूलमृषा, स्थूलचौर्य तथा परदारसेवन से निवृत्त होना और परिग्रह तथा आरम्भ का परिमाण करना या सीमा निश्चित करना ये क्रम से अहिंसादि पांच अणुव्रत हैं। दशों दिशाओं में यातायात का परिमाण करना, अनर्थदण्ड का त्याग करना और भोगोपयोग की वस्तुओं का परिमाण करना, ये तीन गुणव्रत हैं। सामायिक, प्रोषध, अतिथिपूजा और सल्लेखना ये चार शिक्षाव्रत हैं। तत्वार्थसूत्रकार ने दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत इन तीन को गुणव्रत तथा सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोगपरिभोगपरिमाण और अतिथिसंविभाग इन चार को शिक्षाव्रत कहा है। समन्तभद्रस्वामी ने दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोग परिमाण इन्हें तीन गुणव्रत तथा सामायिक, देशावकाशिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्त्य इन्हें चार शिक्षाव्रत कहा है। इन दोनों आचार्यों ने सल्लेखना का वर्णन अलग से किया है।

पंच इन्द्रियों को वश करना, पंच महाव्रत धारण करना, पंच समितियों का पालन करना और तीन गुप्तियों को धारण करना यह अनगाराचरण अर्थात् मुनियों का चारित्र है। मनोज्ञ और अमनोज्ञ विषयों में रागद्वेष न कर मध्यस्थभाव धारण करना स्पर्शनादि पाच इन्द्रियों को वश करना है। हिंसादि पांच पापों का सर्वथा त्याग करना अहिंसादि पांच महाव्रत है। ये महान् प्रयोजन को साधते हैं, महापुरुष इन्हें धारण करते हैं, अथवा स्वय ये महान् हैं इसलिये इन्हें महाव्रत कहते हैं। इन अहिंसादि व्रतों की रक्षा के लिये पच्चीस भावनाएं होती हैं। ये वही पच्चीस भावनाएं हैं जिनके आधार पर तत्वार्थसूत्रकार ने सप्तमाध्याय में अहिंसादि व्रतो की पाच-पाच भावनाओं का वर्णन किया है। ईर्या, भाषा, एषणा, आदान और निक्षेप ये पाच समितिया हैं। ग्रन्थान्तरो मे आदाननिक्षेप को एक समिति मानकर प्रतिष्ठापन अथवा व्युत्सर्ग नाम की अलग समिति स्वीकृत की गई है।

इस तरह संयमाचरण का वर्णन करने के बाद कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है कि जो जीव परम श्रद्धा से दर्शन, ज्ञान और चारित्र को जानता है वह शीघ्र ही निर्वाण को प्राप्त होता है।

३ सुत्तपाहुड[1] सुत्तपाहुड - सूत्रप्राभृत मे २७ गाथाए हैं। प्रारम्भ में सूत्र की परिभाषा दिखलाते हुए कहा गया है कि अरहन्त भगवान् ने जिसका अर्थ रूप से निरूपण किया है, गणधर देवो ने जिसका गुम्फन किया है तथा शास्त्र का अर्थ खोजना ही जिसका प्रयोजन है उसे सूत्र कहते हैं। ऐसे सूत्र के द्वारा साधु पुरुष परमार्थ को साधते हैं। सूत्र की महिमा बतलाते हुए कहा है कि सूत्र को जानने वाला पुरुष शीघ्र ही भव - ससार का नाश करता है। जिस प्रकार सूत्र अर्थात् सूत से रहित सुई नाश को प्राप्त होती है उसी प्रकार सूत्र आगम ज्ञान से रहित मनुष्य नाश को प्राप्त होता है। जो जिनेन्द्र प्रतिपादित सूत्र के अर्थ को, जीवाजीवादि नाना प्रकार के पदार्थों को और हेय तथा उपादेय को जानता है वही सम्यग्दृष्टि है निश्चय नय से आत्मा का शुद्ध स्वभाव उपादेय - ग्रहण करने के योग्य है और अशुद्ध - रागादिक विभाव भाव हेय - छोडने के योग्य है। व्यवहार नय से मोक्ष और उसके साधक संवर और निर्जरा तत्व उपादेय हैं तथा अजीव, आस्रव और बन्ध तत्व हेय हैं। जिनेन्द्र भगवान् ने जिस सूत्र का कथन किया है वह व्यवहार तथा निश्चय रूप है। उसे जानकर ही योगी वास्तविक सुख को प्राप्त होता है तथा पापपुज को नष्ट करता है। सम्यक्त्व के बिना हरिहर तुल्य भी मनुष्य स्वर्ग जाता है और वहां से आकर करोडों भव धारण करता है परन्तु मोक्ष को प्राप्त नहीं होता।

इसी सुत्तपाहुड में कहा है कि जो मुनि, सिंह के समान.निर्भय रहकर उत्कृष्ट चारित्र धारण करते हैं, अनेक प्रकार के व्रत, उपवास आदि करते हैं तथा आचार्य आदि के गुरुतर भार को धारण करते हैं परन्तु स्वच्छन्द प्रवृत्ति करते हैं अर्थात् आगम की आज्ञा का उल्लघन कर मनचाही प्रवृत्ति करते हैं वे पाप का प्राप्त होते हैं तथा मिथ्यादृष्टि कहलाते हैं। कुन्दकुन्द स्वामी ने इस सूत्रपाहुड में घोषणा की है कि जिनेन्द्र भगवान् ने निर्ग्रन्थ मुद्रा को ही मोक्षमार्ग कहा है, अन्य सब प्रकार के सवस्त्र-सपरिग्रह वेश मोक्ष के अमार्ग हैं। निर्ग्रन्थ साधुओ के बाल के अग्रभाग की अनीके बराबर भी परिग्रह नही है, इसलिये वे एक ही स्थान पर पाणिपात्र में श्रावक के द्वारा दिये हुए अन्न को ग्रहण करते हैं। मुनि, नग्नमुद्रा को धारण कर तिलतुष के बराबर भी परिग्रह को ग्रहण नही करते। यदि कदाचित् ग्रहण करते हैं तो उसके फलस्वरूप निगोद को प्राप्त होते हैं। जिनशासन में तीन लिंग ही कहे गये हैं - एक निर्ग्रन्थ साधु का, दूसरा उत्कृष्ट श्रावकों का और तीसरा आर्यिकाओ का। इनके सिवाय अन्यलिंग मोक्षमार्ग में ग्राह्य नहीं है। वस्त्रधारी मनुष्य, भले ही तीर्थंकर हो, सिद्ध अवस्था को प्राप्त नही हो सकता। तीर्थंकर भी तब ही मोक्ष को प्राप्त होते हैं जब वस्त्ररहित होकर निर्ग्रन्थ मुद्रा धारण करते हैं। स्त्री के निर्ग्रन्थ दीक्षा संभव नहीं है इसलिये वह उस भव से मोक्ष प्राप्त नही कर सकती।

देव, अर्हन्त तथा प्रव्रज्या का स्वरूप समझाया है। प्रव्रज्या का वर्णन करते हुए मुनिचर्या का बहुत ही मार्मिक वर्णन किया है। उन्होंने कहा है कि जो ग्रह तथा परिग्रह के मोह से रहित है, बाईस परीषहों को जीतने वाली है, कषायरहित है तथा पापारम्भ से वियुक्त है ऐसी ही प्रव्रज्या - दीक्षा हो सकती है। जो शत्रु और मित्र में समभाव रखती है, प्रशसा-निन्दा, लाभ-अलाभ में समभाव से सहित है तथा तृण और सुवर्ण के बीच जिसमें समानभाव होता है वही प्रव्रज्या कहलाती है। जो उत्तम अनुत्तम घरों तथा दरिद्र और संपन्न व्यक्तियों में निरपेक्ष है, जिसमें निर्धन और सधन - सभी के घर आहार लिया जाता है वह प्रव्रज्या है। जिसमें तिलतुषमात्र भी परिग्रह नही रहता, सर्वदर्शी भगवान् ने उसी का प्रव्रज्या कहा है। इस बोधपाहुड के अन्त में कुन्दकुन्द स्वामी ने अपने आपको भद्रबाहु का शिष्य बतलाते हुए उनका जयकार किया है। इस सन्दर्भ की पिछले प्रसग में समन्वयात्मक चर्चा विस्तार से की गई है।

*५ **भावपाहुड** इसमे १६३ गाथाएं हैं। कुन्दकुन्द महाराज ने मंगलाचरण के बाद कहा है कि भाव ही प्रथम लिंग है, द्रव्यलिग परमार्थ नही है अर्थात् भावलिग के बिना द्रव्यलिग परमार्थ की सिद्धि करने वाला नही है। गुण और दोषों का कारण भाव ही है। भाव विशुद्धि के लिये बाह्य परिग्रह का त्याग किया जाता है। जो आभ्यन्तर परिग्रह से सहित है उसका बाह्य त्याग निष्फल है। भावरहित साधु यद्यपि कोटिकोटि जन्म तक हाथों को नीचे लटका कर तथा वस्त्र का परित्याग कर तपश्चरण करता है तो भी सिद्धि को प्राप्त नही होता। भाव के बिना इस जीव ने नरकादि गतियों में दु ख भोगे है। भाव के बिना इस जीव ने अनन्त जन्म धारण कर माताओं का इतना दूध पिया है कि उसका परिमाण समस्त समुद्रों के सलिल से भी अधिक है। भावों के बिना इस जीव ने मरण कर अपनी माताओं को इतना रुलाया है कि उनके नेत्रों का जल समस्त समुद्रो के जल से कही अधिक हो जाता है। भावो के बिना इस जीव न अन्तर्मुहूर्त में छ्यासठ हजार तीन सौ छत्तीस बार जन्ममरण प्राप्त किया है। बाहुबली तथा मधुपिग के दृष्टान्त देकर मुनि को भावशुद्धि के लिये प्रेरित किया गया है। भव्यसेन मुनि अग और पूर्व के पाठी होकर भी भावश्रमण अवस्था को प्राप्त नहीं हो सके और शिवभूति मुनि मात्र तुषमाष का बार बार उच्चारण करते हुए केवलज्ञानी बन गये। निष्कर्ष के रूप में कुन्दकुन्द स्वामी ने बतलाया है कि भाव से नग्न हुआ जाता है। बाह्य लिग रूप मात्र नग्न वेष से क्या साध्य है ? भावसहित द्रव्यलिंग के द्वारा ही कर्म प्रकृतियो के समूह का नाश होता है।*

भावलिंगी साधु कौन होता है ? इसके उत्तर में कहा है - जो शरीर आदि परिग्रह से रहित है, मानकषाय से पूर्णतया निर्मुक्त है, तथा जिसकी आत्मा आत्मस्वरूप में लीन है वही साधु भावलिगी होता है। भावलिगी साधु विचार करता है कि "ज्ञान-दर्शन लक्षण वाला एक नित्य आत्मा ही मेरा है कर्मों के संयोग से होने वाले भाव मुझसे बाह्यभाव है, वे मेरे नहीं है।" जिनधर्म की उत्कृष्टता का वर्णन करते हुए कहा है कि जिस प्रकार रत्नों में हीरा और वृक्षों के समूह में चन्दन उत्कृष्ट है उसी प्रकार धर्मों में, ससार को नष्ट करने वाला जिनधर्म उत्कृष्ट है। पुण्य और धर्म की पृथक्ता सिद्ध करते हुए श्री कुन्दकुन्दाचार्य कहते है कि[1] पूजा आदि शुभकार्यों में व्रतसहित प्रवृत्ति करना पुण्य है, ऐसा जिनमत में जिनेन्द्रदेव ने कहा है और मोह तथा क्षोभ से रहित आत्मा का जा परिणाम है वह धर्म है। धर्म का यही लक्षण इन्होंने "चारित्तं खलु धम्मो" इस गाथा द्वारा प्रवचनसार में कहा है। लोक में जो पुण्य को धर्म कहा जाता है वह कारण में कार्य का उपचार कर कहा जाता है।

*६. **मोक्खपाहुड** इसमें १०६ गाथाएं है। मंगलाचरण और प्रतिज्ञा वाक्य के अनन्तर उस अर्थ - आत्मद्रव्य की*

---

1 पूयादिसु वयसहियं पुण्णं हि जिणेहि सासणे भणियं।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो ।। ८१ ।।

महिमा गाई गई है जिसे जानकर योगी अव्याबाध अनन्त सुख को प्राप्त होता है। वह आत्मद्रव्य, बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के भेद से तीन प्रकार का कहा गया है। उनमें बहिरात्मा को छोडने और अन्तरात्मा के उपाय से परमात्मा के ध्यान करने की बात कही गई है। इन्द्रियां बहिरात्मा हैं अर्थात् इन्द्रियों के समूह स्वरूप शरीर में आत्मबुद्धि करना बहिरात्मा है। आत्मसकल्प अन्तरात्मा है और कर्मकलक से विमुक्त देव परमात्मा है। बहिरात्मा मूढदृष्टि जिनस्वरूप से च्युत होकर स्वकीय शरीर को ही आत्मा समझता है। यही अज्ञान उसके मोह को बढाता है। इसके विपरीत जो योगी शरीर से निरपेक्ष, निर्द्वन्द्व, निर्मल और निरहंकार रहता है वही निर्वाण को प्राप्त होता है। परद्रव्य में रत रहने वाला जीव नाना प्रकार के कर्मों से बंधता है और पर द्रव्य से विरत रहने वाला नाना कर्मों से छूटता है, यह बन्ध और मोक्ष विषयक सक्षेपमय जिनोपदेश है। तप से स्वर्ग सभी प्राप्त करते हैं पर जो ध्यान से स्वर्ग प्राप्त करता है उसका स्वर्ग प्राप्त करना कहलाता है। ऐसा जीव परभव में शाश्वत सुख - मोक्ष को प्राप्त होता है।

व्रत और तप के द्वारा स्वर्ग प्राप्त कर लेना अच्छा है किन्तु नरक के दु ख भोगना अच्छा नही है, क्योंकि छाया और धूप में बैठकर इष्ट स्थान की प्रतीक्षा करने वालों में महान् अन्तर[1] है। जो व्यवहार में सोता है वह आत्मकार्य में जागता है और जो आत्मकार्य मे जागता है वह व्यवहार में सोता है। जिस प्रकार स्फटिक मणि स्वभाव से शुद्ध है परन्तु पर द्रव्य के संयोग से विभिन्न वर्ण का हो जाता है उसी प्रकार जीव स्वभाव से शुद्ध है परन्तु परद्रव्य के सयोग से रागादि युक्त हो जाता है। अज्ञानी जीव उग्र तप के द्वारा अनेक भवों में जिन कर्मों को खिपाता है, तीन गुप्तियों का धारी ज्ञानी जीव उन्हें अन्तर्मुहूर्त में खिपा देता है। जिसका ज्ञान, चारित्र से रहित है और जिसका तप, सम्यग्दर्शन से रहित है उसको लिंग ग्रहण - मुनिवेष धारण करने से क्या होने वाला है ? आत्मज्ञान के बिना बहुत शास्त्रों का पढना बालश्रुत है और आत्मस्वभाव के विपरीत चारित्र पालन करना बालचारित्र है।

इत्यादि विविध उपदेशों के साथ मोक्ष का स्वरूप तथा उसकी प्राप्ति के साधन बतलाये गये हैं। इन छह पाहुडो पर श्री श्रुतसागरसूरि कृत सस्कृत टीका है।

*७ **लिंगपाहुड** इसमे बाईस गाथाएं हैं। मंगलाचरण और प्रतिज्ञा वाक्य की प्रथम गाथा से इसका पूरा नाम श्रमणलिंगपाहुड है, ऐसा प्रकट होता है। श्रमण का अर्थ मुनि है, इसमें मुनियों के लिंग अर्थात् वेष की चर्चा की गई है। बताया गया है कि रत्नत्रय धर्म से ही लिंग होता है। अर्थात् लिंग की सार्थकता रत्नत्रय रूप धर्म से है। मात्र लिंग धारण करने से धर्म की प्राप्ति नही होती। जो पापी जीव जिनेन्द्र देव के लिंग को धारण कर लिंगी के यथार्थ भाव की हंसी कराता है वह यथार्थ वेष को नष्ट करता है। जो निर्ग्रन्थ लिंग धारण कर नाचता है, गाता है और बजाता है वह पापी पशु है, श्रमण नही है। जो लिंग धारण कर दर्शन, ज्ञान और चारित्र को उपधान तथा ध्यान का आश्रय नहीं बनाता है किन्तु इससे विपरीत आर्तध्यान करता है वह अनन्त संसारी बनता है। जो मुनि होकर कादर्पी आदि कुत्सित भावनाओ को करता है और भोजन में रस विषयक गृद्धता करता है वह मायावी पशु है, मुनि नही है। जो मुनिलिंग धारण कर अदत्त वस्तु का ग्रहण करता है अर्थात् दातार की इच्छा के बिना अडकर किसी वस्तु को लेता है तथा परोक्ष दूषण लगाकर दूसरे की निन्दा करता है वह चोर के समान है। जो स्त्रीसमूह के प्रति राग करता है तथा दूसरों को दोष लगाता है वह पशु है, मुनि नही है। जो पुंश्चली स्त्रियों के घर भोजन करता है तथा उनकी प्रशसा करता है वह बाल स्वभाव को प्राप्त होता है और भाव से विनष्ट है अर्थात् द्रव्यलिंगी है। अन्त*

[1] वरवयतवेहि सग्गा मा दुक्ख होउ णिरय इयरेहिं।
छायातवट्ठियाण पडिपालताण गुरुभेय।। २५।। मोक्षपाहुड
वर व्रतै पद दैव नाव्रतैर्वत नारकम्।
छायातपस्थयोर्भेद प्रतिपालयतोर्महान्।। ३।। इष्टोपदेश

में कहा गया है कि जो मुनि सर्वज्ञ देव के द्वारा उपदिष्ट धर्म का पालन करता है वही उत्तम स्थान को प्राप्त होता है।

८ **सीलपाहुड** इसमें ४० गाथाएं हैं। प्रथम ही भगवान् महावीर को नमस्कार कर शीलगुणों के वर्णन करने की प्रतिज्ञा की गई है। बताया गया है कि शील और ज्ञान में विरोध नही है किन्तु सहभाव है। शील के बिना विषय, ज्ञान को नष्ट कर देते हैं। ज्ञान बड़ी कठिनाई से जाना जाता है तथा जानकर उसकी भावना और भी अधिक कठिनाई से होती है। जब तक यह जीव विषयों में लीन रहता है तब तक ज्ञान को नही जानता और ज्ञान को जाने बिना विषयों से विरक्त जीव, पुरातन कर्मों को नष्ट नही कर सकता। चारित्ररहित ज्ञान, दर्शनरहित लिंग ग्रहण और संयमरहित तप ये सभी निरर्थक हैं। जिस प्रकार सुहागा और नमक के लेप से फूंका हुआ स्वर्ण शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार ज्ञानरूपी जल के द्वारा जीव शुद्ध हो जाता है। यदि कोई ज्ञान से गर्वित होकर विषयों में राग करता है तो यह ज्ञान का अपराध नही है किन्तु उस मन्दबुद्धि पुरुष का अपराध है। जो शील की रक्षा करते हैं, दर्शन से शुद्ध हैं, दृढचारित्र को धारण करते हैं और विषयों से विरक्त रहते हैं उन्हें नियम से निर्वाण की प्राप्ति होती है। शीलरहित मनुष्य का जन्म निरर्थक है।

बारसणुवेक्खा

इसका संस्कृत नाम द्वादशानुप्रेक्षा है। ६१ गाथाओं के इस ग्रन्थ में वैराग्योत्पादक द्वादश अनुप्रेक्षाओं का बहुत ही सुन्दर वर्णन हुआ है। "अनु + प्र + ईक्षणं = अनुप्रेक्षा" इस व्युत्पत्ति के अनुसार पदार्थ के स्वरूप को प्रकर्षता के साथ बार-बार देखना, विचार करना अनुप्रेक्षा कहलाती है। ये अनुप्रेक्षाएं लोक में बारह भावनाओं के नाम से प्रचलित हैं। कुन्दकुन्द स्वामी ने बारह अनुप्रेक्षाओं का क्रम इस प्रकार रक्खा है -

अद्धुवमसरणमेगत्तमण्णसंसारलोगमसुचित्तं।
आसवसंवरणिज्जरधम्मं बोहिं च चिंतेज्जो।। २।।

१ अध्रुव, २ अशरण, ३ एकत्व, ४ अन्यत्व, ५ संसार, ६ लोक, ७ अशुचित्व, ८ आस्रव, ९ सवर, १० निर्जरा, ११ धर्म और १२ बोधि इन भावनाओं का निरन्तर चिन्तन करना चाहिए।

तत्वार्थसूत्रकार श्री उमास्वामी महाराज ने इन अनुप्रेक्षाओं के क्रम में कुछ परिवर्तन किया है। जैसे -

अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्यातत्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षा

१ अनित्य, २ अशरण, ३ संसार, ४ एकत्व, ५ अन्यत्व, ६ अशुचि, ७ आस्रव, ८ संवर, ९ निर्जरा, १० लोक, ११ बोधिदुर्लभ और १२ धर्म - इनके स्वरूप का चिन्तन करना बारह अनुप्रेक्षाएं हैं।

आज आम जनता में तत्वार्थसूत्रकार के द्वारा निर्धारित क्रम ही प्रचलित है। सम्भव है छन्द की परतन्त्रता के कारण कुन्दकुन्दस्वामी को अनुप्रेक्षाओं के क्रम में परिवर्तन करने के लिए विवश होना पडा हो। पर उमास्वामी के सामने गद्यरूप रचना होने से छन्द की कोई विवशता नहीं थी।

इस ग्रन्थ में अनित्य आदि अनुप्रेक्षाओं के चिन्तन द्वारा श्रमण के वैराग्यभाव को सुदृढ किया है। इसकी कुछ गाथाएं स्वयं कुन्दकुन्द स्वामी के अन्य ग्रन्थों में पाई जाती हैं और कितनी ही गाथाए उत्तरवर्ती ग्रन्थकारों के द्वारा या तो "उक्तं च" कहकर उद्धृत की गई हैं या अपने ग्रन्थ का अंग ही बना ली गई है। जैसे -

दंसणभट्टा भट्टा दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झंति चरियभट्टा दंसणभट्टा ण सिज्झंति।। १९।।

यह गाथा दंसणपाहुड की तीसरी गाथा है।

सव्वे वि पोग्गला खलु एगे भुत्तुज्झिया हु जीवेण।
असयं अणंतखुत्तो पुग्गलपरियट्टसंसारे।। २५।।

सव्वम्हि लोयखेत्ते कमसो त णत्थि जं ण उप्पण्णं।
उग्गाहणेण बहुसो परिभमिदो खेत्तससारे।। २६।।
अवसप्पिणिउवसप्पिणिसमयावलियासु णिरवसेसासु।
जादो मुदो य बहुसो परिभमिदो कालसंसारे।। २७।।
णिरयाउजहण्णादिसु जाव दु उवरिल्लया दु गेवेज्जा।
मिच्छत्तससिदेण दु बहुसो वि भवट्ठिदी भमिदो।। २८।।
सव्वे पयडिट्ठिदिओ अणुभागप्पदेसबंधठाणाणि।
जीवो मिच्छत्तवसा भमिदो पुण भावससारे।। २९।।

ये गाथाएं पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि द्वितीयाध्याय के "ससारिणो मुक्ताश्च" इस सूत्र मे उद्धृत की है और उन्ही का अनुसरण जीवकाण्ड की सस्कृत टीका की भव्यमार्गणा में किया गया है।

णिच्चिदरधादु सत्त य तरुदसवियलिंदिएसु छच्चेव।
सुरणिरयतिरियचउरो चोददसमणुए सदसहस्सा।। ३५।।

यह गाथा भी सर्वार्थसिद्धि मे पूज्यपाद स्वामी ने "सचित्तशीतसंवृता सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनय" इस सूत्र की व्याख्या में उद्धृत की है। यही गाथा जीवकाण्ड की ८८ वी गाथा बन गई है।

इगतीस सत्त चत्तारि दोण्णि एक्केक्कछक्कचदुकप्पे।
तित्तियएक्केक्केंदियणामा उडुआदि तेसट्ठी।। ४१।।

यह गाथा त्रिलोकसार की ४६३ वी गाथा बन गई है तथा बृहद्द्रव्यसंग्रह की लोक भावना मे "उक्त च" कहकर उद्धृत की गई है।

तत्वार्थसूत्रकार ने व्रत - अणुव्रत और महाव्रतो का शुभास्रव मे वर्णन किया है परन्तु कुन्दकुन्द स्वामी ने

पंचमहव्वयमणसा अविरमणणिरोहणं हवे णियमा।
कोहादि आसवाणं दाराणि कसायरहियपल्लगेहिं।। ६२।।

इस गाथा द्वारा कहा है कि अहिसादि पाच महाव्रतों के परिणाम से हिंसादि पांच प्रकार के अविरमण का निरोध नियम से हो जाता है अर्थात् इसे सवर का कारण बतलाया है। इसी प्रकार जीवकाण्ड और बृहद्द्रव्यसग्रह में भी व्रत को संवर में परिगणित किया गया है। व्रत मे प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनो रहती हैं। तत्वार्थसूत्रकार ने प्रवृत्ति अंश को प्रधानता देकर उसका आस्रव मे वर्णन किया है और कुन्दकुन्द तथा नेमिचन्द्राचार्य ने निवृत्ति अंश को प्रधानता देकर संवर में सम्मिलित किया है।

शुभोपयोग की प्रवृत्ति सर्वथा नि सार नही है, उससे अशुभोपयोग का निराकरण होता है और शुद्धोपयोग के द्वारा शुभोपयोग का निरोध होता है - यह भाव कुन्दकुन्द स्वामी ने निम्न गाथा में प्रकट किया है -

सुहजोगस्स पवित्ती सवरणं कुणदि असुहजोगस्स।
सुहजोगस्स णिरोहो सुद्धुवजोगेण संभवदि।। ६३।।

निर्जरानुप्रेक्षा की निम्नलिखित गाथा स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की १०४ वी गाथा बन गई है -

सा पुण दुविहा णेया सकालपक्का तवेण कयमाणा।
चदुगदियाणं पढमा वयजुत्ताणं हवे बिदिया।। ६७।।

धर्मभावना की निम्नांकित गाथा भी उत्तरवर्ती आचार्यों के द्वारा अपने ग्रन्थों का अंग बनाई गई है -

दंसणवयसामाइयपोसहसच्चित्तरायभत्ते य।
बम्हारंभपरिग्गह अणुमणमुद्दिट्ठदेसविरदेदे।। ६९।।

यह गाथा वसुनन्दिश्रावकाचार में चतुर्थ नम्बर की गाथा बन गई है।

उत्तमक्षमादि दशधर्मों के वर्णन में कुन्दकुन्द स्वामी ने सत्यधर्म का वर्णन पहले किया है और शौचधर्म का उसके बाद। परवर्ती ग्रन्थकारों में किसी ने शौच का वर्णन पहिले किया है और किसी ने सत्य का। जैसे -

परसंतावयकारणवयणं मोत्तूण सपरहिदवयणं।
जो वददि भिक्खु तुरियो तस्स दु धम्मो हवे सच्चं।। ७४।।
कंखाभावणिवित्तिं किच्चा वेरग्गभावणाजुत्तो।
जो वट्टदि परममुणी तस्स दु धम्मो हवे सोच्चं।। ७५।।

इस "बारसणुवेक्खा" के अन्त में कुन्दकुन्द स्वामी ने अपना नाम भी दिया है। जैसे

इदि णिच्छयववहारं जं भणियं कुंदकुंदमुणिणाहे।
जो भावइ सुद्धमणो सो पावइ परमणिव्वाणं।। ९१।।

यह रचना अल्पकाय होने पर भी आत्मकल्याण की भावना से परिपूर्ण होने के कारण अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

भत्तिसंगहो

सिद्धभक्ति की संस्कृत टीका में टीकाकार श्री प्रभाचन्द्र ने लिखा है कि "संस्कृता सर्वा भक्तय पूज्यपादस्वामिकृता प्राकृतास्तु कुन्दकुन्दाचार्यकृता ।"

संस्कृत भाषा की समस्त भक्तियां पूज्यपाद स्वामी कृत हैं और प्राकृत की समस्त भक्तिया कुन्दकुन्दाचार्य कृत हैं। प्रभाचन्द जी के इस उल्लेख के आधार पर ही यहां प्राकृत भाषा की निम्नलिखित भक्तियों का संग्रह किया गया है -

१ सिद्धभक्ति, २ श्रुतभक्ति, ३ चारित्रभक्ति, ४ योगिभक्ति, ५ आचार्यभक्ति, ६ निर्वाणभक्ति, ७ पंचपरमेष्ठिभक्ति और ८ तीर्थंकरभक्ति।

ये भक्तियां प्राकृत पद्यात्मक हैं। इस सबके अन्त में अंचलिका रूप से "इच्छामि भंते" आदि संक्षिप्त गद्य भी दिया गया है। नन्दीश्वरभक्ति और शान्तिभक्ति केवल गद्य में हैं इन्हें सम्मिलित कर लेने से दश भक्तियां हो जाती हैं। समाज में "दशभक्तिसंग्रह" नाम से इनके संस्करण प्रकाशित हुए हैं। ये भक्तियां मुनियों के नित्यपाठ में सम्मिलित हैं। भक्तियों का विषय उनके नाम से ही स्पष्ट है।

आभार प्रदर्शन

इस तरह हम देखते हैं कि कुन्दकुन्द स्वामी ने अपने समस्त ग्रन्थों में जो तत्व का निरूपण किया है वह मुमुक्षु मानव के लिए अत्यन्त ग्राह्य है। कुन्दकुन्द स्वामी की वाणी सितोपल - मिश्री के समान सब ओर से - शब्द, अर्थ और भाव की दृष्टि से सुमधुर है। इनके ग्रन्थों का स्वाध्याय विद्वत्समाज में बडी श्रद्धा से होता है। कितने ही विद्वानों में इन ग्रन्थों के पुण्यपाठ की परम्परा प्रचलित है। पुण्यपाठ के समय अर्थ पर भी दृष्टि जा सके इस अभिप्राय से प्रत्येक गाथाओं के नीचे उनका सरल भाषा में संक्षिप्त हिन्दी अर्थ दिया गया है। जहा आवश्यक प्रतीत हुआ वहां भावार्थ भी दिया गया है। प्रस्तावना में कुन्दकुन्द स्वामी के जीवन पथ का यथाशक्य परिचय दिया गया है। साथ ही प्रत्येक ग्रन्थ का संक्षिप्त सार भी दिया है। इसे मनोयोग से पढने पर ग्रन्थ का पूर्ण भाव हृदय पर अंकित हो जाता है। प्रत्येक ग्रन्थ का सार देने से यद्यपि प्रस्तावना का कलेवर बढ गया है तो भी ऐतिहासिक गुत्थियों की अपेक्षा इसे देना मैंने सार्थक समझा, क्योंकि जनसाधारण इससे लाभ उठा सकता है। परिशिष्ट में प्रत्येक ग्रन्थों की पृथक्-पृथक् अनुक्रमणिकाएं तथा प्रारम्भ में प्रत्येक ग्रन्थ की पृथक्-पृथक् विषय सूचियां भी दीं गयीं हैं इससे प्रत्येक अध्येता को इष्ट विषय के अन्वेषण में साहाय्य प्राप्त होगा।

प्रस्तावना लेख में श्रीमान् स्व आचार्य जुगलकिशोर जी मुख्त्यार के पुरातन वाक्यसूची, श्रीमान् पं

कैलाशचन्द्र जी शास्त्री के कुन्दकुन्द प्राभृतसंग्रह और श्रीमान् डॉ ए एन उपाध्ये के प्रवचनसार की प्रस्तावना से यथेष्ठ सामग्री ली गई है इसलिए इन सबका मै अत्यन्त आभारी हूं। इसका प्रकाशन श्री १०८ चारित्रचक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागर दि जैन जिनवाणी जीर्णोद्धारक संस्था की ओर से हो रहा है इसलिये उसके मंत्री बालचन्द्र देवचन्द्र जी शहा तथा अन्य अधिकारियों का आभार मानता हूं। श्रीमान् पं जिनदास शास्त्री सोलापुर ने पाण्डुलिपि का सूक्ष्मदृष्टि से अवलोकन कर उक्त संस्था को प्रकाशित करने की आज्ञा दी इसलिए उनका आभारी हूं। श्री ब्रह्मचारिणी "पद्मश्री" सुमतिबाई जी शहा सोलापुर का भी आभारी हूं जिनकी प्रेरणा से इस ग्रन्थ के प्रकाशन की ओर संस्था के मंत्री महोदय का ध्यान आकृष्ट हुआ। श्री पं उदयचन्द्र जी सर्वदर्शनाचार्य एम ए प्राध्यापक हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी और श्री पं महादेव जी चतुर्वेदी ने प्रूफ देखकर इसके सुन्दर प्रकाशन में जो सहयोग दिया है उसके लिए इनके प्रति आभार प्रकट करता हूँ। जिनवाणी के संवर्धन, संरक्षण, संशोधन और प्रकाशन में जो भाग लेते हैं उन सबके प्रति मेरे हृदय में अगाधश्रद्धा का भाव है।

मै अल्पज्ञानी तो हूं ही, साथ में मुझे अन्य अनेक कार्यों में व्यस्त रहना पड़ता है इससे सम्पादन तथा अनुवाद में त्रुटि रह जाना संभव है इसके लिए मै ज्ञानीजनों से क्षमाप्रार्थी हूं। मेरे द्वारा जिनवाणी के अर्थ में विपर्यास न हो इसका हृदय में सदा भय रहता है।

सागर — विनीत
दीपावली — पन्नालाल जैन
२४९७ वीर निर्वाण संवत् — साहित्याचार्य

* * *

कुन्दकुन्दभारती का द्वितीय संस्करण

कुन्दकुन्दभारती का प्रथम संस्करण श्रुतभण्डार प्रकाशन समिति फलटन की ओर से सन् १९७० ई में हुआ था। पुस्तक का सर्वत्र समादर और प्रचार हुआ जिससे सब प्रतियां शीघ्र समाप्त हो गई। कुन्दकुन्दाचार्य के द्विसहस्राब्दी वर्ष में इस ग्रन्थ के पुन प्रकाशन की प्रेरणा स्वाध्यायी जनों की ओर से बार-बार आती रही। श्रुतभण्डार प्रकाशन समिति फलटन ने द्वितीय संस्करण के प्रकाशन में अभिरुचि नही ली। तब पूज्य उपाध्याय श्री १०८ ज्ञानसागर जी महाराज के उद्‌बोधन से प्रभावित हो दिगम्बर जैन समाज खेकड़ा ने द्वितीय संस्करण के प्रकाशन में तत्परता दिखायी।

फलस्वरूप ब्र राकेश जैन, श्री वर्णी दिगम्बर जैन गुरुकुल ने परिश्रम कर यह द्वितीय संस्करण प्रस्तुत किया है। आशा है इससे स्वाध्यायी जनों की अभिलाषा पूर्ण होगी।

वर्णी दिगम्बर जैन गुरुकुल — विनीत
पिसनहारी की मढिया — पन्नालाल साहित्याचार्य
जबलपुर
१३-३-१९९२

विषयसूची

पंचास्तिकाय

समयसार

ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापनाधिकार

नियमसार

अष्टपाहुड

बारसणुपेक्खा (द्वादशानुप्रेक्षा)

भत्तिसंगहो (भक्तिसंग्रह)

• • •

पंचास्तिकाय:

मगलाचरण

इंदसदवदियाणं तिहुअणहिदमधुरविसदवक्काणं।
अंतातीदगुणाणं णमो जिणाण जिदभवाणं।। १।।

सौ इन्द्र जिन्हें वन्दना करते है, जिनके वचन तीन लोक के जीवों का हित करने वाले मधुर एव विशद है, जो अनन्त गुणों के धारक है, और जिन्होंने चतुर्गति रूप ससार को जीत लिया है, मै उन जिनेन्द्र देव को नमस्कार करता हू।। १।।

ग्रन्थ करने की प्रतिज्ञा

समणमुहुग्गदमट्ठं चदुग्गदिणिवारणं सणिव्वाणं।
एसो पणमिय सिरसा समयमिम सुणह वोच्छामि।। २।।

जो सर्वज्ञ-वीतराग देव के मुख से प्रकट हुआ है, चारों गतियों का निवारण करने वाला है और निर्वाण का कारण है, उस जीवादि पदार्थ समूह को अथवा अर्थ समयसार को शिर से नमस्कार कर मै इस पचास्तिकाय रूप समयसार को कहूगा। हे भव्यजन ' उसे तुम सुनो।। २।।

लोक और अलोक का स्वरूप

समवाओ पचण्ह समउत्ति जिणुत्तमेहिं पण्णत्तं।
सो चेव हवदि लोओ तत्तो अमिओ अलोओ ख।। ३।।

जीव, पुदगल धर्म, अधर्म और आकाश इन पाचों का समुदाय समय है ऐसा श्री जिनेन्द्र देव ने कहा है। उक्त पाचों का समुदाय ही लोक है और उसके आगे अपरिमित आकाश अलोक है।। ३।।

अस्तिकायों की गणना

जीवा पुग्गलकाया धम्माधम्मा तहेव आयास।
अत्थित्तिम्हि य णियदा अणण्णमइया अणुमहंता[1]।। ४।।

अनन्त जीव, अनन्त पुद्गल एक धर्म एक अधर्म और एक आकाश ये पांचों अपने सामान्य विशेष अस्तित्व में सदा नियत है, द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा उस अस्तित्व गुण से अभिन्न रूप है, तथा बहुप्रदेशी हैं। [अत इन्हें अस्तिकाय कहते हैं]।। ४।।

अस्तिकाय का स्वरूप

जेसिं अत्थिसहाओ गुणेहि सह पज्जएहिं विविहेहिं।
ते होंति अत्थिकाया णिप्पण्णं जेहिं तइलुक्कं।। ५।।

जिनका अस्तित्व स्वभाव अनेक गुण और अनेक पर्यायों के साथ सुनिश्चित है वे अस्तिकाय कहलाते हैं। यह त्रैलोक्य उन्हीं अस्तिकायों से बना हुआ है।। ५।।

---

1 अणवोऽत्र प्रदेशा मूर्तामूर्ताश्च निर्विभागाशास्तैर्महान्तोऽणुमहान्त प्रदेशप्रचयात्मका इति सिद्ध तेषा कायत्वम्। अणुभ्या महान्त इति व्युत्पत्त्या द्व्यणुकपुद्गलस्कन्धानामपि तथाविधत्वम्। अणवश्च महान्तश्च व्यक्तिशक्तिरूपाभ्यामिति परमाणूनामेकप्रदेशात्मकत्वेऽपि तत्सिद्धि। - त प्र वृ।

द्रव्यों की गणना

ते चेव अत्थिकाया तेकालियभावपरिणदा णिच्चा।
गच्छंति दवियभावं परियट्टणलिंगसंजुत्ता[1]।। ६।।

ऊपर कहे हुए जीवादि पांच अस्तिकाय परिवर्तनलिंग अर्थात् काल के साथ मिलकर द्रव्य व्यवहार को प्राप्त हो जाते हैं - द्रव्य कहलाने लगते हैं। ये सभी पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा त्रिकालवर्ती पर्यायों में परिणमन करने के कारण अनित्य हैं - उत्पाद, व्यय रूप हैं और द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा स्वरूप में विश्रान्त होने के कारण नित्य हैं - ध्रौव्यरूप हैं।। ६।।

एकक्षेत्रावगाह रूप होकर भी द्रव्य अपना स्वभाव नहीं छोडते

अण्णोण्णं पविसंता दिंता ओगासमण्णमण्णस्स।
मेलंता वि य णिच्चं सगं सभावं ण विजहंति।। ७।।

उक्त छहों द्रव्य यद्यपि परस्पर एक दूसरे में प्रवेश कर रहे हैं, एक दूसरे को अवकाश दे रहे हैं और निरन्तर एक दूसरे से मिल रहे हैं तथापि अपना स्वभाव नहीं छोडते।। ७।।

सत्ता का स्वरूप

सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरूवा अणंतपज्जाया।
भंगुप्पादधुवत्ता सप्पडिवक्खा हवदि एक्का।। ८।।

सत्ता सम्पूर्ण पदार्थों में स्थित है, अनेकरूप है, अनन्त पर्यायों से सहित है, उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वरूप है, एक है तथा प्रतिपक्षी धर्मों से युक्त है ।। ८।।

द्रव्य का लक्षण

दवियदि गच्छदि ताइं ताइ सब्भावपज्जयाइं जं।
दवियं तं भण्णंते अणण्णभूद तु सत्तादो।। ९।।

जो उन उन गुण-पर्यायों को प्राप्त होता है उसे द्रव्य कहते हैं, यह द्रव्य सत्ता से अभिन्न रहता है। सत्ता ही द्रव्य[2] कहलाती है।। ९।।

द्रव्य का दूसरा लक्षण

दव्वं[3] सल्लक्खणियं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं।
गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू।। १०।।

जो सत्ता रूप लक्षण से सहित है अथवा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है अथवा गुण और पर्यायों का आश्रय है उसे सर्वज्ञदेव द्रव्य कहते हैं।। १०।।

पर्याय की अपेक्षा उत्पाद व्यय और ध्रौव्य की सिद्धि

उप्पत्तीव विणासो दव्वस्स य णत्थि अत्थि सब्भावो।
विगमुप्पादधुवत्तं करेंति तस्सेव पज्जाया।। ११।।

---

1 परिवर्तनमेव जीवपुद्गलादिपरिणमनमेवाग्नेर्धूमवत् कार्यभूत लिंग चिह्न गमक ज्ञापक सूचन यस्य स भवति परिवर्तनलिंग: कालाणु द्रव्यकालस्तेन सयुक्ता । - ता वृ ।

2 "तत्त्व सल्लाक्षणिक सन्मात्र वा यत स्वत सिद्धम्।" -पचाध्यायी।

3 "सद्द्रव्यम्", "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्", गुणपर्ययवद्द्रव्यम - त सू ।

द्रव्य का न उत्पाद होता है और न विनाश। वह सदा अस्तित्व रूप रहता है। उसकी पर्याय ही उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य रूप परिणमन करती है। [द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा द्रव्य अपरिणामी है और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा परिणामी]।।११।।

द्रव्य और पर्याय का अभेद निरूपण

पज्जयविजुदं दव्वं दव्वविजुत्ता य पज्जया णत्थि।
दोण्हं अणण्णभूदं भावं समणा परूविंति।।१२।।

न द्रव्य, पर्याय से रहित होता है और न पर्यायें द्रव्य से रहित होतीं हैं। महामुनि दोनों का अभेदस्वरूप वर्णन करते हैं।।१२।।

द्रव्य और गुण का अभेद

दव्वेण विणा ण गुणा गुणेहिं दव्वं विणा ण संभवदि।
अव्वदिरित्तो भावो दव्वगुणाणं हवदि तम्हा।।१३।।

द्रव्य के बिना न गुण ठहर सकते हैं और न गुणों के बिना द्रव्य ही ठहर सकता है अत द्रव्य और गुणों के बीच अव्यतिरेकभाव होता है - दोनों अभिन्न रहते हैं।।१३।।

सात भंगों का निरूपण

सिय अत्थि णत्थि उहयं अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं।
दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि।।१४।।

निश्चय से द्रव्य, विवक्षा के वश निम्नलिखित सप्तभग रूप होता है जैसे - १ स्यादस्ति - किसी प्रकार है, २ स्यान्नास्ति - किसी प्रकार नहीं है, ३ स्यादुभयम् - किसी प्रकार अस्तिनास्ति दोनों रूप है, ४ स्यादवक्तव्यम् - किसी प्रकार अवक्तव्य है, ५ स्यादस्ति अवक्तव्यम् - किसी प्रकार अस्तिरूप होकर अवक्तव्य है, ६ स्यान्नास्ति अवक्तव्यम् - किसी प्रकार नास्ति रूप होकर अवक्तव्य है और ७ स्यादस्तिनास्ति अवक्तव्यम् - किसी प्रकार अस्ति-नास्ति दोनों रूप होकर अवक्तव्य है।।१४।।

गुण और पर्यायों में उत्पाद तथा व्यय का वर्णन

भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो।
गुणपज्जयेसु भावा उप्पादवए पकुव्वंति।।१५।।

सत् पदार्थों का नाश नहीं होता और न असत् का उत्पाद ही। पदार्थ गुण और पर्यायों में ही उत्पाद तथा व्यय करते हैं।।१५।।

द्रव्यों के गुण और पर्यायों का वर्णन

भावा जीवादीया जीवगुणा चेदणा य उवओगो।
सुरणरणारयतिरिया जीवस्स य पज्जया बहुगा।।१६।।

जीव आदि छह पदार्थ भाव हैं, चेतना और उपयोग जीव के गुण हैं, देव मनुष्य, नारकी और तिर्यंच ये जीव की अनेक पर्यायें हैं।।१६।।

दृष्टान्त द्वारा उत्पाद व्यय और ध्रौव्य की सिद्धि

मणुसत्तणेण णट्ठो देही देवो हवेदि इदरो वा।
उभयत्त जीवभावो ण णस्सदि ण जायदे अण्णो।।१७।।

मनुष्यपर्याय से नष्ट हुआ जीव देव अथवा अन्यपर्याय रूप हो जाता अवश्य है, परन्तु जीवत्वभाव का सद्भाव दोनों ही पर्यायों में रहता है। पूर्व जीव का न तो नाश ही होता है और न अन्य जीव का उत्पाद ही।। १७।

सो चेव जादि मरणं जादि ण णट्ठो ण चेव उप्पण्णो।
उप्पण्णो य विणट्ठो देवो मणुसोत्ति पज्जाओ।। १८।।

वही जीव उपजता है जो कि मरण को प्राप्त होता है, स्वभाव से जीव न नष्ट होता है और न उपजता ही है। देव उत्पन्न हुआ और मनुष्य नष्ट हुआ, यहा पर्याय ही तो उत्पन्न हुआ और पर्याय ही नष्ट हुआ।। १८।।

सत् का विनाश और असत् की उत्पत्ति नही होती

एव सदो विणासो असदो जीवस्स णत्थि उप्पादो।
तावदिओ जीवाणं देवो मणुसोत्ति गदिणामो।। १९।।

इस प्रकार सत् रूप जीव का न नाश होता है औन न असत् रूप जीव का उत्पाद ही। जीवो में जो देव अथवा मनुष्य का व्यवहार होता है वह सब गति नामकर्म के उदय से होने वाला विकार है।। १९।।

ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मों के अभाव से सिद्ध पर्याय की प्राप्ति होती है

णाणावरणादीया भावा जीवेण सुट्ठु अणुबद्धा।
तेसिमभाव किच्चा अभूदपुव्वो हवदि सिद्धो।। २०।।

इस ससारी जीव ने अनादिकाल से ज्ञानावरणादि कर्मपर्यायों का अतिशय बन्ध कर रक्खा है अत उनका अभाव - क्षय करके ही यह जीव अभूतपूर्व सिद्धपर्याय को प्राप्त हो सकता है।। २०।।

भाव, अभाव, भावाभाव और अभावभाव का उल्लेख

एवं भावमभावं भावाभाव अभावभाव च।
गुणपज्जयेहिं सहिदो ससरमाणो कुणदि जीवो।। २१।।

इस प्रकार गुण और पर्यायों के साथ पाच परावर्तन रूप ससार मे भ्रमण करता हुआ यह जीव कभी भाव को करता है - देवादि नवीन पर्याय को धारण करता है, कभी अभाव को करता है - मनुष्यादि पूर्व पर्याय का नाश करता है, कभी भाव का अभाव करता है - वर्तमान देवादि पर्याय का नाश करता है और कभी अभाव का भाव करता है - मनुष्यादि अभावरूप पर्याय का उत्पाद करता है।। २१।।

अस्तिकायों के नाम

जीवा पुग्गलकाया आयासं अत्थिकाइया सेसा।
अमया[1] अत्थित्तमया कारणभूदा हि लोगस्स।। २२।।

जीव, पुद्गल धर्म, अधर्म और आकाश ये पांच द्रव्य अस्ति स्वरूप तथा बहुप्रदेशी होने के कारण अस्तिकाय कहलाते हैं। ये अकृत्रिम हैं, शाश्वत हैं और लोक के कारणभूत हैं।। २२।।

काल द्रव्य के अस्तित्व की सिद्धि

सब्भावसभावाण जीवाण तह य पोग्गलाण च।
परियट्टणसंभूदो कालो णियमेण पण्णत्तो।। २३।।

सत् अर्थात् उत्पाद, व्यय ध्रौव्य रूप स्वभाव से सयुक्त जीव और पुद्गलों का जो परिणमन दृष्टिगोचर होता है उससे काल द्रव्य का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है।। २३।।

---

1 अमया अकृत्रिमा न केनापि पुरुषविशेषेण कृता ।। ता वृ ।

कालद्रव्य का लक्षण

ववगदपणवण्णरसो ववगददोगंधअट्ठफासो य।
अगुरुलहुगो अमुत्तो वट्टणलक्खो य कालोत्ति।। २४।।

काल द्रव्य पाच वर्ण, पाच रस, दो गन्ध, और आठ स्पर्शों से रहित है, षड्गुणी हानिवृद्धि रूप अगुरुलघुगुण से युक्त है, अमूर्तिक है और वर्तनालक्षण से सहित है।। २४।।

व्यवहार काल का वर्णन

समओ णिमिसो कट्ठा कलाय णाली तदो दिवारत्ती।
मासो दु अयण सवच्छरोत्ति कालो परायत्तो।। २५।।

समय निमेष, काष्ठा, कला नाडी, दिनरात, मास, ऋतु, अयन और वर्ष यह सब व्यवहार काल है। चूंकि यह व्यवहार काल सूर्योदय सूर्यास्त आदि

पुद्गल द्रव्य के निमित्त से व्यवहार काल की उत्पत्ति का वर्णन

णत्थि चिर वा खिप्पं मत्तारहिदं तु सा वि खलु मत्ता।
पुग्गलदव्वेण विणा तम्हा कालो दु पडुच्चभवो।। २६।।

काल की मात्रा - मर्यादा के बिना विलम्ब और शीघ्रता का व्यवहार नहीं हो सकता अत उसका वर्णन अवश्य करना चाहिये और चूंकि काल की मात्रा पुद्गल द्रव्य के बिना प्रकट नहीं हो सकती इसलिये उसे पुद्गल द्रव्य के निमित्त से उत्पन्न हुआ माना जाता है।। २६।।

इस प्रकार श्री कुन्दकुन्ददेव द्वारा विरचित पचास्तिकाय ग्रन्थ में षड्द्रव्य और पचास्तिकाय के सामान्यस्वरूप को कहने वाला "पीठबन्ध" समाप्त हुआ।

*

जीव का स्वरूप

जीवोत्ति हवदि चेदा उवओगविसेसिदो पहू कत्ता।
भोत्ता य देहमत्तो ण हि मुत्तो कम्मसजुत्तो।। २७।।

जो निश्चय नय की अपेक्षा भावप्राणों से और व्यवहार नय की अपेक्षा द्रव्य प्राणों से जीवित रहता है वह जीव कहलाता है। यह जीव निश्चय नय की अपेक्षा चेतनामय है और व्यवहार नय की अपेक्षा चेतनासयुक्त है। निश्चय नय की अपेक्षा केवलज्ञान, केवलदर्शन रूप उपयोग से और अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा मतिज्ञान आदि क्षायोपशमिक उपयोग से विशिष्ट है। निश्चय की अपेक्षा मोक्ष और मोक्ष के कारणरूप शुद्ध परिणामों के परिणमन में समर्थ होने से तथा अशुद्ध नय की अपेक्षा ससार और उसके कारण स्वरूप अशुद्धपरिणामों के परिणमन में समर्थ होने से प्रभु है। शुद्धनिश्चयनय से शुद्धभावों का, अशुद्धनिश्चयनय से रागादिभावों का और व्यवहारनय से ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों का कर्ता होने के कारण कर्ता है। शुद्धनिश्चयनय से शुद्धात्मदशा में उत्पन्न होने वाले वीतराग परमानन्दरूप सुख का, अशुद्ध निश्चयनय से कर्मजनित सुख-दु खादि का और अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से सुख-दु ख के साधक इष्ट-अनिष्ट विषयों का भोगने वाला होने के कारण भोक्ता है, निश्चयनय से लोकाकाश के बराबर असख्यात प्रदेशी होने पर भी व्यवहारनय से नामकर्मोदयजनित शरीर के बराबर रहने से स्वदेहमात्र है, मूर्ति से रहित है, और कर्मसयुक्त है। यह संसारी जीव का स्वरूप है।। २७।।

मुक्त जीव का स्वरूप

कम्ममलविप्पमुक्को उड्ढं लोगस्स अंतमधिगंता।
सो सव्वणाणदरिसी लहदि सुहमणिंदियमणंतं।। २८।।

जब यह जीव कर्ममल से विप्रमुक्त होता है तब सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होकर ऊर्ध्वगति स्वभाव के कारण लोक के अन्तिम भाग - सिद्धक्षेत्र में जा पहुचता है और वहा अनन्त अतीन्द्रिय सुख प्राप्त करने लगता है।। २८।।

मुक्त जीव की विशेषता

जादो सयं स चेदा सव्वण्हू सव्वलोगदरसी य।
पप्पोदि सुहमणंतं अव्वाबाधं सगममुत्तं।। २९।।

जो आत्मा पहले संसार अवस्था में इन्द्रियजनित बाधा सहित पराधीन और मूर्तिक सुख का अनुभव करता था अब वही चिदात्मा मुक्त अवस्था में सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होकर अनन्त अव्याबाध स्वाधीन और अमूर्तिक सुख का अनुभव करता है।। २९।।

जीव शब्द की निरुक्ति

पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीवस्सदि जो हु जीविदो पुव्व।
सो जीवो पाणा पुण बलमिंदियमाउ उस्सासो।। ३०।।

जो चार प्राणों के द्वारा वर्तमान में जीवित है, आगे जीवित होगा और पहले जीवित था वह जीव है। जीव के चार प्राण हैं - बल, इन्द्रिय, आयु और उच्छ्वास।। ३०।।

जीव की विशेषता

अगुरुलहुगा अणंता तेहिं अणंतेहिं परिणदा सव्वे।
देसेहिं असंखादा सियलोगं सव्वमावण्णा।। ३१।।
केचित्तु अणावण्णा मिच्छादंसणकसायजोगजुदा।
विजुदा य तेहिं बहुगा सिद्धा संसारिणो जीवा।। ३२।।

अगुरुलघुगुण अनन्त हैं, समस्त जीव उन अनन्त अगुरुलघुगुणों के कारण परिणमन करते रहते हैं, सभी जीव प्रदेशों की अपेक्षा असंख्यात हैं - असख्यात प्रदेशों के धारक हैं। उनमें से कितने ही जीव लोकपूर्ण समुद्घात के समय सम्पूर्ण लोक में व्याप्त होते हैं और कितने ही अपने शरीर के प्रमाण अवस्थित रहते हैं, कितने ही मिथ्यादर्शन, कषाय और योगों से युक्त होने के कारण संसारी हैं और कितने ही उनसे रहित होकर सिद्ध हुए हैं।। ३१-३२।।

जीव शरीरप्रमाण है

जह पउमरायरयणं खित्त खीरे पभासयदि खीरं।
तह देही देहत्थो सदेहमत्तं पभासयदि।। ३३।।

जिस प्रकार दूध में पडा हुआ पद्मरागमणि समस्त दूध को व्याप्त कर लेता है, उसी प्रकार शरीर में स्थित आत्मा समस्त शरीर को व्याप्त कर लेता है। (यहां पद्मराग शब्द से पद्मराग की प्रभा ली जाती है न कि रत्न। जिस प्रकार दूध में पडे हुए पद्मराग रत्न की प्रभा का समूह समस्त दूध को व्याप्त कर लेता है उसी प्रकार यह जीव भी जिस शरीर में स्थित रहता है - उसे सब ओर से व्याप्त कर लेता है। अथवा जिस प्रकार विशिष्ट अग्नि के संयोग से दूध के बढने पर पद्मरागरत्न की प्रभा का समूह भी बढने लगता है और घटने पर घटने लगता

है उसी प्रकार यह जीव भी पौष्टिक आहारादि के मिमित्त से शरीर के बढने पर बढने लगता है और दुर्बलता आदि के समय शरीर के घटने पर घटने लगता है। अथवा जिस प्रकार वही रत्न उस दूध से निकाल कर जब किसी दूसरे छोटे-बडे बर्तन में रखे हुए अल्प अथवा बहुत दूध में डाल दिया जाता है तब वह उसे भी व्याप्त कर लेता है। इसी प्रकार यह जीव जब एक शरीर से निकलकर नामकर्मोदय से प्राप्त हुए दूसरे छोटे बडे शरीर में पहुंचता है - तब उसे भी व्याप्त कर लेता है]।। ३३।।

द्रव्य की अपेक्षा जीव द्रव्य अपने समस्त पर्यायों में रहता है

सव्वत्थ अत्थि जीवो ण य एक्को एक्ककाय एक्कट्ठो।
अज्झवसाणविसिट्ठो चिट्ठदि मलिणो रजमलेहिं।। ३४।।

यह जीव त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायों में विद्यमान रहता है - नवीन पर्याय का उत्पाद होने पर जी नवीन जीव का उत्पाद नहीं होता। यद्यपि यह जीव एक शरीर में क्षीरनीर की तरह परस्पर मिलकर रहता है तथापि उस शरीर से एक रूप नहीं होना - अपना अस्तित्व पृथक् रखता है। यह जीव रागादि भावों से युक्त होने के कारण द्रव्यकर्म रूपी मल से मलिन हो जाता है और इसी कारण इसे एक शरीर से दूसरे शरीर में संचार करना पडता है।। ३४।।

सिद्ध जीव का स्वरूप

जेसिं जीवसहावो णत्थि अभावो य सव्वहा तस्स।
ते होंति भिण्णदेहा सिद्धा वचिगोयरमदीदा।। ३५।।

जिनके कर्मजनित द्रव्यप्राण रूप जीव स्वभाव का सदभाव नहीं है और शुद्ध चैतन्यरूप भाव प्राणों से युक्त होने के कारण सर्वथा उसका अभाव भी नहीं है, जो शरीर से रहित हैं और जिनकी महिमा वचन के अगोचर है वे सिद्ध जीव हैं।। ३५।।

सिद्ध जीव कार्यकारण व्यवहार से रहित हैं

ण कुदोचि वि उप्पण्णो जम्हा कज्जं ण तेण सो सिद्धो।
उप्पादेदि ण किंचि वि कारणमवि तेण ण स होदि।। ३६।।

चूकि सिद्ध जब किसी बाह्य कारण से उत्पन्न नही हुए हैं, अत वे कार्य नहीं हैं और न किसी कार्य को वे उत्पन्न करते हैं अत कारण भी नही हैं।। ३६।।

मोक्ष में जीव का असद्भाव नही है

सस्सधमध उच्छेद भव्वमभव्वं च सुण्णमिदरं च।
विण्णाणमविण्णाण ण वि जुज्जदि असदि सब्भावे।। ३७।।

यदि मोक्ष में जीव का सद्भाव नही माना जाय तो उसमें निम्नलिखित आठ भाव संभव नही हो सकेंगे। १ शाश्वत, २ उच्छेद, ३ भव्य, ४ अभव्य, ५ शून्य, ६ अशून्य, ७ विज्ञान और ८ अविज्ञान। इनका विवरण इस प्रकार है - १ द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा जीव द्रव्य का सदा ध्रौव्य रहना शाश्वतभाव है। २ पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा अगुरुलघुगुण के द्वारा प्रतिसमय षड्गुणी हानि वृद्धि रूप परिणमन होना उच्छेदभाव है। ३ निर्विकार चिदानन्दरूप स्वभाव से परिणमन करना भव्यत्व भाव है। ४ मिथ्यात्व रागादि विभाव परिणामरूप नहीं होना अभव्यत्वभाव है। ५ स्वशुद्धात्मद्रव्य से विलक्षण परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप चतुष्टय का अभाव होना शून्यभाव है। ६ स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप चतुष्टय का सद्भाव रहना अशून्यभाव है। ७ समस्त द्रव्य, गुण और पर्यायों को एक साथ प्रकाशित करने में समर्थ निर्मल केवलज्ञान से युक्त होना विज्ञानभाव है और ८ मतिज्ञानादि क्षायोपशमिक ज्ञानों से रहित

होना अविज्ञान भाव है। उक्त आठ भावों का सद्भाव तभी सम्भव हो सकता है जब कि आत्मा का सद्भाव माना जाय। सिद्ध जीव के शाश्वत आदि सभी भाव सम्भव हैं अत सौगतों ने मोक्ष अवस्था में जो जीव का अभाव माना है वह मिथ्या है।। ३७।।

त्रिविध चेतना की अपेक्षा जीव के तीन भेद

कम्माणं फलमेक्को एक्को कज्जं तु णाणमध एक्को।
चेदयदि जीवरासी चेदगभावेण तिविहेण।। ३८।।

कुछ जीव प्रच्छन्नसामर्थ्य होने के कारण केवल कर्मफल का अनुभव करते हैं, कुछ सामर्थ्य प्रकट होने के कारण इष्टानिष्ट विकल्प रूप कर्म का अनुभव करते हैं और कुछ विशुद्ध ज्ञान का ही अनुभव करते हैं। इस प्रकार जीवराशि तीन प्रकार के चेतकभाव से पदार्थों का अनुभव करती है। चेतना के तीन भेद हैं - १ कर्मफलचेतना, २ कर्मचेतना और ३ ज्ञानचेतना।। ३८।।

कर्मफल, कर्म और ज्ञान चेतना के स्वामी

सव्वे खलु कम्मफलं थावरकाया तसा हि कज्जजुदं।
पाणित्तमदिक्कंता णाणं विदंति ते जीवा।। ३९।।

सब स्थावर जीव कर्मफल का अनुभव करते हैं, त्रसजीव इष्टानिष्ट पदार्थों में आदान-हान रूप कर्म करते हुए कर्म का उपभोग करते हैं और प्राणीपने के व्यवहार से परे रहने वाले अतीन्द्रिय ज्ञानी अरहन्त-सिद्ध ज्ञान मात्र का वेदन करते हैं।। ३९।।

उपयोग के दो भेद

उवओगो खलु दुविहो णाणेण य दंसणेण संजुत्तो।
जीवस्स सव्वकालं अणण्णभूदं वियाणीहि।। ४०।।

ज्ञान और दर्शन से युक्त होने के कारण उपयोग दो प्रकार होता है, यह उपयोग सदा काल जीव से अनन्यभूत अभिन्न रहता है। आत्मा के चैतन्य गुण के परिणमन को उपयोग कहते हैं उसके दो भेद हैं १ ज्ञानोपयोग और २ दर्शनोपयोग।। ४०।।

ज्ञानोपयोग के आठ भेद

आभिणिसुदोधिमणकेवलाणि णाणाणि पंचभेयाणि।
कुमदिसुदविभंगाणि य तिण्णि वि णाणेहिं संजुत्ते।। ४१।।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये पाच सम्यग्ज्ञान तथा कुमति, कुश्रुत और विभंगावधि ये तीन मिथ्याज्ञान सब मिलाकर ज्ञानोपयोग के आठ भेद हैं।। ४१।।

दर्शनोपयोग के चार भेद

दंसणमवि चक्खुजुदं अचक्खुजुदमवि य ओहिणा सहियं।
अणिधणमणंतविसयं केवलियं चावि पण्णत्तं।। ४२।।

चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन और अन्तरहित तथा अनन्त पदार्थों को विषय करने वाला केवलदर्शन ये चार दर्शनोपयोग के भेद हैं।। ४२।।

जीव और ज्ञान में अभिन्नता

ण वियप्पदि णाणादो णाणी णाणाणि होंति णेगाणि।

तम्हा हु विस्सरूवं भणियं दवियत्ति णाणीहिं।। ४३।।

चूंकि ज्ञानी ज्ञानगुणा से पृथक् नही है और ज्ञा मति आदि के भेद से अनेक रूप है। इसलिये ज्ञानी महर्षियों ने जीवद्रव्य को अनेक रूप कहा है।। ४३।।

गुण और गुणी में अभेद

जदि हवदि दव्वमण्णं गुणदो य गुणा य दव्वदो अण्णे।

दव्वाणंतियमधवा दव्वाभाव पकुव्वति।। ४४।।

यदि द्रव्य, गुण से पृथक् हो और गुण भी द्रव्य से पृथक् हो तो या तो द्रव्य में अनन्तता आ जावेगी या द्रव्य से पृथक रहने वाले गुण द्रव्य का अभाव ही कर देंगे।। ४४।।

द्रव्य और गुणों में अभेद तथा भेद का निरूपण

अविभत्तमणण्णत्त दव्वगुणाण विभत्तमण्णत्त।

णिच्छंति णिच्चयण्हू तव्विवरीदं हि वा तेसि।। ४५।।

द्रव्य और गुणो में जो अनन्यत्व - एकरूपता है वह प्रदेश भेद से रहित है। निश्चय के जानने वाले महर्षि द्रव्य और गुणो के बीच प्रदेश भेदरूप अन्यत्व को नही मानते हैं - द्रव्य और गुणों में प्रदेश भेद न होने से अभेद है और सज्ञा, सख्या, प्रयोजन आदि की विभिन्नता होने से भेद है। निश्चयज्ञ पुरुष इनके भेद और अभेद को उक्त प्रकार से विपरीत नही मानते हैं।। ४५।।

ववदेसा संठाणा संखा विसया य होंति ते बहुगा।

ते तेसिमणण्णत्ते अण्णत्ते चावि विज्जंते।। ४६।।

उन द्रव्य और गुणों के व्यपदेश - कथन के भेद, आकार, सख्या एव विषय बहुत प्रकार के होते हैं और वे द्रव्य तथा गुणों की अभेद और भेद दोनों प्रकार की दशाओं में विद्यमान रहते हैं।। ४६।।

पृथक्त्व और एकत्व का वर्णन

णाणं धण च कुव्वदि धणिण जह णाणिण च दुविधेहिं।

भण्णति तह पुधत्त एयत्त चावि तच्चण्हू।। ४७।।

जैसे धन पुरुष को धनवान् करता है और ज्ञान ज्ञानी। यहां धन जुदा है और पुरुष जुदा है परन्तु धन के सम्बन्ध से पुरुष धनवान् नाम पाता है और ज्ञान तथा ज्ञानी दोनो में यद्यपि प्रदेश भेद नही है तथापि गुणगुणी के व्यवहार की अपेक्षा ज्ञान गुण के द्वारा पुरुष ज्ञानी नाम पाता है। वैसे ही इन दो प्रकार के भेदाभेद कथन के द्वारा वस्तु स्वरूप को जानने वाले पुरुष पृथक्त्व और एकत्व का निरूपण करते है। जहा प्रदेश भेद होना है वहा पृथक्त्व व्यवहार होता है और जहा उसका अभाव होता है वहा एकत्व व्यवहार होता है।। ४७।।

ज्ञान और ज्ञानी में सर्वथा भेद का निषेध

णाणी णाणं च सदा अत्थंतरिदो दु अण्णमण्णस्स।

दोण्हं अवेदणत्तं पसजदि सम्मं जिणावमद।। ४८।।

ज्ञान और ज्ञानी दोनों को सदा अर्थान्तर - सर्वथा विभिन्न मानने पर दोनों में जडता का प्रसग आता है और वह जडता यथार्थ में श्री जिनेन्द्र देव को अभिमत नही है। जिस प्रकार उष्णगुणवान् अग्नि से यदि उष्णगुण

को सर्वथा जुदा माना जावे तो अग्नि शीतल होकर दाहक्रिया के प्रति असमर्थ हो जावे, इसी प्रकार जीव से यदि ज्ञान गुण को सर्वथा जुदा माना जावे तो जीव जड होकर पदार्थों के जानने में असमर्थ हो जावे। पर ऐसा देखा नहीं जाता। यहा कोई यह कह सकता है कि जिस प्रकार देवदत्त अपने शरीर से भिन्न रहने वाले दात्र (हसिया) के द्वारा तृणादि का छेदक हो जाता है उसी प्रकार जीव भी भिन्न रहने वाले ज्ञान के द्वारा पदार्थों का ज्ञायक हो सकता है। पर उसका ऐसा कहना ठीक नही है क्योंकि छेदन क्रिया के प्रति दात्र बाह्य उपकरण है और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न हुई पुरुष की शक्ति विशेष आभ्यन्तर उपकरण है। इस आभ्यन्तर उपकरण के अभाव में दात्र तथा हस्तव्यापार आदि बाह्य उपकरण के रहने पर भी जिस प्रकार छेदन क्रिया नही हो सकती उसी प्रकार प्रकाश आदि बाह्य उपकरण के रहने पर भी ज्ञान रूप आभ्यन्तर उपकरण के अभाव में जीव पदार्थों का ज्ञाता नही हो सकता। सार यह है कि बाह्य उपकरण यद्यपि कर्ता से भिन्न है तथापि आभ्यन्तर उपकरण उससे अभिन्न ही रहता है। यदि कोई यह कहे कि ज्ञान और ज्ञानी यद्यपि जुदे-जुदे है तथापि सयोग से जीव में चेतना आ जावेगी तो यह कहना ठीक नही मालूम होता क्योंकि ज्ञान गुण रूप विशेषता से रहित जीव और जीव से भिन्न रहने वाला निराश्रय ज्ञान, दोनों ही शून्य रूप सिद्ध होते हैं - दोनों का अस्तित्व नही है।। ४८।।

ज्ञान के समवाय से आत्मा ज्ञानी होता है इस मान्यता का निषेध

ण हि सो समवायादो अत्थतरिदो दु णाणदो णाणी।
अण्णाणीति य वयण एगत्तप्पसाधग होदि।। ४९।।

जब कि ज्ञानी - आत्मा ज्ञान से सर्वथा विभिन्न है तब वह उसके समवाय से भी ज्ञानी नही हो सकता क्योंकि यहा यह प्रश्न उपस्थित होता है कि ज्ञान के साथ समवाय होने के पहले आत्मा ज्ञानी था या अज्ञानी ? यदि ज्ञानी था तो ज्ञान का समवाय मानना किसलिये ? यदि अज्ञानी था तो अज्ञानी होने का कारण क्या है ? क्या अज्ञान के साथ उसका समवाय है ? या एकत्व ? समवाय तो हो नही सकता क्योंकि अज्ञानी का अज्ञान के साथ समवाय मानना निष्फल है, अत अगत्या आत्मा अज्ञानी है ऐसा कथन अज्ञान के साथ उसका एकत्व सिद्ध कर देता है और इस प्रकार अज्ञान के साथ एकत्व सिद्ध होने पर ज्ञान के साथ भी उसका एकत्व अवश्य सिद्ध हो जाता है।। ४९।।

द्रव्य और गुणों में अयुतसिद्धि का वर्णन

समवत्ती समवाओ अपुधब्भूदो य अजुदसिद्धो य।
तम्हा दव्वगुणाणं अजुदासिद्धित्ति णिद्दिट्ठा।। ५०।।

गुण और गुणी के बीच अनादिकाल से जो समवर्तित्व - तादात्म्य सम्बन्ध पाया जाता है वही जैनमत में समवाय कहलाता है। चूकि समवाय ही अपृथग्भूतत्व और अयुतसिद्धत्व कहलाता है इसलिये द्रव्य और गुण अथवा गुण और गुणी में अयुतसिद्धि होती है। उनमें पृथक् प्रदेशत्व नही होता। ऐसा श्री जिनेन्द्र देव ने निर्देश किया है।। ५०।।

दृष्टान्त द्वारा ज्ञान-दर्शन गुण और जीव में अभेद तथा भेद का कथन

वण्णरसगंधफासा परमाणुपरूविदा विसेसा हि।
दव्वादो य अणण्णा अण्णत्तपगासगा होंति।। ५१।।
दंसणणाणाणि तहा जीवणिबद्धाणि णण्णभूदाणि।
ववदेसदो पुधत्तं कुव्वंति हि णो सभावादो।। ५२।। जुम्मं।

जिस प्रकार परमाणु में कहे गये वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श, रूप विशेष गुण परमाणु रूप पुद्गल द्रव्य से

अभिन्न और भिन्न दोनों रूप है - निश्चय की अपेक्षा प्रदेश भेद न होने से एक है और व्यवहार की अपेक्षा संज्ञा, संख्या, लक्षण आदि में भेद होने से अनेक है - पृथक् हैं उसी प्रकार जीव के साथ समवाय सम्बन्ध से निबद्ध होकर रहने वाले ज्ञान और दर्शन अभिन्न और भिन्न दोनों रूप हैं। निश्चय की अपेक्षा प्रदेश भेद न होने से एक हैं और व्यवहार की अपेक्षा सज्ञा, लक्षण आदि में भेद होने से अनेक है - पृथक् हैं।। ५१-५२।।

जीव की अनादि निधनता तथा सादि सान्तता आदि का कथन

जीवा अणाइणिहणा[1] संता णंता य जीवभावादो[2]।

सब्भावदो अणंता[3] पंचग्गगुणप्पधाणा य।। ५३।।

जीव, सहज चैतन्य लक्षण पारिणामिक भाव की अपेक्षा अनादिनिधन है। औदयिक क्षायोपशमिक और औपशमिक भाव की अपेक्षा सादि सान्त है। क्षायिकभाव की अपेक्षा सादि अनन्त है। सत्ता स्वरूप की अपेक्षा अनन्त है, विनाशरहित है अथवा द्रव्य सख्या की अपेक्षा अनन्त है और व्यवहार अपेक्षा औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक तथा पारिणामिक इन पाच भावों की प्रधानता लिये हुए प्रवर्तमान हैं।। ५३।।

विवक्षावश से सत् के विनाश और असत् के उत्पाद का कथन

एवं सदो विणासो असदो जीवस्स होइ उप्पादो।

इदि जिणवरेहिं भणिदं अण्णोण्णविरुद्धमविरुद्धं।। ५४।।

इस प्रकार विवक्षा वश विद्यमान जीव का विनाश होता है और अविद्यमान जीव का उत्पाद भी। जिनेन्द्र देव का यह कथन परस्पर में विरुद्ध होने पर भी नय विवक्षा से अविरुद्ध है।

"मनुष्य मरकर देव हुआ" यहां मनुष्यपर्याय से उपलक्षित जीव द्रव्य का नाश हुआ और देव पर्याय से अनुपलक्षित जीवद्रव्य का उत्पाद हुआ। द्रव्यार्थिक नय से यह सिद्धान्त ठीक है कि "नैवासतो जन्म सतो न नाश " अर्थात् असत् का जन्म और सत् का नाश नही होता परन्तु पर्यायार्थिक नय से विद्यमान पर्याय का नाश और अविद्यमान पर्याय का उत्पाद होता ही है क्योंकि क्रमवर्ती होने से एक काल में दो पर्याय विद्यमान नहीं रह सकते। इसलिये पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा जिनेन्द्र देव का गाथोक्त कथन अविरुद्ध है।। ५४।।

सत् के विनाश और असत् के उत्पाद का कारण

णेरइयतिरियमणुआ देवा इति णामसंजुदा पयडी।

कुव्वंति सदो णासं असदो भावस्स उप्पादं।। ५५।।

नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव इन नामों से युक्त कर्मप्रकृतियां विद्यमान पर्याय का नाश करती हैं और अविद्यमान पर्याय का उत्पाद करतीं हैं।। ५५।।

जीव के औपशमिक आदि भावों का वर्णन

उदयेण उवसमेण य खयेण दुहिं मिस्सिदेहिं परिणामे।

जुत्ता ते जीवगुणा बहुसु य अत्थेसु विच्छिण्णा।। ५६।।

जीव के जो भाव कर्मों के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम से तथा आत्मीय निज परिणामों से युक्त है वे उसके क्रमश औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक नाम से प्रसिद्ध पांच सामान्य गुण

1 साद्यनन्ता, 2 जीवभावत क्षायिको भावस्तस्मात्, 3 अनन्ता विनाशरहिता अथवा द्रव्यस्वभावगणनया पुनरनन्ता। सान्तानन्त-शब्दयोर्द्वितीयव्याख्यान क्रियते - सहान्तेन ससारविनाशेन वर्तन्ते सान्ता भव्या, न विद्यतेऽन्त ससारविनाशो येषा ते पुनरनन्ता अभव्या, ते चाभव्या अनन्तसख्यास्तेभ्योऽपि भव्या अनन्तगुणसंख्यास्तेभ्योऽप्यभव्यसमानभव्या अनन्तगुणा इति।

है। ये पाचों ही गुण - भाव उपाधि भेद से अनेक अर्थों में विस्तृत है - अनेक भेद युक्त हैं अथवा "बहुसुदअत्थेसु वित्थिण्णा"[1] पाठ में बहुज्ञानियों के शास्त्रों में विस्तार के साथ वर्णित है।। ५६।।

विवक्षावश औदयिक भावों का कर्ता जीव है

कम्मं वेदयमाणो जीवो भावं करेदि जारिसय।
सो तेण तस्स कत्ता हवदित्ति य सासणे पढिदं।। ५७।।

उदयागत द्रव्यकर्म का वेदन करने वाला जीव जैसा भाव करता है वह उसका कर्ता होता है ऐसा जिनशासन में कहा गया है।। ५७।।

औदयिक आदि भाव द्रव्यकर्मकृत हैं

कम्मेण विणा उदयं जीवस्स ण विज्झदे उवसमं वा।
खइयं खओवसमियं तम्हा भावं तु कम्मकदं।। ५८।।

यत द्रव्यकर्म के बिना आत्मा के रागादि विभावों का उदय और उपशम नही हो सकता तथा क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव भी नही हो सकते अत जीव के उल्लिखित चारों भाव द्रव्यकर्म के किये हुए ।। ५८।।

प्रश्न

भावो जदि कम्मकदो अत्ता कम्मस्स होदि किध कत्ता।
ण कुणदि अत्ता किंचिवि मुत्ता अण्ण सगं भाव।। ५९।।

यदि औदयिक आदि भाव द्रव्यकर्म के द्वारा किये हुए है तो आत्मा द्रव्यकर्म का कर्ता कैसे हो सकता है ? क्योंकि वह निजभाव को छोडकर अन्य किसी का कर्ता नही है। यदि सर्वथा द्रव्यकर्म को औदयिक आदि भावो का कर्ता माना जाय तो आत्मा अकर्ता हो जायगा और ऐसी दशा में ससार का अभाव हो जायगा। यदि यह कहा जाय कि आत्मा द्रव्यकर्म का कर्ता है अत ससार का अभाव नहीं होगा तो द्रव्यकर्म को जो कि पुद्गल का परिणाम है आत्मा कैसे कर सकता है ? और उस हालत में, जब कि आत्मा निज स्वभाव को छोडकर अन्य किसी का कर्ता नही है।। ५९।।

उत्तर

भावो कम्मणिमित्तो कम्म पुण भावकारण हवदि।
ण दु तेसिं खलु कत्ता ण विणा भूदा दु कत्तार।। ६०।।

व्यवहार नय से जीव के औदयिक आदि भावों का कर्ता द्रव्यकर्म है और द्रव्यकर्म का कर्ता भावकर्म है परन्तु निश्चयनय से द्रव्यकर्म औदयिक आदि भावो का कर्ता नही है और न औदयिक आदि भावकर्म द्रव्यकर्म का कर्ता है। इसके सिवाय वे दोनों - द्रव्यकर्म भावकर्म कर्ता के बिना भी नही होते है।। ६०।।

आत्मा निजभाव का कर्ता है परभाव का नही

कुव्वं सगं सहाव अत्ता कत्ता सगस्स भावस्स।
ण हि पोग्गलकम्माणं इदि जिणवयणं मुणेयव्वं।। ६१।।

"अपने निजभाव को करता हुआ आत्मा निजभाव का ही कर्ता है पुद्गल रूप द्रव्यकर्मों का कर्ता नही है" ऐसा जिनेन्द्र भगवान् का वचन जानना चाहिये।। ६१।।

---

1 बहुसुदअत्थेसु वित्थिण्णा - बहुश्रुतशास्त्रेषु तत्त्वार्थादिषु विस्तीर्णा । ज वृ

कम्मं पि सगं कुव्वदि सेण सहावेण सम्ममप्पाणं।
जीवो वि य तारिसओ कम्मसहावेण भावेण।। ६२।।

"जिस प्रकार कर्म स्वकीय स्वभाव द्वारा यथार्थ में अपने आपको करता है[1] उसी प्रकार जीव द्रव्य भी स्वकीय अशुद्ध स्वभाव - रागादि परिणाम द्वारा अपने आपको करता है। निश्चयनय से कर्म का कर्ता कर्म है और जीव का कर्ता जीव है। जीव पुद्‌गल द्रव्य में होने वाले कर्म रूप परिणमन का कर्ता है और कर्म, जीवद्रव्य में होने वाले नर-नारकादि परिणमन का कर्ता है" यह सब औपचारिक कथन है।। ६२।।

प्रश्न

कम्मं कम्मं कुव्वदि जदि सो अप्पा करेदि अप्पाण।
किध तस्स फलं भुंजदि अप्पा कम्मं च देदि फलं।। ६३।।

यदि कर्म, कर्म का कर्ता है और आत्मा, आत्मा का कर्ता है तो आत्मा कर्म के फल को किस प्रकार भोगता है ? और कर्म भी आत्मा को किस प्रकार फल देता है ?।। ६३।।

उत्तर

ओगाढगाढणिचिदो पोग्गलकायेहिं सव्वदो लोगो।
सुहुमेहिं बादरेहिं णताणंतेहिं विविहेहिं।। ६४।।
अत्ता कुणदि सहावं तत्थ गदा पोग्गला सभावेहि।
गच्छंति कम्मभाव अण्णोण्णागाहमवगाढा।। ६५।।
जह पुग्गलदव्वाणं बहुप्पयारेहि खंधणिव्वत्ती।
अकदा परेहिं दिट्‌ठा तह कम्माणं वियाणाहि।। ६६।।
जीवा पुग्गलकाया अण्णोण्णागाढगहणपडिबद्धा।
काले विजुज्जमाणा सुहदुक्खं दिंति भुंजंति।। ६७।।

यह लोक सब ओर से सूक्ष्म और बादर भेद को लिये हुए, विविध प्रकार के अनन्तानन्त पुदगलस्कन्धो से ठसाठस भरा हुआ है।। ६४।।

जब यह जीव अशुद्ध रागादि परिणाम को करता है तब उस जीव के स्थानों में नीर क्षीर की तरह एकावगाह होकर रहने वाले कार्मणवर्गणा रूप पुद्‌गल स्कन्ध स्वय ही कर्मभाव को प्राप्त हो जाते हैं।। ६५।। जिस प्रकार अन्य पुद्‌गल द्रव्य में विविध प्रकार के स्कन्धों की रचना दूसरे द्रव्यों के द्वारा न की हुई स्वयमेव उत्पन्न देखी जाती है उसी प्रकार कार्मणवर्गणा रूप पुद्‌गल द्रव्य में भी कर्मरूप रचना स्वयमेव हो जाती है, ऐसा जानो।। ६६।।

जीव और कर्म रूप पुद्‌गल स्कन्ध परस्पर में एकक्षेत्रावगाह के द्वारा अत्यन्त सघन सम्बन्ध को प्राप्त हो रहे हैं। जब वे उदयकाल में बिछुडने लगते हैं - एक दूसरे से जुदे होने लगते हैं तब जीव में सुख दु खादि का

1 जीवकृत परिणाम निमित्तमात्र प्रपद्य पुनरन्य।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्‌गला कर्मभावेन।। १२।।
परिणममानस्य चितश्चिदात्मकै स्वयमपि स्वकैर्भावै ।
भवति हि निमित्तमात्र पौद्‌गलिक कर्म तस्यापि।। १३।। पुरुषार्थसिद्ध्युपायेऽमृतचन्द्रसूरे

अनुभव होता है, बस, इसी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध से कहा जाता है कि कर्म सुख-दु ख रूप फल देते हैं और जीव उन्हें भोगते हैं।। ६७।।

तम्हा कम्मं कत्ता भावेण हि संजुदोध जीवस्स।
भोत्ता दु हवदि जीवो चेदगभावेण कम्मफलं।। ६८।।

इतने कथन से यह बात सिद्ध हुई कि जीव के मिथ्यात्व रागादि भावों से युक्त द्रव्यकर्म, सुख-दु खादि रूप कर्मफल का कर्ता है परन्तु उसका भोक्ता चेतकभाव के कारण जीव ही है।

पूर्वोक्त उद्देश्य से यह बात फलित हुई कि निश्चय नय से कर्म अपने आपका कर्ता है और व्यवहारनय से जीव का। इसी प्रकार जीव भी निश्चयनय से अपने आपका कर्ता है और व्यवहार नय से कर्म का। यहा कर्म और कर्तृत्व का व्यवहार विवक्षा वश जिस प्रकार जीव और कर्म दोनों पर निर्भर ठहरता है उस प्रकार भोक्तृत्व का व्यवहार दोनों पर निर्भर नही ठहरता। क्योंकि भोक्ता वही हो सकता है जिसमें चेतना गुण पाया जाता हो। चूंकि चेतना गुण का सद्भाव जीव में ही है अत वही अशुद्ध चेतक भाव से कर्म के फल का भोक्ता है।। ६८।।

संसार परिभ्रमण का कारण

एवं कत्ता भोत्ता होज्झं अप्पा सगेहिं कम्मेहिं।
हिंडति पारमपारं संसारं मोहसंछण्णो।। ६९।।

इस प्रकार यह जीव अपने ही शुभाशुभ कर्मों से मोह के द्वारा आच्छन्न हो कर्ता-भोक्ता होता हुआ सान्त[1] और अनन्त संसार में परिभ्रमण करता रहता है।। ६९।।

मोक्ष प्राप्ति का उपाय

उवसंतखीणमोहो मग्गं जिणभासिदेण समुपगदो।
णाणाणुमग्गचारी णिव्वाणपुरं वजदि धीरो।। ७०।।

जब यह जीव जिनेन्द्र प्रणीत आगम के द्वारा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप मार्ग को प्राप्त हो स्वसंवेदन ज्ञान रूप मार्ग में विचरण करता है और विविध उपसर्ग तथा परिषह सहन करने में धीर वीर हो मोहनीय कर्म का उपशम अथवा क्षय करता है तब मोक्ष नगर को प्राप्त करता है।। ७०।।

जीव के अनेक भेद

एको चेव महप्पा सो दुवियप्पो तिलक्खणो होदि।
चदुचंकमणो भणिदो पंचग्गगुणप्पधाणो य।। ७१।।
छक्कापक्कमजुत्तो उवजुत्तो सत्तभंगसब्भावो।
अट्ठासओ णवत्थो जीवो दसट्ठाणगो भणिदो।। ७२।। जुम्मं।

अविनाशी चैतन्यगुण से युक्त रहने के कारण वह जीव रूप महात्मा सामान्य की अपेक्षा एक प्रकार का है। ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग के भेद से दो प्रकार का है। कर्मचेतना, कर्मफलचेतना और ज्ञानचेतना से युक्त अथवा उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्य से युक्त होने के कारण तीन प्रकार का है। चार गतियों में चंक्रमण करने के कारण चार प्रकार का है। औपशमिक आदि पांच भावों का धारक होने से पांच प्रकार का है। चार दिशा तथा ऊपर और नीचे इस प्रकार छह ओर अपक्रम करने के कारण छह प्रकार का है। स्यादस्ति आदि सात भंगों से

1 भव्यापेक्षया सपार (सान्त) अभव्यापेक्षया त्वपार (अनन्त)।

युक्त होने के कारण सात प्रकार का है। आठ कर्म अथवा आठ गुणों का आश्रय होने से आठ प्रकार का है। नव पदार्थ रूप प्रवृत्ति होने से नव प्रकार का है और पृथिवी, जल, तेज, वायु, साधारण वनस्पति, प्रत्येक वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय इन दश भेदों से युक्त होने के कारण दश प्रकार का है।। ७१-७२।।

मुक्त जीवों के ऊर्ध्वगमन स्वभाव का वर्णन

पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसबंधेहिं सव्वदो मुक्को।
उड्ढं गच्छदि सेसा विदिसावज्ज गदिं जंति।। ७३।।

प्रकृति स्थिति अनुभाग और प्रदेश इन चार प्रकार के बन्धों से सर्वथा निर्मुक्त हुआ जीव केवल ऊपर की ओर जाता है - ऊर्ध्वगमन ही करता है और बाकी के जीव चार विदिशाओं को छोडकर छह ओर गमन करते है।। ७३।।

पुद्गल द्रव्य के चार भेद

खंधा य खंधदेसा खंधपदेसा य होंति परमाणू।
इदि ते चदुव्वियप्पा पुग्गलकाया मुणेयव्वा।। ७४।।

स्कन्ध, एकस्कन्ध, स्कन्धप्रदेश और परमाणु इस प्रकार पुद्गल द्रव्य के चार भेद हैं।। ७४।।

स्कन्ध आदि के लक्षण

खधं सयलसमत्थं तस्स दु अद्धं भणंति देसोत्ति।
अद्धद्धं ते पदेसो परमाणू चेव अविभागी।। ७५।।

समस्त परमाणुओं से मिलकर बना हुआ पिण्ड स्कन्ध, स्कन्ध से आधा स्कन्धदेश, स्कन्धदेश से आधा स्कन्धप्रदेश और अविभागी अश को परमाणु कहते है।। ७५।।

स्कन्धों के छह भेदों का वर्णन

बादरसुहुमगदाणं खधाणं पुग्गलोत्ति ववहारो।
ते होंति छप्पयारा तेलोक्कं जेहिं णिप्पण्ण।। ७६।।

बादर और सूक्ष्म परिणमन को प्राप्त हुए स्कन्धों का पुद्गल शब्द से व्यवहार होता है। वे स्कन्ध १ बादरबादर २ बादर, ३ बादरसूक्ष्म, ४ सूक्ष्मबादर, ५ सूक्ष्म और ६ सूक्ष्मसूक्ष्म के भेद से छह प्रकार के हैं। इन्ही छह स्कन्धों से तीन लोक की रचना हुई है।

जो पुद्गल पिण्ड दो खण्ड करने पर अपने आप फिर न मिल सकें ऐसे काष्ठ, पाषाण आदि को बादरबादर कहते है। जो पुद्गल स्कन्ध खण्ड-खण्ड होने पर फिर भी अपने आप मिल जावें ऐसे जल, घृत आदि पुद्गलों को बादर कहते हैं। जो पुद्गल स्कन्ध देखने में स्थूल होने पर भी ग्रहण में न आवें ऐसे धूप, छाया, चादनी आदि को बादरसूक्ष्म कहते हैं। जो स्कन्ध नेत्र इन्द्रिय से ग्रहण में न आने के कारण सूक्ष्म हैं परन्तु अन्य इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण में आने से स्थूल हैं ऐसे स्पर्श, रस, गन्धादि को सूक्ष्मबादर कहते हैं। जो स्कन्ध अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण किसी भी इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण में नहीं आवें ऐसे कार्मणवर्गणा के द्रव्य को सूक्ष्म कहते हैं। और कार्मणवर्गणा से नीचे द्व्यणुक स्कन्ध पर्यन्त के पुद्गल द्रव्य को सूक्ष्मसूक्ष्म कहते है।। ७६।।

परमाणु का लक्षण

सव्वेसिं खंधाणं जो अंतो तं वियाण परमाणू।
सो सस्सदो असद्दो एक्को अविभागी मुत्तिभवो।। ७७।।

समस्त स्कन्धों का जो अन्तिम भेद है उसे परमाणु जानना चाहिये। वह परमाणु नित्य है, शब्द रहित है, एक है अविभागी है मूर्तस्कन्ध से उत्पन्न हुआ है और मूर्तस्कन्ध का कारण भी है।। ७७।।

परमाणु की विशेषता

आदेसमत्तमुत्तो धादुचदुक्कस्स कारणं जो दु।
सो णेओ परमाणू परिणामगुणो सयमसद्दो।। ७८।।

जो गुणगुणी के संज्ञादि भेदों से मूर्तिक है, पृथिवी, जल अग्नि और वायु का समान कारण है, परिणमनशील है और स्वय शब्द रहित है उसे परमाणु जानना चाहिये।

परमाणु को मूर्त सिद्ध करने में कारण स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण हैं। ये स्पर्शादि विवक्षा मात्र से ही परमाणु से भिन्न हैं यथार्थ में प्रदेशभेद नही होने से अभिन्न हैं। परमाणु मे पृथिवी, जल, अग्नि और वायु की उत्पत्ति समान रूप से होती है। पृथिवी आदि के परमाणुओं की जातिया पृथक्-पृथक् नही हैं। यह परमाणु परिणमन स्वभाव वाला है इसलिये उसमें कालकृत परिणमन होने से पृथ्वी, जल आदि रूप परिणमन स्वय हो जाता है। इसके सिवाय स्कन्ध मे जिस प्रकार शब्द होते हैं उस प्रकार परमाणु में शब्द नही होते क्योंकि वह एकप्रदेशी होने से शब्दोत्पत्ति में कारण नही है।। ७८।।

शब्द का कारण

सद्दो खधप्पभवो खंधो परमाणुसंगसघादो।
पुट्ठेसु तेसु जायदि सद्दो उप्पादगो णियदो।। ७९।।

शब्द स्कन्ध से उत्पन्न होता है स्कन्ध अनेक परमाणुओ के समुदाय को कहते हैं। जब वे स्कन्ध परस्पर स्पर्श को प्राप्त होते हैं तभी शब्द उत्पन्न होता है। शब्द के उत्पादक भाषा वर्गणा के स्कन्ध निश्चित हैं अर्थात् शब्द की उत्पत्ति भाषावर्गणा के स्कन्धो से ही होती है, आकाश से नही।[1]अथवा उस शब्द के दो भेद हैं उत्पादित - पुरुषप्रयोगोत्पन्न और नियत - वैश्रसिक - मेघादि से उत्पन्न होने वाला शब्द।

परमाणु की अन्य विशेषताओं का वर्णन

णिच्चो णाणवकासो ण सावकासो पदेसदो भेत्ता।
खंधाणं पि य कत्ता पविहत्ता कालखंधाण।। ८०।।

वह परमाणु अपने एक प्रदेश रूप परिणमन से कभी नष्ट नही होता इसलिये नित्य है, स्पर्शादि गुणों को अवकाश देने के कारण सावकाश है द्वितीयादि प्रदेशों को अवकाश न देने के कारण अनवकाश है, समुदाय से बिछुड कर अलग हो जाता है इसलिये स्कन्धो का भेदक है समुदाय में मिल जाता है इसलिये स्कन्धों का कर्ता है और चूकि मन्दगति के द्वारा आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश पर पहुच कर समय का विभाग करता है इसलिये काल का तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप चतुर्विध संख्याओं का विभाजक है।। ८०।।

परमाणु में रस, गन्ध आदि गुणों का वर्णन

एयरसवण्णगंध दो फास सद्दकारणमसद्दं।
खधंतरिद दव्वं परमाणु त वियाणेहिं।। ८१।।

जो द्रव्य एकरस, एकवर्ण, एक गन्ध और दो स्पर्शों से सहित है, शब्द का कारण है, स्वय शब्द से रहित है और स्कन्ध से जुदा है अथवा स्कन्ध के अन्तर्गत होने पर भी स्वस्वभाव की अपेक्षा उससे पृथक् है उसे परमाणु जानो।। ८१।।

---

1 अथवा "उप्पादिगो" प्रायोगिक पुरुषादिप्रयोगभव 'णियदो' नियतो वैश्रसिका मेघादिप्रभव । ज वृ ।

पुद्गल द्रव्य का विस्तार

उवभोज्जमिंदियेहिं य इंदिय काया मणो य कम्माणि।
जं हवदि मुत्तमण्णं तं सव्वं पुग्गलं जाणे।। ८२।।

पांचों इन्द्रियों के उपभोग्य विषय, पांच इन्द्रियां, शरीर, मन, कर्म तथा अन्य जो कुछ मूर्तिक द्रव्य है वह सब पुद्गल द्रव्य जानना चाहिये।। ८२।।

धर्मास्तिकाय का वर्णन

धम्मत्थिकायमरसं अवण्णगंधं असद्दमप्फासं।
लोगोगाढं पुट्ठं पिहुलमसंखादियपदेसं।। ८३।।

धर्मास्तिकाय रस रहित है, वर्ण रहित है, गन्ध रहित है, शब्द रहित है, स्पर्श रहित है, समस्त लोक में व्याप्त है, अखण्डप्रदेशी होने से स्पृष्ट है - परस्पर प्रदेशव्यवधान रहित होने से निरन्तर है, विस्तृत है और असख्यात प्रदेशी है।। ८३।।

अगुरुलघुगेहिं सया तेहिं अणंतेहिं परिणदं णिच्चं।
गदिकिरियाजुत्ताण कारणभूदं सयमकज्जं।। ८४।।

वह धर्मास्तिकाय अपने अनन्त अगुरुलघु गुणों के द्वारा निरन्तर परिणमन करता रहता है, स्वयं गति क्रिया मे युक्त जीव और पुद्गलों की गति क्रिया का कारण है और स्वयं अकार्य रूप है।। ८४।।

उदयं जह मच्छाणं गमणाणुग्गहयरं हवदि लोए।
तह जीवपुग्गलाणं धम्मं दव्वं वियाणेहि।। ८५।।

जिस प्रकार लोक में जल मछलियों के गमन करने में अनुग्रह करता है उसी प्रकार धर्मद्रव्य जीव और पुद्गल द्रव्य के गमन करने में अनुग्रह करता है।। ८५।।

अधर्मास्तिकाय का वर्णन

जह हवदि धम्मदव्वं तह तं जाणेह दव्वमधमक्खं।
ठिदिकिरियाजुत्ताणं कारणभूदं तु पुढवीव।। ८६।।

जैसा धर्मास्तिकाय का स्वरूप ऊपर कहा गया है वैसा ही अधर्मास्तिकाय का स्वरूप जानना चाहिये। विशेषता इतनी ही है कि यह स्थितिक्रिया से युक्त जीव और पुद्गल द्रव्य के स्थिति करने में - ठहरने में पृथिवी की तरह कारण है।। ८६।।

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय की विशेषताओं का वर्णन

जादो अलोगलोगो तेसिं सब्भावदो य गमणठिदी।
दो वि य मया विभत्ता अविभत्ता लोयमेत्ता य।। ८७।।

जिनके सद्भाव से लोक और अलोक का विभाग हुआ है तथा गमन और स्थिति होती है वे धर्म और अधर्म दोनों ही अस्तिकाय परस्पर विभक्त है - जुदे-जुदे है, एक क्षेत्रावगाही होने से अविभक्त है और लोक प्रमाण हैं।। ८७।।

ण य गच्छदि धम्मत्थी गमणं ण करेदि अण्णदवियस्स।
हवदि गदी सप्पसरो जीवाणं पुग्गलाणं च।। ८८।।

धर्मास्तिकाय न स्वय गमन करता है और न प्रेरक होकर अन्य द्रव्य का गमन कराता है। वह केवल उदासीन रहकर ही जीवों और पुद्गलों की गति का प्रवर्तक होता है।। ८८।।

विज्जदि जेसि गमणं ठाणं पुण तेसिमेव संभवदि।
ते सगपरणामेहि दु गमणं ठाणं च कुव्वंति।। ८९।।

जिन जीव और पुदगलो का चलना तथा स्थिर होना होता है उन्ही का फिर स्थिर होना तथा चलना होता है। इससे सिद्ध होता है कि वे अपने-अपने उपादान कारणो से ही गमन तथा स्थिति करते है। धर्म और अधर्म द्रव्य केवल सहायक कारण है। यदि इन्हें प्रेरक कारण माना जाय तो जो जीव या पुद्गल चलते वे चलते ही जाते और जो ठहरते व ठहरते ही रहते क्योंकि विरुद्ध प्रवृत्ति स दोनों मे परस्पर मत्सर होना सम्भव है।। ८९।।

आकाशास्तिकाय का लक्षण

सव्वेसिं जीवाणं सेसाणं तह य पुग्गलाणं च।
जं देदि विवरमखिल तं लोए हवदि आयासं।। ९०।।

समस्त जीवों और पुद्गलों को तथा धर्म, अधर्म और काल को जो सम्पूर्ण अवकाश देता है अर्थात् जिसके समस्त प्रदेशों मे जीवादि द्रव्य व्याप्त है वह लोक के भीतर का आकाश है - लोकाकाश है।। ९०।।

लोक और अलोक का विभाग

जीवा पुग्गलकाया धम्माधम्मा य लोगदोणण्णा।
तत्तो अणण्णमण्णं आयासं अंतवदिरित्त।। ९१।।

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल ये पांचों लोक से जुदे नही है - इन पाचो का सदभाव लोक मे ही पाया जाता है परन्तु आकाश लोक से अपृथक् है और पृथक भी है - आकाश लोक और अलोक दोनों में व्याप्त है, वह अनन्त है।। ९१।।

आकाश ही को गति और स्थिति का कारण मानने में दोष

आगास अवगासं गमणट्ठिदिकारणेहिं देदि जदि।
उड्ढं गदिप्पधाणा सिद्धा चिट्ठंति किध तत्थ।। ९२।।

यदि ऐसा माना जाय कि आकाश ही अवकाश देता है और आकाश ही गमन तथा स्थिति का कारण है तो फिर ऊर्ध्वगति में जाने वाले सिद्ध परमेष्ठी लोकाग्र पर ही क्यों रुक जाते है ? लोकाग्र के आगे आकाश का अभाव तो है नही अत उसके आगे भी उसका गमन होता रहना चाहिये ? परन्तु ऐसा होता नहीं है इससे सिद्ध होता है कि आकाश का काम अवकाश देना ही है और धर्म तथा अधर्म का काम चलने और ठहरने मे सहायता देना है।। ९२।।

जम्हा उवरिट्ठाण सिद्धाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
तम्हा गमणट्ठाण आयासे जाण णत्थि त्ति।। ९३।।

यत जिनेन्द्र भगवान् ने सिद्धों का अवस्थान लोक के अग्रभाग में ही बतलाया है अत आकाश में गमन और स्थिति का हेतुत्व नही पाया जा सकता ऐसा जानना चाहिये।। ९३।।

जदि हवदि गमणहेदू आगासं ठाणकारणं तेसिं।
पसजदि अलोगहाणी लोगस्स य अंतपरिवुड्ढी।। ९४।।

यदि आकाश को जीव और पुद्गलों की गति तथा स्थिति का कारण माना जायगा तो अलोक की हानि

होगी और लोक के अन्त की वृद्धि भी। अलोक का व्यवहार मिट जायगा और लोक की सीमा टूट जायगी ।। ९४ ।।

तम्हा धम्माधम्मा गमणट्ठिदिकारणाणि णागासं।
इदि जिणवरेहिं भणिदं लोगसहावं सुणंताणं।। ९५ ।।

"इसलिये धर्म और अधर्म द्रव्य ही गमन तथा स्थिति के कारण है, आकाश नही है," ऐसा जिनेन्द्र देव ने लोक का स्वभाव सुनने वालों से कहा है।। ९५ ।।

धर्म, अधर्म और आकाश की एक रूपता तथा अनेकरूपता का वर्णन

धम्माधम्मागासा अपुधब्भूदा समाणपरिमाणा।
पुधगुवलद्धिविसेसा करंति एगत्तमण्णत्तं।। ९६ ।।

धर्म, अधर्म, और लोकाकाश ये तीनों ही द्रव्य एक क्षेत्रावगाही होने से अपृथग्भूत है, समान परिणाम वाले है और अपने अपने विशेष स्वभाव को लिये हुए हैं। ये तीनों व्यवहारनय की अपेक्षा एक क्षेत्रावगाही होने से एक भाव को और निश्चय नय की अपेक्षा जुदी-जुदी सत्ता के धारक होने से भेदभाव को करते है।। ९६ ।।

द्रव्यों में मूर्त और अमूर्त द्रव्य का विभाग

आगासकालजीवा धम्माधम्मा य मुत्तिपरिहीणा।
मुत्त पुग्गलदव्वं जीवो खलु चेदणो तेसु।। ९७ ।।

आकाश, काल, जीव, धर्म और अधर्म ये पाच द्रव्य मूर्ति - रूप, रस, गन्ध, स्पर्श से रहित है, केवल पुदगल द्रव्य मूर्त है। उक्त छहों द्रव्यों में जीवद्रव्य ही चेतन है अवशिष्ट पाच द्रव्य अचेतन हैं।। ९७ ।।

जीव और पुद्‌गल द्रव्य ही क्रियावन्त हैं

जीवा पुग्गलकाया सह सक्किरिया हवंति ण य सेसा।
पुग्गलकाया जीवा खंधा खलु कालकरणा दु ।। ९८ ।।

जीव द्रव्य और पुद्‌गल द्रव्य ही क्रिया सहित हैं, अवशिष्ट चार द्रव्य क्रियासहित नहीं हैं। जीव द्रव्य पुद्‌गल का निमित्त पाकर और पुद्‌गल स्कन्ध काल द्रव्य का निमित्त पाकर क्रियायुक्त होते हैं।। ९८ ।।

मूर्तिक और अमूर्तिक का लक्षण

जे खलु इंदियगेज्झा विसया जीवेहिं हुंति ते मुत्ता।
सेसं हवदि अमुत्तं चित्तं उभयं समादियदि।। ९९ ।।

जीव जिन पदार्थों को इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण करते है - जानते हैं वे मूर्तिक हैं और बाकी के अमूर्तिक है। मन मूर्तिक तथा अमूर्तिक दोनों प्रकार के पदार्थों को जानता है।। ९९ ।।

काल द्रव्य का कथन

कालो परिणामभवो परिणामो दव्वकालसंभूदो।
दोण्हं एस सहावो कालो खणभंगुरो णियदो।। 100 ।।

व्यवहारकाल जीव पुद्‌गलों के परिणाम से उत्पन्न है तथा जीव पुद्‌गलों का परिणाम निश्चय कालाणु रूप कालद्रव्य से संभूत है। जीव और पुद्‌गल के परिणमन को देखकर व्यवहारकाल का ज्ञान होता है और चूंकि विना निश्चयकाल के जीव पुद्‌गलों का परिणमन नहीं हो सकता इसलिये जीव पुद्‌गल के परिणमन से निश्चय

काल का ज्ञान होता है। दोनों कालों का यही स्वभाव है। व्यवहारकाल पर्याय प्रधान होने से क्षणभगुर है और निश्चयकाल द्रव्य प्रधान होने से नित्य है।। १००।।

कालो त्ति य ववदेसो सब्भावपरूवगो हवदि णिच्चो।
उप्पण्णप्पद्धंसी अवरो दीहंतरट्ठाई।। १०१।।

"यह काल है" इस प्रकार जिसका व्यपदेश - उल्लेख होता है वह अपना सद्भाव बतलाता हुआ नित्य द्रव्य है। जिस प्रकार "सिंह" यह शब्द सिंह शब्दवाच्य मृगेन्द्र अर्थ का प्ररूपक है उसी प्रकार "काल" यह शब्द, काल शब्दवाच्य निश्चयकाल द्रव्य का प्ररूपक है। दूसरा व्यवहारकाल उत्पन्न होता है और नष्ट होता है तथा समयों की परम्परा की अपेक्षा स्थायी भी है।। १०१।।

जीवादि द्रव्य अस्तिकाय है, काल अस्तिकाय नही है

एदे कालागासा धम्माधम्मा य पुग्गला जीवा।
लब्भंति दव्वसण्णं कालस्स दु णत्थि कायत्तं।। १०२।।

यही सब जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म काल और आकाश द्रव्य व्यपदेश को प्राप्त हैं द्रव्य कहलाते हैं परन्तु जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश में बहुप्रदेशी होने से जिस प्रकार अस्तिकायपना है उस प्रकार कालद्रव्य में नही है। कालद्रव्य एक प्रदेशात्मक होने से अस्तिकाय नही है।। १०२।।

पचास्तिकाय सग्रह के जानने का फल

एव पवयणसारं पंचत्थियसगह वियाणित्ता।
जो मुयदि रागदोसे सो गाहदि दुक्खपरिमोक्ख।। १०३।।

इस प्रकार पचास्तिकाय के सग्रह स्वरूप द्वादशाग के सार को जानकर जो राग और द्वेष छोडता है वह ससार के दु खों से छुटकारा पाता है।। १०३।।

मुणिऊण एतदट्ठ तदणुगमणुज्झदो णिहदमोहो।
पसमियरागद्दोसो हवदि हदपरावरो जीवो।। १०४।।

इस शास्त्र के रहस्यभूत शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा को जानकर जो पुरुष तन्मय होने का प्रयत्न करता है वह दर्शन मोह को नष्ट कर रागद्वेष का प्रशमन करता हुआ ससार रहित हो जाता है। पूर्वापर बन्ध से रहित हो मुक्त हो जाता है।। १०४।।

इस प्रकार छह द्रव्य और पचास्तिकाय का वर्णन करने वाला प्रथम श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।

*

मोक्षमार्ग के कथन की प्रतिज्ञा

अभिवंदिऊण सिरसा अपुणब्भवकारण महावीर।
तेसिं पयत्थभंगं मग्ग मोक्खस्स वोच्छामि।। १०५।।

अब मैं मोक्ष के कारणभूत श्री महावीर स्वामी को मस्तक द्वारा नमस्कार कर मोक्ष के मार्ग स्वरूप नव पदार्थों को कहूंगा।। १०५।।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता मोक्ष का मार्ग है

सम्मत्तणाणजुत्तं चारित्तं रागदोसपरिहीणं।

मोक्खस्स हवदि मग्गो भव्वाणं लद्धबुद्धीणं।। १०६।।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से युक्त रागद्वेष रहित सम्यक्चारित्र मोक्ष का मार्ग है। यह मोक्ष का मार्ग स्व-पर भेदविज्ञानी भव्यजीवों को ही प्राप्त होता है।। १०६।।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का स्वरूप

सम्मत्तं सद्दहणं, भावाणं तेसिमधिगमो णाणं।

चारित्तं समभावो विसयेसु विरूढमग्गाणं[1]।। १०७।।

पूर्वोक्त जीवादि पदार्थों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, उन्ही का ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है और पचेन्द्रियों के इष्ट-अनिष्ट विषयों में समताभाव धारण करना सम्यक्चारित्र है। यह मोक्षमार्ग में दृढता के साथ प्रवृत्ति करने वालों के ही होता है।। १०७।।

नौ पदार्थों के नाम

जीवाजीवा भावा पुण्ण पाव च आसवं तेसिं।

सवरणिज्जरबधो मोक्खो य हवंति ते अट्ठा।। १०८।।

जीव, अजीव पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये नौ पदार्थ हैं।। १०८।।

जीवों के भेद

जीवा संसारत्था णिव्वादा चेदणप्पगा दुविहा।

उवओगलक्खणा वि य देहादेहप्पवीचारा।। १०९।।

जीव दो प्रकार के है ससारी और मुक्त। दोनों ही चैतन्य स्वरूप और उपयोग लक्षण से युक्त हैं। ससारी जीव शरीर से युक्त है और मुक्त जीव शरीर से रहित हैं।। १०९।।

स्थावर काय का वर्णन

पुढवी य उदगमगणी वाउवणप्फदिजीवसंसिदा काया।

देंति खलु मोह बहुल फासं बहुगा वि ते तेसिं।। ११०।।

पृथिवी, जल अग्नि, वायु और वनस्पति ये पुद्गल के पर्याय जीव के साथ मिलकर काय कहलाने लगते है। यद्यपि ये अपने अवान्तर भेदों की अपेक्षा बहुत प्रकार के है तथापि स्पर्शनेन्द्रियावरण के क्षयोपशम से युक्त एकेन्द्रिय जीवों को मोह बहुल स्पर्श प्राप्त कराते हैं।। ११०।।

स्थावर और त्रस का लक्षण

तित्थावरतणुजोगा अणिलाणलकाइया य तेसु तसा।

मणपरिणामविरहिदा जीवा एइंदिया णेया।। १११।।

उक्त पाच प्रकार के जीवों में स्थावर शरीर प्राप्त होने से पृथिवीकायिक, जलकायिक और वनस्पतिकायिक ये तीन स्थावर कहलाते हैं और चलनात्मक शरीर प्राप्त होने से अग्निकायिक तथा वायुकायिक

---

1 "सम्यग्दर्शनज्ञानसन्निधानादमार्गेभ्य समग्रेभ्य परिच्युत्य स्वतत्त्वे विशेषेण रूढमार्गाणा सतामिन्द्रियानिन्द्रियविपयभूतष्वर्थेपु" ता वृ "पूर्वोक्तसम्यक्त्वज्ञानबलेन समस्तान्यमार्गेभ्य प्रच्युत्य विशेषेण रूढमार्गाणा परिज्ञातमोक्षमार्गाणाम्। - ज वृ ।'

त्रस कहलाते हैं। ये सभी जीव मन से रहित हैं और एकेन्द्रिय हैं[1]।। १११।।

पृथिवीकायिक आदि स्थावर एकेन्द्रिय ही हैं

एदे जीवणिकाया पंचविहा पुढविकाइयादीया।
मणपरिणामविरहिदा जीवा एगेंदिया भणिया।। ११२।।

ये पृथिवीकायिक आदि पांच प्रकार के जीव मन रहित हैं और एकेन्द्रिय जाति नामकर्म का उदय होने से सभी एकेन्द्रिय कहे गये हैं।। ११२।।

एकेन्द्रियों में जीव के अस्तित्व का समर्थन

अंडेसु पवड्ढंता गब्भत्था माणुसा य मुच्छगया।
जारिसया तारिसया जीवा एगेंदिया णेया।। ११३।।

जिस प्रकार अण्डों में बढने वाले तिर्यंचों और गर्भ में स्थित तथा मूर्च्छित मनुष्यों में बुद्धिपूर्वक बाह्य व्यापार न दिखने पर भी जीवत्व का निश्चय किया जाता है उसी प्रकार एकेन्द्रिय जीवों के भी बाह्य व्यापार न दिखने पर भी जीवत्व का निश्चय किया जाता है।। ११३।।

द्वीन्द्रिय जीवों का वर्णन

संवुक्कमादुवाहा संखा सिप्पी अपादगा य किमी।
जाणंति रसं फासं जे ते वे इंदिया जीवा।। ११४।।

जो शंबूक, मातृवाह, शंख तथा पादरहित कृमि-लट आदि जीव केवल स्पर्श और रस को जानते हैं वे दो इन्द्रिय जीव हैं।। ११४।।

त्रीन्द्रिय जीवों का वर्णन

जूगागुंभीमक्कणपिपीलिया विच्छियादिया कीडा।
जाणंति रसं फास गंधं तेइंदिया जीवा।। ११५।।

यत जूं, कुम्भी, खटमल, चींटी तथा बिच्छू आदि कीडे स्पर्श, रस और गन्ध को जानते हैं, अत वे तीन इन्द्रिय जीव हैं।। ११५।।

चतुरिन्द्रिय जीवों का वर्णन

उद्दसमसयमक्खियमधुकरभमरा पतंगमादीया।
रूवं रसं च गंधं फासं पुण ते वि जाणंति।। ११६।।

डांस, मच्छर, मक्खी, मधुमक्खी, भ्रमर और पतग आदि जीव स्पर्श, रस, गन्ध और रूप को जानते हैं अत वे चार इन्द्रिय जीव हैं।। ११६।।

पंचेन्द्रिय जीवों का वर्णन

सुरणरणारयतिरिया वण्णरसप्फासगंधसद्दण्हू।
जलचरथलचरखचरा वलिया पंचेंदिया जीवा।। ११७।।

देव, मनुष्य, नारकी और तिर्यंच वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द को जानते हैं अत वे पांच इन्द्रिय

1 यहां अग्निकायिक और वायुकायिक जीवों को जो त्रस कहा है वह केवल उनके शरीर की चलनात्मक क्रिया देखकर ही कहा है। यथार्थ मे इन सबके त्रसनामकर्म का उदय न होकर स्थावरनामकर्म का उदय रहता है अत वे सभी स्थावर ही हैं।

जीव है। पचेन्द्रिय तिर्यंच जलचर, स्थलचर और नभचर के भेद से तीन प्रकार के हैं। सभी पचेन्द्रिय कायबल, वचनबल और यथासभव मनोबल से युक्त होते हैं।। ११७।।

देवा चउण्णिकाया मणुया पुण कम्मभोगभूमीया।

तिरिया बहुप्पयारा णेरइया पुढविभेयगदा।। ११८।।

देव, भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष और वैमानिक के भेद से चार प्रकार के है, मनुष्य, कर्मभूमि और भोगभूमि के भेद से दो प्रकार के हैं, तिर्यंच अनेक प्रकार के है और नारकी रत्नप्रभा आदि पृथिवियों के भेद से सात प्रकार के हैं।। ११८।।

जीवों का अन्य पर्यायों में गमन

खीणे पुव्वणिबद्धे गदिणामे आउसे च ते वि खलु।

पापुण्णंति य अण्ण गदिमाउस्सं सलेस्सवसा।। ११९।।

पूर्वनिबद्ध गतिनामकर्म तथा आयुकर्म के क्षीण हो जाने पर वे जीव निश्चय से अपनी-अपनी लेश्याओं के अनुसार अन्य गति और अन्य आयु को प्राप्त होते हैं।। ११९।।

ससारी, मुक्त, भव्य तथा अभव्यों का वर्णन

एदे जीवणिकाया देहप्पविचारमस्सिदा भणिदा।

देहविहूणा सिद्धा भव्वा संसारिणो अभव्वा वा।। १२०।।

ऊपर कहे हुए ये समस्त जीव शरीर के परिवर्तन को प्राप्त हैं - एक के बाद एक शरीर को बदलते रहते हैं। सिद्ध जीव शरीर से रहित है और ससारी जीव भव्य-अभव्य,के भेद से दो प्रकार के हैं।। १२०।।

इन्द्रियादिक जीव नही हैं

ण हि इदियाणि जीवा काया पुण छप्पयार पण्णत्ता।

जं हवदि तेसु णाणं जीवो त्ति य तं परूवंति।। १२१।।

न स्पर्शनादि इन्द्रियां जीव है, न उल्लिखित पृथिवीकायादि छह प्रकार के काय जीव हैं किन्तु उनमें जो ज्ञान है - चैतन्य है वही जीव है ऐसा महापुरुष कहते हैं।। १२१।।

जीव की विशेषता

जाणदि पस्सदि सव्वं इच्छदि सुक्खं विभेदि दुक्खादो।

कुव्वदि हिदमहिदं वा भुंजदि जीवो फलं तेसिं।। १२२।।

जीव सबको जानता है, सबको देखता है, सुख को चाहता है, दु ख से डरता है, शुभ कार्य करता है, अशुभ कार्य करता है और उनके फल भी भोगता है।। १२२।।

एवमभिगम्म जीवं अण्णेहिं वि पज्जएहिं बहुगेहिं।

अभिगच्छदु अज्जीवं णाणंतरिदेहिं लिंगेहिं।। १२३।।

इस प्रकार और भी अनेक पर्यायों के द्वारा जीव को जानकर ज्ञान से भिन्न स्पर्श आदि चिह्नों से अजीव को जानो।। १२३।।

द्रव्यों में चेतन और अचेतन का वर्णन

आगासकालपुग्गलधम्माधम्मेसु णत्थि जीवगुणा।

तेसिं अचेदणत्तं भणिदं जीवस्स चेदणदा।। १२४।।

आकाश, काल, पुद्गल, धर्म और अधर्म में जीव के गुण नहीं है, उनमें अचेतना कही गई है। चेतनता केवल जीव का ही गुण है।। १२४।।

अजीव का लक्षण

सुहदुक्खजाणणा वा हिदपरियम्मं च अहिदभीरुत्तं।
जस्स ण विज्जदि णिच्चं तं समणा विंति अज्जीवं।। १२५।।

जिसमें सुख-दु ख का ज्ञान, हित की प्रवृत्ति और अहित का भय नहीं है, गणधरादि मुनि उसे अजीव कहते है।। १२५।।

शरीर रूप पुद्गल और जीव में पृथक्त्वपन का वर्णन

संठाणा संघादा वण्णरसप्फासगंधसद्दा य।
पोग्गलदव्वप्पभवा होंति गुणा पज्जया य बहू।। १२६।।
अरसमरूवमगंधमव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं।। १२७।। जुम्मं।

समचतुरस्र आदि सस्थान, औदारिकादि शरीर सम्बन्धी सघात, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द आदि जो अनेक गुण तथा पर्याय दिखती है वे सब पुद्गल द्रव्य से समुत्पन्न हैं। परन्तु जीव रसरहित है, रूपरहित है, गन्धरहित है, अव्यक्त है, चेतनागुण से युक्त है, शब्दरहित है, बाह्य इन्द्रियों के द्वारा अग्राह्य है और सस्थान - आकार रहित है, ऐसा जानो।। १२६-१२७।।

जीव के ससार भ्रमण का कारण

जो खलु संसारत्थो जीवे तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्म कम्मादो होदि गदिसु गदी।। १२८।।
गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायंते।
तेहिं दु विसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा।। १२९।।
जायदि जीवस्सेव भावो ससारचक्कवालम्मि।
इदि जिणवरेहिं भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो वा।। १३०।।

जो यह ससारी जीव है उसके रागद्वेष आदि अशुद्धभाव होते है उनसे ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का बन्ध होता है, कर्मों से एक गति से दूसरी गति प्राप्त होती है, गति को प्राप्त हुए जीव के औदारिकादि शरीर होता है, शरीर से इन्द्रिया उत्पन्न होती है, इन्द्रियों से विषय ग्रहण होता है और उससे राग तथा द्वेष उत्पन्न होते हैं, संसार रूपी चक्र में भ्रमण करने वाले जीव के ऐसे अशुद्ध भाव अभव्य की अपेक्षा अनादि अनन्त और भव्य की अपेक्षा अनादि-सान्त होते हैं, ऐसा श्री जिनेन्द्र देव ने कहा है।। १२८-१३०।।

जीव के शुभ अशुभभावों का वर्णन

मोहो रागो दोसो चित्तपसादो य जस्स भावम्मि।
विज्जदि तस्स सुहो वा असुहो वा होदि परिणामो।। १३१।।

जिस जीव के हृदय में मोह, राग, द्वेष और चित्त की प्रसन्नता रहती है उसके शुभ अथवा अशुभ परिणाम अवश्य होते हैं अर्थात् जिसके हृदय में प्रशस्त राग और चित्त की प्रसन्नता होगी उसके शुभ परिणाम होंगे

और जिसके हृदय में मोह, द्वेष, अप्रशस्त राग तथा चित्त का अनुत्साह होगा उसके अशुभ परिणाम होंगे।। १३१।।

पुण्य और पाप का लक्षण

सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पावंति हवदि जीवस्स।
दोण्हं पोग्गलमेत्तो भावो कम्मत्तणं पत्तो।। १३२।।

जीव का शुभ परिणाम पुण्य कहलाता है और अशुभ परिणाम पाप। इन दोनों ही परिणामों से कार्मणवर्गणा रूप पुद्गल द्रव्य कर्म अवस्था को प्राप्त होता है।। १३२।।

कर्म मूर्तिक हैं

जह्मा कम्मस्स फलं विसयं फासेहिं भुंजदे णियदं।
जीवेण सुहं दुक्खं तह्मा कम्माणि मुत्ताणि।। १३३।।

चूंकि कर्मों के फलभूत सुख-दु खादि के कारणरूप विषयों का उपभोग स्पर्शनादि मूर्त इन्द्रियों के द्वारा होता है अत कर्म मूर्त हैं।। १३३।।

पूर्व मूर्त कर्मों के साथ नवीन मूर्त कर्मों का बन्ध होता है

मुत्तो फासदि मुत्तं मुत्तो मुत्तेण बंधमणुहवदि।
जीवो मुत्तिविरहिदो गाहदि ते तेहिं उग्गहदि।। १३४।।

इस ससारी जीव के अनादि परम्परा से आये हुए मूर्त कर्म विद्यमान हैं। वे मूर्त कर्म ही आगामी मूर्तकर्म का स्पर्श करते हैं। अत मूर्त द्रव्य ही मूर्तद्रव्य के साथ बन्ध को प्राप्त होता है। जीव मूर्तिरहित है - अमूर्त है अत यथार्थ में उसका कर्मों के साथ सम्बन्ध नही होता। परन्तु मूर्त कर्मों के साथ सम्बन्ध होने के कारण व्यवहार नय से जीव मूर्तिक कहा जाता है। अत वह रागादि परिणामों से स्निग्ध होने के कारण मूर्त कर्मों के साथ सम्बन्ध को प्राप्त होता है और कर्म जीव के साथ सम्बन्ध हो प्राप्त होते हैं।। १३४।।

पुण्यकर्म का आस्रव किसके होता है ?

रागो जस्स पसत्थो अणुकपासंसिदो य परिणामो।
चित्ते णत्थि कलुस्सं पुण्णं जीवस्स आसवदि।। १३५।।

जिस जीव का राग प्रशस्त है, परिणाम दया से युक्त है और हृदय कलुषता से रहित है उसके पुण्यकर्म का आस्रव होता है।। १३५।।

प्रशस्त राग का लक्षण

अरहंतसिद्धसाहुसु भत्ती धम्मम्मि जा य खलु चेट्ठा।
अणुगमणं पि गुरूण पसत्थरागो त्ति वुच्चंति।। १३६।।

अरहन्त, सिद्ध, साधुओं में भक्ति होना, शुभरागरूप धर्म में प्रवृत्ति होना तथा गुरुओं के अनुकूल चलना यह सब प्रशस्त राग है, ऐसा पूर्व महर्षि कहते हैं।। १३६।।

अनुकम्पा का लक्षण

तिसिदं बुभुक्खिदं वा दुहिदं दट्ठूण जो दु दुहिदमणो।
पडिवज्जदि तं किवया तस्सेसा होदि अणुकंपा।। १३७।।

जो भूखे, प्यासे अथवा अन्य प्रकार से दु खी प्राणी को देखकर स्वय दु खित हृदय होता हुआ

दयापूर्वक उसे अपनाता है - उसका दु ख दूर करने का प्रयत्न करता है उसके अनुकम्पा होती है।। १३७।।

कालुष्य का लक्षण

कोधो व जुदा माणो माया लोभो व चित्तमासेज्ज।
जीवस्स कुणदि खोहं कलुसो त्ति य तं बुधा वेंति।। १३८।।

क्रोध, मान, माया और लोभ चित्त को प्राप्त कर आत्मा में जो क्षोभ उत्पन्न करते हैं पण्डितजन उसे कालुष्य कहते हैं।। १३८।।

पापास्रव के कारण

चरिया पमादबहुला कालुस्सं लोलदा य विसयेसु।
परपरितावपवादो पावस्स य आसवं कुणदि।। १३९।।

प्रमाद से भरी हुई प्रवृत्ति, कलुषता, विषयों की लोलुपता, दूसरे को सताप देना और उसका अपवाद करना यह सब पापास्रव के कारण है।। १३९।।

सण्णाओ य तिलेस्स इंदियवसदा य अत्तरूद्दाणि[1]।
णाणं च दुप्पउत्तं मोहो पावप्पदा होंति।। १४०।।

आहार आदि चार संज्ञाए, कृष्ण आदि तीन लेश्यायें, पंचेन्द्रियों की पराधीनता, आर्त्त-रौद्रध्यान असत्कार्य में प्रयुक्त ज्ञान और मोह ये सब पापास्रव करने वाले हैं।। १४०।।

पापास्रव को रोकने वाले जीवों का वर्णन

इंदियकसायसण्णा णिग्गहिदा जेहि सुट्ठुमग्गम्मि।
जावत्तावत्तेहिं पिहिय पापासव छिद्दं।। १४१।।

जो इन्द्रिय, कषाय और संज्ञाओं को जितने अंशों में अथवा जितने समय तक समीचीन मार्ग में नियन्त्रित कर लेते हैं उनके उतने ही अंशों में अथवा उतने ही समय तक पापास्रव का छिद्र बन्द रहता है - पापास्रव का सवर रहता है।। १४१।।

शुद्धोपयोगी जीवों का वर्णन

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व सव्वदव्वेसु।
णासवदि सुह असुह समसुहदुक्खस्स भिक्खुस्स।। १४२।।

जिसके सब द्रव्यों में न राग है, न द्वेष है, न मोह है, सुख-दु ख में मध्यस्थ रहने वाले उस भिक्षु के शुभ और अशुभ दोनों प्रकार का आस्रव नही होता।। १४२।।

जस्स जदा खलु पुण्ण जोगे पावं च णत्थि विरदस्स।
सवरणं तस्स तदा सुहासुहकदस्स कम्मस्स।। १४३।।

समस्त परद्रव्यों का त्याग करने वाले व्रती पुरुष के जब पुण्य और पाप दोनो प्रकार के योगों का अभाव हो जाता है तब उसके पुण्य और पाप योग के द्वारा होने वाले कर्मों का सवर हो जाता है।। १४३।।

संवरजोगेहिं जुदो तवेहिं जो चिट्ठवे बहुविहेहिं।
कम्माणं णिज्जरणं बहुगाणं कुणदि सो णियदं।। १४४।।

1 "अट्टरुद्दाणि" इत्यपि पाठ ।

जो संवर और शुद्धोपयोग से युक्त होता हुआ अनेक प्रकार के तपों में प्रवृत्ति करता है वह निश्चय ही बहुत से कर्मों की निर्जरा करता है।। १४४।।

जो संवरेण जुत्तो अप्पट्ठपसाधगो हि अप्पाणं।

मुणिऊण झादि णियदं णाणं सो संधुणोदि कम्मरयं।। १४५।।

आत्मा के प्रयोजन को सिद्ध करने वाला जो पुरुष सवर से युक्त होता हुआ आत्मा को ज्ञानस्वरूप जानकर उसका ध्यान करता है वह निश्चित ही कर्मरूप धूलि को उड़ा देता है - नष्ट कर देता है।। १४५।।

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व जोगपरिकम्मो।

तस्स सुहासुहडहणो झाणमओ जायए अगणी।। १४६।।

जिसके न राग है, न द्वेष है, न मोह है और न ही योगों का परिणमन है उसके शुभ-अशुभ कर्मों को जलाने वाली ध्यानरूपी अग्नि उत्पन्न होती है।। १४६।।

कर्म बन्ध का कारण

ज सुहमसुहमुदिण्णं भावं रत्तो करेदि जदि अप्पा।

सो तेण हवदि बंधो पोग्गलकम्मेण विविहेण।। १४७।।

जब यह आत्मा पूर्व कर्मोदय से होने वाले शुभ-अशुभ परिणामों को करता है तब अनेक पौद्गलिक कर्मों के साथ बन्ध को प्राप्त होता है।। १४७।।

जोगणिमित्तं गहणं जोगो मणवयणकायसंभूदो।

भावणिमित्तो बंधो भावो रदिरागदोसमोहजुदो।। १४८।।

कर्मों का ग्रहण योगों के निमित्त से होता है, योग मन, वचन, काय के व्यापार से होते है, बन्ध भावों के निमित्त से होता है और भाव रति, राग, द्वेष तथा मोह से युक्त होते हैं। [मन, वचन और काय के व्यापार से आत्मा के प्रदेशों में जो परिस्पन्द पैदा होता है उसे योग कहते हैं, इस योग के निमित्त से ही कर्मों का ग्रहण - आस्रव होता है। रति, राग, द्वेष, मोह से युक्त आत्मा के परिणाम को भाव कहते हैं, कर्मों का बन्ध इसी भाव के निमित्त से होता है]।। १४८।।

कर्म बन्ध के चार प्रत्यय - कारण

हेदू चदुव्वियप्पो अट्ठवियप्पस्स कारणं भणिदं।

तेसिं पि य रागादी तेसिमभावे ण बज्झंति।। १४९।।

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार प्रकार के प्रत्यय ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के कर्मों के कारण कहे गये हैं। उन मिथ्यात्व आदि का कारण रागादि विभाव है। जब इनका भी अभाव हो जाता है तब कर्मों का बन्ध रुक जाता है।। १४९।।

आस्रव निरोध - संवर का वर्णन

हेदुमभावे[1] णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोधो।

आसवभावेण विणा जायदि कम्मस्स दु णिरोधो।। १५०।।

कम्मस्साभावेण य सव्वण्हू सव्वलोगदरसी य।

पावदि इंदियरहिदं अव्वाबाहं सुहमणंतं।। १५१।। जुम्मं।

---

1 "हेदु अभावे" इति ज वृ. सम्मत पाठ।

रागादि हेतुओं का अभाव होने पर ज्ञानी जीव के नियम से आस्रव का निरोध हो जाता है, आस्रव के न होने से कर्मों का निरोध हो जाता है, और कर्मों का निरोध होने से यह जीव सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी बनकर अतीन्द्रिय, अव्याबाध और अनन्त सुख को प्राप्त हो जाता है।। १५०-१५१।।

ध्यान, निर्जरा का कारण है

दंसणणाणसमग्गं झाणं णो अण्णदव्वसंजुत्तं।
जायदि णिज्जरहेदू सभावसहिदस्स साधुस्स।। १५२।।

ज्ञान और दर्शन से सम्पन्न तथा अन्य द्रव्यों के संयोग से रहित ध्यान स्वभावसहित साधु के निर्जरा का कारण होता है।। १५२।।

मोक्ष का कारण

जो संवरेण जुत्तो णिज्जरमाणोध[1] सव्वकम्माणि।
ववगदवेदाउस्सो मुयदि[2] भवं तेण सो मोक्खो।। १५३।।

जीव संवर से युक्त होता हुआ समस्त कर्मों की निर्जरा करता है और वेदनीय तथा आयु कर्म को नष्टकर नामगोत्र रूप संसार अथवा वर्तमान पर्याय का भी परित्याग करता है उसके मोक्ष होता है।। १५३।।

इस प्रकार मोक्षमार्ग के अवयवभूत सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के विषयभूत नौ पदार्थों का व्याख्यान करने वाला द्वितीय श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।

*

ज्ञान, दर्शन और चारित्र का स्वरूप

जीवसहावं णाणं अप्पडिहददंसणं अणण्णमयं।
चरियं च तेसु णियदं अत्थित्तमणिंदियं भणियं।। १५४।।

ज्ञान और अखण्डित दर्शन ये दोनों जीव के अपृथग्भूत स्वभाव हैं। इन दोनों का जो निश्चल और निर्मल अस्तित्व है वही चारित्र कहलाता है।। १५४।।

जीव के स्वसमय और परसमय की अपेक्षा भेद

जीवो सहावणियदो अणियदगुणपज्जओध[3] परसमओ।
जदि कुणदि सगं समयं पब्भस्सदि कम्मबंधादो।। १५५।।

यद्यपि यह जीव निश्चयनय से स्वभाव में नियत है तथापि परद्रव्यों के गुण पर्यायों में रत होने के कारण परसमय रूप हो रहा है। जब यह जीव स्वसमय को करता है - परद्रव्य से हटकर स्वस्वरूप में रत होता है तब कर्मबन्धन से रहित होता है।। १५५।।

परसमय का लक्षण

जो परदव्वम्मि सुहं असुहं रागेण कुणदि जदि भावं।
सो सगचरित्तभट्ठो परचरियचरो हवदि जीवो।। १५६।।

जो जीव राग से परद्रव्य में शुभ अथवा अशुभ भाव करता है वह स्वचरित से भ्रष्ट होकर परचरित - परसमय का आचरण करने वाला होता है।। १५६।।

---

1 "णिज्जरमाणो य" 2 "मुअदि" इति ज. वृ. सम्मत पाठ। 3 "पज्जओ य" ज. वृ.।

आसवदि जेण पुण्ण पावं वा अप्पणोध भावेण।

सो तेण परचरित्तो हवदित्ति जिणा परूवंति।। १५७।।

आत्मा के जिस भाव से पुण्य और पाप कर्म का आस्रव होता है, उस भाव से यह जीव परचरित - परसमय का आचरण करने वाला होता है ऐसा श्री जिनेन्द्र देव कहते हैं।। १५७।।

स्वसमय का लक्षण

जो सव्वसगमुक्को णण्णमणो अप्पणं सहावेण।

जाणदि पस्सदि णियदं सो सगचरियं चरदि जीवो।। १५८।।

जो समस्त परिग्रह से मुक्त हो परद्रव्य से चित्त हटाता हुआ शुद्धस्वभाव से आत्मा को जानता और देखता है वही जीव स्वचरित - स्वसमय का आचरण करता है।। १५८।।

स्वसमय का आचरण कौन करता है ?

चरियं चरदि सग सो जो परदव्वप्पभावरहिदप्पा।

दसणणाणवियप्पं अवियप्पं चरदि अप्पादो।। १५६।।

जो परद्रव्य में आत्मभावना से रहित होकर आत्मा के ज्ञान-दर्शन रूप विकल्प को भी निर्विकल्प - अभेदरूप से अनुभव करता है वह स्वचरित - स्वसमय का आचरण करता है।। १५६।।

व्यवहार मोक्षमार्ग का वर्णन

धम्मादीसद्दहण सम्मत्त णाणमगपुव्वगदं।

चिट्ठा तव हि चरिया ववहारो मोक्खमग्गोत्ति।। १६०।।

धर्म आदि द्रव्यो का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, अग और पूर्व में प्रवृत्त होने वाला ज्ञान सम्यग्ज्ञान है और तप धारण करना सम्यक्चारित्र है। इन तीनों का एक साथ मिलना व्यवहार मोक्षमार्ग है।। १६०।।

निश्चय मोक्षमार्ग का वर्णन

णिच्चयणयेण भणिदो तिहि तेहि समाहिदो हु जो अप्पा।

ण कुणदि किंचिवि अण्ण ण मुयदि सो मोक्खमग्गोत्ति।। १६१।।

निश्चय नय से जो आत्मा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से तन्मय हो अन्य परद्रव्य को न करता है, न छोडता है वही मोक्षमार्ग है, ऐसा कहा गया है।। १६१।।

अभेदरत्नत्रय का वर्णन

जो चरदि णादि पिच्छदि अप्पाणं अप्पणा अणण्णमयं।

सो चारित्त णाणं दंसणमिदि णिच्चिदो होदि।। १६२।।

अब तक के कथन से यह निश्चित होता है कि जो जीव पर पदार्थ से भिन्न आत्मस्वरूप में चरण करता है उसे ही जानता है देखता है वही सम्यक्चारित्र, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन है।। १६२।।

जेण विजाणदि सव्व पेच्छदि सो तेण सोक्खमणुहवदि।

इदि तं जाणदि भविओ अभव्वसत्तो ण सद्दहदि।। १६३।।

"चूंकि वह पुरुष - आत्मा समस्त वस्तुओं को जानता और देखता है इसलिये अनाकुलता रूप अनन्त सुख का अनुभव करता है" ऐसा भव्य जीव जानता है - श्रद्धान करता है परन्तु अभव्य जीव ऐसा श्रद्धान नहीं

करता।। १६३।।

सम्यग्दर्शनादि ही मोक्ष के मार्ग हैं

दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गोत्ति सेविदव्वाणि।

साधूहि इदं भणिदं तेहिं दु बंधो व मोक्खो वा।। १६४।।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्ष का मार्ग है इसलिये सेवन करने योग्य है - धारण करने योग्य है ऐसा साधु पुरुषों ने कहा है। और यह भी कहा है कि उक्त तीनों यदि पराश्रित होंगे तो उनसे बन्ध होगा और स्वाश्रित होंगे तो मोक्ष होगा।। १६४।।

पुण्य मोक्ष का साक्षात् कारण नही है

अण्णाणादो णाणी जदि मण्णदि सुद्धसंपओगादो।

हवदित्ति दुक्खमोक्खं परसमयरदो हवदि जीवो।। १६५।।

यदि कोई ज्ञानी पुरुष अज्ञानवश ऐसा माने कि शुद्धसंप्रयोग - अर्हद्भक्ति आदि के द्वारा दु खों से मोक्ष होता है तो वह परसमयरत है।। १६५।।

अरहंतसिद्धचेदियपवयणगणणाणभत्तिसंपण्णो।

बंधदि पुण्णं बहुसो ण दु सो कम्मक्खयं कुणदि।। १६६।।

अरहन्त सिद्ध, चैत्य, प्रवचन, मुनिसमूह और भेद विज्ञान आदि की भक्ति से युक्त हुआ जीव बहुत-सा पुण्य बन्ध करता है परन्तु कर्मों का क्षय नहीं करता है।। १६६।।

अणुमात्र भी राग स्वसमय का बाधक है

जस्स हिदयेणुमत्तं वा परदव्वम्हि विज्जदे रागो।

सो ण विजाणदि समय सगस्स सव्वागमधरो वि।। १६७।।

जिसके हृदय में पर द्रव्य सम्बन्धी थोडा भी राग विद्यमान है वह समस्त शास्त्रों का पारगामी होने पर भी स्वकीय समय को नही जानता है।। १६७।।

शुद्धात्मस्वरूप के सिवाय अन्यत्र विषयों में चित्त का भ्रमण संवर का बाधक है

धरिदुं जस्स ण सक्कं चित्तुब्भामं विणा दु अप्पाणं।

रोधो तस्स ण विज्झदि सुहासुहकदस्स कम्मस्स।। १६८।।

शुद्ध आत्मस्वरूप के सिवाय अन्य विषयों में होने वाला चित्त जिसका संचार नहीं रोका जा सकता हो उसके शुभ-अशुभ भावों से किये हुए कर्मों का संवर नही हो सकता है।। १६८।।

तम्हा णिव्वुदिकामो णिस्संगो णिम्ममो य हविय पुणो।

सिद्धेसु कुणदि भत्तिं णिव्वाण तेण पप्पोदि।। १६९।।

इसलिये मोक्षाभिलाषी पुरुष निष्परिग्रह और निर्ममत्व होकर परमात्म स्वरूप में भक्ति करता है और मोक्ष को भी प्राप्त होता है।। १६९।।

भक्ति रूप शुभराग मोक्ष प्राप्ति का साक्षात् कारण नहीं है

सपयत्थं तित्थयरं अभिगदबुद्धिस्स सुत्तरोइस्स।

दूरतर णिव्वाणं संजमतपसंपओत्तस्स।। १७०।।

जीव-अजीव आदि नव पदार्थों तथा तीर्थकर आदि पूज्य पुरुषों में जिसकी भक्ति रूप बुद्धि लग रही है उसको मोक्ष बहुत दूर है, भले ही वह आगम का श्रद्धानी और सयम तथा तपश्चरण से युक्त क्यों न हो।। १७०।।

अरहंतसिद्धचेदियपवयणभत्तो परेण णियमेण।

जो कुणदि तवो कम्मं सो सुरलोग समादियदि।। १७१।।

जो अरहन्त, सिद्ध, जिनप्रतिमा और जिनशास्त्रों का भक्त होता हुआ उत्कृष्ट सयम के साथ तपश्चरण करता है वह नियम से देवगति ही प्राप्त करता है।। १७१।।

वीतराग आत्मा ही ससार सागर से पार होता है

तह्मा णिव्वुदिकामो रागं सव्वत्थ कुणदि मा किंचि।

सो तेण वीदरागो भवियो भवसायरं तरदि।। १७२।।

इसलिये मोक्ष का इच्छुक भव्य किसी भी बाहय पदार्थ में कुछ भी राग नही करे क्योंकि ऐसा करने से ही वह वीतराग होता हुआ ससार समुद्र से तर सकता है।। १७२।।

समारोप वाक्य

मग्गप्पभावणट्ठं पवयणभत्तिप्पचोदिदेण मया।

भणियं पवयणसार पचत्थियसंगहं सुत्तं।। १७३।।

जिसमें समस्त द्वादशाग का रहस्य निहित है ऐसा यह पंचास्तिकायों का सग्रह करने वाला [illegible] शास्त्र मैंने जिनवाणी की भक्ति से प्रेरित होकर केवल मोक्षमार्ग की प्रभावना के लिये ही कहा है।। १७३।।

इस प्रकार पचास्तिकाय ग्रन्थ में नव पदार्थ तथा मोक्षमार्ग के विस्तार का वर्णन करने वाला तृतीय श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।

* * *

समयसारः

पूर्वरंगाधिकारः

श्री कुन्दकुन्द स्वामी समयसार ग्रन्थ के प्रारम्भ में मंगलाचरण करते हुए ग्रन्थ कहने की प्रतिज्ञा करते हैं -

वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचल[1]मणोवमं गइं[2] पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो[3] सुयकेवली[4] भणियं।। १ ।।

मैं ध्रुव, अचल अथवा निर्मल और अनुपम गति को प्राप्त हुए समस्त सिद्धों को नमस्कार कर, हे भव्यजीवो ! श्रुतकेवलियों के द्वारा कहे हुए इस समयप्राभृत नामक ग्रन्थ को कहूंगा।। १ ।।

आगे समय के स्वसमय और परसमय के भेद से दो भेद बतलाते हैं -

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिउ[5] तं हि ससमयं जाण।
पुग्गलकम्म[6]पदेसट्ठियं च त जाण परसमयं।। २ ।।

जो जीव दर्शन, ज्ञान और चारित्र में स्थित है निश्चय से उसे स्वसमय जानो और जो पुद्गल कर्म के प्रदेशों में स्थित है उसे परसमय जानो।। २ ।।

आगे अपने गुणों के साथ एकत्व के निश्चय को प्राप्त हुआ शुद्ध आत्मा ही उपादेय है और कर्मबन्ध के साथ एकत्व को प्राप्त हुआ आत्मा हेय है अथवा स्वस्थान ही शुद्धात्मा का स्वरूप है परसमय नहीं यह अभिप्राय मन में रखकर कहते हैं -

एयत्तणिच्छयगओ[7] समओ सव्वत्थ सुंदरो लोए।
बंधकहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होई[8]।। ३ ।।

स्वकीय शुद्ध गुण-पर्याय रूप परिणत अथवा अभेदरत्नत्रय रूप परिणमन करने वाला एकत्व निश्चय को प्राप्त हुआ समय ही - आत्मा ही समस्त लोक में सुन्दर है - समीचीन है। अत एकत्व के प्रतिष्ठित होने पर उस आत्मपदार्थ के साथ बन्ध की कथा विसवाद पूर्ण है - मिथ्या है।

जब कि संसार के समस्त पदार्थ स्वस्वरूप में निमग्न होकर पर पदार्थ से विभिन्न हैं तब जीव द्रव्य कर्मरूप पुद्गल द्रव्य के साथ सम्बन्ध को कैसे प्राप्त हो सकता है ?।। ३ ।।

आगे आत्मद्रव्य का एकत्वपना सुलभ नहीं है यह प्रकट करते हैं -

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स[9]।। ४ ।।

काम, भोग और बन्ध की कथाएं सभी जीवों के श्रुत हैं, परिचित हैं और अनुभूत हैं परन्तु पर पदार्थों से पृथक् एकत्व की प्राप्ति सुलभ नहीं है।

यह जीव काम, भोग और बन्ध सम्बन्धी चर्चा अनादिकाल से सुनता चला आ रहा है अनादि से

---

1 अमलं, अथवा अचलं इति पाठान्तरे ज.वृ । 2 गदिं ज.वृ । 3 ओ अहो भव्या ज.वृ । 4 सुदकेवलीभणिदं ज.वृ । 5 णाणट्ठिद ज.वृ । 6 कम्मुवदेसट्ठिदं (पुद्गलकर्मोपदेशस्थितं) ज.वृ । 7 गदो ज.वृ । 8 होदि ज.वृ । 9 विभत्तस्स ज.वृ ।

उसका परिचय प्राप्त कर रहा है और अनादि से ही उसका अनुभव करता चला आ रहा है, इसलिये उसकी सहसा प्रतीति हो जाती है। परन्तु यह जीव ससार के समस्त पदार्थों से जुदा है और अपने गुण-पर्यायों के साथ एकता को प्राप्त हो रहा है यह कथा इसने आज तक नही सुनी, न उसका परिचय प्राप्त किया और न अनुभव ही। इसलिये वह दुर्लभ वस्तु बनी हुई है।।४।।

आगे आचार्य उस एकत्व विभक्त आत्मा का निर्देश करने की प्रतिज्ञा करते हुए अपनी लघुता प्रकट करते हैं -

त एयत्तविहत्तं[1] दाएहं अप्पणो सविहवेण।
जदि दाएज्ज पमाणं चुक्किज्ज छलं ण घेत्तव्वं[2]।।५।।

मै अपने निज विभव से उस एकत्व-विभक्त आत्मा का दर्शन कराता हू। यदि दर्शन करा सकूं - उसका उल्लेख कर सकूं तो प्रमाण मानना और कहीं चूक जाऊं तो छल नहीं ग्रहण करना।।५।।

आगे वह शुद्धात्मा कौन है ? यह कहते हैं -

ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो।
एवं भणंति सुद्ध[3] णाओ[4] जो सो उ सो चेव।।६।।

जो ज्ञायक भाव है अर्थात् ज्ञान स्वरूप शुद्ध जीव द्रव्य है वह न अप्रमत्त है और न प्रमत्त ही है। इस प्रकार उसे शुद्ध कहते हैं वह तो जैसा जाना गया है उसी रूप है।

जो जीव पर पदार्थ के सम्बन्ध से अशुद्ध हो रहा है उसी में प्रमत्त और अप्रमत्त का विकल्प सिद्ध होता है परन्तु जो पर पदार्थ के सम्बन्ध से विविक्त है वह केवल ज्ञायक ही है - ज्ञाता-द्रष्टा ही है।।६।।

आगे जिस प्रकार प्रमत्त-अप्रमत्त के विकल्प से जीव में अशुद्धपना आता है उसी प्रकार दर्शन, ज्ञान, दर्शन और चारित्र आत्मा के हैं इस कथन से भी आत्मा में अशुद्धपना सिद्ध होता है इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं -

ववहारेणुवदिस्सई[5] णाणिस्स चरित्तदंसणं णाण।
णवि णाणं ण चरित्त ण दंसण जाणगो सुद्धो।।७।।

ज्ञानी जीव के चारित्र है, दर्शन है, ज्ञान है यह व्यवहार नय से कहा जाता है। निश्चय नय से न ज्ञान है, न चारित्र है और न दर्शन है। वह तो एक ज्ञायक ही है इसलिए शुद्ध कहा गया है।।७।।

आगे यदि व्यवहारनय से पदार्थ का वास्तविक स्वरूप नही कहा जाता तो उसे छोडकर केवल निश्चयनय से ही कथन करना चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं -

जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा उ गाहेउ[6]।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्क[7]।।८।।

जिस प्रकार म्लेच्छजन म्लेच्छ भाषा के बिना वस्तु का स्वरूप ग्रहण कराने के लिये शक्य नहीं है। उसी प्रकार व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश शक्य नहीं है।।८।।

आगे व्यवहारनय परमार्थ का प्रतिपादक किस प्रकार है ? इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं -

जो हि सुएण[8] हि गच्छइ अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं।
तं सुयकेवलिमिसिणो[9] भणंति लोयप्पईवयरा।।९।।

---

1 विभत्त ज वृ। 2 घित्तव्व ज वृ। 3 सुद्धा ज वृ। 4 णादा ज वृ। 5 दिस्सदि ज वृ। 6गाहेदु ज वृ। 7 देसण ज व। 8 सदेण। 9 सुद-।

जो[1] सुयणाणं सव्वं जाणइ[2] सुयकेवलिं तमाहु जिणा।
णाणं अप्पा सव्वं जम्हा सुयकेवली तम्हा[3]।। १०।।

जो निश्चय कर श्रुतज्ञान से इस अनुभव गोचर केवल एक शुद्ध आत्मा को जानता है उसे लोक को प्रकाशित करने वाले ऋषीश्वर श्रुतकेवली कहते हैं। [यह निश्चय नय से श्रुतकेवली का लक्षण है। अब व्यवहारनय से श्रुतकेवली का लक्षण कहते हैं] जो समस्त श्रुतज्ञान को जानता है जिनेन्द्र देव उसे श्रुतकेवली कहते हैं। यत सब ज्ञान आत्मा है अत आत्मा को ही जानने से श्रुत केवली कहा जा सकता है।। ९-१०।।

आगे व्यवहार नय का अनुसरण क्यों नही करना चाहिये ? इसका समाधान कहते हैं -

ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो।। ११।।

व्यवहार नय अभूतार्थ है - असत्यार्थ है और शुद्धनय भूतार्थ - सत्यार्थ कहा गया है। जो जीव भूतार्थ नय का आश्रय करता है वह निश्चय से सम्यग्दृष्टि होता है।। ११।।

आगे किन्हीं जीवों के किसी समय व्यवहार भी प्रयोजनवान् है ऐसा कहते हैं -

सुद्धो सुद्धादेसो[4] णायव्वो परमभावदरिसीहिं[5]।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे।। १२।।

जो परमभाव अर्थात् उत्कृष्ट दशा में स्थित हैं उनके द्वारा शुद्ध तत्व का उपदेश करने वाला शुद्ध निश्चय नय जानने योग्य है और जो अपरमभाव में स्थित हैं अर्थात अनुत्कृष्ट दशा में विद्यमान हैं वे व्यवहार नय से उपदेश करने योग्य हैं।। १२।।

आगे शुद्ध निश्चय नय से जाने हुए जीवाजीवादि पदार्थ ही सम्यक्त्व है ऐसा कहते हैं -

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
आसवसवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं।। १३।।

निश्चयनय से जाने हुए जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ही सम्यक्त्व है। यहा विषय-विषयी में अभेद की विवक्षाकर जीवाजीवादि पदार्थों को ही सम्यक्त्व कह दिया है।। १३।।

आगे शुद्ध नय का स्वरूप कहते हैं -

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठ अणण्णयं णियद।
अविसेसमसजुत्तं त सुद्धणय वियाणीहि।। १४।।

जो नय आत्मा को बन्धरहित, पर के स्पर्श रहित, अन्यपने रहित, चंचलता रहित, विशेष रहित और अन्य पदार्थ के सयोग रहित अवलोकन करता है - जानता है उसे शुद्ध नय जानो।। १४।।

आगे जो उक्त प्रकार की आत्मा को जानता है वही जिनशासन को जानता है ऐसा कहते हैं -

---

1 सुद। 2 सुद-ज वृ। 3 जयसेनवृत्ति में १0 वीं गाथा के आगे निम्नांकित २ गाथाए अधिक व्याख्यात हैं -

णाणम्हि भावणा खलु कादव्वा दसणे चरित्ते य।
ते पुण तिण्णि वि आदा तम्हा कुण भावण आदे।।
जो आदभावणमिण णिच्चुवजुत्तो मुणी समाचरदि।
सो सव्वदुक्खमोक्ख पावदि अचिरेण कालेण।।

4 णादव्वो ज वृ। 5 दरसीहिं ज वृ।

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं।
[1]अपदेससुत्तमज्झं पस्सदि जिणसासणं [2]सव्वं।। १५।।

जो पुरुष आत्मा को अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, अविशेष तथा उपलक्षण से नियत और असंयुक्त देखता है वह द्रव्यश्रुत और भावश्रुत रूप समस्त जिन शासन को देखता है - जानता है।। १५।।

आगे दर्शन, ज्ञान और चारित्र निरन्तर सेवन करने योग्य है यह कहते हैं -

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाण [3]तिण्णिवि अप्पाणं चेव णिच्छयदो।। १६।।

साधु पुरुष के द्वारा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र निरन्तर सेवन करने योग्य है और उन तीनों को निश्चय से आत्मा ही जानो। यहा अभेद नय से गुण गुणी में अभेद विवक्षाकर सम्यग्दर्शनादि को तथा आत्मा को एक रूप कहा है।। १६।।

आगे इसी बात को दृष्टान्त और दार्ष्टान्त के द्वारा स्पष्ट करते हैं -

जह णाम को वि पुरिसो रायाणं जाणिऊण सद्दहदि।
तो तं अणुचरदि पुणो अत्थत्थीओ पयत्तेण।। १७।।
एवं हि जीवराया णादव्वो तह य सद्दहेदव्वो।
अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण।। १८।। जुम्मं।

जिस प्रकार धन का चाहने वाला कोई पुरुष पहले राजा को जानकर उसका श्रद्धान करता है और उसके बाद प्रयत्नपूर्वक उसी की सेवा करता है। इसी प्रकार मोक्ष को चाहने वाले पुरुष के द्वारा जीव रूपी राजा जानने योग्य है, श्रद्धान करने योग्य है और फिर सेवा करने योग्य है।

भावार्थ - जिस प्रकार राजा के ज्ञान, श्रद्धान और अनुचरण - सेवा के बिना धन सुलभ नही है उसी प्रकार आत्मा के ज्ञान, श्रद्धान और अनुचरण के बिना मोक्ष सुलभ नही है।। १७-१८।।

आगे यह आत्मा कितने समय तक अप्रतिबुद्ध -अज्ञानी रहता है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं -

कम्मे णोकम्मम्हि य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव[4]।। १९।।

जब तक इस जीव के कर्म और नोकर्म में "मै कर्म, नोकर्म रूप हू और ये कर्म, नोकर्म मेरे हैं" निश्चयय से ऐसी बुद्धि रहती है तब तक वह अप्रतिबुद्ध - अज्ञानी रहता है।। १९।।

आगे अप्रतिबुद्ध और प्रतिबुद्ध जीव का लक्षण कहते हैं -

---

1 अपदिश्यतेऽर्थो येन स भक्त्यपदेश शब्दो द्रव्यश्रुतमिति यावत्, सूत्रपरिच्छित्तिरूपं भावश्रुत ज्ञानसयम इति, तेन शब्दसमयेन वाच्यं परिछेद्यमपदेशसूत्रमध्य भण्यत इति। 2 पन्द्रहवीं गाथा के आगे जयसेनवृत्ति में निम्नाकित गाथा अधिक व्याख्यात है -

आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दसण चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे।। 3 तिण्णिवि ज वृ । 4 उन्नीसवी गाथा के आगे जयसेनवृत्ति में निम्न गाथाए अधिक व्याख्यात हैं
जीवेव अजीवे वा सपदि समयम्हि जत्थ उवजुत्तो।
तत्थेव बंधमोक्खो होदि समासेण णिद्दिट्ठो।।
ज कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स।
णिच्छयदो ववहारा पोग्गलकम्माण कत्तार।।

अहमेदं एदमहं अहमेदस्सेव होमि मम एदं।
अण्णं जं परदव्वं सचित्ताचित्तमिस्सं वा।। २०।।
आसि मम पुव्वमेदं अहमेदं चावि पुव्वकालम्हि।
होहिदि पुणोवि मज्झं अहमेदं चावि होस्सामि।। २१।।
एयत्तु असंभूदं आदवियप्पं करेदि संमूढो।
भूदत्थं जाणंतो ण करेदि दु तं असंमूढो।। २२।।

"चेतन, अचेतन अथवा मिश्र रूप जो कुछ भी परपदार्थ है मैं उन रूप हूं, वे मुझरूप हैं, मैं उनका हूं, वे मेरे हैं, पूर्व समय में वे मेरे थे, मैं उनका था भविष्यत् में वे फिर मेरे होंगे और मैं उनका होऊंगा" जो पुरुष इस प्रकार मिथ्या आत्मविकल्प करता है वह मूढ है - अप्रतिबुद्ध है - अज्ञानी है और जो परमार्थ वस्तु स्वरूप को जानता हुआ उस मिथ्या आत्मविकल्प को नही करता है वह अमूढ है - प्रतिबुद्ध है - ज्ञानी है।

भावार्थ - जो आत्मा को अन्यरूप अथवा अन्य का स्वामी मानता है वह अज्ञानी है और जो आत्मा को आत्मरूप तथा पर को पर रूप जानता है वह ज्ञानी है।। २०-२२।।

आगे अप्रतिबुद्ध को समझाने के लिये उपाय कहते हैं -

अण्णाणमोहिदमदी मज्झमिणं भणदि पुग्गलं दव्वं।
बद्धमबद्धं च तहा जीवो[1] बहुभावसंजुत्तो[2]।। २३।।
सव्वण्हुणाणदिट्ठो जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं।
किह सो पुग्गलदव्वीभूदो जं भणसि मज्झमिणं।। २४।।
जदि सो पुग्गलदव्वीभूदो जीवत्तमागदं इदरं।
तो सत्तो[3] वत्तु[4] जे मज्झमिणं पुग्गलं दव्वं।। २५।।

जिसकी बुद्धि अज्ञान से मोहित हो रही है ऐसा पुरुष कहता है कि यह शरीरादि बद्ध तथा धनधान्यादि अबद्ध पुद्गल द्रव्य मेरा है और यह जीव अनेक भावों से सयुक्त है। इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि सर्वज्ञ के ज्ञान के द्वारा देखा हुआ तथा निरन्तर उपयोग लक्षण वाला जीव पुद्गल द्रव्य रूप किस प्रकार हो सकता है ? जिससे कि तूं कहता है कि यह पुद्गल द्रव्य मेरा है। यदि जीव पुद्गल द्रव्य रूप होता है तो पुद्गल भी जीवपने को प्राप्त हो जावेगा और तभी यह कहा जा सकेगा कि यह पुद्गल द्रव्य मेरा है। पर ऐसा है नहीं।। २३-२५।।

आगे अज्ञानी जीव कहता है -

जदि जीवो ण सरीरं तित्थयरायरियसंथुदी चेव।
सव्वावि हवदि मिच्छा तेण दु आदा हवदि देहो।। २६।।

यदि जीव शरीर नहीं है तो तीर्थंकर तथा आचार्यों की जो स्तुति है वह सभी मिथ्या होती है। इसलिये हम समझते हैं कि आत्मा शरीर ही है।। २६।।

आगे आचार्य समझाते हैं -

ववहारणयो भासदि जीवो देहो य हवदि खलु इक्को।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एकट्ठो।। २७।।

---

1 जीवे ज वृ। 2 बहुभावसजुत्ते ज वृ। 3 सक्का। 4 वुत्तु ज वृ।

व्यवहारनय कहता है कि जीव और शरीर एक है परन्तु निश्चयनय का कहना है कि जीव और शरीर एक पदार्थ कभी नही हो सकते है।। २७।।

आगे व्यवहारनय से शरीर का स्तवन और शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन होता है यह कहते हैं -

इणमण्णं जीवादो देह पुग्गलमयं थुणित्तु मुणी।
मण्णदि हु संथुदो वंदिदो मए केवली भयव।। २८।।

जीव से भिन्न पुद्गलमय शरीर की स्तुति कर मुनि यथार्थ में ऐसा मानता है कि मैंने केवली भगवान् की स्तुति की और वन्दना की।। २८।।

आगे शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन मानना निश्चय की दृष्टि में ठीक नहीं है -

तं णिच्छये ण जुज्जदि ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो।
केवलिगुणे थुणदि जो सो तच्चं केवलिं थुणदि।। २९।।

उक्त स्तवन निश्चय की दृष्टि में ठीक नही है क्योंकि शरीर के गुण केवली के गुण नही है। जो केवली के गुणों की स्तुति करता है वही यथार्थ में केवली की स्तुति करता है।। २९।।

जब आत्मा शरीर का अधिष्ठाता है तब शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन निश्चयनय की दृष्टि में ठीक क्यों नहीं है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं -

णयरम्मि वण्णिदे जह ण वि रण्णो वण्णणा कदा होदि।
देहगुणे थुव्वंते ण केवलिगुणा थुदा होंति।। ३०।।

जिस प्रकार नगर का वर्णन करने पर राजा का वर्णन किया हुआ नहीं होता उसी प्रकार शरीर के गुणों का स्तवन होने पर केवली के गुण स्तुत नही होते।

जिस प्रकार नगर जुदा है, राजा जुदा है, उसी प्रकार शरीर जुदा है और उसमे रहने वाला केवली जुदा है अत शरीर के स्तवन से केवली का स्तवन निश्चयनय ठीक नही मानता है।। ३०।।

आगे निश्चयनय से किस प्रकार स्तुति होती है यह कहते हैं -

जो इंदिये जिणित्ता णाणसहावाधिअं मुणदि आदं।
तं खलु जिदिंदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू।। ३१।।

जो इन्द्रियों को जीतकर ज्ञानस्वभाव मे अधिक आत्मा को जानता है उसे नियम से, जो निश्चय नय में स्थित साधु है वे जितेन्द्रिय कहते हैं।। ३१।।

यह बात फिर कहते हैं -

जो मोहं तु जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणइ आदं।
तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया विंति।। ३२।।

जो मोह को जीतकर ज्ञानस्वभाव से अधिक आत्मा को जानता है उस साधु को परमार्थ के जानने वाले मुनि जितमोह कहते हैं।। ३२।।

यही बात फिर कहते हैं -

जिदमोहस्स दु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स।
तइया हु खीणमोहो भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं।। ३३।।

मोह को जीतने वाले साधु का मोह जिस समय क्षीण हो जाता है - नष्ट हो जाता है उस समय निश्चय के जानने वाले मुनियों के द्वारा वह क्षीणमोह कहा जाता है।। ३३ ।।

आगे ज्ञान ही प्रत्याख्यान है यह कहते हैं -

सव्वे भावा जम्हा पच्चक्खाई परेत्ति णादूणं[1]।

तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेयव्वं[2]।। ३४ ।।

चूंकि ज्ञानी जीव अपने सिवाय समस्त भावों को पर हैं ऐसा जानकर छोडता है इसलिये ज्ञान को ही नियम से प्रत्याख्यान जानना चाहिये।। ३४ ।।

आगे इस विषय को दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं -

जह णाम कोवि पुरिसो परदव्वमिणंति जाणिदुं चयदि।

तह सव्वे परभावे णाऊण विमुंचदे णाणी।। ३५ ।।

जिस प्रकार कोई पुरुष "यह परद्रव्य है" ऐसा जानकर उसे छोड देता है उसी प्रकार ज्ञानी जीव समस्त परभावों को ये पर है ऐसा जानकर छोड देता है।। ३५ ।।

आगे परपदार्थों से भिन्नपना किस प्रकार प्राप्त होता है यह कहते हैं -

णत्थि मम को वि मोहो बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को।

तं मोहणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति।। ३६ ।।

जो ऐसा जाना जाता है कि मोह मेरा कोई भी नही है, मै तो एक उपयोग रूप ही हू उसे आगम के जानने वाले मोह से निर्ममत्वपना कहते है।। ३६ ।।

आगे इसी बात को फिर से कहते हैं -

णत्थि मम धम्मआदी बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को।

तं धम्मणिम्मत्तं समयस्स वियाणया विंति।। ३७ ।।

जो ऐसा जाना जाता है कि धर्म आदि द्रव्य मेरे नही है, मै तो एक उपयोग रूप हू उसे आगम के जानने वाले धर्मादि द्रव्यों से निर्ममत्वपना कहते हैं।। ३७ ।।

आगे रत्नत्रय रूप परिणत आत्मा का चिन्तन किस प्रकार होता है यह कहते हैं -

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइयो सदा रूवी।

णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तं पि।। ३८ ।।

निश्चय से मै एक हू शुद्ध हू, दर्शन-ज्ञानमय हू, सदा अरूपी हू, परमाणुमात्र भी अन्य द्रव्य मेरा कुछ नही है।। ३८ ।।

इस प्रकार जीवाजीवाधिकार में पूर्वरंग समाप्त हुआ।

●

आगे मिथ्यादृष्टि दुर्बुद्धि जीव आत्मा को नहीं जानते यह कहते हैं -

अप्पाणमयाणंता मूढा दु परप्पवादिणो केई।

जीवं अज्झवसाणं कम्मं च तहा परूविंति।। ३९ ।।

---

1 णादूण ज वृ । 2 मुणेदव्व ज वृ ।

अवरे अज्झवसाणेसु तिव्वमंदाणुभावगं जीवं।
मण्णंति तहा अवरे णोकम्मं चावि जीवोत्ति।। ४०।।
कम्मस्सुदयं जीवं अवरे कम्माणुभायमिच्छंति।
तिव्वत्तणमंदत्तणगुणेहिं जो सो हवदि जीवो।। ४१।।
जीवो कम्मं उहयं दोण्णि वि खलु केवि जीवमिच्छंति।
अवरे संजोगेण दु कम्माणं जीवमिच्छंति।। ४२।।
एवंविहा बहुविहा परमप्पाणं वदंति दुम्मेहा।
ते ण परमट्ठवाइहि णिच्छयवाईहिं णिद्दिट्ठा।। ४३।।

आत्मा को न जानने वाले और पर को आत्मा कहने वाले कितने ही पुरुष अध्यवसान को तथा कर्म को जीव कहते हैं। अन्य कितने ही पुरुष अध्यवसान भावों में तीव्र अथवा मन्द अनुभागगत को जीव कहते है। अन्य लोग नोकर्म को जीव मानतेहैं। कोई कर्म के उदय को जीव मानते हैं। कोई ऐसी इच्छा करते हैं कि कर्मों का जो अनुभाग तीव्र अथवा मन्द भाव से युक्त है वह जीव है। कोई जीव तथा कर्म दोनों मिले हुए को ही जीव मानते हैं। और अन्य कोई कर्मों के सयोग से ही जीव इष्ट करते है - मानते है। इस प्रकार बहुत से दुर्बुद्धिजन पर को आत्मा कहते हैं परन्तु वे निश्चयवादियों के द्वारा परमार्थवादी नही कहे गये हैं।। ३९-४३।।

ऐसा कहने वाले सत्यार्थवादी क्यों नहीं हैं ? इसका उत्तर कहते हैं -

एए सव्वे भावा पुग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा।
केवलिजिणेहिं भणिया कह ते जीवो त्ति वच्चंति[1]।। ४४।।

ये सभी भाव पुद्गल द्रव्य के परिणमन से उत्पन्न हुए हैं ऐसा केवली जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहा गया है। फिर वे जीव हैं यह किस प्रकार कहा जा सकता है ?।। ४४।।

जब कि रागादिभाव चैतन्य से सम्बन्ध रखते हैं तब उन्हें पुद्गल के किस प्रकार कहा जाता है ? इसका उत्तर कहते हैं -

अट्ठविहं पि य कम्मं सव्व पुग्गलमयं जिणा विंति।
जस्स फल त वुच्चइ[2] दुक्खं ति विपच्चमाणस्स।। ४५।।

पककर उदय में आने वाले जिस कर्म का प्रसिद्ध फल दु ख कहा जाता है वह आठों प्रकार का कर्म सबका सब पुद्गलमय है ऐसा जिनेन्द्र देव कहते हैं।

भावार्थ - यह आत्मा कर्म का उदय होने पर दु ख रूप परिणमता है और जो दु ख रूप भाव है वह अध्यवसान है। इसलिए दु खरूप भाव में चेतनपने का भ्रम उपजता है। वास्तव में दु ख रूप भाव चेतन नहीं है, कर्मजन्य है अत जड ही है।। ४५।।

आगे शिष्य प्रश्न करता है कि यदि अध्यवसानादि भाव पुद्गल स्वभाव हैं तो उन्हें दूसरे ग्रन्थों में जीव रूप क्यों कहा गया है ? इसका उत्तर कहते हैं -

ववहारस्स दरीसणमुवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं।
जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा।। ४६।।

---

1 उच्चंति ज.वृ । 2 वुच्चदि ज वृ ।

ये सब अध्यवसानादिक भाव जीव है ऐसा जो जिनेन्द्र भगवान् ने वर्णन किया है वह व्यवहारनय का मत है।।४६।।

आगे यह व्यवहार किस दृष्टान्त में प्रवृत्त हुआ यह कहते हैं -

राया हु णिग्गदो त्तिय एसो बलसमुदयस्स आदेसो।
ववहारेण दु उच्चदि तत्थेको णिग्गदो राया।।४७।।
एमेव य ववहारो अज्झवसाणादिअण्णभावाणं।
जीवोत्ति कदो सुत्ते तत्थेको णिच्छिदो जीवो।।४८।।

जैसे कोई राजा सेना सहित निकला। यहां सेना के समूह को यह कहना कि "यह राजा निकला है" व्यवहारनय से कहा जाता है। यथार्थ में उनमें राजा तो एक ही निकला है। इसी प्रकार अध्यवसानादि भावों को "यह जीव है" ऐसा जो आगम में कहा गया है वह व्यवहार नय से कहा गया है, निश्चय से तो उनमें जीव एक ही है।।४७-४८।।

तो फिर जीव का वास्तविक स्वरूप क्या है ? इसका उत्तर कहते हैं -

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं।।४९।।

जो रस रहित है, रूप रहित है, गन्ध रहित है, अव्यक्त है, चेतना गुण से सहित है, शब्द रहित है, जिसका किसी चिह्न अथवा इन्द्रिय द्वारा ग्रहण नही होता और जिसका आकार कहने में नही आता उसे जीव जानो।।४९।।

आगे जीव के रसादि नहीं हैं यह कहते हैं -

जीवस्स णत्थि वण्णो णवि गंधो णवि रसो णवि य फासो।
णवि रूवं ण सरीरं ण वि संठाणं ण संहणणं।।५०।।
जीवस्स णत्थि रागो णवि दोसो णेव विज्जदे मोहो।
णो पच्चया ण कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि।।५१।।
जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव फड्ढया केई।
णो अज्झप्पट्ठाणा णेव य अणुभायठाणाणि।।५२।।
जीवस्स णत्थि केई जोयट्ठाणा ण बंधठाणा वा।
णेव य उदयट्ठाणा ण मग्गणट्ठाणया केई।।५३।।
णो ठिदिबंधट्ठाणा जीवस्स ण संकिलेसठाणा वा।
णेव विसोहिट्ठाणा णो संजमलद्धिठाणा वा।।५४।।
णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स।
जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा।।५५।।

जीव के न वर्ण है, न गन्ध है, न रस है, न स्पर्श है, न रूप[1] है, न शरीर है, न संस्थान है, न सहनन है, न राग है, न द्वेष है, न मोह है, न प्रत्यय[2] है, न कर्म है, न वर्ग है, न वर्गणा है, न कोई स्पर्धक है, न अध्यवसान

1 यत्स्पर्शादिसामान्यपरिणाममात्रं रूप तन्नास्ति जीवस्य - अमृतख्याति। 2 मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगलक्षणा प्रत्यया - अ।

स्थान है, न अनुभाग स्थान है, न कोई योगस्थान है न बन्ध स्थान है, न उदयस्थान है, न मार्गणास्थान है, न स्थितिबन्धस्थान है, न सक्लेशस्थान है न सयमलब्धिस्थान है, न जीवसमास है और न गुणस्थान है, क्योंकि ये सब पुद्गल द्रव्य के परिणाम हैं।। ५०-५५।।

आगे शिष्य प्रश्न करता है कि यदि ये वर्णादि भाव जीव के नही हैं तो अन्य ग्रन्थों में उन्हें जीव के क्यों कहे गये हैं ? इसका समाधान करते हैं -

ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया।
गुणठाणंताभावा ण दु केई णिच्छयणयस्स।। ५६।।

ये वर्ण को आदि लेकर गुणस्थान पर्यन्त भाव व्यवहारनय से जीव के होते है परन्तु निश्चय नय से कोई भी भाव जीव के नहीं है।। ५६।।

आगे निश्चयनय से वर्णादि जीव के क्यों नही हैं ? इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं -

एएहि य संबधो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो।
ण य हुंति तस्स ताणि दु उवओगगुणाधिगो जम्हा।। ५७।।

इन वर्णादि भावों के साथ जीव का सम्बन्ध दूध और पानी के समान जानना चाहिये अर्थात जिस प्रकार दूध और पानी पृथक्-पृथक् होने पर भी एक क्षेत्रावगाह होने से एकरूप मालूम होते है उसी प्रकार जीव और वर्णादि भाव पृथक्-पृथक् होने पर भी एक क्षेत्रावगाह होने से एकरूप जान पडते है। वास्तव में वे उसके नही है क्योंकि जीव उपयोगगुण से अधिक है अर्थात् वर्णादि की अपेक्षा जीव क उपयोगगुण अधिक [illegible] है जो कि जीव को वर्णादि से पृथक् सिद्ध करता है।। ५७।।

आगे दृष्टान्त के द्वारा व्यवहार और निश्चयनय का अविरोध प्रकट करते हैं -

पंथे मुस्संत पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी।
मुस्सदि एसो पथो ण य पथो मुस्सदे कोई।। ५८।।
तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदु वण्ण।
जीवस्स एस वण्णो जिणेहि ववहारदो उत्तो।। ५९।।
[1]गंधरसफासरूवा देहो संठाणमाइया जे य।
सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू[2] ववदिंसति।। ६०।।

जैसे मार्ग में लुटते हुए पुरुष को देखकर व्यवहारी लोग कहने लगते है कि यह मार्ग लुटता है। यथार्थ में विचार किया जाय तो कोई मार्ग नहीं लुटता। उसमें जाने वाले पुरुष ही लुटते हैं। वैसे ही जीव में कर्मों और नोकर्मों का वर्ण देखकर "जीव का यह वर्ण है" ऐसा व्यवहार नय से जिनदेव ने कहा है। इसी प्रकार गन्ध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर, सस्थान आदि जो कुछ है वे सब व्यवहार नय से जीव के है ऐसा निश्चय के देखने वाले कहते है।। ५८-६०।।

आगे वर्णादि के साथ जीव का तादात्म्य क्यों नहीं है ? इसका उत्तर कहते हैं -

तत्थभवे जीवाण संसारत्थाण होंति वण्णादी।
संसारपमुक्काण णत्थि हु वण्णादओ केई।। ६१।।

वर्णादिक, ससार में स्थित जीवों के संसारी दशा में होते है। संसार से छूटे हुए जीवों के निश्चय से

1 एव रसगधफासा सठाणादीय जे समुद्दिट्ठा ज वृ । 2 दु ज वृ ।

वर्णादि कुछ भी नहीं है।

भावार्थ - यदि वर्णादि के साथ जीव का तादात्म्य सम्बन्ध रहता है, तो मुक्त अवस्था में भी उसका सद्भाव पाया जाना चाहिये परन्तु पाया नहीं जाता, इससे सिद्ध है कि जीव के साथ वर्णादि का तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है किन्तु संयोग सम्बन्ध है जो कि पृथक् सिद्ध दो वस्तुओं में होता है।। ६१।।

आगे वर्णादि के साथ जीव का तादात्म्य सम्बन्ध मानने में अन्य दोष प्रकट करते हैं -

जीवो चेव हि एदे सव्वे भावा त्ति मण्णसे जदि हि।
जीवस्साजीवस्स य णत्थि विसेसो दु दे कोई।। ६२।।

यदि तू ऐसा मानता है कि ये वर्णादिक भाव सभी जीव हैं तो तेरे मत में जीव और अजीव का कुछ भेद नही रहेगा।। ६२।।

आगे ससार अवस्था में ही जीव का वर्णादि के साथ तादात्म्य है ऐसा अभिप्राय होने पर भी यही दोष आता है यह कहते हैं -

जदि संसारत्थाणं जीवाण तुज्झ होंति वण्णादी।
तम्हा संसारत्था जीवा रुवित्तमावण्णा।। ६३ ।।
एवं पुग्गलदव्वं जीवो तह लक्खणेण मूढमदी।
णिव्वाणमुवगदो वि य जीवत्तं पुग्गलो पत्तो।। ६४ ।।

यदि ससार में स्थित जीवों के तेरे मत में वर्णादिक तादात्म्य रूप से होते हैं तो इस कारण ससारस्थित जीव रूपीपने को प्राप्त हो गये और ऐसा होने पर पुद्गल द्रव्य जीव सिद्ध हुआ। तथा हे दुर्बुद्धे ' लक्षण की समानता से निर्वाण को प्राप्त हुआ पुद्गल ही जीवपने को प्राप्त हो जावेगा।

भावार्थ - जिसका ऐसा अभिप्राय है कि ससार अवस्था में जीव का वर्णादि के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है उसके मत में जीव ससारी दशा में रुपी हो जावेंगे और चूंकि रुपीपना पुद्गल द्रव्य का असाधारण लक्षण है इसलिये पुद्गल द्रव्य जीवपने को प्राप्त हो जायगा। इतना ही नही, ऐसा होने पर मोक्ष अवस्था में भी पुद्गल द्रव्य ही स्वय जीव हो जायगा क्योंकि द्रव्य सभी अवस्थाओं में अपने अविनश्वर स्वभाव से उपलक्षित रहता है। इस प्रकार पुद्गल से भिन्न जीव द्रव्य का अभाव होने से जीव का अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा। अत निश्चित हुआ कि वर्णादिक भाव पुद्गल द्रव्य के हैं। जीव का उनके साथ तादात्म्य सम्बन्ध न मुक्तदशा में सिद्ध होता है और न ससारी दशा में।। ६३-६४।।

आगे इसी बात को स्पष्ट करते हैं -

एक्कं च दोण्णि तिण्णि य चत्तारि य पंच इंदिया जीवा।
बादरपज्जत्तिदरा पयडीओ णामकम्मस्स।। ६५ ।।
एदेहिं य णिव्वत्ता जीवट्ठाणाउ करणभूदाहिं।
पयडीहिं पुग्गलमइहिं ताहिं कहं भण्णदे जीवो।। ६६ ।।

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पचेन्द्रिय जीव, तथा बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त, अपर्याप्त ये सभी नामकर्म की प्रकृतियां हैं। करण स्वरूप इन प्रकृतियों के द्वारा ही जीव समास रचे गये हैं। अत उन पुद्गल रूप प्रकृतियों के द्वारा रचे हुए को जीव कैसे कहा जा सकता है ?।। ६५-६६।।

आगे कहते हैं कि ज्ञानघन आत्मा को छोडकर अन्य को जीव कहना सो सब व्यवहार है -

पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहुमा बादरा य जे चेव।

देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता।। ६७।।

जो पर्याप्त और अपर्याप्त तथा सूक्ष्म और बादर आदि जितनी शरीर की जीव सज्ञाएं हैं वे सभी आगम में व्यवहारनय से कही गई हैं।। ६७।।

आगे यह भी निश्चित ही है कि रागादि भाव जीव नहीं हैं यह कहते हैं -

मोहणकम्मस्सुदया दु वण्णिया[1] जे इमे गुणट्ठाणा।

ते कह हवंति जीवा जे[2] णिच्चमचेदणा उत्ता।। ६८।।

जो ये गुणस्थान हैं वे मोहकर्म के उदय से होते हैं इस प्रकार वर्णन किया गया है। जो निरन्तर अचेतन कहे गये हैं वे जीव कैसे हो सकते हैं ?।। ६८।।

इस प्रकार जीवाजीवाधिकार पूर्ण हुआ।

कर्तृकर्माधिकार:

आगे कहते हैं कि जब तक यह जीव, आत्मा और आस्रव की विशेषता को नहीं जानता है तब तक अज्ञानी हुआ आस्रव में लीन रहता हुआ कर्मबन्ध करता है -

जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोह्णंपि।

अण्णाणी तावदु सो कोधादिसु वट्टदे जीवो।। ६९।।

कोधादिसु वट्टंतस्स तस्स कम्मस्स संचओ होदी।

जीवस्सेवं बंधो भणिदो खलु सव्वदरसीहिं।। ७०।।

यह जीव जब तक आत्मा और आस्रव इन दोनों में विशेष अन्तर नहीं जानता है तब तक वह अज्ञानी हुआ क्रोधादि आस्रवों में प्रवृत्त रहता है और क्रोधादि आस्रवों में प्रवृत्त रहने वाले जीव के कर्मों का संचय होता है। इस प्रकार जीव के कर्मों का बन्ध सर्वज्ञ जिनेन्द्र देव ने निश्चय से कहा है।। ६९-७०।।

आगे, इस कर्ताकर्म की प्रवृत्ति का अभाव कब होता है ? इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं -

जइया इमेण जीवेण अप्पणो आसवाण य तहेव।

णादं होदि विसेसंतर तु तइया ण बंधा से।। ७१।।

जिस समय इस जीव को आत्मा तथा कर्मों का विशेष अन्तर ज्ञात हो जाता है उसी समय उसके बन्ध नहीं होता है।। ७१।।

आगे पूछते हैं कि ज्ञानभाव से ही बन्ध का अभाव किस प्रकार हो जाता है ? इसका उत्तर कहते हैं -

णादूण आसवाणं असुचित्तं च विवरीयभावं च।

दुक्खस्स कारणं ति य तदो णियत्तिं कुणदि जीवो।। ७२।।

---

1 वण्णिदा ज वृ । 2 ते ज वृ ।

आस्रवों का अशुचिपना और विपरीतपना तथा ये दु ख के कारण है ऐसा जानकर यह जीव उनसे निवृत्ति करता है।। ७२।।

आगे यह जीव आस्रवों से किस विधि से निवृत्त होता है यह कहते हैं -

अहमिक्को खलु सुद्धो णिम्ममओ णाणदंसणसमग्गो।
तह्मि[1] ठिओ तच्चित्तो सव्वे[2] एए खयं णेमि।। ७३ ।।

ज्ञानी जीव ऐसा विचार करता है कि मैं निश्चय से एक हू, शुद्ध हू, ममता रहित हू और ज्ञान-दर्शन से परिपूर्ण हू। उसी ज्ञान-दर्शन स्वभाव में स्थित होता हुआ तथा उसी में चित्त लगाता हुआ मैं इन सब क्रोधादि आस्रवों को क्षय प्राप्त करता हू अर्थात् इसका नाश करता हू।। ७३ ।।

आगे भेदज्ञान और आस्रव की निवृत्ति एक ही समय में होती है यह कहते हैं -

जीवणिबद्धा एए अधुव अणिच्चा तहा असरणा य।
दुक्खा दुक्खफला त्ति य णादूण णिवत्तए[3] तेहिं।। ७४ ।।

जीव के साथ बधे हुए ये आस्रव अध्रुव हैं, अनित्य है, शरणरहित हैं, दु ख है और दु ख के फलस्वरूप है। ऐसा जानकर ज्ञानी जीव उनसे निवृत्ति करता है।। ७४ ।।

आगे ज्ञानी आत्मा की पहिचान बतलाते हैं -

कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं।
ण करेइ एयमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी[4]।। ७५ ।।

जो आत्मा कर्म के परिणाम को और नोकर्म के परिणाम को नही करता है, केवल जानता है, वह ज्ञानी है।

मोह तथा रागद्वेष आदि अन्तर्विकार कर्म के परिणाम हैं और स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द नोकर्म के परिणाम है। ज्ञानी जीव अपने आपको इनका करने वाला कभी नही मानता है, वह सिर्फ उदासीन भाव से इसको जानता मात्र है। ज्ञानी जीव कर्म तथा नोकर्म के परिणाम को जानता ही है, उनमें रागद्वेष आदि की कल्पना नहीं करता है। यही उसकी पहिचान है।। ७५ ।।

आगे पौद्गलिक कर्म को जानने वाले जीव का पुद्गल के साथ कर्तृकर्मभाव है कि नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं -

णवि परिणमइ ण गिह्णइ उपज्जइ ण परदव्वपज्जाये।
णाणी जाणंतो वि हु पुग्गलकम्मं अणेयविहं।। ७६ ।।

ज्ञानी जीव अनेक प्रकार के पौद्गलिक कर्मों को जानता हुआ भी निश्चय से परद्रव्य तथा परपर्याय स्वरूप न परिणमन करता है, न उन्हें ग्रहण करता है और न उनमें उत्पन्न ही होता है।। ७६ ।।

आगे अपने परिणाम को जानने वाले जीव का पुद्गल के साथ कर्तृकर्मभाव है अथवा नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं -

णवि परिणमदि ण गिह्णदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाये।
णाणी जाणंतो वि हु सगपरिणामं अणेयविहं।। ७७ ।।

---

1 किदो ज.वृ । 2 एदे ज वृ । 3 णिवत्तदे तेसु ज वृ । 4 ७५ वीं गाथा के बाद ज वृ में निम्न गाथा अधिक मिलती है -
कत्ता आदा भणिदो ण य कत्ता केण सो उवाएण।
धम्मादी परिणामे जो जाणदि सो हवदि णाणी।।

ज्ञानी जीव अनेक प्रकार के अपने परिणामों को जानता हुआ भी परद्रव्य तथा पर पर्यायरूप न परिणमन करता है, न उन्हें ग्रहण करता है और न उनमें उत्पन्न ही होता है।। ७७।।

आगे पुद्‌गलकर्म के फल को जानने वाले जीव का पुद्‌गल के साथ कर्तृकर्मभाव है अथवा नही ? इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं -

णवि परिणमदि ण गिह्णदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु पुग्गलकम्मफलमणंतं।। ७८।।

ज्ञानी जीव अनन्त पुद्‌गलकर्म के फल को जानता हुआ भी पर द्रव्य और पर पर्याय स्वरूप न परिणमन करता है, न उन्हें ग्रहण करता है और न उनमें उत्पन्न ही होता है।। ७८।।

आगे जीव के परिणाम को, अपने परिणाम को और अपने परिणाम के फल को नही जानने वाले पुद्‌गल द्रव्य का जीव के साथ कर्तृकर्मभाव है अथवा नही ? इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं -

णवि परिणमदि ण गिह्णदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
पुग्गलदव्वं पि तहा परिणमइ सएहिं भावेहिं।। ७९।।

पुद्‌गल द्रव्य भी परद्रव्य तथा परपर्याय रूप न परिणमन करता है, न उन्हें ग्रहण करता है और न उनमें उत्पन्न होता है। वह जीव के ही समान अपने भावों से परिणमन करता है।। ७९।।

आगे कहते हैं कि यद्यपि जीव और पुद्‌गल के परिणाम में परस्पर निमित्तमात्रपना है तथापि उन दोनों में कर्तृकर्मभाव नहीं है -

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ।। ८०।।
णवि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोह्णंपि।। ८१।।
एएण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण।
पुग्गलकम्मकयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं।। ८२।।

जिस प्रकार पुद्‌गल द्रव्य, जिसमें जीव के रागादि परिणाम निमित्त हैं ऐसे कर्मपने रूप परिणमन करते हैं उसी प्रकार जीव भी, जिनमें पुद्‌गलात्मक दर्शनमोह तथा चारित्र मोह आदि कर्म निमित्त हैं ऐसे रागादि भाव रूप परिणमन करते हैं। फिर भी जीव कर्म के गुणों को नही करता है और कर्म जीव के गुणों को नही करता है। दोनों का परिणमन परस्पर के निमित्त से होता है, ऐसा जानो। इस कारण से आत्मा अपने भावों का कर्ता है, पुद्‌गल कर्म के द्वारा किये हुए समस्त भावों का कर्ता नहीं है।। ८०-८२।।

आगे निश्चयनय से आत्मा के कर्तृकर्मभाव और भोक्तृभोग्य भाव का वर्णन करते हैं -

णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि।
वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं।। ८३।।

निश्चयनय का ऐसा मत है कि आत्मा अपने को ही करता है और अपने को ही भोगता है ऐसा जानो।। ८३।।

आगे व्यवहार नय से आत्मा के कर्तृकर्मभाव और भोक्तृभोग्यभाव का उल्लेख करते हैं -

ववहारस्स दु आदा पुग्गलकम्मं करेदि णेयविहं।
तं चेव पुणो वेयइ पुग्गलकम्मं अणेयविहं।। ८४।।

व्यवहारनय का यह मत है कि आत्मा अनेक प्रकार के पुद्गल कर्म को करता है और अनेक प्रकार के उसी पुद्गल कर्म को भोगता है।

आगे व्यवहार नय के मत को दूषित ठहराते हैं -

जदि पुग्गलकम्ममिणं कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा।
[1]दोकिरियावादित्तं पसजदि सम्मं जिणावमदं।। ८५।।

यदि जीव इस पुद्गलकर्म को करता है और इसी को भोगता है तो द्विक्रियावादित्व का प्रसग आता है और वह प्रसंग जिनेन्द्र देव को समत नही।

भावार्थ - दो द्रव्यों की क्रियाए भिन्न ही होती हैं। जड की क्रिया चेतन नहीं करता और चेतन जड की क्रियाए नही करता। जो पुरुष एक द्रव्य को दो क्रियाओं का कर्ता मानता है वह मिथ्यादृष्टि है क्योंकि दो द्रव्यों की क्रिया एक द्रव्य के मानना यह जिन का मत नही है।। ८५।।

आगे दो क्रियाओं का अनुभव करने वाला पुरुष मिथ्यादृष्टि क्यों है ? इसका समाधान करते हैं-

जह्मा दु अत्तभावं पुग्गलभावं च दोवि कुव्वंति।
तेण दु मिच्छादिट्ठी दोकिरियावादिणो हुति।। ८६।।[2]

जिस कारण आत्मभाव और पुद्गल भाव दोनों को आत्मा करता है ऐसा कहते हैं इसलिये द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि हैं।

भावार्थ - जो ऐसा मानते हैं कि आत्मा - आत्मपरिणाम और पुदगल परिणाम दोनों का ही कर्ता है वे एक के दो क्रियाओं के कहने वाले हैं। ऐसा नियम है कि उपादान रूप से एक द्रव्य एक द्रव्य का ही कर्ता हो सकता है अनेक द्रव्यों का नहीं। जो एक द्रव्य को अनेक द्रव्यों का कर्ता मानते हैं वे वस्तु मर्यादा के लोपी होने से मिथ्यादृष्टि हैं।। ८६।।

आगे मिथ्यात्व आदि के जीव अजीव के भेद से दो भेद हैं ऐसा वर्णन करते हैं -

मिच्छत्त पुण दुविहं जीवमजीवं तहेव अण्णाणं।
अविरदि जोगो मोहो कोधादीया इमे भावा।। ८७।।

और वह मिथ्यात्व दो प्रकार का है एक जीव मिथ्यात्व और दूसरा अजीव मिथ्यात्व। इसी प्रकार अज्ञान, अविरति, मोह तथा क्रोधादि कषाय ये सभी भाव जीव-अजीव के भेद से दो प्रकार के हैं।

भावार्थ - द्रव्यकर्म के उदय से जीव में जो मिथ्यात्व आदि का विभाव भावरूप परिणमन होता है वह जीव - चेतन का विकार होने से जीव रूप है तथा उस विभावभाव का कारण जो द्रव्यकर्म है वह पुद्गलात्मक होने से अजीवरूप है।। ८७।।

आगे जो मिथ्यात्वादिक जीव अजीव कहे गये हैं वे कौन हैं ? उनका पृथक्-पृथक् वर्णन करते हैं-

पुग्गलकम्मं मिच्छं जोगो अविरदि अण्णाणमज्जीवं।
उवओगो अण्णाणं अविरइ मिच्छं च जीवो दु।। ८८।।

---

1 दो किरिया। 2 ८६ वीं गाथा के आगे ज वृ में निम्नांकित गाथा अधिक व्याख्यात है -
पुग्गलकम्मणिमित्तं जह आदा कुणदि अप्पणो भाव।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तह वेददि अप्पणो भाव।।

जो मिथ्यात्व, योग, अविरति तथा अज्ञान अजीव हैं वे पुद्गल कर्म हैं और जो अज्ञान, अविरति तथा मिथ्यात्व जीव हैं वे उपयोगरूप हैं।। ८८।।

मिथ्यात्व आदि भाव चैतन्य परिणाम के विकार क्यों हैं ? इसका उत्तर कहते हैं -

उवओगस्स अणाई परिणामा तिण्णि मोहजुत्तस्स।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदिभावो य णायव्वो।। ८९।।

मोह से युक्त उपयोग के तीन परिणाम अनादि कालीन हैं। वे मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति भाव जानना चाहिए।। ८९।।

आगे आत्मा इन तीन प्रकार के परिणाम रूप विकारों का कर्ता है यह कहते हैं -

एएसु य उवओगो तिविहो सुद्धो णिरंजणो भावो।
जं सो करेदि भावं उवओगो तस्स सो कत्ता।। ९०।।

मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति इन तीनों का अनादि निमित्त होने पर आत्मा का उपयोग निश्चय नय से शुद्ध निरंजन तथा एक होकर मिथ्यात्व आदि तीन भाव रूप परिणमन करता है। वह आत्मा इन तीनों में से जिस भाव को करता है वह उसी का कर्ता होता है।। ९०।।

आगे कहते हैं कि जब आत्मा मिथ्यात्व आदि तीन विकाररूप परिणमन करता है तब पुद्गल द्रव्य स्वय कर्मरूप परिणत हो जाता है -

जं कुणइ भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स।
कम्मत्तं परिणमदे तम्हि सयं पुग्गलं दव्वं।। ९१।।

आत्मा जिस भाव को करता है वह उस भाव का कर्ता होता है और आत्मा के कर्ता होने पर पुद्गल द्रव्य स्वय कर्म रूप परिणत हो जाता है।। ९१।।

आगे अज्ञान ही कर्मों का करने वाला है यह कहते हैं -

परमप्पाणं कुव्वं अप्पाणं पि य परं करिंतो सो।
अण्णाणमओ जीवो कम्माण कारगो होदि।। ९२।।

पर को अपना और अपने को पर का करता हुआ अज्ञानी जीव ही कर्मों का कर्ता होता है।। ९२।।

आगे ज्ञान से कर्म नहीं उत्पन्न होता यह कहते हैं -

परमप्पाणमकुव्वं अप्पाणं पि य परं अकुव्वंतो।
सो णाणमओ जीवो कम्माणमकारओ होदि।। ९३।।

जो जीव पर को अपना नहीं करता है और अपने को पर नहीं करता है वह ज्ञानमय है। ऐसा जीव कर्मों का कर्ता नहीं होता है।। ९३।।

आगे अज्ञान से कर्म क्यों उत्पन्न होते हैं ? इसका उत्तर देते हैं -

तिविहो एसुवओगो[1] अप्पवियप्पं करेइ कोहो हं।
कत्ता तस्सुवओगस्स होइ सो अत्तभावस्स।। ९४।।

यह तीन प्रकार का उपयोग अपने में विकल्प करता है कि "मैं क्रोध रूप हूं"[2] उस अपने उपयोग भाव का वह कर्ता होता है।। ९४।।

---

1 अस्स वियप्प ज वृ। 2 एवमेव च क्रोधपदपरिवर्तनेनमानमायालोभमोहरागद्वेषकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुघ्राणरसनस्पर्शसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि ज म।

आगे इसी प्रकार और भी विकल्प करता है यह कहते हैं -

तिविहो एसुवओगो[1] अप्पवियप्पं करेदि धम्माई।

कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्तभावस्स।। ६५।।

यह तीन प्रकार का उपयोग धर्मादि द्रव्यरूप आत्मविकल्प करता है। अर्थात् उन्हें अपना मानता है उस अपने उपयोग भाव का वह कर्ता होता है।। ६५।।

आगे यह सब अज्ञान की महिमा है यह कहते हैं -

एवं पराणि दव्वाणि अप्पयं कुणदि मंदबुद्धीओ।

अप्पाणं अवि य परं करेइ अण्णाणभावेण।। ६६।।

इस प्रकार अज्ञानी जीव अज्ञानभाव से परद्रव्यों को अपने रूप करता है और आत्मद्रव्य को पर रूप करता है।। ६६।।

आगे इस कारण यह निश्चित हुआ कि ज्ञान से जीव का कर्तापन नष्ट होता है, यह कहते हैं -

एदेण दु सो कत्ता आदा णिच्छयविदूहिं परिकहिदो।

एवं खलु जो जाणदि सो मुंचदि सव्वकत्तित्तं।। ६७।।

निश्चय के जानने वालों ने कहा है कि इस अज्ञानभाव से ही जीव कर्ता होता है। इसे जो जानता है वह यथार्थ में सब प्रकार का कर्तृत्व छोड देता है।। ६७।।

व्यवहारी लोग जो ऐसा कहते हैं कि -

ववहारेण दु[2] एवं करेदि घडपडरथाणि दव्वाणि।

करणाणि य कम्माणि य णोकम्माणीह विविहाणि।। ६८।।

आत्मा व्यवहार से घट, पट, रथ इन वस्तुओं को, चक्षुरादि इन्द्रियों को, ज्ञानावरणादि कर्मों को और इस लोक में स्थित अनेक प्रकार के नोकर्मों को - शरीरों को करता है।। ६८।।

वह ठीक नही है -

जदि सो परदव्वाणि य करिज्ज णियमेण तम्मओ होज्ज।

जह्मा ण तम्मओ तेण सो ण तेसिं हवदि कत्ता।। ६६।।

यदि वह आत्मा पर द्रव्यों को करे तो नियम पूर्वक तन्मय हो जाय परन्तु तन्मय नहीं होता इसलिये वह उनका कर्ता नहीं है।

भावार्थ - जिसका जिसके साथ व्याप्य-व्यापकभाव होता है वही उसका कर्ता होता है। आत्मा का घट-पटादि पर वस्तुओं के साथ व्याप्य-व्यापकभाव त्रिकाल में भी नहीं होता अत वह उनका कर्ता व्यवहार से भी कैसे हो सकता है ?।। ६६।।

आगे कहते हैं कि निमित्त-नैमित्तिक भाव से भी आत्मा घटादि पर द्रव्यों का कर्ता नहीं है -

जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे।

जोगुवओगा उप्पादगा य[3] तेसिं हवदि कत्ता।। १००।।

जीव न घट को करता है, न पट को करता है और न शेष अन्य द्रव्यों को करता है। जीव के योग

1 अस्स वियप्प असद्विकल्प ज वृ । 2 अत्र "आदा" इत्यपि पाठ। 3 सा तास ज वृ ।

और उपयोग ही घट-पटादि के कर्ता हैं, उनके उत्पादन में निमित्त हैं। यह जीव उन्ही योग और उपयोग का कर्ता है।। १००।।

आगे ज्ञानी ज्ञान का ही कर्ता है यह कहते हैं-

जे पुग्गलदव्वाण परिणामा होंति णाणआवरणा।
ण करेदि ताणि आदा जो जाणदि सो हवदि णाणी।। १०१।।

जो ज्ञानावरणादिक पुद्गल द्रव्यों के परिणाम हैं उन्हें आत्मा नहीं करता है। जो उन्हें केवल जानता है वह ज्ञानी है।। १०१।।

आगे अज्ञानी भी पर भाव का कर्ता नहीं है यह कहते हैं -

जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता।
तं तस्स होदि कम्मं सो तस्स दु वेदगो अप्पा।। १०२।।

आत्मा जिस शुभ-अशुभ भाव को करता है निश्चय से वह उसका कर्ता होता है। वह भाव उस आत्मा का कर्म होता है और वह आत्मा उस भाव रूप कर्म का भोक्ता होता है।। १०२।।

आगे कहते हैं कि परभाव किसी के द्वारा नहीं किया जा सकता -

जे जम्हि गुणो[1] दव्वे सो अण्णह्मि दु ण संकमदि दव्वे।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं।। १०३।।

जो गुण जिस द्रव्य में रहता है वह अन्य द्रव्य में सक्रान्त नहीं होता - बदलकर अन्य द्रव्य में नहीं जाता। फिर अन्य द्रव्य में संक्रान्त नही होने वाला गुण अन्य द्रव्य को कैसे परिणामा सकता है ?।। १०३।।

इस कारण यह सिद्ध हुआ कि आत्मा पुद्गल कर्मों का अकर्ता है यह कहते हैं -

दव्वगुणस्स य आदा ण कुणदि पुग्गलमयह्मि कम्मह्मि।
तं उभयमकुव्वंतो तह्मि कहं तस्स सो कत्ता।। १०४।।

आत्मा पुद्गलमय कर्म में द्रव्य तथा गुण को नही करता है फिर उसमे उन दोनों को नही करता हुआ वह आत्मा उस पुद्गलमय कर्म का कर्ता कैसे हो सकता है ?।। १०४।।

आगे, आत्मा द्रव्यकर्म करता है यह जो कहा जाता है वह केवल उपचार है ऐसा कहते हैं -

जीवह्मि हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं।
जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयारमत्तेण।। १०५।।

जीव के निमित्त रहते हुए कर्म बन्ध का परिणाम देखकर उपचार मात्र से ऐसा कहा जाता है कि जीव ने कर्म किये है।। १०५।।

आगे इस उपचार को दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं -

जोधेहिं कदे जुद्धे राएण कदति जंपदे लोगो।
तह ववहारेण कदं णाणावरणादि जीवेण।। १०६।।

जिस प्रकार से योद्धाओं के द्वारा युद्ध किये जाने पर लोग ऐसा कहते हैं कि युद्ध राजा ने किया है, इसी प्रकार व्यवहार से ऐसा कहा जाता है कि जीव ने ज्ञानावरणादि कर्म किये हैं।। १०६।।

इससे यह बात सिद्ध हुई कि -

1 गुणे इत्यात्मख्यातिसम्मत पाठ ।

उप्पादेदि करेदि य बंधदि परिणामएदि गिण्हदि य।
आदा पुग्गलदव्वं ववहारणयस्स वत्तव्वं।। १०७।।

आत्मा पुद्गल द्रव्य को उत्पन्न करता है, बांधता है, परिणमाता है तथा ग्रहण करता है यह सब व्यवहार नय कहता है।। १०७।।

आगे इसी बात को दृष्टान्त के द्वारा स्पष्ट करते हैं -

जह राया ववहारा दोसगुणुप्पादगोत्ति आलविदो।
तह जीवो ववहारा दव्वगुणुप्पादगो भणिदो।। १०८।।

जिस प्रकार राजा दोष और गुण का उत्पादक है ऐसा व्यवहार से कहा गया है उसी प्रकार जीव, द्रव्य और गुण का उत्पादक है ऐसा व्यवहार से कहा गया है।

भावार्थ - जिस प्रकार प्रजा में दोष और गुण स्वयं उत्पन्न होते हैं परन्तु व्यवहार ऐसा होता है कि ये दोष और गुण राजा ने उत्पन्न किये हैं। उसी प्रकार पुद्गल द्रव्य में ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमन स्वयं होता है परन्तु व्यवहार ऐसा होता है कि ये ज्ञानावरणादि कर्म जीव ने किये हैं।। १०८।।

आगे कोई प्रश्न करता है कि यदि पुद्गल कर्म को जीव नहीं करता है तो दूसरा कौन करता है ? इसका उत्तर कहते हैं -

सामण्णपच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो।
मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य बोद्धव्वा।। १०९।।
तेसिं पुणोवि य इमो भणिदो भेदो दु तेरसवियप्पो।
मिच्छादिट्ठी आदी जाव सजोगिस्स चरमंतं।। ११०।।
एदे अचेदणा खलु पुग्गलकम्मुदयसंभवा जह्मा।
ते जदि करंति कम्मं णवि तेसिं वेदगो आदा।। १११।।
गुणसण्णिदा दु एदे कम्मं कुव्वंति पच्चया जह्मा।
तह्मा जीवोऽकत्ता गुणा य कुव्वंति कम्माणि।। ११२।।

यथार्थ में चार सामान्य प्रत्यय बन्ध के करने वाले कहे जाते हैं। वे चार मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग जानना चाहिये। फिर उन प्रत्ययों को तेरह भेदरूप कहा गया है जो कि मिथ्यादृष्टि को आदि लेकर सयोगकेवली पर्यन्त हैं। ये सब भेद चूंकि पुद्गलकर्म के उदय से होते हैं इसलिये यथार्थ में अचेतन हैं। यदि ये कर्म करते है तो आत्मा उनका भोक्ता नही होता। ये प्रत्यय गुणसंज्ञा वाले हैं क्योंकि कर्म करते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि जीव कर्मों का अकर्ता है और गुण ही कर्म करते हैं।। १०९-११२।।

आगे कहते हैं कि जीव और प्रत्ययो में एकपना नहीं है -

जह जीवस्स अणण्णुवओगो कोहो वि तह जदि अणण्णो।
जीवस्साजीवस्स य एवमणण्णत्तमावण्णं।। ११३।।
एवमिह जो दु जीवो सो चेव दु णियमदो तहा जीवो।
अयमेयत्ते दोसो पच्चयणोकम्मकम्माणं।। ११४।।

अह दे अण्णो कोहो अण्णुवओगप्पगो हवदि चेदा।
जह कोहो तह पच्चय कम्मं णोकम्ममवि अण्णं।। ११५।।

जिस प्रकार उपयोग जीव से अनन्य है - अभिन्न है - एकरूप है उसी प्रकार यदि क्रोध भी अनन्य माना जावे तो ऐसा मानने से जीव तथा अजीव में एकता की आपत्ति आती है और इस आपत्ति से इस लोक में जो जीव है वही नियम से अजीव हो जावेगा। क्रोध के साथ जीव की एकता मानने में जो दोष आता है वही दोष मिथ्यात्वादि चार प्रत्यय, नोकर्म तथा कर्मों के साथ एकता मानने में भी आता है। इस दोष से बचने के लिये यदि तुम्हारा यह मत हो कि क्रोध अन्य है और उपयोगात्मक आत्मा अन्य है तो जिस प्रकार क्रोध को अन्य मानते हो उसी प्रकार प्रत्यय, कर्म तथा नोकर्म को भी अन्य मानो।। ११३-११५।।

आगे साख्यमतानुयायी शिष्य के प्रति पुद्गलद्रव्य का परिणाम स्वभाव सिद्ध करते हैं -

जीवेण सयं बद्धं ण सयं परिणमदि कम्मभावेण।
जइ पुग्गलदव्वमिणं अप्परिणामी तदा होदि।। ११६।।
कम्मइयवग्गणासु य अपरिणमंतीसु कम्मभावेण।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा।। ११७।।
जीवो परिणामयदे पुग्गलदव्वाणि कम्मभावेण।
ते सयमपरिणमंते कहं तु परिणामयदि चेदा।। ११८।।
अह सयमेव हि परिणमदि कम्मभावेण पुग्गलं दव्वं।
जीवो परिणामयदे कम्मं कम्मत्तमिदि मिच्छा।। ११९।।
णियमा कम्मपरिणदं कम्मं पि य होदि पुग्गलं दव्वं।
तह तं णाणावरणाइपरिणदं मुणसु तच्चेव।। १२०।।

पुद्गल द्रव्य जीव में न तो स्वय बंधा है और न कर्म भाव से स्वय परिणमन करता है यदि ऐसा माना जाव तो वह अपरिणामी हो जावगा और कार्मणवर्गणाएं जब कर्म रूप परिणमन नहीं करेंगी तो संसार का अभाव हो जायगा अथवा साख्यमत का प्रसंग आ जायेगा। इससे बचने के लिये यदि यह मानो कि जीव, पुद्गल द्रव्य को कर्म रूप परिणमन कराता है तो जो पुद्गल द्रव्य स्वयं परिणमन नहीं करता है उसे आत्मा कैसे परिणमन करा सकता है ? यदि यह कहो कि पुद्गल द्रव्य कर्मरूप स्वयं परिणमन करता है तो यह कहना मिथ्या हो जायगा कि जीव कर्म को कर्मत्व रूप से परिणमन कराता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि पुद्गल द्रव्य कर्म रूप परिणत हुआ नियम से कर्म रूप होता है। ऐसा होने पर ज्ञानावरणादि रूप परिणत पुद्गल द्रव्य को ही कर्म जानो।। ११६-१२०।।

आगे सांख्यमतानुयायी शिष्य के प्रति जीव का परिणामीपना सिद्ध करते हैं -

ण सयं बद्धो कम्मे ण सयं परिणमदि कोहमादीहिं।
जइ एस तुज्झ जीवो अप्परिणामी तदा होदी।। १२१।।
अपरिणमंतम्हि सयं जीवे कोहादिएहिं भावेहिं।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा।। १२२।।
पुग्गलकम्मं कोहो जीवं परिणामएवि कोहत्तं।
तं सयमपरिणमंतं कहं णु परिणामयदि कोहो।। १२३।।

अह सयमप्पा परिणमदि कोहभावेण एस दे बुद्धी।
कोहो परिणामयदे जीवं कोहत्तमिदि मिच्छा।। १२४।।
कोहुवजुत्तो कोहो माणुवजुत्तो य माणमेवादा।
माउवजुत्तो माया लोहुवजुत्तो हवदि लोहो[1]।। १२५।।

यदि तेरा ऐसा मत है कि यह जीव कर्मों में न स्वयं बंधा है और न क्रोधादिरूप स्वयं परिणमन करता है तो अपरिणामी हो जायगा और जब जीव क्रोधादि भाव रूप स्वयं परिणम नहीं करेगा तो संसार का अभाव हो जायगा अथवा सांख्यमत का प्रसंग आ जायगा। इससे बचने के लिये यदि यह कहेगा कि पुद्गल कर्म रूप क्रोध, जीव को क्रोध रूप परिणमाता है तो उसके उत्तर में कहना यह है कि जब जीव स्वयं परिणमन नहीं करता है तब उसे क्रोध कैसे परिणमावेगा। अथवा तुम्हारा यह अभिप्राय हो कि आत्मा स्वयं क्रोधभाव से परिणमन करता है तो क्रोध नामक द्रव्यकर्म, जीव को क्रोधरूप परिणमाता है यह कहना मिथ्या सिद्ध होगा। इस कथन से यह बात सिद्ध हुई कि जब आत्मा क्रोध से उपयुक्त होता है तब क्रोध ही है, जिस समय मान से उपयुक्त होता है उस समय मान ही है, जब माया से उपयुक्त होता है तब माया ही है और जब लोभ से उपयुक्त होता है तब लोभ ही है।। १२१-१२५।।

आगे कहते हैं कि आत्मा जिस समय जो भाव करता है उस समय वह उसका कर्ता होता है -

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स कम्मस्स[2]।
णाणिस्स दु णाणमओ अण्णाणमओ अणाणिस्स।। १२६।।

आत्मा जिस भाव को करता है उस भाव रूप कर्म का कर्ता होता है। वह भाव ज्ञानी जीव के ज्ञानमय होता है और अज्ञानी जीव के अज्ञानमय होता है।। १२६।।

आगे ज्ञानमय भाव से क्या होता है और अज्ञानमय भाव से क्या होता है ? इसका उत्तर कहते हैं-

अण्णाणमओ भावो अण्णाणिओ कुणदि तेण कम्माणि।
णाणमओ णाणिस्स दु ण कुणदि तह्मा दु कम्माणि।। १२७।।

अज्ञानी जीव के अज्ञानमय भाव होता है इसलिये वह कर्मों को करता है और ज्ञानी जीव के ज्ञानमय भाव होता है इसलिये कर्मों को नहीं करता है।। १२७।।

आगे ज्ञानी जीव के ज्ञानमय ही भाव होता है अन्य नहीं। इसी प्रकार अज्ञानी जीव के अज्ञानमय ही भाव होता है अन्य नहीं। ऐसा नियम क्यों है ? इसका उत्तर कहते हैं -

णाणमया भावाओ णाणमओ चेव जायदे भावो।
जम्हा तम्हा णाणिस्स सव्वे भावा हु णाणमया।। १२८।।
अण्णाणमया भावा अण्णाणो चेव जायए भावो।
जम्हा तम्हा भावा अण्णाणमया अणाणिस्स।। १२९।।

---

1 १२५ वी गाथा के आगे ज वृ. में निम्नलिखित 3 गाथाओं की व्याख्या अधिक की गई है -
जो संग तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं।
तं णिस्संगं साहु परमट्ठवियाणया विंति।।
जो मोहं तु मुइत्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं।
तं जिदमोहं साहु परमट्ठवियाणया विंति।।
जो धम्मं तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं।
तं धम्मसंगमुक्कं परमट्ठवियाणया विंति।।   2 भावस्स ज वृ ।

चूंकि ज्ञानमय भाव से ज्ञानमय भाव ही उत्पन्न होता है इसलिये ज्ञानी जीव के सभी भाव ज्ञानमय ही होते हैं और अज्ञानमय भाव से अज्ञानमय ही भाव उत्पन्न होता है इसलिये अज्ञानी जीव के सभी भाव अज्ञानमय ही होते हैं।। १२८-१२६।।

आगे यही बात दृष्टान्त से सिद्ध करते हैं -

कणयमया भावादो जायंते कुंडलादयो भावा।
अयमययया भावादो जह जायंते तु कडयादी।। १३०।।
अण्णाणमया भावा अणाणिणो बहुविहा वि जायंते।
णाणिस्स दु णाणमया सव्वे भावा तहा होंति।। १३१।।

जिस प्रकार सुवर्णमय भाव से सुवर्णमय कुण्डलादि भाव होते हैं और लोहमय भाव से लोहमय कटकादि भाव होते हैं उसी प्रकार अज्ञानी के अज्ञानमय भाव से अनेक प्रकार के अज्ञानमय भाव होते हैं और ज्ञानी के ज्ञानमय भाव से सभी ज्ञानमय भाव होते हैं।। १३०-१३१।।

आगे अज्ञान आदि का स्वरूप बतलाते हुए उक्त बात को स्पष्ट करते हैं -

अण्णाणस्स स उदओ जं जीवाणं अतच्चउवलद्धी।
मिच्छत्तस्स दु उदओ जीवस्स असद्दहाणत्तं।। १३२।।
उदओ असंजमस्स दु जं जीवाणं हवेइ अविरमणं।
जो दु कलुसोवओगो जीवाणं सो कसाउदओ।। १३३।।
तं जाण जोगउदअं जो जीवाणं तु चिट्ठउच्छाहो।
सोहणमसोहणं वा कायव्वो विरदिभावो वा।। १३४।।
एदेसु हेदुभूदेसु कम्मइयवग्गणागयं जं तु।
परिणमदे अट्ठविहं णाणावरणादिभावेहिं।। १३५।।
तं खलु जीवणिबद्धं कम्मइयवग्गणागयं जइया।
तइया दु होदि हेदू जीवो परिणामभावाणं।। १३६।।

जीवों के जो अतत्वोपलब्धि है - तत्वों का मिथ्या जानना है वह अज्ञान का उदय है और जीव के जो तत्व का अश्रद्धानपना है वह मिथ्यात्व का उदय है। जीवों के जो विरति का अभाव है - अत्यागभाव है वह असंयम का उदय है। जीवों के जो मलिन उपयोग है वह कषाय का उदय है और जीवों के जो शुभ-अशुभ कार्य रूप अथवा उनकी निवृत्तिरूप चेष्टा का उत्साह है उसे योग का उदय जानो। हेतुभूत इन प्रत्ययों के रहने पर कार्मण वर्गणा रूप से आया हुआ जो द्रव्य है वह ज्ञानावरणादि आठ प्रकार परिणमन करता है। कार्मण वर्गणा में आया हुआ द्रव्य जिस समय निश्चय से जीव के साथ बधता होता है उस समय उन अज्ञानादि भावों का कारण जीव होता है।। १३२-१३६।।

आगे कहते हैं कि जीव का परिणाम पुद्गल द्रव्य से जुदा है -

जीवस्स दु कम्मेण य सह परिणामा हु होंति रागादी।
एवं जीवो कम्मं च दो वि रागादिमावण्णा।। १३७।।

एकस्स दु परिणामो जायदि जीवस्स रागमादीहिं।

ता कम्मोदयहेदूहिं विणा जीवस्स परिणामो।। १३८।।

यदि ऐसा माना जाय कि जीव के जो रागादि परिणाम है वे कर्म के साथ ही होते है तो ऐसा मानने से जीव तथा कर्म दोनों ही रागादि भाव को प्राप्त हो जावेंगे और ऐसा होने पर पुद्गल में भी चेतनपना प्राप्त हो जायेगा जो कि प्रत्यक्ष विरुद्ध है। यदि इस दोष से बचने के लिये ऐसा माना जाय कि ये रागादि रूप परिणाम एक जीव के ही होते हैं तो कर्मोदय रूप हेतु के विना जीव के परिणाम हो जावेंगे और उस दशा में मुक्त जीव के भी उनका सद्भाव अनिवार्य हो जावेगा।

इन गाथाओं का द्वितीय व्याख्यान इस प्रकार है -

यदि ऐसा माना जाय कि जीव के रागादि परिणाम कर्मों के साथ ही होते हैं तो ऐसा मानने से जीव तथा कर्म दोनों ही रागादि भाव को प्राप्त होते हैं। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि रागादिरूप परिणाम एक जीव के ही उत्पन्न होता है। वह कर्म का उदयरूप निमित्त कारण से पृथक् एक जीव का ही परिणाम है।। १३७-१३८।।

आगे कहते हैं कि पुद्गल द्रव्य का कर्म रूप परिणमन जीव से जुदा है -

जइ जीवेण सहच्चिय पुग्गलदव्वस्स कम्मपरिणामो।

एवं पुग्गलजीवा हु दोवि कम्मत्तमावण्णा।। १३९।।

एकस्स दु परिणामो पुग्गलदव्वस्स कम्मभावेण।

ता जीवभावहेदूहिं विणा कम्मस्स परिणामो।। १४०।।

यदि ऐसा माना जाय कि पुद्गल द्रव्य का जो कर्म रूप परिणाम है वह जीव के साथ ही होता है तो ऐसा मानने पर पुद्गल और जीव दोनों ही कर्मभाव को प्राप्त हो जावेंगे इसलिये यह सिद्ध हुआ कि कर्म रूप से परिणाम एक पुद्गल द्रव्य के ही होता है और वह परिणाम जीव भाव रूप निमित्त कारण से पृथक् पुद्गलकर्म का ही है।। १३९-१४०।।

आगे पूछते हैं कि कर्म आत्मा में बद्धस्पृष्ट है या अबद्धस्पृष्ट है ? इसका उत्तर नय विभाग से कहते हैं -

जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं।

सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवइ कम्म।। १४१।।

जीव में कर्म बद्ध है तथा स्पृष्ट है यह व्यवहारनय का कहना है और कर्म जीव में अबद्धस्पृष्ट है यह शुद्धनय - निश्चयनय का वचन है।। १४१।।

आगे कहते हैं कि ये दोनों नयपक्ष हैं, समयसार इन नय पक्षों से परे है -

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं।

पक्खातिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो।। १४२।।

जीव में कर्म बंधे हुए है अथवा नहीं बंधे हुए ऐसा तो नयपक्ष जानो और जो इस पक्ष से अतिक्रान्त - दूरवर्ती कहा जाता है वह समयसार है।। १४२।।

आगे पक्षातिक्रान्त का क्या स्वरूप है ? यह कहते हैं -

दोण्हवि णयाण भणियं जाणइ णवरं तु समयपडिबद्धो।

ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचिवि णयपक्खपरिहीणो।। १४३।।

जो पुरुष अपने शुद्ध आत्मा से प्रतिबद्ध हो दोनों ही नयों के कथन को केवल जानता है किन्तु किसी भी नय पक्ष को ग्रहण नहीं करता वह नय पक्ष से परिहीन है - पक्षातिक्रान्त है।। १४३।।

आगे पक्षातिक्रान्त ही समयसार है यह कहते हैं -

सम्मद्दंसणणाणं एदं लहदित्ति णवरि ववदेसं।

सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो।। १४४।।

जो सब नयपक्षों से रहित है वही समयसार कहा गया है। यह समयसार ही केवल सम्यग्दर्शन-ज्ञान इस नाम को प्राप्त होता है।। १४४।।

इस प्रकार कर्तृकर्म नाम का द्वितीय अधिकार पूर्ण हुआ।

*

पुण्यपापाधिकारः

आगे शुभाशुभ कर्म के स्वभाव का वर्णन करते हैं -

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं।

किह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि।। १४५।।

अशुभकर्म को कुशील और शुभकर्म को सुशील जानो, परन्तु जो जीव को ससार में प्रवेश कराता है वह सुशील कैसे हो सकता है।। १४५।।

आगे दोनों ही कर्म सामान्य रूप से बन्ध के कारण हैं यह सिद्ध करते हैं -

सोवण्णियह्मि णियलं बंधदि कालायसं च जह पुरिसं।

बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं।। १४६।।

जिस प्रकार लोहे की बेडी पुरुष को बाधती है और सुवर्ण की भी। इसी प्रकार किया हुआ शुभ अथवा अशुभ कर्म जीव को बाधता ही है।। १४६।।

आगे दोनों ही कर्मों का निषेध करते हैं -

तम्हा दु कुसीलेहिय रायं मा कुणह मा व संसग्गं।

साधीणो हि विणासो कुसीलसंसग्गरायेण।। १४७।।

हे मुनिजन ! उन दोनों कुशीलो से राग मत करो अथवा संसर्ग भी मत करो क्योंकि कुशील के संसर्ग और राग से स्वाधीनता का विनाश होता है।। १४७।।

जह णाम कोवि पुरिसो कुच्छियसीलं जणं वियाणित्ता।

वज्जेदि तेण समयं संसग्गं रायकरणं च।। १४८।।

एमेव कम्मपयडी सीलसहावं हि कुच्छिदं णाउं।

वज्जंति परिहरंति य तस्संसग्गं सहावरया।। १४९।।

जिस प्रकार कोई मनुष्य निन्दित स्वभाव वाले किसी मनुष्य को जानकर उसके साथ संगति और राग करना छोड देता है उसी प्रकार स्वभाव में रत रहने वाले मनुष्य कर्म प्रकृतियों के शील स्वभाव को निन्दनीय जानकर उसके साथ राग छोड देते है और उसकी संगति का भी परिहार कर देते है।। १४८-१४९।।

आगे राग ही बन्ध का कारण है यह कहते हैं -

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपत्तो[1]।

एसो जिणोवदेसो तह्मा कम्मेसु मा रज्ज।। १५०।।

रागी जीव कर्म को बांधता है और वैराग्य को प्राप्त हुआ कर्म से छूटता है यह जिनेन्द्र भगवान् का उपदेश है इसलिये कर्मों में राग मत करो।। १५०।।

आगे ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है यह सिद्ध करते हैं -

परमट्ठो खलु समओ सुद्धो जो केवली मुणी णाणी।

तह्मि ठिदा सहावे मुणिणो पावंति णिव्वाणं।। १५१।।

निश्चय से परमार्थ रूप जीव का स्वरूप यह है कि जो शुद्ध है, केवली है, मुनि है, ज्ञानी है ये जिसके नाम हैं उस स्वभाव में स्थित हुए मुनि निर्वाण को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ - मोक्ष का उपादान कारण आत्मा है और आत्मा परमार्थ से ज्ञानस्वभाव वाला है इसलिये ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है।। १५१।।

आगे परमार्थ में स्थित नहीं रहने वाले पुरुषों का तपश्चरणादिक बालतप और बालव्रत है ऐसा कहते हैं -

परमट्ठम्हि दु अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारेई।

तं सव्वं बालतवं बालवदं विंति सव्वण्हू।। १५२।।

जो मुनि ज्ञानस्वरूप आत्मा में स्थित न होकर तप करते हैं और व्रत धारण करते हैं उस सब तप और व्रत को सर्वज्ञ देव बालतप और बालव्रत कहते हैं।। १५२।।

आगे ज्ञान मोक्ष का और अज्ञान बन्ध का कारण है यह नियम करते हैं -

वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता।

परमट्ठबाहिरा जे णिव्वाणं ते[2] ण विंदंति।। १५३।।

जो मनुष्य परमार्थ से बाह्य हैं वे व्रत और नियमों को धारण करते हुए तथा शील और तप को करते हुए भी मोक्ष को नहीं पाते हैं।। १५३।।

आगे फिर भी पुण्य कर्म का पक्षपात करने वालों को समझाने के लिये कहते हैं -

परमट्ठबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति।

संसारगमणहेदुं वि मोक्खहेउं अजाणंता।। १५४।।

जो मनुष्य परमार्थ से बाह्य हैं अर्थात् परमार्थभूत ज्ञानस्वरूप आत्मा के अनुभव से दूर हैं वे अज्ञान से पुण्य की इच्छा करते हैं। यद्यपि वह पुण्य संसारगमन का कारण है तो भी उसकी इच्छा करते हैं। ऐसे जीव मोक्ष का हेतु जो ज्ञानस्वरूप आत्मा है उसे नहीं जानते हैं।। १५४।।

आगे ऐसे जीवों को परमार्थभूत मोक्ष का कारण दिखलाते हैं -

जीवादिसद्दहणं सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं।

रायादिपरिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपहो।। १५५।।

जीवादि पदार्थों का श्रद्धान करना सम्यक्त्व है उनका ठीक-ठीक जानना ज्ञान है और रागादि का

---

1 सपण्णो। 2 जेण तेण ते होंति अण्णाणी ज.वृ.।

त्याग करना चारित्र है। यह सम्यक्त्व, ज्ञान तथा चारित्र ही मोक्ष का मार्ग है।। १५५।।

आगे व्यवहार मार्ग से कर्मों का क्षय नही होता यह कहते हैं -

मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारेण विदुसा पवट्टंति।
परमट्ठमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ विहिओ।। १५६।।

विद्वान् निश्चयनय के विषय को छोडकर व्यवहार से प्रवृत्ति करते है परन्तु कर्मों का क्षय परमार्थ का आश्रय करने वाले यतीश्वरों के ही कहा गया है।। १५६।।

आगे, कर्म मोक्ष के कारणभूत सम्यग्दर्शनादि गुणों का आच्छादन करते हैं यह दृष्टान्त द्वारा सिद्ध करते हैं -

वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो।
मिच्छत्तमलोच्छण्ण तह सम्मत्तं खु णायव्वं।। १५७।।
वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो।
अण्णाणमलोच्छण्ण तह णाणं होदि णायव्वं।। १५८।।
वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो।
कसायमलोच्छण्णं तह चारित्तं पि णादव्वं।। १५९।।

जिस प्रकार वस्त्र का श्वेतपना मल के मिलने से लिप्त हुआ नष्ट हो जाता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन मिथ्यादर्शन रूपी मल से आच्छादित हो नष्ट हो जाता है यह निश्चय से जानना चाहिये। जिस प्रकार वस्त्र का श्वेतपना मल के मिलने से आसक्त हुआ नष्ट हो जाता है उसी प्रकार अज्ञान रूपी मल से आच्छादित हुआ जीव का ज्ञान नष्ट हो जाता है ऐसा जानना चाहिये। तथा जिस प्रकार वस्त्र का श्वेतपना मल के मिलने से आसक्त हुआ नष्ट हो जाता है उसी प्रकार कषायरूपी मल से आच्छादित चारित्र गुण हो रहा है यह भी जानना चाहिये।। १५७-१५९।।

आगे कर्म का स्वयमेव बन्धपना सिद्ध करते हैं -

सो सव्वणाणदरिसी कम्मरएण णियेण वच्छण्णो।
संसारसमावण्णो ण विजाणदि सव्वदो सव्व।। १६०।।

वह सबको जानने देखने वाला आत्मा अपने कर्मरूपी रज से आच्छादित हुआ ससार दशा को प्राप्त हो रहा है और सब तरह से सब वस्तुओ को नही जानता है।। १६०।।

आगे कर्म सम्यग्दर्शनादि मोक्ष के कारणों को घातते हैं ऐसा निरूपण करते हैं -

सम्मत्तपडिणिबद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठित्ति णायव्वो।। १६१।।
णाणस्स पडिणिबद्धं अण्णाणं जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णायव्वो।। १६२।।
चारित्तपडिणिबद्धं कसायं जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णायव्वो।। १६३।।

सम्यक्त्व को रोकने वाला मिथ्यात्व कर्म है ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है उसके उदय से जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है ऐसा जानना चाहिये। ज्ञान को रोकने वाला अज्ञान है ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है उसके उदय से जीव अज्ञानी होता है ऐसा जानना चाहिये। चारित्र को रोकने वाला कषाय है ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है उसके उदय से जीव अचारित्र अर्थात् चारित्र से रहित हो जाता है ऐसा जानना चाहिये।। १६१-१६३।।

इस प्रकार पुण्यपाप का प्ररूपण करने वाला तीसरा अधिकार पूर्ण हुआ।

*

आस्रवाधिकारः

आगे आस्रव का स्वरूप कहते हैं -

मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य सण्णसण्णा दु।
बहुविहभेया जीवे तस्सेव अणण्णपरिणामा।। १६४।।
णाणावरणादीयस्स ते दु कम्मस्स कारणं होंति।
तेसिंपि होदि जीवो य रागदोसादिभावकरो।। १६५।।

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चेतन अचेतन के भेद से दो प्रकार के हैं। उनमें जो चेतन रूप हैं वे जीव में बहुत भेदों को लिये हुए हैं तथा जीव के अभिन्न परिणाम स्वरूप हैं। और जो अचेतन रूप हैं वे ज्ञानावरणादि कर्मों के कारण होते हैं। तथा उन मिथ्यात्वादि अचेतन भावों का कारण रागद्वेषादि भावों का करने वाला जीव है।। १६४-१६५।।

आगे ज्ञानी जीव के उन आस्रवों का अभाव होता है ऐसा कहते हैं -

णत्थि दु आसवबंधो सम्मादिट्ठिस्स आसवणिरोहो।
संते पुव्वणिबद्धे जाणदि सो ते अबंधंतो।। १६६।।

सम्यग्दृष्टि जीव के आस्रव बन्ध नहीं है किन्तु आस्रव का निरोध है वह सत्ता में स्थित पहले के बधे हुए कर्मों को केवल जानता है नवीन बन्ध नही करता है।। १६६।।

आगे राग, द्वेष, मोह ही आस्रव हैं ऐसा नियम करते हैं -

भावो रागादिजुदो जीवेण कदो दु बंधगो भणिदो।
रायादिविप्पमुक्को अबंधगो जाणगो णवरिं।। १६७।।

जीव के द्वारा किया हुआ जो भाव रागादि से सहित है वह बन्ध का करने वाला कहा गया है और जो रागादि से रहित है वह बन्ध का नहीं करने वाला है किन्तु जानने वाला है।। १६७।।

आगे रागादि रहित शुद्धभाव असंभव नही है यह दिखलाते हैं -

पक्के फलम्हि पडिए जह ण फलं बज्झए पुणो विंटे।
जीवस्स कम्मभावे पडिए ण पुणोदयमुवेई[1]।। १६८।।

जिस प्रकार किसी वृक्षादि का फल पककर जब नीचे गिर जाता है तब वह फिर बोंडी के साथ सम्बन्ध को प्राप्त नहीं होता इसी प्रकार जीव का कर्मभाव जब पककर गिर जाता है - निर्जीर्ण हो चुकता है तब फिर उदय को प्राप्त नहीं होता।। १६८।।

1 मुवहि ज वृ।

आगे ज्ञानी जीव के द्रव्यास्रव का अभाव दिखलाते हैं -

पुढवीपिंडसमाणा पुव्वणिबद्धा दु पच्चया तस्स।
कम्मसरीरेण दु ते बद्धा सव्वेसि णाणिस्स।। १६९।।

उस पूर्वोक्त ज्ञानी जीव के अज्ञान अवस्था में बंधे हुए द्रव्यास्रव रूप सभी प्रत्यय पृथिवी के पिण्ड के समान हैं और कार्मण शरीर के साथ बंधे हुए हैं।। १६९।।

आगे ज्ञानी जीव निरास्रव क्यों है ? यह कहते हैं -

चहुविह अणेयभेयं बंधंते [1]णाणदंसणगुणेहिं।
समये समये जम्हा तेण [2]अबंधोत्ति णाणी दु।। १७०।।

जिस कारण पहले कहे हुए मिथ्यात्व आदि चार प्रत्यय ज्ञान-दर्शनादि गुणों से अनेक भेद लिये हुए कर्मों को प्रत्येक समय बांधते हैं इसलिये ज्ञानी अबंध रूप ही है।। १७०।।

आगे ज्ञानगुण का परिणाम बन्ध का कारण कैसे है ? इसका उत्तर कहते हैं -

जम्हा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणोवि परिणमदि।
अण्णत्तं णाणगुणो तेण दु सो बंधगो भणिदो।। १७१।।

जिस कारण ज्ञानगुण फिर भी जघन्य ज्ञानगुण से अन्यपने रूप परिणमता है इस कारण वह ज्ञान गुण कर्म बन्ध का करने वाला कहा गया है।

भावार्थ - क्षायोपशमिक ज्ञान एक ज्ञेय के ऊपर अन्तर्मुहूर्त ही ठहरता है पीछे अवश्य ही किसी अन्य ज्ञेय का अवलम्बन करता है इस कारण स्वरूप में भी वह अन्तर्मुहूर्त ही ठहर सकता है। इसलिये ऐसा अनुमान है कि यथाख्यात चारित्र अवस्था के नीचे राग परिणाम का सद्भाव अवश्य रहता है। उस राग के सद्भाव से बन्ध भी होता है। अत इस गाथा में ज्ञान गुण का जघन्य भाव बन्ध का कारण कहा गया है।। १७१।।

आगे ऐसा होने पर ज्ञानी निरास्रव क्यों होता है ? इसका उत्तर कहते हैं -

दंसणणाणचरित्तं जं परिणमदे जहण्णभावेण।
णाणी तेण दु बज्झदि पुग्गलकम्मेण विविहेण।। १७२।।

जिस कारण दर्शन, ज्ञान, चारित्र जघन्यभाव से परिणमन करते हैं उस कारण ज्ञानी अनेक प्रकार के पुद्गलकर्मों से बंधता है।

भावार्थ - ज्ञानी को निरास्रव कहने का कारण यह है कि जब तक इसके क्षयोपशम ज्ञान है तब तक बुद्धिपूर्वक अज्ञानमय रागद्वेष मोह का अभाव है इसलिये निरास्रव है और क्षायोपशमिक ज्ञान के समय दर्शन, ज्ञान, चारित्र जघन्यभाव से परिणमन करते हैं इसलिये अपूर्ण ज्ञान का देखना जानना आचरण करना सम्भव नहीं होता। दर्शन, ज्ञान, चारित्र का जो जघन्य भाव कर परिणमन होता है उससे ऐसा जान पड़ता है कि इसके अबुद्धि पूर्वक कर्म कलंक विद्यमान है और उससे बन्ध भी होता है परन्तु वह चारित्र मोह के उदयजन्य बन्ध है अज्ञानमय भावजन्य नहीं है। केवलज्ञान होने पर यह जीव साक्षात् निरास्रव होता है। यद्यपि केवलज्ञान होने पर भी सयोग केवली अवस्था में योगनिमित्तक सातावेदनीय का आस्रव आगम में कहा है परन्तु स्थिति बन्धादि से शून्य होने के कारण उसकी विवक्षा नही की गई है।। १७२।।

आगे द्रव्य प्रत्यय के रहते हुए भी ज्ञानी निरास्रव किस प्रकार है ? इसका उत्तर कहते हैं -

सव्वे पुव्वणिबद्धा दु पच्चया संति सम्मदिट्ठिस्स।
उवओगप्पाओगं बंधंते कम्मभावेण।। १७३।।

---

1 अणाणदसणगुणेहिं इति पाठान्तर केचन पठन्ति ज वृ । 2 अबधुत्ति।

संती दु णिरुवभोज्जा बाला इच्छी जहेव पुरिसस्स।
बंधदि ते उवभोज्जे तरुणी इच्छी जह णरस्स।। १७४।।
होदूण णिरुवभोज्जा तह बंधदि जह हवंति उवभोज्जा।
सत्तट्ठविहा भूदा णाणावरणादिभावेहिं।। १७५।।
एदेण कारणेण दु सम्मादिट्ठी अबंधगो होदि।
आसवभावाभावे ण पच्चया बंधगा भणिदा।। १७६।।

यद्यपि सम्यग्दृष्टि जीव के पूर्व में बांधे हुए सभी मिथ्यात्व आदि प्रत्यय विद्यमान हैं तथापि विपाकावस्था द्वारा उपभोग में आने पर ही वे रागादि भावों से नवीन कर्मों को बाधते हैं। जिस प्रकार बाला स्त्री जब तक निरुपभोग्य रहती है तब तक वह पुरुष को स्नेह पाश से नहीं बांधती, परन्तु वही स्त्री तरुण होकर जब उपभोग के योग्य हो जाती है तब पुरुष को स्नेहपाश से बांध लेती है। इसी प्रकार मिथ्यात्वादि प्रत्यय जब तक निरुपभोग रहते हैं अर्थात् विपाकावस्था को प्राप्त नहीं होते है तब तक वे बन्ध नहीं करते, परन्तु जब विपाकावस्था में आने से उपभोग्य हो जाते है तब वे रागादि भावों के द्वारा सात या आठ प्रकार के ज्ञानावरणादि कर्मों को बाधने लगते हैं अर्थात् जब आयु कर्म के बन्ध का अवसर होता है तब आठ कर्मों को और उसके अनवसर में सात कर्मों को बाधने लगते हैं। इसी कारण से सम्यग्दृष्टि जीव अबन्धक होता है क्योंकि रागादि रूप आस्रवभाव के अभाव में प्रत्यय बन्धक नहीं कहे गये हैं।। १७३-१७६।।

आगे इसी का समर्थन करते हैं -

रागो दोसो मोहो य आसवा णत्थि सम्मदिट्ठिस्स।
तह्मा आसवभावेण विणा हेदू ण पच्चया होंति।। १७७।।
हेदू चदुवियप्पो अट्ठवियप्पस्स कारणं भणिदं।
तेसिं पि य रागादी तेसिमभावे ण बज्झंति।। १७८।।

राग, द्वेष और मोह ये आस्रव सम्यग्दृष्टि के नहीं हैं इसलिये आस्रवभाव के बिना द्रव्य प्रत्यय कर्म बन्ध के कारण नहीं हैं। मिथ्यात्वादि चार प्रकार का हेतु आठ प्रकार के कर्म बन्ध का कारण कहा गया है और उन चार प्रकार के हेतुओं के कारण रागादि भाव हैं। सम्यग्दृष्टि के चूंकि रागादि का अभाव है अत उसके कर्मबन्ध नहीं होता है।। १७७-१७८।।

आगे इसी बात को दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं -

जह पुरिसेणाहारो गहिओ परिणमइ सो अणेयविहं।
मंसवसारुहिरादी भावे उयरग्गिसंजुत्तो।। १७९।।
तह णाणिस्स दु पुव्वं जे बद्धा पच्चया बहुवियप्पं।
बज्झंते कम्मं ते णय परिहीणा उ ते जीवा।। १८०।।

जिस प्रकार पुरुष के द्वारा ग्रहण किया हुआ आहार उदराग्नि से सयुक्त होकर अनेक प्रकार मांस, चर्बी, रुधिर आदि भावों रूप परिणमन करता है उसी प्रकार ज्ञानी के पहले बंधे हुए जो प्रत्यय द्रव्यास्रव हैं वे बहुत भेदों वाले कर्मों को बांधते हैं। वे जीव शुद्ध नय से छूटे हुए हैं।। १७९-१८०।।

इस प्रकार आस्रव का प्ररूपण करने वाला चतुर्थ अक पूर्ण हुआ।

*

संवराधिकार:

आगे संवराधिकार में सर्वप्रथम समस्त कर्मों के संवर का श्रेष्ठ उपाय जो भेदविज्ञान है उसकी प्रशंसा करते हैं -

उवओए उवओगो कोहादिसु णत्थि कोवि उवओगो।
कोहे कोहो चेव हि उवओगे णत्थि खलु कोहो।। १८१।।
अट्ठवियप्पे कम्मे णोकम्मे चावि णत्थि उवओगो।
उवओगह्मि य कम्मं णोकम्मं चावि णो अत्थि।। १८२।।
एयं तु अविवरीदं णाणं जइआ उ होदि जीवस्स।
तइया ण किंचि कुव्वदि भावं उवओगसुद्धप्पा।। १८३।।

उपयोग में उपयोग है, क्रोधादिक में कोई उपयोग नही है। क्रोध में क्रोध ही है, निश्चय से उपयोग में क्रोध नहीं है। आठ प्रकार के कर्म में और नोकर्म में उपयोग नही है तथा उपयोग में कर्म और नोकर्म नहीं है। जिस समय जीव के यह अविपरीत ज्ञान होता है उस समय वह उपयोग से शुद्धात्मा होता हुआ उपयोग के बिना अन्य कुछ भी भाव नहीं करता है।। १८१-१८३।।

आगे भेदविज्ञान से ही शुद्धात्मा की उपलब्धि किस प्रकार होती है ? इसका उत्तर कहते हैं -

जह कणयमग्गितवियं पि कणयसहावं ण तं परिच्चइ।
तह कम्मोदयतविदो ण जहदि णाणी उ णाणित्तं।। १८४।।
एवं जाणइ णाणी अण्णाणी मुणदि रायमेवादं।
अण्णाणतमोच्छण्णो आदसहावं अयाणंतो।। १८५।।

जिस प्रकार सुवर्ण अग्नि से तपाये जाने पर भी सुवर्णपने को नही छोडता है उसी प्रकार कर्मोदय से तप्त हुआ ज्ञानी ज्ञानीपने को नहीं छोडता है। ज्ञानी इस प्रकार जानता है परन्तु अज्ञानी चूंकि अज्ञानरूपी अन्धकार से आच्छादित है अत आत्मस्वभाव को नहीं जानता हुआ राग को ही आत्मा मानता है।। १८४-१८५।।

आगे शुद्धात्मा की उपलब्धि से ही संवर क्यों होता है ? इसका उत्तर कहते हैं -

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहदि जीवो।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहइ।। १८६।।

शुद्ध आत्मा को जानता हुआ जीव शुद्ध ही आत्मा को पाता है और अशुद्ध आत्मा को जानता हुआ जीव अशुद्ध ही आत्मा को पाता है।। १८६।।

आगे संवर किस प्रकार होता है ? इसका उत्तर कहते हैं -

अप्पाणमप्पणा रुंधिऊण दो पुण्णपावजोएसु।
दंसणणाणह्मि ठिदो इच्छाविरओ य अण्णह्मि।। १८७।।
जो सव्वसंगमुक्को झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा।
णवि कम्मं णोकम्मं चेदा चिंतेदि एयत्तं।। १८८।।

अप्पाणं झायंतो दंसणणाणमओ अणण्णमओ।
लहइ अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मविपमुक्कं।। १८९।।

जो जीव अपने आत्मा को अपने आपके द्वारा शुभ-अशुभ रूप दोनों योगों से रोककर दर्शन ज्ञान में स्थित हुआ अन्य पदार्थों में इच्छा रहित है तथा समस्त परिग्रह से रहित होता हुआ आत्मा के द्वारा आत्मा का ही ध्यान करता है, कर्म और नोकर्म का ध्यान नहीं करता किन्तु चेतना रूप होकर एकत्व[1] भाव का चिन्तन करता है वह आत्मा का ध्यान करने वाला, दर्शनज्ञानमय तथा अन्यवस्तुरूप नहीं होने वाला जीव शीघ्र ही कर्मों से रहित आत्मा को ही प्राप्त करता है।। १८७-१८९।।[2]

आगे किस क्रम से संवर होता है यह कहते हैं -

तेसिं हेऊ[3] भणिदा अज्झवसाणाणि सव्वदरसीहिं।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरयभावो य जोगो य।। १९०।।
हेउ अभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोहो।
आसवभावेण विणा जायदि कम्मस्स वि णिरोहो।। १९१।।
कम्मस्साभावेण य णोकम्माणं पि जायइ णिरोहो।
णोकम्मणिरोहेण य संसारणिरोहणं होइ।। १९२।।

पूर्व कहे हुए उन रागद्वेषादि आस्रवों के हेतु सर्वज्ञदेव ने मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरतभाव और योग ये चार अध्यवसान भाव कहे हैं। ज्ञानी जीव के इन हेतुओं का अभाव होने के कारण नियम से आस्रव का निरोध होता है, आस्रवभाव के बिना कर्मों का भी निरोध हो जाता है, कर्मों का अभाव होने से नोकर्मों का भी निरोध हो जाता है और नोकर्मों का निरोध होने से ससार का निरोध हो जाता है।। १९०-१९२।।

इस प्रकार पाचवा सवराधिकार पूर्ण हुआ।

*

निर्जराधिकार:

आगे निर्जरा का स्वरूप कहते हैं -

उवभोगमिंदियेहिं दव्वाणं चेदणाणमिदराणं।
जं कुणदि सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं।। १९३।।

सम्यग्दृष्टि जीव जो इन्द्रियों के द्वारा चेतन और अचेतन द्रव्यों का उपभोग करता है वह सब ही निर्जरा का निमित्त है।। १९३।।

---

1 एकोऽह निर्मम शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचर । बाह्या सयोगजा भावा मत्त सर्वेऽपि सर्वथा।। ज वृ ।

2 १८९ गाथा के आगे ज वृ में निम्नलिखित दो गाथाओं की व्याख्या अधिक की गई है -

उवदेसेण परोक्खं रूव जह पस्सिदूण णादेदि।
भण्णदि तहेव धिप्पदि जीवो दिट्ठो य णादो य।।
को विदिदच्छो साहू सपडिकाले भणिज्ज रूवमिण।
पच्चक्खमेव दिट्ठं परोक्खणाणे पवट्ठंत।।

3 हेदू ज वृ ।

आगे भाव निर्जरा का स्वरूप बतलाते हैं -

दव्वे उवभुंजंते णियमा जायदि सुहं च दुक्खं वा।

तं सुहदुक्खमुदिण्णं वेददि अह णिज्जरं जादि।। १९४।।

जब जीव उदयागत द्रव्यकर्म का उपभोग करता है तब नियम से सुख दु ख उत्पन्न होते है। सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न हुए उस सुख दु ख का सिर्फ वेदन करता है किन्तु तन्मय नहीं होता है इसलिये वह निर्जरा को प्राप्त होता है।। १९४।।

आगे ज्ञान की सामर्थ्य दिखाते हैं -

जस विसमुवभुंजंतो वेज्जो पुरिसो ण मरणमुवयादि।

पोग्गलकम्मस्सुदयं तह भुंजदि णेव बज्झए णाणी।। १९५।।

जिस प्रकार वैद्य विष का उपभोग करता हुआ भी मरण को प्राप्त नहीं होता है उसी प्रकार ज्ञानी जीव यद्यपि पुदगल कर्म के उदय का उपभोग करता है तो भी बन्ध को प्राप्त नही होता।। १९५।।

आगे वैराग्य की सामर्थ्य दिखाते हैं -

जह मज्जं पिवमाणो अरदिभावेण मज्जदि ण पुरिसो।

दव्वुवभोगे अरदो णाणी वि ण बज्झदि तहेव।। १९६।।

जिस प्रकार अरतिभाव से प्रीति के बिना ही मदिरा को पीने वाला पुरुष मत्त नही होता है उसी प्रकार द्रव्यकर्म के उपभोग में रत नहीं होने वाला ज्ञानी पुरुष बन्ध को प्राप्त नही होता है।। १९६।।

आगे यही बात दिखलाते हैं -

सेवंतोवि ण सेवइ असेवमाणोवि सेवगो कोई।

पगरणचेट्ठा कस्सवि ण य पायरणोत्ति सो होई[1]।। १९७।।

कोई पुरुष विषयों का सेवन करता हुआ भी सेवन नहीं करता है और कोई सेवन न करता हुआ भी सेवन करने वाला है। जैसे किसी मनुष्य के कार्य करने की चेष्टा तो है अर्थात् प्रकरण सम्बन्धी समस्त कार्य करता है परन्तु वह प्रकरण का स्वामी है ऐसा नहीं होता।। १९७।।

आगे सम्यग्दृष्टि जीव सामान्य रूप से निज और पर को इस प्रकार जानता है यह कहते हैं -

उदयविवागो विविहो कम्माणं वण्णिओ जिणवरेहिं।

ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमिक्को।। १९८।।

कर्मों के जो विविध प्रकार के उदय रस जो जिनेन्द्र भगवान् ने कहे हैं वे मेरे स्वभाव नहीं हैं, मैं तो एक ज्ञायक भाव रूप हूं।। १९८।।

आगे सम्यग्दृष्टि जीव विशेष रूप से निज और पर के उदय को इस प्रकार जानता है यह कहते हैं -

पुग्गलकम्मं[2] रागो[3] तस्स विवागोदओ हवदि एसो।

ण दु एस मज्झ भावो जाणगभावो हु अहमिक्को।। १९९।।

---

1 होदि ज वृ। 2 काहो ज वृ। 3 एवमेवच रागपदपरिवर्तनेन द्वेषमोहक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षु घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि अ वृ।

राग नाम का पुद्गल कर्म है यह रागभाव उसी के विपाक का उदय है। यह मेरा स्वभाव नहीं है, मैं तो एक ज्ञायकभाव रूप हूं।। १६६।।

आगे इसका फलितार्थ कहते हैं -

एवं सम्मद्दिट्ठी अप्पाणं मुणदि जाणयसहावं।
उदयं कम्मविवागं य मुअदि तच्चं वियाणंतो।। २००।।

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव अपने आपको ज्ञायक स्वभाव जानता हुआ और तत्व को - वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानता हुआ उदयागत रागादिभाव को कर्म का विपाक जानकर छोडता है।। २००।।

आगे सम्यग्दृष्टि रागी क्यों नहीं होता है ? इसका उत्तर कहते हैं -

परमाणुमित्तयं पि हु रायादीणं तु विज्जदे जस्स।
ण वि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरोवि।। २०१।।
अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चावि सो अयाणंतो।
कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो।। २०२।।

निश्चय से जिस जीव के रागादि का परमाणुमात्र भी - लेशमात्र भी विद्यमान है वह सर्वागम का धारी होकर भी आत्मा को नहीं जानता है। और जो आत्मा को नहीं जानता है वह आत्मा से भिन्न पर पदार्थ को भी नहीं जानता है। इस प्रकार जो जीव अजीव दोनों को नहीं जानता है वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है ?।। २०१-२०२।।

आगे वह पद क्या है ? इसका उत्तर कहते हैं -

आदह्मि दव्वभावे अपदे[3] मोत्तूण गिण्ह[4] तह णियदं।
थिरमेगमिमं भावं उवलंभंतं सहावेण।। २०३।।

आत्मा में पर निमित्त से हुए अपदरूप द्रव्य-भावरूप सभी भावों को छोडकर निश्चित स्थिर एक तथा स्वभाव द्वारा उपलभ्यमान इस चैतन्यमात्र भाव को तू ग्रहण कर।। २०३।।

आगे कहते हैं कि ज्ञान सामान्य रूप से एक प्रकार का ही है उसमें जो भेद हैं वे क्षयोपशम के निमित्त से हैं -

आभिणिसुदोहिमणकेवलं च तं होदि एक्कमेव पदं।
सो एसो परमट्ठो जं लहिदुं णिव्वुदिं जादि।। २०४।।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्यायज्ञान और केवलज्ञान ये जो ज्ञान के भेद हैं वे वास्तव में एक ही पद हैं - एक ही सामान्यज्ञान स्वरूप है। और यही परमार्थ है जिसे पाकर जीव निर्वाण को प्राप्त होता है।। २०४।।

आगे इसी अर्थ का उपदेश करते हैं -

---

1 ज वृ में १६६ के आगे निम्न गाथा अधिक उपलब्ध है -
कह एस तुज्झ ण हवदि विविहो कम्मोदयफलविवागो।
परदव्वाणुवओगो ण दु देहो हवदि अण्णाणी।। 2 सम्माइट्ठं ज.वृ । 3 अथिरे ज.वृ । 4 तव ज.वृ ।

णाणगुणेण विहीणा एयं तु पयं बहुवि ण लहंति।

तं गिण्ह [1]णियदमेदं जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्खं।। २०५।।

यदि तू कर्म से सर्वथा छुटकारा चाहता है तो इस निश्चित ज्ञान को ग्रहण कर क्योंकि गुण से रहित बहुत पुरुष इस पद को नही पाते है।। २०५।।

आगे फिर इसी बात को पुष्ट करते हैं -

एदह्मि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदह्मि।

एदेण होहि तित्तो होहदि तुह उत्तमं सोक्खं।। २०६।।

हे भव्य ! तू निरन्तर इस ज्ञान में रत हो, इसी में निरन्तर संतुष्ट रह, इसी से तृप्त हो क्योंकि ऐसा करने से ही तुझे उत्तम सुख होगा।। २०६।।

आगे ज्ञानी पर द्रव्य को क्यों नहीं ग्रहण करता ? इसका उत्तर कहते हैं -

को णाम भणिज्ज बुहो परदव्वं [2]मम इम हवदि दव्वं।

अप्पाणमप्पणो परिगहं तु णियदं वियाणंतो।। २०७।।

नियम से आत्मा को ही अपना परिग्रह मानने वाला कौन विद्वान ऐसा कहेगा कि यह पर द्रव्य मेरा है।। २०७।।

आगे युक्ति के द्वारा इसका समर्थन करते हैं -

मज्झं परिग्गहो जइ तदो अहमजीवदं तु गच्छेज्ज।

णादेव अहं जह्मा तह्मा ण परिग्गहो मज्झ।। २०८।।

यदि पर द्रव्य मेरा परिग्रह हो तो मैं अजीवपने को प्राप्त हो जाऊ पर चूकि मै ज्ञाता ही हू अत पर द्रव्य मेरा परिग्रह नही है।। २०८।।

आगे शरीरादि पर द्रव्य मेरा परिग्रह किसी भी प्रकार नही हो सकता यह कहते हैं -

छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलयं।

जह्मा तह्मा गच्छदु लहवि हु ण परिग्गहो मज्झ।। २०९।।

ज्ञानी जीव ऐसा विचार करता है कि शरीरादि पर द्रव्य छिद जावे, भिद जावे, कोई इसे ले जावे, अथवा विनाश को प्राप्त हो जावे अथवा जिस तिस तरह चली जावे तो भी मेरा परिग्रह नही है।। २०९।।

आगे इस अपरिग्रह भाव को दृढ करने के लिये पृथक्-पृथक् वर्णन करते है -

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदे धम्मं।

अपरिग्गहो दु धम्मस्स जाणगो तेण सो होई।। २१०।।

ज्ञानी परिग्रह रहित है इसलिये इच्छा से रहित कहा गया है। वह चूंकि इच्छा रहित है अत धर्म की इच्छा नहीं करता। इसीलिये उसके धर्म का परिग्रह नही है, वह केवल धर्म का ज्ञायक है।। २१०।।

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदि अधम्मं।

अपरिग्गहो अधम्मस्स जाणगो तेण सो होदि।। २११।।

ज्ञानी परिग्रह हीन तथा इच्छा रहित कहा गया है इसलिये वह अधर्म की इच्छा नहीं करता। उसके

---

1 सुपदमेदं ज वृ । 2 ममभिदं ज वृ ।

अधर्म का परिग्रह नहीं है वह तो सिर्फ अधर्म का ज्ञायक है।। २११।।[1]

अपरिग्गहो अणिच्छो[2] भणिदो णाणी य णिच्छदे असणं।

अपरिग्गहो दु असणस्स जाणगो तेण सो होदि।। २१२।।

ज्ञानी परिग्रहहीन तथा इच्छा रहित कहा गया है इसलिये वह भोजन की इच्छा नहीं करता। उसके भोजन का परिग्रह नहीं है वह तो सिर्फ भोजन का ज्ञायक है।। २१२।।

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदे पाणं।

अपरिग्गहो दु पाणस्स जाणगो तेण सो होदि।। २१३।।

ज्ञानी अपरिग्रह तथा इच्छा रहित कहा गया है इसलिये वह पान की इच्छा नही करता। उसके पान का परिग्रह नहीं है वह तो सिर्फ पान का ज्ञायक है।। २१३।।

आगे कहते हैं कि ज्ञानी जीव इसी प्रकार अन्य परजन्यभावों की इच्छा नही करता है -

[3]एवमादिए दु विविहे सव्वे भावे य णिच्छहे णाणी।

जाणगभावो णियदो णीरालंबो दु सव्वत्थ।। २१४।।

इनको आदि लेकर विविध प्रकार के समस्त भावों को ज्ञानी जीव नहीं चाहता है। वह नियम से ज्ञायक भाव है और अन्य सब वस्तुओं में आलम्बन रहित है।। २१४।।

[4]उप्पण्णोदयभोगे विओगबुद्धीए तस्स सो णिच्चं।

कंखामणागयस्स य उदयस्स ण कुव्वए णाणी।। २१५।।

ज्ञानी जीव के वर्तमान कालीन उदय का भोग निरन्तर वियोग बुद्धि से उपलक्षित रहता है अर्थात् वर्तमान भोग को नश्वर समझकर वह उसमें परिग्रह बुद्धि नहीं करता और अनागत - भविष्यत्कालीन भोग की वह आकाक्षा नहीं करता।

भावार्थ - भोग तीन प्रकार का है - १ अतीत, २ वर्तमान और ३ अनागत। उनमें जो अतीत हो चुका है उसमें परिग्रह बुद्धि होना शक्य नही है। वर्तमान भोग को ज्ञानी जीव वियुक्त हो जाने वाला मानता है इसलिये उसमें परिग्रहभाव धारण नही करता तथा अनागत भोग में आकांक्षा रहित होता है इसलिये तत्सम्बन्धी परिग्रह भी उसके सभव नही है इस प्रकार स्वसवेदन ज्ञानी जीव निष्परिग्रह है यह बात सिद्ध होती है।। २१५।।

आगे ज्ञानी जीव अनागत भोग की आकांक्षा क्यों नहीं करता ? इसका उत्तर देते हैं -

जो वेददि वेदिज्जदि समए समए विणस्सदे उहयं।

तं जाणगो दु णाणी उभयंपि ण कंखइ कयावि।। २१६।।

जो वेदन करता है और जिसका वेदन किया जाता है वे दोनों भाव समय समय में नष्ट होते रहते है अर्थात् वेद्य-वेदकभाव क्रम से होते है अत एक समय से अधिक देर तक अवस्थित नही रहते। ज्ञानी जीव उन दोनों भावों को जानने वाला ही है वह उनकी कभी भी आकाक्षा नही करता है।। २१६।।

आगे इस प्रकार के सभी उपभोगों से ज्ञानी विरक्त रहता है यह कहते हैं -

बंधुवभोगणिमित्ते अज्झवसाणोदएसु णाणिस्स।

संसारदेहविसएसु णेव उप्पज्जदे रागो।। २१७।।

---

1 २११ वीं गाथा के आगे ज वृ में निम्नाकित गाथा अधिक है -
धम्मच्छि अधम्मच्छी आयासं सुत्तमंगपुव्वेसु।
सग च तहा णेयं देवमणुअत्तिरियणेरइय।। 2 भणिदो असणं तु णिच्छदे णाणी ज वृ । 3 इच्चादु एदु ज वृ । 4 उप्पण्णोदयभोगो ज वृ ।

बन्ध और उपभोग के निमित्तभूत, ससार और शरीर विषयक अध्यवसान के जो उदय है उनमें ज्ञानी जीव के राग उत्पन्न नहीं ही होता है।। २१७।।

आगे ज्ञानी कर्म बन्ध से रहित होता है यह कहते हैं -

णाणी रागप्पजहो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
णो लिप्पदि रजएण दु कद्दममज्झे जहा कणयं।। २१८।।
अण्णाणी पुण रत्तो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दममज्झे जहा लोहं।। २१९।।

ज्ञानी सब द्रव्यों में राग का छोडने वाला है इसलिये कर्मों के मध्यगत होने पर भी कर्मरूपी रज से उस प्रकार लिप्त नहीं होता जिस प्रकार कि कीचड के बीच में पडा हुआ सोना। परन्तु अज्ञानी सब द्रव्यों में रागी है अत कर्मों के मध्यगत होता हुआ कर्म रूपी रज से उस प्रकार लिपा होता है जिस प्रकार कि कीचड के बीच में पडा हुआ लोहा।। २१८-२१९।।[1]

आगे इसी बात को शंख के दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं -

भुंजंतस्सवि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिये दव्वे।
संखस्स सेदभावो णवि सक्कदि किण्णगो काउं।। २२०।।
तह णाणिस्स वि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिए दव्वे।
भुंजतस्स वि णाणं ण सक्कमण्णाणदं णेदुं।। २२१।।
जइया स एव संखो सेद सहावं तयं पजहिदूण।
गच्छेज्ज किण्हभावं तइया सुक्कत्तणं पजहे।। २२२।।[2]
तह णाणी वि हु जइया णाणसहाव तय पजहिऊण।
अण्णाणेण परिणदो तइया अण्णाणदं गच्छे।। २२३।।

जिस प्रकार यद्यपि शंख विविध प्रकार के सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्यों का भक्षण करता है तो भी उसका श्वेतपना काला नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार यद्यपि ज्ञानी विविध प्रकार के सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्यों का उपभोग करता है तो भी उसका ज्ञान अज्ञानता को प्राप्त नहीं कराया जा सकता। और जिस समय वही शंख उस श्वेत स्वभाव को छोडकर कृष्ण भाव को प्राप्त हो जाता है उस समय वह जिस प्रकार श्वेतपने को छोड देता है उसी प्रकार ज्ञानी जिस समय उस ज्ञान स्वभाव को छोडकर अज्ञान स्वभाव से परिणत होता है उस समय अज्ञान भाव को प्राप्त हो जाता है।

---

1 २१९ वीं गाथा के आगे ज वृ में निम्नलिखित श्लोकों की व्याख्या अधिक उपलब्ध है -
णागफल्लीए मूल णाइणितोएण गब्भणागेण।
णाग होइ सुवण्ण धम्मत भच्छवाण्ण।।
कम्म हवेइ किट्ट रागादिकालिया अह विभाओ।
सम्मणाणचरण परमोसहमिदि वियाणाहि।।
झाणं हवेइ अग्गी तवमरण भत्तली सम्मखादो।
जीवो हवेइ लोह धमियव्वो परमजोईहिं।।

2 २२२ और २२३ क मध्य ज वृ में निम्न गाथा अधिक उपलब्ध है -
जह सखो पोग्गलदो जइत्या सुक्कत्तण पजहेदूण।
गच्छेज्ज किण्हभाव तइया सुक्कत्तण पजहे।।

भावार्थ - ज्ञानी के परकृत बन्ध नहीं है वह आप ही जब अज्ञान रूप परिणमन करता है तब स्वयं निज के अपराध से बन्ध दशा को प्राप्त होता है।। २२०-२२३।।

आगे सराग परिणामों से बन्ध और वीतराग परिणामों से मोक्ष होता है यह दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्त के द्वारा स्पष्ट करते हैं -

पुरिसो जह कोवि इह वित्तिणिमित्तं तु सेवए रायं।
तो सोवि देदि राया विविहे भोए सुहुप्पाए।। २२४।।
एमेव जीवपुरिसो कम्मरयं सेवदे सुहणिमित्तं।
तो सोवि देइ कम्मो विविहे भोए सुहुप्पाए।। २२५।।
जह पुण सो चिय पुरिसो वित्तिणिमित्तं ण सेवदे रायं।
तो सो ण देइ राया विविहे भोए सुहुप्पाए।। २२६।।
एमेव सम्मदिट्ठी विसयत्थं सेवए ण कम्मरयं।
तो सो ण देइ कम्मो विविहे भोए सुहुप्पाए।। २२७।।

जिस प्रकार इस लोक में कोई पुरुष आजीविका के निमित्त राजा की सेवा करता है तो राजा भी उसके लिये सुख उपजाने वाले विविध प्रकार के भोग देता है। इसी प्रकार जीव नामा पुरुष सुख के निमित्त कर्म रूपी रज की सेवा करता है तो वह कर्मरूपी रज भी उसके लिये सुख उपजाने वाले विविध प्रकार के भोग देता है। जिस प्रकार वही पुरुष वृत्ति के निमित्त राजा की सेवा नहीं करता है तो राजा उसके लिये सुख उपजाने वाले विविध प्रकार के भोग नही देता है इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव विषयों के लिये कर्मरूपी रज की सेवा नहीं करता है तो वह कर्म रूपी रज भी उसके लिये सुख उपजाने वाले विविध प्रकार के भोग नहीं देता है।। २२४-२२७।।

आगे सम्यग्दृष्टि जीव नि शंक तथा निर्भय है यह कहते हैं -

सम्मादिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण।
सत्तभयविप्पमुक्का जम्हा तम्हा दु णिस्संका।। २२८।।

सम्यग्दृष्टि जीव चूंकि शंका रहित होते हैं इसलिये निर्भय हैं और चूकि सप्तभय से रहित हैं इसलिये शका रहित हैं।

भावार्थ - निर्भयता और नि शंकपन में परस्पर कार्यकारण भाव है।। २२८।।

आगे नि शंकित अंग का स्वरूप कहते हैं -

जो चत्तारि वि पाए छिंददि ते [1]कम्मबंधमोहकरे।
सो णिस्संको चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो।। २२९।।

जो आत्मा कर्म बन्ध के कारण मोह के करने वाले उन मिथ्यात्व आदि पापों को काटता है उसे नि शंक सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये।। २२९।।

आगे नि कांक्षित अंग का स्वरूप कहते हैं -

[2]जो दु ण करेदि कंखं कम्मफलेसु तह सव्वधम्मेसु।
सो णिक्कंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो।। २३०।।

---

1 मोहबाधकरे ज वृ । 2 जो ण करेदि दु कंख ज वृ ।

जो आत्मा कर्मों के फलों में तथा वस्तु के स्वभावभूत समस्त धर्मों में आकांक्षा नहीं करता है उसे निःकांक्षित सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये।। २३०।।

आगे निर्विचिकित्सित अंग का स्वरूप कहते हैं -

जो ण करेदि जुगुप्पं चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं।
सो खलु णिव्विदिगिच्छो[1] सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो।। २३१।।

जो जीव वस्तु के सभी धर्मों में ग्लानि नहीं करता उसे निश्चय से निर्विचिकित्सित सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये।। २३१।।

आगे अमूढदृष्टि अंग का स्वरूप कहते हैं -

जो[2] हवइ असम्मूढो चेदा सद्दिट्ठि सव्वभावेसु।
सो खलु अमूढदिट्ठी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो।। २३२।।

जो जीव सब भावों में मूढ नहीं होता हुआ यथार्थ दृष्टि वाला होता है उसे निश्चय से अमूढदृष्टि सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये।। २३२।।

आगे उपगूहन अंग का लक्षण कहते हैं -

जो सिद्धभत्तिजुत्तो उवगूहणगो दु सव्वधम्माणं।
सो[3] उवगूहणकारी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो।। २३३।।

जो सिद्ध भक्ति से युक्त हो समस्त धर्मों का उपगूहन करने वाला हो उसे उपगूहन अंग का धारी सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये।। २३३।।

आगे स्थितिकरण अंग का लक्षण कहते हैं -

उम्मग्गं गच्छंतं सगंपि[5] मग्गे ठवेदि जो चेदा।
सो ठिदिकरणाजुत्तो सम्मादिट्ठी[4] मुणेयव्वो।। २३४।।

जो जीव न केवल पर को किन्तु उन्मार्ग में जाने वाले अपने आत्मा को भी समीचीन मार्ग में स्थापित करता है उसे स्थितिकरण अंग से युक्त सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये।। २३४।।

आगे वात्सल्य अंग का स्वरूप कहते हैं -

जो कुणदि वच्छलत्तं तियेह[6] साहूण मोक्खमग्गम्मि।
सो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो।। २३५।।

जो जीव, आचार्य उपाध्याय तथा साधु रूप मुनियों के त्रिक मे और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र स्वरूप मोक्षमार्ग मे वत्सलता करता है उसे वात्सल्य भाव से युक्त सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये।। २३५।।

आगे प्रभावना अंग का स्वरूप कहते हैं -

विज्जारहमारूढो मणोरहपहेसु[7] भमइ जो चेदा।
सो जिणणाणपहावी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो।। २३६।।

जो जीव विद्यारूपी रथ पर आरूढ होकर मन रूपी रथ के मार्ग में भ्रमण करता है उसे जिनेन्द्र देव के ज्ञान की प्रभावना करने वाला सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये।। २३६।।

इस प्रकार निर्जराधिकार पूर्ण हुआ।

---

1 गिंछो ज वृ । 2 जो हवदि असम्मूढो चेदा सव्वेसु कम्मभावेसु ज वृ । 3 उवगूहणगारी ज वृ । 4 मुणेदव्वो ज वृ । 5 सिवमग्ग ज वृ । 6 तिण्हे ज वृ । 7 मणोरहरएसु हणदि जो चेदा ज वृ ।

बन्धाधिकारः

आगे बन्ध का कारण कहते हैं -

जह णाम कोवि पुरिसो णेहभत्तो दु रेणुबहुलम्मि।
ठाणम्मि ठाइदूण य करेइ सत्थेहिं वायामं।। २३७।।
छिंददि भिंददि य तहा तालीतलकयलिवंसपिंडीओ।
सच्चित्ताचित्ताणं करेइ दव्वाणमुवघायं।। २३८।।
उवघायं कुव्वंतस्स तस्स णाणाविहेहिं करणेहिं।
णिच्छयदो चिंतिज्ज हु किं पच्चयगो दु रयबंधो।। २३९।।
जो सो दु णेह भावो तह्मि णरे तेण तस्स रयबंधो।
णिच्छयदो विण्णेयं ण कायचेट्ठाहिं सेसाहिं।। २४०।।
एवं मिच्छादिट्ठी वट्टंतो बहुविहासु चिट्ठासु।
रायाई उवओगे कुव्वंतो लिप्पइ रयेण।। २४१।।

यह प्रकट है कि जिस प्रकार शरीर में तेल लगाये हुए कोई पुरुष बहुत धूली वाले स्थान में स्थित होकर शस्त्रों द्वारा व्यायाम करता है तथा ताल, तमाल, केला, बांस, अशोक आदि वृक्षों को छेदता है, भेदता है सचित्त-अचित्त पदार्थों का उपघात करता है। इस प्रकार नाना प्रकार के कारणों से उपघात करने वाले उस पुरुष के निश्चय से विचारो कि रज का बन्ध किंनिमित्तक है ? उस मनुष्य में जो स्नेह भाव है अर्थात् तेल के सम्बन्ध से जो चिकनाई है उसी से उसके रज का बन्ध होता है यह निश्चय से जानना चाहिये, शरीर की अन्य चेष्टाओं से रज का बन्ध नहीं होता है। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव जो कि बहुत प्रकार की चेष्टाओं में वर्तमान है तथा अपने उपयोग में रागादि भावों को कर रहा है कर्मरूपी रज से लिप्त होता है।। २३७-२४१।।

आगे उपयोग में रागादिभाव न होने से सम्यग्दृष्टि के कर्मबन्ध नहीं होता है यह उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं -

जह पुण सो चेव णरो णेहे सव्वह्मि अवणिये संते।
रेणु बहुलम्मि ठाणे करेदि सत्थेहिं वायामं।। २४२।।
छिंददि भिंददि य तहा तालीतलकयलिवंसपिंडीओ।
सच्चित्ताचित्ताणं करेइ दव्वाणमुवघायं।। २४३।।
उवघायं कुव्वंतस्स तस्स णाणाविहेहिं करणेहिं।
णिच्छयदो चिंतिज्जहु किंपच्चयगो ण रयबंधो।। २४४।।
जो सो दु णेहभावो तह्मि णरे तेण तस्स रयबंधो।
णिच्छयदो विण्णेयं ण कायचेट्ठाहिं सेसाहिं।। २४५।।
एवं सम्मादिट्ठी वट्टंतो बहुविहेसु जोगेसु।
अकरंतो उवओगे रागाइ ण लिप्पइ रयेण।। २४६।।

जिस प्रकार फिर वही पुरुष समस्त चिकनाई के दूर किये जाने पर बहुत धूलि वाले स्थान में शस्त्रों द्वारा व्यायाम करता है तथा ताल, तमाल, केला, वांस, अशोक आदि वृक्षों को छेदता है भेदता है सचित्त-अचित्त पदार्थों का उपघात करता है यहां नाना प्रकार के करणों से उपघात करने वाले उस पुरुष के निश्चय से विचारो कि रज का बन्ध नहीं हो रहा है सो किंनिमित्तक है ? उस मनुष्य में जो चिकनाई थी उसी से रज का बन्ध होता था शरीर की अन्य चेष्टाओं से नही। यह निश्चय से जानना चाहिये। अब चूंकि उसके चिकनाई का अभाव हो गया है अत रज का बन्ध भी दूर हो गया है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव जो कि यद्यपि बहुत प्रकार के योगों में - मन, वचन, काय के व्यापारों में प्रवर्तमान है तथापि उपयोग में रागादि भाव नहीं करता है इसलिये कर्मरूपी रज से लिप्त नहीं होता है।। २४२-२४६।।

आगे अज्ञानी और ज्ञानी जीव की विचारधारा प्रकट करते हैं -

जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो।। २४७।।

जो पुरुष ऐसा मानता है कि मैं पर जीव को मारता हूं और पर जीवों के द्वारा मैं मारा जाता हू वह मूढ है, अज्ञानी है और जो इससे विपरीत है वह ज्ञानी है।। २४७।।

आगे उक्त विचार अज्ञान क्यों है ? इसका उत्तर देते हैं -

आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
आउं ण हरेसि तुमं कह ते मरणं कयं तेसिं।। २४८।।
[1]आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
आउं न हरंति तुहं कह ते मरणं कयं तेहिं।। २४९।।

जीवों का मरण आयु के क्षय से होता है ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है, तुम किसी जीव की आयु का हरण नहीं करते हो फिर तुमने उनका मरण कैसे किया ? आयु के क्षय से जीवों का मरण होता है ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है पर जीव तुम्हारी आयु का हरण नही कर सकते, तब फिर उनके द्वारा तुम्हारा मरण किस तरह किया जा सकता है ?।। २४८-२४९।।

आगे मरण से विपरीत जीवित रहने का जो अध्यवसाय है वह भी अज्ञान है ऐसा कहते हैं -

[2]जो मण्णदि जीवेमि य जीविज्जामि य परेहिं सत्ताइ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो।। २५०।।

जो ऐसा मानता है कि मैं पर जीवों को जीवित करता हूं और पर जीवों के द्वारा मैं जीवित होता हू वह मूढ है अज्ञानी है और इससे जो विपरीत है वह ज्ञानी है।। २५०।।

आगे उक्त विचार अज्ञान क्यों है ? इसका उत्तर कहते हैं -

आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू।
आउं च ण देसि तुमं कहं तए जीवियं कयं तेसिं।। २५१।।
[3]आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू।
आउं च ण दिंति तुहं कहं णु ते जीवियं कयं तेहिं।। २५२।।

जीव आयु के उदय से जीवित रहता है ऐसा सर्वज्ञ देव कहते हैं। तुम किसी को आयु नहीं देते फिर

1 यह गाथा ज.वृ में नहीं है। 2 यह गाथा ज वृ में नहीं है। 3 यह गाथा ज वृ में नही है।

तुमने उनका जीवन कैसे किया ? आयु के उदय से जीव जीवित रहता है ऐसा सर्वज्ञ देव कहते हैं तुम्हें कोई आयु नहीं देता फिर उनके द्वारा तुम्हारा जीवन कैसे किया गया ?।। २५१-२५२।।

आगे किसी को दुःखी-सुखी करने का जो विचार है उसकी भी यही गति है यह कहते हैं -

जो अप्पणा दु मण्णदि दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्तेति।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो।। २५३।।

जो ऐसा मानता है कि मैं अपने द्वारा दूसरे जीवों को दुःखी-सुखी करता हू वह मूढ है, अज्ञानी है और इससे जो विपरीत है वह ज्ञानी है।। २५३।।

आगे उक्त विचार अज्ञान क्यों है ? इसका उत्तर देते हैं -

[1]कम्मोदएण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे।
कम्मं च ण देसि तुमं दुक्खिदसुहिदा कहं कया ते।। २५४।।
कम्मोदएण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे।
कम्मं च ण दिंति तुहं करोसि कहं दुक्खिदो तेहिं।। २५५।।
कम्मोदएण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे।
कम्मं च ण दिंति तुहं कह तं सुहिदो कदो तेहिं।। २५६।।

सब जीव कर्म के उदय से यदि दुखी-सुखी होते हैं तो तूं उन्हें कर्म तो देता नही है फिर तेरे द्वारा वे दुखी-सुखी कैसे किये गये ? यदि कर्म के उदय से सब जीव दुखी-सुखी होते हैं तो अन्य जीव तुझे कर्म तो देते नहीं है फिर उनके द्वारा तूं दुखी कैसे किया गया ? यदि समस्त जीव कर्म के उदय से दुखी-सुखी होते हैं तो अन्य जीव तुझे कर्म तो देते नही फिर तू उनके द्वारा सुखी कैसे किया गया ?।। २५४-२५६।।

आगे इसी अर्थ को फिर कहते हैं -

जो मरइ जो य दुहिदो जायदि कम्मोदयेण सो सव्वो।
तह्मा दु मारिदो दे दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा।। २५७।।
जो ण मरदि ण य दुहिदो [2]सो वि य कम्मोदयेण चेव खलु।
तह्मा ण मारिदो णो दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा।। २५८।।

जो मरता है और जो दुःखी होता है वह सब अपने कर्मोदय से होता है इसलिये अमुक व्यक्ति तेरे द्वारा मारा गया तथा अमुक व्यक्ति दुखी किया गया यह अभिप्राय क्या मिथ्या नही है ? मिथ्या ही है। जो नही मरता है और नहीं दुखी होता है वह सब यथार्थ में अपने कर्मोदय से होता है इसलिये अमुक व्यक्ति तेरे द्वारा नहीं मारा गया, नहीं दुःखी किया गया यह अभिप्राय क्या मिथ्या नही है ? मिथ्या ही है।। २५७-२५८।।

आगे उक्त विचार ही बन्ध के कारण हैं यह कहते हैं -

एसा दु जा मई दे दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्तेति।
एसा दे मूढमई सुहासुहं बंधए कम्मं।। २५९।।

मैं जीवों को दुःखी और सुखी करता हूं यह जो बुद्धि है सो मूढ बुद्धि है। यह मूढबुद्धि ही शुभ-अशुभ कर्मों को बांधती है।। २५९।।

1 कम्मणिमित्त सव्वे दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सत्ता ज वृ.। 2 सो वि य कम्मोदयेण खलु जीवो ज वृ.।

आगे मिथ्याध्यवसाय बन्ध का कारण है यह कहते हैं -

दुक्खिदसुहिदे सत्ते करेमि जं एवमज्झवसिद ते।
तं पावबंधगं वा पुण्णस्स व बंधगं होदि।। २६०।।
मारिमि जीवावेमि य सत्ते जं एवमज्झवसिदं ते।
तं पावबंधग वा पुण्णस्स व बंधगं होदि।। २६१।।

मैं जीवों को दु खी-सुखी करता हूं यह जो तेरा अध्यवसाय है सो वह ही पाप का बन्ध करने वाला अथवा पुण्य का बन्ध करने वाला होता है। मैं सब जीवों को मारता हूं अथवा जीवित करता हू ऐसा जो तेरा अध्यवसाय है वही पाप का बन्ध करने वाला अथवा पुण्य का बन्ध करने वाला होता है।। २६०-२६१।।

आगे हिंसा का अध्यवसाय ही हिंसा है यह कहते हैं -

अज्झवसिदेण बंधो सत्ते [1]मारेउ मा व [2]मारेउ।
एसो बंधसमासो जीवाण णिच्छयणयस्स।। २६२।।

अध्यवसाय से बन्ध होता है, जीवों को मारो अथवा मत मारो यह निश्चय नय की अपेक्षा जीवों के बन्ध का सक्षेप है।। २६२।।

आगे हिंसा के अध्यवसाय के समान असत्य वचन आदि का अध्यवसाय भी बन्ध का कारण है यह कहते हैं -

एवमलिये अदत्ते अबंभचेरे परिग्गहे चेव।
कीरइ अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झए पाव।। २६३।।
तहवि य सच्चे दत्ते बंभे अपरिग्गहत्तणे चेव।
कीरइ अज्झवसाण जं तेण दु बज्झए पुण्ण।। २६४।।

इसी प्रकार असत्य चौर्य अब्रह्म और परिग्रह के विषय में जो अध्यवसाय किया जाता है उससे पाप का बन्ध होता है तथा सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहपने के विषय में जो अध्यवसाय किया जाता है उससे पुण्य का बन्ध होता है।। २६३-२६४।।

आगे कहते हैं कि बाह्य वस्तु बन्ध का कारण नही है -

वत्थु पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं तु होइ जीवाण।
ण य वत्थुदो दु बधो अज्झवसाणेण बंधोत्थि।। २६५।।

जीवों के जो अध्यवसान है वह वस्तु के अवलम्बन से होता है। वस्तु से बन्ध नही होता है। किन्तु अध्यवसान से ही बन्ध होता है।। २६५।।

आगे जीव जैसा अध्यवसाय करता है वैसी ही कार्य की परिणति नहीं होती यह कहते हैं -

दुक्खिदसुहिदे जीवे करमि बंधेमि तह विमोचेमि।
जा एसा मूढमई णिरत्थया सा हु दे मिच्छा।। २६६।।

मैं जीवों को दुखी सुखी करता हू, बधाता हूं अथवा छुडाता हूं यह जो तेरी मूढबुद्धि है वह निरर्थक है इसलिये निश्चय से मिथ्या है।। २६६।।

आगे अध्यवसान स्वार्थक्रियाकारी किस प्रकार नहीं है यह कहते हैं -

---
1 मारेहि ज वृ । 2 मारेहि ज वृ ।

अज्झवसाणणिमित्तं जीवा बज्झंति कम्मणा जदि हि।
मुच्चंति मोक्खमग्गे ठिदा य ता किं करोसि तुमं।। २६७।।[1]

यदि जीव अध्यवसान के कारण कर्म से बधते हैं और मोक्षमार्ग में स्थित हुए कर्म से छूटते हैं तो इसमें तू क्या करता है ?

भावार्थ - यह जो बांधने छोडने का अध्यवसान है उसने पर में कुछ भी नहीं किया। क्योंकि इसके न होने पर जीव अपने सराग-वीतराग परिणामों से ही बन्ध-मोक्ष को प्राप्त होता है और इसके होने पर भी जीव अपने सराग-वीतराग परिणामों के अभाव में बन्ध मोक्ष को प्राप्त नहीं होता। इसलिये अध्यवसान पर में अकिंचित्कर होने से स्वार्थक्रियाकारी नहीं है।। २६७।।

आगे रागादि के अध्यवसान से मोहित हुआ जीव समस्त परद्रव्यों को अपना समझता है यह कहते हैं -

सव्वे करेइ जीवो अज्झवसाणेण तिरियणेरयिए।
देवमणुये य सव्वे पुण्णं पावं च णेयविहं।। २६८।।
धम्माधम्मं च तहा जीवाजीवे अलोयलोयं च।
सव्वे करेइ जीवो अज्झवसाणेण अप्पाणं।। २६९।।

जीव अध्यवसान के द्वारा समस्त तिर्यंच नारकी देव, मनुष्य सभी पर्यायों को अपना करता है, अनेक प्रकार के पुण्य-पाप को अपना करता है तथा धर्म, अधर्म, जीव अजीव, अलोक और लोक सभी को अपना करता है।। २६८-२६९।।

आगे कहते हैं कि जिन मुनियों के उक्त अध्यवसान नहीं हैं वे कर्म बन्ध से लिप्त नहीं हैं -

एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणि।
ते असुहेण सुहेण व कम्मेण मुणी ण लिप्पंति।। २७०।।[2]

ये तथा इस प्रकार के अन्य अध्यवसान जिन मुनियों के नहीं हैं वे मुनि अशुभ अथवा शुभ कर्म से लिप्त नहीं होते हैं।। २७०।।

आगे अध्यवसान की नामावली कहते हैं -

बुद्धी ववसाओवि य अज्झवसाणं मई य विण्णाणं।
एक्कट्ठमेव सव्वं चित्तं भावो य परिणामो।। २७१।।

---

1 २६७ वीं गाथा के आगे ज वृ में निम्नांकित गाथा अधिक पाये जाते हैं -
कायेण दुक्खवेमिय सत्ते एव जु ज मदि कुणसि।
सव्वावि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता।।
वाचाए दुक्खवेमिय सत्ते एव तु ज मदि कुणसि।
सव्वावि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता।।
मणसाए दुक्खवेमिय सत्ते एव तु ज मदि कुणसि।
सव्वावि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता।।
सच्छेण दुक्खवेमिय सत्ते एव तु ज मदि कुणसि।
सव्वावि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता।।
कायेण च वाचा वा मणेण सुहिदे करेमि सत्तेति।
एव पि हवदि मिच्छा सुहिदा कम्मेण जदि सत्ता।। ज.वृ।

2 इसके आगे ज वृ में निम्न गाथा अधिक है -
जा संकप्पवियप्पा ता कम्मं कुणदि असुहसुहजणयं। अप्पसरूवा रिद्धी जाव ण हियए परिप्फुरइ।। ज वृ।

बुद्धि, व्यवसाय, अध्यवसान, मति, विज्ञान, चित्त, भाव और परिणाम ये सब एकार्थ ही हैं - इनमें अर्थ भेद नहीं है।। २७१।।

आगे व्यवहारनय निश्चयनय के द्वारा प्रतिषिद्ध है यह कहते हैं -

एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण।
[1]णिच्छयणयासिदा पुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं।। २७२।।

इस प्रकार व्यवहारनय निश्चयनय के द्वारा प्रतिषिद्ध है ऐसा जानो। जो मुनि निश्चय नय के आश्रित हैं वे मोक्ष को पाते हैं।। २७२।।

आगे अभव्य के द्वारा व्यवहारनय का आश्रय क्यों किया जाता है ? इसका उत्तर कहते हैं -

वदसमिदीगुत्तीओ सीलतवं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
कुव्वंतोवि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठी दु।। २७३।।

अभव्य जीव, जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे हुए व्रत, समिति, गुप्ति, शील तथा तप को करता हुआ भी अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि ही रहता है।। २७३।।

आगे कोई पूछता है कि अभव्य के तो ग्यारह अंग तक का ज्ञान होता है उसे अज्ञानी क्यों कहते हो ? इसका उत्तर देते हैं -

मोक्खं असद्दहंतो अभवियसत्तो दु जो अधीएज्ज।
पाठो ण करेदि गुणं असद्दहंतस्स णाणं तु।। २७४।।

मोक्ष तत्व की श्रद्धा न करने वाला अभव्य जो अध्ययन करता है उसका वह अध्ययन कुछ भी गुण-लाभ नहीं करता है क्योंकि उसके ज्ञान की श्रद्धा नहीं है।। २७४।।

आगे फिर कोई पूछता है कि उसके धर्म का श्रद्धान तो है उसका निषेध कैसे करते हो ? इसका उत्तर देते हैं -

सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह [2]पुणो य फासेदि।
धम्मं भोगणिमित्तं ण [3]दु सो कम्मक्खयणिमित्तं।। २७५।।

वह अभव्य जीव धर्म का श्रद्धान करता है प्रतीति करता है रुचि करता है और अनुष्ठान रूप से स्पर्श करता है परन्तु भोग में निमित्तभूत धर्म का श्रद्धान आदि करता है कर्मक्षय में निमित्तभूत धर्म का श्रद्धानादि नहीं करता।

भावार्थ - अभव्य जीव शुभोपयोग रूप धर्म का श्रद्धानादि करता है जो कि सासारिक भोगों का कारण है। शुद्धोपयोग रूप धर्म का श्रद्धानादि नही करता जो कि कर्म क्षय का कारण है।। २७५।।

आगे व्यवहार को प्रतिषेध्य और निश्चय को प्रतिषेधक कहा सो इनका क्या स्वरूप है ? यह कहते हैं -

आयारादि णाणं जीवादी दंसणं च विण्णेयं।
[4]छज्जीवणिकं च तहा भणइ चरित्तं तु ववहारो।। २७६।।
आदा खु मज्झ [5]णाणं आदा मे [6]दंसणं [7]चरित्तं च।
आदा [8]पच्चक्खाणं आदा मे [9]संवरो जोगो[10]।। २७७।।

---

1 णिच्छयणयसल्लीणा ज वृ । 2 पुणोवि ज वृ । 3 हु ज वृ । 4 छज्जीवाणं रक्खा ज वृ । 5 णाणे। 6 दसणे। 7 चरित्ते। 8 पच्चक्खाणे। 9 सवरे। 10 जोगे ज वृ ।

आचारांग आदि शास्त्र ज्ञान है, जीवादि तत्वों को दर्शन जानना चाहिये, छह निकाय के जीव चारित्र हैं ऐसा व्यवहारनय कहता है। और मेरा आत्मा ही ज्ञान है, मेरा आत्मा ही दर्शन और चारित्र है, मेरा आत्मा ही प्रत्याख्यान है तथा मेरा आत्मा ही संवर और योग है ऐसा निश्चय नय कहता है।। २७६-२७७।।

आगे रागादि के होने में कारण क्या है ? इसका उत्तर देते हैं -

जह फलिहमणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं।
रंगिज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादीहिं दव्वेहिं।। २७८।।
एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रागादीहिं दोसेहिं।। २७९।।

जैसे स्फटिकमणि स्वय शुद्ध है वह राग - लालिमा आदि रूप स्वयं परिणमन नहीं करता किन्तु अन्य लाल आदि द्रव्यों से लाल आदि रंग रूप हो जाता है। इसी प्रकार ज्ञानी स्वय शुद्ध है, वह राग - प्रीति आदि रूप स्वयं परिणमन नहीं करता किन्तु अन्य रागादि दोषों से रागादि रूप हो जाता है।। २७८-२७९।।

आगे ज्ञानी रागादि का कर्ता क्यों नहीं है ? इसका उत्तर देते हैं -

[1]ण य रायदोसमोहं कुव्वदि णाणी कसायभावं वा।
सयमप्पणो ण सो तेण कारगो तेसि भावाणं।। २८०।।

ज्ञानी स्वय राग, द्वेष, मोह तथा कषायभाव को नहीं करता है इसलिये वह उन भावों का कर्ता नहीं है।। २८०।।

आगे अज्ञानी रागादि का कर्ता है यह कहते हैं -

रायह्मि य दोसह्मि य कसायकम्मेसु चेव जे भावा।
[2]तेहिं दु परिणमंतो रायाई बंधदि पुणोवि।। २८१।।

राग, द्वेष और कषाय कर्म के होने पर जो भाव होते हैं उनसे परिणमता हुआ अज्ञानी जीव रागादि को बार-बार बांधता है।। २८१।।

आगे उक्त कथन से जो बात सिद्ध हुई उसे कहते हैं -

रायह्मि य दोसह्मि य कसायकम्मेसु चेव जे भावा।
[3]तेहिं दु परिणमंतो रायाई बंधदे चेदा।। २८२।।

राग, द्वेष और कषाय कर्म के रहते हुए जो भाव होते हैं उनसे परिणमता आत्मा रागादि को बांधता है।। २८२।।

आगे कोई प्रश्न करता है कि जब अज्ञानी के रागादि कर्म बन्ध के कारण हैं तब ऐसा क्यों कहा जाता है कि आत्मा रागादिक का अकर्ता ही है ? इसका समाधान करते हैं -

अपडिक्कमणं दुविहं अपच्चक्खाणं तहेव विण्णेयं।
[4]एएणुवएसेण य अकारओ वण्णिओ चेया।। २८३।।
अपडिक्कमणं दुविहं दव्वे भावे तहा अपच्चक्खाणं।
[5]एएणुवएसेण य अकारओ वण्णिओ चेया।। २८४।।

---

1 णवि ज वृ । 2 ते सम दु ज वृ । 3 ते मम दु ज वृ । 4-5 एदेणुवदेसेण दु अकारगो वण्णिदो चेदा ज वृ ।

[1]जावं अपडिक्कमणं अपच्चखाणं च दव्वभावाणं।
[2]कुव्वइ आदा तावं कत्ता सो होइ णायव्वो।। २८५।।

जिस प्रकार अप्रतिक्रमण दो प्रकार का है उसी प्रकार अप्रत्याख्यान भी दो प्रकार का जानना चाहिये। इस उपदेश से आत्मा अकारक कहा है। अप्रतिक्रमण दो प्रकार है एक द्रव्य में और दूसरा भाव में। इसी प्रकार अप्रत्याख्यान भी दो प्रकार का है - एक द्रव्य में दूसरा भाव में। इस उपदेश से आत्मा अकारक है। जब तक आत्मा द्रव्य और भाव में अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान करता है तब तक वह आत्मा कर्ता होता रहता है यह जानना चाहिये।। २८३-२८५।।

आगे द्रव्य और भाव में जो निमित्त-नैमित्तिकपना है उसे उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं -

[3]आधाकम्माईया पुग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा।
कह ते कुव्वइ णाणी परदव्वगुणा उ जे णिच्चं।। २८६।।
आधाकम्मं उद्देसियं च पुग्गलमयं इमं दव्वं।
कह तं मम होइ कयं जं णिच्चमचेयणं उत्तं।। २८७।।

अध कर्म को आदि लेकर पुद्गल द्रव्य के जो दोष हैं उन्हें ज्ञानी कैसे कर सकता है क्योंकि ये निरन्तर पर द्रव्य के गुण हैं। और यह जो अध कर्म तथा उद्देश्य से उत्पन्न हुआ पुद्गल द्रव्य है वह मेरा कैसे हो सकता है वह तो निरन्तर अचेतन कहा गया है।

भावार्थ - जो आहार पाप कर्म के द्वारा उत्पन्न हो उसे अध कर्म निष्पन्न कहते हैं और जो आहार किसी के निमित्त बना हो उसे औद्देशिक कहते हैं। मुनिधर्म में उक्त दोनों प्रकार के आहार दोषपूर्ण माने गये हैं। ऐसे आहार को जो सेवन करता है उसके वैसे ही भाव होते हैं क्योंकि लोक में प्रसिद्ध है कि जो जैसा अन्न खाता है उसकी बुद्धि वैसी ही होती है। इस प्रकार द्रव्य और भाव का निमित्त-नैमित्तिकपना जानना चाहिये। द्रव्य कर्म निमित्त है और उसके उदय में होने वाले रागादि भाव नैमित्तिक हैं। अज्ञानी जीव परद्रव्य को ग्रहण करता है - उसे अपना मानता है इसलिये उसके रागादिभाव होते हैं उनका वह कर्ता भी होता है और उसके फलस्वरूप कर्म का बन्ध भी करता है परन्तु ज्ञानी जीव किसी पर द्रव्य को ग्रहण नही करता - अपना नहीं मानता इसलिये उसके तद्विषयक रागादि भाव उत्पन्न नही होते। उनका यह कर्ता नही होता और फलस्वरूप नूतन कर्म का बन्ध नही करता।। २८६-२८७।।

इस प्रकार बन्धाधिकार पूर्ण हुआ।

*

---

1 जाव ण पच्चक्खाण अपडिक्कमण तु दव्वभावाण ज वृ । 2 कुव्वदि आदा तावदु कत्ता सो होदि णादव्वो ज वृ ।

3 आधाकम्मादीया पुग्गलदव्वस्स जे इम दोसा।
कहमणुमण्णदि अण्णेण कीरमाणा परस्स गुणा।।
आधाकम्म उद्देसिय च पोग्गल मय इम दव्व।
कह त मम कारविद ज णिच्चमचेदण वुत्त।। ज वृ ।

मोक्षाधिकारः

आगे जो पुरुष बन्ध का स्वरूप जानकर ही संतुष्ट हो जाते हैं उसके नष्ट करने का प्रयास नहीं करते उनके मोक्ष नहीं होता यह कहते हैं -

जह णाम कोवि पुरिसो बंधणयम्हि चिरकालपडिबद्धो।
तिव्वं मंदसहावं कालं च वियाणए तस्स।। २८८ ।।
जह णवि कुणइ च्छेदं ण मुच्चए तेण बंधणवसो सं।
कालेण उ बहुएणवि ण सो णरो पावइ विमोक्खं।। २८९ ।।
इय कम्मबंधणाण [1]पएसठिइपयडिमेवमणुभागं।
जाणंतो वि ण मुच्चइ [2]मुच्चइ सो चेव जइ सुद्धो।। २९० ।।

जिस प्रकार कोई पुरुष बन्धन में बहुत काल का बधा हुआ उस बन्धन के तीव्र-मन्द स्वभाव तथा समय को जानता है परन्तु यदि उसका छेदन नहीं करता है तो वह पुरुष बन्धन का वशीभूत हुआ बहुत काल में भी उससे मोक्ष - छुटकारा नहीं पाता है उसी प्रकार जो पुरुष कर्म बन्ध के प्रदेश, स्थिति, प्रकृति तथा अनुभाग रूप भेदों को जानता हुआ भी उनका छेदन नहीं करता वह कर्म बन्धन से मुक्त नहीं होता है। यदि वह शुद्ध होता है - रागादि भावों को दूर कर अपनी परिणति को निर्मल बनाता है तो मुक्त होता है।। २८८ -२९० ।।

आगे बन्ध की चिन्ता करने पर भी बन्ध नहीं छूटता है यह कहते हैं -

जह बधे चिंतंतो बंधणबद्धो ण [3]पावइ विमोक्खं।
तह बधे चिंततो जीवोवि ण [4]पावइ विमोक्खं।। २९१ ।।

जैसे बन्धन में बधा हुआ पुरुष बधन की चिन्ता करता हुआ भी उससे मोक्ष - छुटकारा नहीं पाता है उसी प्रकार कर्म बन्ध की चिन्ता करता हुआ जीव भी उससे मोक्ष को नहीं पाता है।। २९१ ।।

आगे, तो फिर मोक्ष का कारण क्या है ? इसका उत्तर देते हैं -

जह बंधे [5]छित्तूण य बधणबद्धो उ [6]पावइ विमोक्खं।
तह बंधे [7]छित्तूण य जीवो [8]सपावइ विमोक्खं।। २९२ ।।

जिस प्रकार बन्धन से बधा हुआ पुरुष बंधनों को छेदकर मोक्ष को पाता है उसी प्रकार जीव कर्मबन्धनों को छेदकर मोक्ष को पाता है।। २९२ ।।

आगे क्या यही मोक्ष का हेतु है या अन्य कुछ भी ? इसका उत्तर कहते हैं -

बंधाणं च सहावं वियाणिओ अप्पणो सहावं च।
बंधेसु [9]जो विरज्जदि सो कम्मविमोक्खणं [10]कुणई।। २९३ ।।

जो बन्धों का स्वभाव और आत्मा का स्वभाव जानकर बन्धों में विरक्त होता है वह कर्मों का मोक्ष करता है।। २९३ ।।

आगे पूछते हैं कि आत्मा और बन्ध पृथक्-पृथक् किससे किये जाते हैं -

---

1 पदेसपयडिट्ठिदीय ज वृ । 2 मुच्चदि सव्वे जदि विसुद्धो ज वृ । (मुच्चदि सव्वे जदि स बधे) पाठान्तरम् ज वृ । 3-4 पावदि ज वृ । 5 मुत्तूणय। 6 पावदि। 7 मुत्तूण य। 8 सपावदि। 9 जो ण रज्जदि। 10 कुणदि।

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं।

पण्णाछेदणएण[1] उ छिण्णा णाणत्तमावण्णा।। २९४।।

जीव और बन्ध ये दोनों अपने-अपने नियत लक्षणों से बुद्धिरूपी छेनी के द्वारा इस प्रकार छेदे जाते है कि वे नानापन को प्राप्त हो जाते हैं।। २९४।।

आगे कोई पूछता है कि आत्मा और बन्ध को द्विधा करके क्या करना चाहिये ? इसका उत्तर कहते हैं -

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहि णियएहिं।

बंधो छेएयव्वो[2] सुद्धो अप्पा य घेत्तव्वो।। २९५।।

अपने-अपने निश्चित लक्षणों के द्वारा जीव और बन्ध को उस तरह भिन्न करना चाहिये जिस तरह कि बन्ध छिद जावे और शुद्ध आत्मा का ग्रहण हो जावे।। २९५।।

आगे कहते हैं कि आत्मा और बन्ध को द्विधा करने का यही प्रयोजन है कि बन्ध को छोडकर शुद्ध आत्मा का ग्रहण हो जावे -

कह सो घिप्पइ[3] अप्पा पण्णाए सो उ घिप्पए[4] अप्पा।

जह पण्णाइ विहत्तो तह पण्णाए व घित्तव्वो।। २९६।।

शिष्य पूछता है कि उस आत्मा का ग्रहण किस प्रकार होता है ? आचार्य उत्तर देते हैं कि प्रज्ञा के द्वारा उस आत्मा का ग्रहण होता है। जिस प्रकार प्रज्ञा से उसे पहले भिन्न किया था उसी प्रकार प्रज्ञा से ही उसे ग्रहण करना चाहिये।। २९६।।

आगे पूछते हैं कि प्रज्ञा के द्वारा आत्मा का ग्रहण किस प्रकार करना चाहिये ? -

पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा सो अह तु णिच्छयदो।

अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णायव्वा।। २९७।।

जो चेतन स्वरूप आत्मा है वह निश्चय से मैं हू इस प्रकार प्रज्ञा के द्वारा ग्रहण करना चाहिये और बाकी जो भाव हैं वे मुझसे पर हैं ऐसा जानना चाहिये।। २९७।।

आगे मैं ज्ञाता-द्रष्टा हूं ऐसा प्रज्ञा के द्वारा ग्रहण करना चाहिये -

पण्णाए घित्तव्वो जो दट्ठा अह तु णिच्छयओ।

अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णायव्वा।। २९८।।

पण्णाए घित्तव्वो जो णादा सो अहं तु णिच्छयदो।

अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णादव्वा।। २९९।।

प्रज्ञा के द्वारा इस प्रकार ग्रहण करना चाहिये कि जो द्रष्टा है - देखने वाला है वह निश्चय से मैं हू और अवशिष्ट जो भाव हैं वे मुझसे पर हैं ऐसा जानना चाहिये। प्रज्ञा के द्वारा इस प्रकार ग्रहण करना चाहिये कि जो ज्ञाता है निश्चय से मैं हू बाकी जो भाव है वे मुझसे पर हैं ऐसा जानना चाहिये।। २९८-२९९।।

आगे इसी बात का समर्थन करते हैं -

को णाम भणिज्ज बुहो णाउं[5] सव्वे पराइए भावे।

मज्झमिणंति य वयणं जाणंतो अप्पयं सुद्धं।। 300।।

---

1 दु ज वृ । 2 छेदेदव्वो ज वृ । 3 घिप्पदि ज वृ । 4 घिप्पदे ज वृ । 5 णादु सव्वे पराइये भावे ज वृ ।

शुद्ध आत्मा को जानता हुआ कौन ज्ञानी समस्त परभावों को जानकर ऐसे वचन कहेगा कि ये भाव मेरे हैं ? अर्थात् कोई नहीं।।३००।।

आगे अपराध बन्ध का कारण है यह दृष्टान्त द्वारा सिद्ध करते हैं -

[1]थेयाई अवराहे कुव्वदि जो सो [2]उ संकिदो भमई।
मा [3]वज्झेज्जं केणवि चोरोत्ति [4]जणम्मि वियरंतो।।३०१।।
जो ण [5]कुणइ अवराहे सो णिस्संको दु जणवए भमदि।
णवि तस्स [6]वज्झिदुं जे चिंता उप्पज्जदि [7]कयाइ।।३०२।।
एवं हि सावराहो बज्झामि अहं तु संकिदो चेया[8]।
जइ[9] पुण णिरवराहो णिस्संकोहं ण बज्झामि।।३०३।।

जो पुरुष चोरी आदि अपराधों को करता है वह इस प्रकार शंकित होकर घूमता है कि मैं मनुष्यों में विचरण करता हुआ "चोर हूं" यह समझकर बांधा न जाऊ ? इसके विपरीत जो अपराध नहीं करता है वह नि शंक होकर देश में घूमता है उसे बंधने की चिन्ता कभी भी उत्पन्न नहीं होती। इस प्रकार यदि मैं अपराध सहित हू तो बधूगा इस शंका से युक्त आत्मा रहता है। और यदि मैं निरपराध हूं तो नि शंक हू और कर्मों से बन्ध को प्राप्त नहीं होऊंगा।।३०१-३०३।।

आगे यह अपराध क्या है ? इसका उत्तर देते हैं -

संसिद्धिराधसिद्धं [10]साधियमाराधियं च एयट्ठं।
अवगयराधो जो खलु चेया सो होइ अवराधो।।३०४।।
[11]जो पुण णिरवराधो चेया णिस्संकिओ उ सो होइ।
आराहणाए णिच्चं वट्टेइ अहं ति जाणंतो।।३०५।।

संसिद्धि, राध, सिद्ध, साधित और आराधित ये सब एकार्थ हैं। इसलिये जो आत्मा राध से रहित हो वह अपराध है। और जो आत्मा निरपराध है - अपराध से रहित है वह नि शंकित है तथा "मैं हूं" इस प्रकार जानता हुआ निरन्तर आराधना से युक्त रहता है।

भावार्थ - शुद्ध आत्मा की सिद्धि अथवा साधन को राध कहते हैं। जिसके यह नहीं है वह आत्मा सापराध है और जिसके यह हो वह निरपराध है। सापराध पुरुष के बन्ध की शंका सभव है इसलिये वह अनाराधक है और निरपराध पुरुष नि शक हुआ अपने उपयोग में लीन होता है। उस समय बन्ध की शंका नहीं होती। वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र तथा तप का एकभाव रूप जो निश्चय आराधना है उसका आराधक होता है।।३०४-३०५।।

आगे कोई प्रश्न करता है कि शुद्ध आत्मा की उपासना से क्या प्रयोजन है ? क्योंकि प्रतिक्रमणादि के द्वारा ही सापराध आत्मा शुद्ध हो जाती है। अप्रतिक्रमण आदि से अपराध दूर नहीं होता इसलिये उन्हें अन्यत्र विषकुम्भ कहा है और प्रतिक्रमण आदि से अपराध दूर हो जाता है इसलिये अमृतकुम्भ कहा है[12] ? इसका उत्तर देते हैं -

1 तेयादी। 2 ससंकिदो। 3 बज्झेहं। 4 जणसि। 5 कुणदि। 6 बज्झिदु। 7 कयावि। 8 चेदा। 9 जो ज वृ । 10 साधिदमाराधिक च एयट्ठो। अवगदराधो जो खलु चेदा सो होदि अवराहो।। ज.वृ । 11 यह गाथा ज.वृ में नहीं है। 12 उक्त च व्यवहारसूत्रे आ वृ , तथा चोक्ते चिरन्तनप्रायश्चित्तग्रन्थे -

पडिकमणं पडिसरणं[1] परिहारो धारणा णियत्ती य।
णिंदा गरहा सोही अट्ठविहो होइ विसकुंभो।। ३०६।।
अपडिकमणं अप्पडिसरण अप्परिहारो अधारणा चेव।
अणियत्तीय अणिंदा गरहा सोही अमयकुंभो।। ३०७।।

प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और शुद्धि इस तरह आठ प्रकार का विषकुम्भ होता है और अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिन्दा, अगर्हा और अशुद्धि इस तरह आठ प्रकार का अमृतकुम्भ होता है।

भावार्थ - यद्यपि द्रव्य प्रतिक्रमणादि दोष के मेंटने वाले हैं परन्तु शुद्ध आत्मा का स्वरूप प्रतिक्रमणादि रहित है। शुद्ध आत्मा के आलम्बन के बिना द्रव्य प्रतिक्रमणादि दोष स्वरूप ही हैं। मोक्षमार्ग में उसी व्यवहारनय का आलम्बन ग्राह्य माना गया है जो निश्चय की अपेक्षा से सहित होता है। अज्ञानी जीव के प्रतिक्रमणादि विषकुम्भ तो हैं ही परन्तु ज्ञानी जीव के भी व्यवहार चारित्र में जो प्रतिक्रमणादि कहे हैं वे भी निश्चय कर विषकुम्भ ही हैं, यथार्थ में आत्मा प्रतिक्रमणादि रहित शुद्ध अप्रतिक्रमणादि स्वरूप है ऐसा जानना चाहिये।। ३०६-३०७।।

इस प्रकार मोक्षाधिकार समाप्त हुआ।

*

सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार:

आगे आत्मा अकर्ता है यह दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं -

दवियं जं उप्पज्जइ गुणेहिं त तेहिं जाणसु अणण्णं।
जह कडयादीहिं दु[2] पज्जएहिं कणयं अणण्णमिह।। ३०८।।
जीवस्साजीवस्स दु जे परिणामा दु देसिया[3] सुत्ते।
तं जीवमजीवं वा तेहिमणण्णं वियाणाहि।। ३०९।।
ण कुदोचि वि उप्पण्णो जम्हा कज्जं ण तेण सो आदा।
उप्पादेदि ण किंचिवि कारणमवि तेण ण स होइ।। ३१०।।
कम्मं पडुच्च कत्ता कत्तार तह पडुच्च कम्माणि।
[4]उप्पंजंति य णियमा सिद्धी दु ण [5]दीसए अण्णा।। ३११।।

इस लोक में जिस प्रकार सुवर्ण अपने कटकादि पर्यायों से अनन्य - अभिन्न है उसी प्रकार जो द्रव्य अपने जिन गुणों से उत्पन्न होता है उसे उन गुणों से अनन्य - अभिन्न जानो। आगम में जीव और अजीव द्रव्य के जो पर्याय कहे गये हैं जीव और अजीव द्रव्य को उनसे अभिन्न जानो। चूंकि आत्मा किसी से उत्पन्न नहीं हुआ है

अप्पडिक्कमण अपरिसरण अप्पहिहारो अधारणा चव।
अणियत्ती य अणिंदा अगरुहा सोही व विसकुंभो।।
पडिकमण पडिसरण परिहरणं धारणा णियत्ती य।
णिंदा गरुहा सोही अट्ठविहो अमयकुंभो।।

1 परिहरण धारणा णियत्ती य ज.वृ.।

2 य। 3 देसिदा। 4 उप्पज्जते। 5 विस्सदे।

इसलिये कार्य नहीं है और न किसी को उत्पन्न करता है इसलिये वह कारण भी नहीं है। कर्म को आश्रय कर कर्ता होता है और कर्ता को आश्रय कर कर्म उत्पन्न होते हैं ऐसा नियम है। कर्ता-कर्म की सिद्धि अन्य प्रकार नही देखी जाती।। ३०८-३११।।

आगे आत्मा का ज्ञानावरणादि कर्मों के साथ जो बन्ध होता है वह अज्ञान का माहात्म्य है यह कहते हैं -

[1]चेया उ पयडीयट्ठं उपज्जइ विणस्सइ।
पयडीवि चेययट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ।। ३१२।।
एवं बंधो उ दुण्हंपि अण्णोण्णप्पच्चया हवे।
अप्पणो पयडीए य संसारो तेण जायए[2]।। ३१३।।

आत्मा ज्ञानावरणादि कर्म प्रकृतियों के निमित्त से उत्पन्न होता है तथा विनाश को प्राप्त होता है और प्रकृति भी आत्मा के लिये उत्पन्न होती है तथा विनाश को प्राप्त होती है। इस प्रकार दोनों, आत्मा और प्रकृति के परस्पर निमित्त से बन्ध होता है और उस बन्ध से संसार उत्पन्न होता है।। ३१२-३१३।।

आगे कहते हैं कि जब तक आत्मा प्रकृति के निमित्त से उपजना विनशना नहीं छोडता है तब तक अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि और असंयत रहता है -

जा एसो पयडीयट्ठं चेया णेव विमुंचए।
अयाणओ हवे ताव मिच्छाइट्ठी असंजओ।। ३१४।।
जया विमुंचए चेया कम्मप्फलमणंतयं।
तया विमुत्तो हवइ जाणओ पासओ मुणी।। ३१५।।

यह आत्मा जब तक प्रकृति के निमित्त से उपजना विनशना नहीं छोडता तब तक अज्ञानी मिथ्यादृष्टि और असंयमी होता है तथा जब आत्मा अनन्त कर्मफल को छोड देता है तब बन्ध से रहित हुआ ज्ञाता-द्रष्टा एव मुनि-सयमी होता है।। ३१४-३१५।।

आगे अज्ञानी ही कर्म फल का वेदन करता है ज्ञानी नहीं यह कहते हैं -

अण्णाणी कम्मफलं पयडिसहावट्ठिओ दु वेदेइ[3]।
णाणी पुण कम्मफलं [4]जाणइ उदियं ण वेदेइ।। ३१६।।

प्रकृति के स्वभाव में स्थित हुआ अज्ञानी जीव कर्म के फल को भोगता है और ज्ञानी जीव उदयागत कर्मफल को जानता है, भोगता नहीं है।। ३१६।।[5]

आगे अज्ञानी भोक्ता ही है ऐसा नियम करते हैं -

ण मुयइ पयडिमभव्वो सुट्ठुवि अज्झाइऊण सत्याणि।
गुडदुद्धंपि पिवंता ण पण्णया णिव्विसा हुंति।। ३१७।।

---

1 चेदा। 2 अनुष्टुप् छन्द । 3 वेदेदि ज.वृ.। 4 जाणदि उदिदं ण वेदेदि ज.वृ.। 5 इसके आगे ज.वृ. में निम्न गाथा अधिक है -
जो पुण णिरावराहो चेदा णिस्संकिदो दु सो होदि।
आराहणाए णिच्चं वट्टदि अहमिदि वियाणंतो।।

अभव्य अच्छी तरह शास्त्रों को पढकर भी प्रकृति को नहीं छोडता है क्योंकि साँप गुड और दूध पीकर भी निर्विष नहीं होते।। ३१७।।

आगे ज्ञानी अभोक्ता ही है यह नियम करते हैं -

णिव्वेयसमावण्णो णाणी कम्मप्फलं वियाणेहि[1]।
महुरं कडुयं बहुविहमवेयओ[2] तेण सो होई।। ३१८।।

वैराग्य को प्राप्त हुआ ज्ञानी जीव अनेक प्रकार के[3] मधुर-शुभ और कटुक-[4]अशुभ कर्मों के फल को जानता है इसलिये वह अवेदक - अभोक्ता होता है।। ३१८।।

आगे इसी अर्थ का समर्थन करते हैं -

णवि कुव्वइ[5] णवि वेयइ[6] णाणी कम्माइं[7] बहुपयाराइं[8]।
[9]जाणइ पुण कम्मफलं बंध पुण्णं च पावं च।। ३१९।।

ज्ञानी बहुत प्रकार के कर्मों को न तो करता है और न भोगता है परन्तु कर्म के बन्ध को और पुण्य-पाप रूपी कर्म के फल को जानता है।। ३१९।।

आगे इसी बात को दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं -

[10]दिट्ठि जहेव णाणं अकारयं तह अवेदयं चेव।
[11]जाणइ य बंधमोक्खं कम्मुदयं णिज्जरं चेव।। ३२०।।

जिस प्रकार नेत्र पदार्थों को देखता मात्र है उनका कर्ता और भोगता नहीं है उसी प्रकार ज्ञान, बन्ध और मोक्ष को तथा कर्मोदय और निर्जरा को जानता मात्र है उनका कर्ता और भोक्ता नहीं है।। ३२०।।

आगे आत्मा को जो कर्ता मानते हैं वे अज्ञानी हैं और उन्हें मोक्ष नही प्राप्त होता यह कहते हैं -

लोयस्स[12] कुणइ[13] विण्हू सुरणारयतिरियमाणुसे सत्ते।
समणाणंपि य अप्पा जइ[14] कुव्वइ[15] छव्विहे काये[16]।। ३२१।।
लोगसमणाणमेयं सिद्धंत जइ ण दीसइ विसेसो[17]।
लोयस्स[18] कुणइ विण्हू समणाणवि[19] अप्पओ कुणइ[20]।। ३२२।।
एवं ण कोवि मोक्खो[21] दीसई[22] लोयसमणाण दोण्हंपि।
णिच्चं कुव्वंताणं सदेवमणुयासुरे[23] लोए[24]।। ३२३।।

लोक सामान्य- जन साधारण का कहना है कि देव, नारकी, तिर्यंच और मनुष्य रूप प्राणियों को विष्णु करता है फिर मुनियों का भी यह सिद्धान्त हो जावे कि छह प्रकार के काय को - षट्कायिक जीवों को आत्मा करता है तो लोक सामान्य और मुनियों का एक ही सिद्धान्त हो जावे उनमें कुछ भी विशेषता न दिखे क्योंकि लोक सामान्य के मत से विष्णु करता है और मुनियों के मत से आत्मा करता है इस तरह की मान्यता होने पर लोक सामान्य और युक्ति दोनों को ही मोक्ष नही दिखेगा क्योंकि दोनों ही देव, मनुष्य, असुर सहित लोकों को निरन्तर करते रहते हैं।

---

1 वियाणादि ज. वृ । 2 मवेदको तेण पण्णत्तो ज वृ । 3 शुभकर्मफलं बहुविध गुडखण्डशर्करामृतरूपेण मधुर जानाति। 4 अशुभकर्मफलं निम्बकाजीरविषहालाहलरूपेण कटुक जानाति। 5 कुव्वदि। 6 वेददि। 7 कम्माइ। 8 बहुपयाराइ। 9 जाणदि। 10 दिट्ठी सयपि। 11 जाणदि। 12 लोगस्स। 13 कुणदि। 14 जदि। 15 कुव्वदि। 16 काए। 17 पडि ण दिस्सदि विसेसो। 18 लोगस्स। 19 समणाण। 20 कुणदि। 21 मुक्खो। 22 दीसदि दुण्ह समणलोयाणं। 23 सदेवमणुआसुरे। 24 लोगे ज वृ ।

भावार्थ - जो आत्मा को कर्ता मानते हैं वे मुनि होने पर भी लौकिकजन के समान हैं क्योंकि लौकिक जन ईश्वर को कर्ता मानते हैं और मुनि जन आत्मा को कर्ता मानते हैं। इस प्रकार दोनों को ही मोक्ष का अभाव प्राप्त होता है।। ३२१-३२३।।

आगे निश्चयनय से आत्मा का पुद्गल द्रव्य के साथ कर्तृकर्म सम्बन्ध नहीं है तब वह उनका कर्ता कैसे होगा ? यह कहते हैं -

ववहारभासिएण[1] उ[2] परदव्वं मम भणंति अविदियत्था[3]।
जाणंति णिच्चयेण उ[4] ण य मह परमाणुमिच्चमवि[5] किंचि।। ३२४।।
जह कोवि णरो जंपइ[6] अम्हं[7] गामविसयणयररट्ठं[8]।
ण य होंति[9] ताणि तस्स उ[10] भणइ[11] य मोहेण सो अप्पा।। ३२५।।
एमेव मिच्छादिट्ठी णाणी णिस्संसयं हवइ एसो।
जो परदव्वं मम इदि जाणंतो अप्पयं कुणइ।। ३२६।।
तह्मा ण मेत्ति णिच्चा[12] दोण्हंवि[13] एयाण कत्तविवसायं।
परदव्वे जाणंतो जाणिज्जो दिट्ठिरहियाणं[14]।। ३२७।।

पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को न जानने वाले पुरुष व्यवहार नय के वचन से कहते हैं कि पर द्रव्य मेरा है और जो निश्चय नय से पदार्थों को जानते हैं वे कहते हैं कि परमाणु मात्र भी कोई पर द्रव्य मेरा नहीं है। तहां व्यवहारनय का कहना ऐसा है कि जैसे कोई पुरुष कहता है कि हमारा ग्राम है, देश है, नगर है और राष्ट्र है, वास्तव में विचार किया जाय तो ग्रामादिक उसके नहीं हैं वह आत्मा मोह से ही मेरा-मेरा कहता है। इस प्रकार जो पर द्रव्य को मेरा है ऐसा जानता हुआ उसे आत्ममय करता है वह ज्ञानी नि सन्देह मिथ्यादृष्टि है। इसलिये ज्ञानी, "परद्रव्य मेरा नहीं है" ऐसा जानकर परद्रव्य में इन लोक साधारण तथा मुनियों - दोनों के ही कर्तृव्यवसाय को जानता हुआ जानता है कि ये सम्यग्दर्शन से रहित हैं।। ३२४-३२७।।

आगे जीव के मिथ्यात्व भाव है उसका कर्ता कौन है ? यह युक्ति से सिद्ध करते हैं -

मिच्छत्तं जइ पयडी मिच्छाइट्ठी करेइ अप्पाणं।
तह्मा अचेदणा दे पयडी णणु कारगोपत्तो[15]।। ३२८।।
अहवा एसो जीवो पुग्गलदव्वस्स कुणइ मिच्छत्तं।
तह्मा पुग्गलदव्वं मिच्छाइट्ठी ण पुण जीवो।। ३२९।।
अह जीवो पयडी तह पुग्गलदव्वं कुणंति मिच्छत्तं।
तह्मा दोहिय कदं तं दोण्णिवि भुंजंति तस्स फलं।। ३३०।।
अह ण पयडी ण जीवो पुग्गलदव्वं करेदि मिच्छत्तं।
तह्मा पुग्गलदव्वं मिच्छत्तं तं तु ण हु मिच्छा।। ३३१।।

यदि मिथ्यात्व नामा प्रकृति आत्मा को मिथ्यादृष्टि करती है ऐसा माना जाय तो अचेतन प्रकृति तुम्हारे

---

1 भासिदेण। 2 दु। 3 विदिदच्छा। 4 दु। 5 मित्त मम। 6 जपांद। 7 अह्माणं। 8 पुररट्ठ। 9 हुति। 10 दु। 11 भणदि। 12 णच्चा। 13 दुण्हं एदाण कत्तिववसाओ। 14 दिट्ठिरहिदाण। 15 इसके आगे ज.वृ. में निम्न गाथा अधिक है -
सम्मत्ता जदि पयडी सम्मादिट्ठी करेदि अप्पाणं।
तम्हा अचेदणा दे पयडी णणु कारगो पत्तो।।

मत में जीव के मिथ्याभाव को करने वाली ठहरी, किन्तु ऐसा बनता नहीं है अथवा ऐसा माना जाय कि यह जीव ही पुद्गल द्रव्य के मिथ्यात्व को करता है तो ऐसा मानने से पुद्गल द्रव्य मिथ्यादृष्टि सिद्ध हुआ न कि जीव, ऐसा भी नहीं बनता। अथवा ऐसा माना जाय कि जीव और प्रकृति ये दोनों पुद्गल द्रव्य के मिथ्यात्व करते हैं तो दोनों के द्वारा किये हुए उसके फल को दोनों ही भोगें ऐसा ठहरा सो यह भी नहीं बनता। अथवा ऐसा माना जाय कि पुद्गल नामा मिथ्यात्व को न तो प्रकृति करती है और न जीव ही, तो भी पुद्गल द्रव्य ही मिथ्यात्व हुआ सो ऐसा मानना क्या यथार्थ में मिथ्या नहीं है ? अर्थात् मिथ्या ही है।

भावार्थ - मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से आत्मा में जो अतत्वश्रद्धान रूप भाव उत्पन्न होता है उसका कर्ता अज्ञानी जीव है परन्तु इसके निमित्त से पुद्गल द्रव्य में मिथ्यात्व कर्म की शक्ति उत्पन्न होती है।। ३२८-३३१ ।।

आगे इसी बात को विस्तार से कहते हैं -

कम्मेहि दु अण्णाणी किज्जइ णाणी तहेव कम्मेहिं।
कम्मेहि सुवाविज्जइ जग्गाविज्जइ तहेव कम्मेहिं।। ३३२ ।।
कम्मेहि सुहाविज्जइ दुक्खाविज्जइ तहेव कम्मेहिं।
कम्मेहि य मिच्छत्तं णिज्जइ णिज्जइ असजमं चेव।। ३३३ ।।
कम्मेहि भमाडिज्जइ उड्ढमहो चावि तिरियलोय य।
कम्मेहि चेव किज्जइ सुहासुहं जित्तियं किंचि।। ३३४ ।।
जह्मा कम्मं कुव्वइ कम्मं देई हरत्ति जं किंचि।
तह्मा उ सव्वे जीवा अकारया हुंति आवण्णा।। ३३५ ।।
पुरिसिच्छियाहिलासी इच्छीकम्मं च पुरिसमहिलसइ।
एसा आयरियपरंपरागया एरिसि दु सुई।। ३३६ ।।
तह्मा ण कोवि जीवो अबभचारी उ अह्म उवएसे।
जह्मा कम्मं चेव हि कम्मं अहिलसइ इदि भणियं।। ३३७ ।।
जह्मा घाएइ परं परेण घाइज्जए य सा पयडी।
एएणच्छेण किर भण्णइ परघायणामित्ति।। ३३८ ।।
तह्मा ण कोवि जीवो वघायओ अत्थि अह्म उवदेसे।
जह्मा कम्मं चेव हि कम्मं घाएदि इदि भणियं।। ३३९ ।।
एवं संखुवएसं जे उ परूविंति एरिसं समणा।
तेसिं पयडी कुव्वइ अप्पा य अकारया सव्वे।। ३४० ।।
अहवा मण्णसि मज्झं अप्पा अप्पाणमप्पणो कुणई।
एसो मिच्छसहावो तुह्मं एयं मुणंतस्स।। ३४१ ।।
अप्पा णिच्चो असंखिज्जपदेसो देसिओ उ समयम्हि।
णवि सो सक्कइ तत्तो हीणो अहिओ य काउं जे।। ३४२ ।।

जीवस्स जीवरूवं विच्छरदो जाण लोगमित्तं हि।
तत्तो सो किं हीणो अहिओ व कहं कुणइ दव्वं।। ३४३।।
अह जाणओ उ भावो णाणसहावेण अत्थि इत्ति मयं।
तह्मा णवि अप्पा अप्पयं तु सयमप्पणो कुणइ।। ३४४।।

जीव कर्मों के द्वारा अज्ञानी किया जाता है उसी तरह कर्मों के द्वारा ज्ञानी होता है। कर्मों के द्वारा सुलाया जाता है उसी प्रकार कर्मों के द्वारा जगाया जाता है। कर्मों के द्वारा सुखी किया जाता है उसी प्रकार कर्मों के द्वारा दुखी किया जाता है। कर्मों के द्वारा मिथ्यात्व को प्राप्त कराया जाता है, कर्मों के द्वारा असंयम को प्राप्त कराया जाता है। कर्मों के द्वारा ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यग्लोक में घुमाया जाता है। और जो कुछ भी शुभाशुभ कार्य है वह सब कर्मों के द्वारा किया जाता है। क्योंकि कर्म ही करता है कर्म ही देता है तथा जो कुछ हरा जाता है वह कर्म ही हरता है इसलिये सभी जीव अकारक प्राप्त हुए अर्थात् जीव कर्ता न होकर कर्म ही कर्तापने को प्राप्त हुआ। यह आचार्य परम्परा से आई हुई ऐसी श्रुति है कि पुरुषवेद कर्म स्त्री की इच्छा करता है और स्त्रीवेद नामा कर्म पुरुष की चाह करता है अत कोई भी जीव अब्रह्मचारी नही है। हमारे उपदेश में तो ऐसा है कि धर्म ही कर्म को चाहता है ऐसा कहा गया है। जिस कारण जीव दूसरे को मारता है और दूसरे के द्वारा मारा जाता है वह भी प्रकृति ही है। इस अर्थ से यह बात कही जाती है कि यह परघातनामक प्रकृति है अत हमारे उपदेश में कोई भी जीव उपघात करने वाला नही है क्योंकि कर्म ही कर्म को घातता है ऐसा कहा गया है। इस प्रकार जो कोई मुनि ऐसे साख्य मत का प्ररूपण करते है उनके प्रकृति ही करती है और सब आत्मा अकारक - अकर्ता है। अथवा तू ऐसा मानेगा कि मेरे आत्मा को करता है तो ऐसा जानने वाले तुम्हारा यह मिथ्यास्वभाव है क्योंकि आत्मा नित्य असख्यातप्रदेशी आगम में कहा गया है। उन असख्यात प्रदेशों से वह हीनाधिक नहीं किया जा सकता। जीव का जीव रूप विस्तार की अपेक्षा निश्चय से लोक प्रमाण जानो। वह जीव द्रव्य उस परिमाण से क्या हीन तथा अधिक कैसे कर सकता है। अथवा ऐसा मानिये कि ज्ञायकभाव ज्ञानस्वभाव कर स्थित है तो उस मान्यता से यह सिद्ध हुआ कि आत्मा अपने स्वभाव कर स्थिर रहता है और उसी हेतु से यह सिद्ध हुआ कि आत्मा आपने आपको स्वयमेव नहीं करता है।। ३३२-३४४।।

आगे क्षणिकवाद को स्पष्ट कर उसका निषेध करते हैं -

केहिंचि दु पज्जयेहिं विणस्सए णेव केहिचि दु जीवो।
जह्मा तह्मा कुव्वदि सो वा अण्णो व णेयंतो।। ३४५।।
केहिंचि दु पज्जयेहिं विणस्सए णेव केहिंचि दु जीवो।
जह्मा तह्मा वेददि सो वा अण्णो व णेयंतो।। ३४६।।
जो चेव कुणइ सो चिय ण वेयए जस्स एस सिद्धंतो।
सो जीवो णायव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो।। ३४७।।
अण्णो करेइ अण्णो परिभुंजइ जस्स एस सिद्धंतो।
सो जीवो णायव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो।। ३४८।।

यत जीव नामा पदार्थ कितनी ही पर्यायों से विनष्ट होता है और कितनी ही पर्यायों से विनष्ट नहीं होता इसलिये वही करता है अथवा अन्य करता है ऐसा एकान्त नहीं है। यत जीव कितनी ही पर्यायों से विनष्ट होता है और कितनी ही पर्यायों से विनष्ट नहीं होता इसलिये वही जीव भोगता है अथवा अन्य भोगता है ऐसा

एकान्त नहीं है। इसके विपरीत जिसका ऐसा सिद्धान्त है कि जो करता है वह नहीं भोगता है वह जीव मिथ्यादृष्टि है तथा अर्हन्त मत से बाह्य है ऐसा जानना चाहिये। इसी प्रकार जिसका ऐसा सिद्धान्त है कि अन्य करता है और दूसरा कोई भोगता है वह जीव भी मिथ्यादृष्टि तथा अर्हन्त मत से बाह्य जानना चाहिये।। ३४५-३४८।।

आगे इसी बात को दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं -

जह सिप्पिओ उ कम्मं कुव्वइ ण य सो उ तम्मओ होइ।
तह जीवोवि य कम्मं कुव्वदि ण य तम्मओ होइ।। ३४९।।
जह सिप्पिओ उ करणेहिं कुव्वइ ण य सो तम्मओ होइ।
तह जीवो करणेहिं कुव्वइ ण य तम्मओ होइ।। ३५०।।
जह सिप्पिओ उ करणाणि गिह्णइ ण सो उ तम्मओ होइ।
तह जीवो करणाणि उ गिह्णइ ण य तम्मओ होइ।। ३५१।।
जह सिप्पिउ कम्मफल भुंजदि ण य सो उ तम्मओ होइ।
तह जीवो कम्मफलं भुंजइ ण य तम्मओ होइ।। ३५२।।
एवं ववहारस्स उ वत्तव्व दरिसणं समासेण।
सुणु णिच्छयस्स वयणं परिणामकयं तु जं होई।। ३५३।।
जह सिप्पिओ उ चिट्ठं कुव्वइ हवइ य तहा अणण्णो से।
तह जीवोवि य कम्मं कुव्वइ हवइ य अणण्णो से।। ३५४।।
जह चिट्ठं कुव्वंतो उ सिप्पिओ णिच्च दुक्खिओ होई।
तत्तो सिया अणण्णो तह चेट्ठंतो दुही जीवो।। ३५५।।

जिस प्रकार सुनार आदि शिल्पी आभूषण आदि कर्म को करता है परन्तु वह आभूषणादि से तन्मय नहीं होता उसी प्रकार जीव भी पुद्गलात्मक कर्म को करता है परन्तु उससे तन्मय नहीं होता। जिस प्रकार शिल्पी हथौडा आदि करणों से कर्म करता है परन्तु उनसे तन्मय नहीं होता उसी प्रकार जीव भी योग आदि करणों से कर्म करता है परन्तु तन्मय नही होता। जिस प्रकार शिल्पी करणों को ग्रहण करता है परन्तु तन्मय नहीं होता उसी प्रकार जीव करणों को ग्रहण करता है परन्तु तन्मय नहीं होता। जिस प्रकार शिल्पी आभूषणादि कर्मों के फल को भोगता है परन्तु तन्मय नहीं होता उसी प्रकार जीव भी कर्म के फल को भोगता है परन्तु तन्मय नहीं होता। इस प्रकार व्यवहार का दर्शन मत संक्षेप से कहने योग्य है। अब निश्चय के वचन सुनो जो कि अपने परिणामों से किये हुए होते है। जिस प्रकार शिल्पी चेष्टा करता है परन्तु वह उस चेष्टा से अनन्य- अभिन्न- तद्रूप रहता है उसी प्रकार जीव भी कर्म करता है परन्तु वह उन कर्मों से - रागादि रूप परिणामों से अनन्य- अभिन्न रहता है। तथा जिस प्रकार शिल्पी चेष्टा करता हुआ निरन्तर दुखी होता है और उस दु ख से अभिन्न रहता है उसी प्रकार चेष्टा करता हुआ जीव भी निरन्तर दुखी होता है और उस दु ख से कथंचित् अनन्य-अभिन्न रहता है।। ३४९-३५५।।

आगे निश्चय व्यवहार के इस कथन को दृष्टान्त द्वारा दश गाथाओं में स्पष्ट करते हैं -

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होइ।
तह जाणओ दु ण परस्स जाणओ जाणओ सो दु।। ३५६।।

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होइ।
तह पासओ दु ण परस्स पासओ पासओ सो दु।। ३५७।।
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया दु सा होइ।
तह संजओ दु ण परस्स संजओ संजओ सो दु।। ३५८।।
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया दु सा होदि।
तह दंसणं दु ण परस्स दंसणं दंसणं तं तु।। ३५९।।
एवं तु णिच्छयणयस्स भासियं णाणदंसणचरित्ते।
सुणु ववहारणयस्स य वत्तव्वं से समासेण।। ३६०।।
जह परदव्वं सेडिदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं जाणइ णाया वि सयेण भावेण।। ३६१।।
जह परदव्वं सेडिदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं पस्सइ जीवोवि सयेण भावेण।। ३६२।।
जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं विजहइ णायावि सयेण भावेण।। ३६३।।
जह परदव्वं सेडिदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं सद्दहइ सम्मदिट्ठी सहावेण।। ३६४।।
एवं ववहारस्स दु विणिच्छओ णाणदंसणचरित्ते।
भणिओ अण्णेसु वि पज्जएसु एमेव णायव्वो।। ३६५।।

जिस प्रकार खडिया आदि पर पदार्थों को सफेद करने वाली है इसलिये खडिया नहीं है वह स्वय ही खडिया रूप है। उसी प्रकार जीव पर का ज्ञायक होने से ज्ञायक नहीं है किन्तु स्वय ही ज्ञायक रूप है। जिस प्रकार खडिया पर पदार्थों को सफेद करने वाली होने से खडिया नहीं है किन्तु स्वयं खडिया है उसी प्रकार जीव पर का दर्शक - देखने वाला होने से दर्शक नहीं है किन्तु स्वयं दर्शक है। जिस प्रकार खडिया पर पदार्थों को सफेद करने वाली होने से पर की नहीं है उसी प्रकार जीव पर को त्यागने से संयत नहीं है। किन्तु स्वयं संयत रूप है। जिस प्रकार खडिया पर की होने से खडिया नहीं है किन्तु स्वय खडिया रूप है उसी प्रकार जीव पर का श्रद्धानी होने से श्रद्धान रूप नहीं है किन्तु स्वयं श्रद्धान रूप है। ऐसा ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र के विषय में निश्चय नय का कथन है। अब व्यवहार का जो वचन है उसे संक्षेप से सुनो। जिस प्रकार खडिया अपने स्वभावकर दीवाल आदि पर पदार्थों को सफेद करती है उसी प्रकार ज्ञाता आत्मा पर पदार्थों को अपने स्वभाव के द्वारा जानता है। जिस प्रकार खडिया पर पदार्थ को सफेद करने से खड़िया नहीं है वह स्वयं खडिया है उसी प्रकार आत्मा स्वयं पर द्रव्य को देखता है इसलिये द्रष्टा नहीं है किन्तु स्वयं स्वस्वभाव से दर्शक होने से दर्शक है। जिस प्रकार खडिया अपने स्वभाव से पर पदार्थ को सफेद करती है उसी प्रकार ज्ञाता आत्मा भी अपने स्वभाव से पर पदार्थ को त्यागता है। जिस प्रकार खड़िया अपने स्वभाव से पर द्रव्य को सफेद करती है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि स्वभाव से पर द्रव्य का श्रद्धान करता है। इस प्रकार ज्ञान, दर्शन, चारित्र के विषय में व्यवहार का निश्चय कहा। इसी तरह अन्य पर्यायों के विषय

में भी जानना चाहिये।। ३५६-३६५।।

आगे अज्ञान से अपना ही घात करता है यह कहते हैं -

दंसणणाणचरित्तं किंचिवि णत्थि दु अचेयणे विसये।
तह्मा किं घादयदे चेदयिदा तेसु विसएसु।। ३६६।।
दंसणणाणचरित्तं किंचिवि णत्थि दु अचेयणे कम्मे।
तह्मा किं घादयदे चेदयिदा तेसु कम्मेसु।। ३६७।।
दंसणणाणचरित्तं किंचिवि णत्थि दु अचेयणे काये।
तह्मा किं घादयदे चेदयिदा तेसु कायेसु।। ३६८।।
णाणस्स दंसणस्स य [1]भणिओ [2]घाओ तहा चरित्तस्स।
[3]णवि तहिं पुग्गलदव्वस्स कोवि घाओ उ णिदि्दट्ठो।। ३६९।।
जीवस्स जे गुणा केइ णत्थि खलु ते परेसु दव्वेसु।
तह्मा [4]सम्माइट्ठिस्स णत्थि रागो उ विसएसु।। ३७०।।
रागो दोसो मोहो [5]जीवस्सेव य अणण्णपरिणामा।
[6]एएण कारणेण [7]उ सद्दादिसु णत्थि रागादि।। ३७१।।

दर्शन, ज्ञान, चारित्र, अचेतन विषयों में कुछ भी नहीं है इसलिये उन विषयों में आत्मा क्या घात करे ? दर्शन, ज्ञान, चारित्र अचेतन कर्म में कुछ भी नहीं है इसलिये आत्मा उन कर्मों में क्या घात करे ? दर्शन, ज्ञान, चारित्र अचेतन काय में कुछ भी नहीं है इसलिये आत्मा उन कायों में क्या घात करे ? घात, ज्ञान दर्शन तथा चारित्र का कहा गया है वहा पुद्गल द्रव्य का तो कुछ भी घात नही कहा। जो कुछ जीव के गुण हैं वे निश्चयकर पर द्रव्यों में नहीं हैं। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टि के विषयों में राग ही नहीं है। राग, द्वेष, मोह ये सब जीव के ही अभिन्न परिणाम है इसलिये रागादिक शब्दादि विषयों में नहीं हैं।। ३६६-३७१।।

आगे कहते हैं कि सभी द्रव्य स्वभाव से ही उपजते हैं -

अण्णदविएण अण्णदवियस्स ण कीरए[8] गुणुप्पाओ।
तह्मा [9]उ सव्वदव्वा उप्पज्जंते सहावेण।। ३७२।।

अन्य द्रव्य के द्वारा अन्य द्रव्य का गुणोत्पाद नहीं किया जाता इसलिये यह सिद्धान्त है कि सभी द्रव्य अपने स्वभाव से ही उत्पन्न होते है।। ३७२।।

आगे इस बात को प्रकट करते हैं कि जो स्पर्शादि विषय हैं वे पुद्गल रूप परिणमन करते हैं। आत्मा से "तुम मुझे ग्रहण करो या न करो" ऐसा कुछ भी नहीं कहते। आत्मा स्वयं ही अज्ञानी तथा मोही हुआ उन्हें ग्रहण करता है -

[10]णिंदियसंथुयवयणाणि पोग्गला परिणमंति [11]बहुयाणि।
ताणि सुणिऊण रूसदि तूसदि य अहं पुणो भणिदो।। ३७३।।

---

1 भणिदो। 2 घादो। 3 णवि तह्मि कोवि पुग्गलदव्वे घादो दु णिदि्दट्ठो। 4 सम्मादिट्ठिस्स्। 5 जीवस्स दु जे अणण्णपरिणामा। 6 एदेण। 7 दु। 8 कीरदे गुणविघादो। 9 दु। 10 णिंदिदसंथुद। 11 बहुगाणि ज वृ।

पोग्गलदव्वं [1]सद्दत्तपरिणयं तस्स [2]जइ गुणो अण्णो।
तह्मा ण तुमं भणिओ किंचिवि किं [3]रूससि [4]अबुद्धो।। ३७४।।
असुहो सुहो व सद्दो ण तं भणइ सुणसु मंति सो चेव।
ण य एइ विणिग्गहिउं सोयविसयमागयं सद्दं।। ३७५।।
असुहं सुहं च रूवं ण तं भणइ पिच्छ मंति सो चेव।
ण य एइ विणिग्गहिउं चक्खुविसयमागयं रूवं।। ३७६।।
असुहो सुहो व गंधो ण तं भणइ जिग्घ मंति सो चेव।
ण य एइ विणिग्गहिउं घाणविसयमागयं गंधं।। ३७७।।
असुहो सुहो व रसो ण तं भणइ रसय मंति सो चेव।
ण य एइ विणिग्गहिउं रसणविसयमागयं तु रसं।। ३७८।।
असुहो सुहो व फासो ण तं भणइ फुससु मंति सो चेव।
ण य एइ विणिग्गहिउं कायविसयमागयं फास।। ३७९।।
असुहो सुहो व गुणो ण तं भणइ बुज्झ मंति सो चेव।
ण य एइ विणिग्गहिउं बुद्धिविसयमागयं तु गुणं।। ३८०।।
असुहं सुहं व दव्वं ण तं भणइ बुज्झ मंति सो चेव।
ण य एइ विणिग्गहिउं बुद्धिविसयमागयं दव्वं।। ३८१।।
[5]एयं तु जाणिऊण उवसमं णेव गच्छई मूढो।
णिग्गहमणा परस्स य सयं च बुद्धिं सिवमपत्तो।। ३८२।।

बहुत प्रकार के निन्दा और स्तुति रूप जो वचन है उन रूप पुद्गल परिणमन करते हैं। उन्हें सुनकर अज्ञानी जीव यह मानता हुआ कि ये शब्द मुझसे कहे हैं रुष्ट होता है और सतुष्ट होता है। शब्दत्व रूप परिणत हुआ पुद्गल द्रव्य है, शब्दत्व उसी का गुण है और तुझसे भिन्न है। इसलिये तुझसे कुछ नहीं कहा गया है तूं अज्ञानी हुआ क्यों रोष करता है ? अशुभ अथवा शुभ शब्द तुझसे ऐसा नहीं कहता कि तू मुझे सुन और श्रोत्रेन्द्रिय के विषय को प्राप्त हुए शब्द को ग्रहण करने के लिये वह आत्मा भी नहीं आता। अशुभ अथवा शुभ रूप तुझसे ऐसा नहीं कहता कि तू मुझे देख और न चक्षु के विषय को प्राप्त हुए रूप को ग्रहण करने के लिये आत्मा ही आता है। अशुभ अथवा शुभ गन्ध तुझसे यह नहीं कहता कि तू मुझे सूंघ और न घ्राण के विषय को प्राप्त हुए गन्ध को ग्रहण करने के लिये आत्मा ही आता है। अशुभ अथवा शुभ रस तुझसे यह नही कहता कि तू मुझे चख और न रसना इन्द्रिय के विषय को प्राप्त हुए रस को ग्रहण करने के लिये आत्मा ही आता है। अशुभ अथवा शुभ स्पर्श तुझसे नही कहता कि तू मेरा स्पर्श कर और न स्पर्शन इन्द्रिय के विषय को प्राप्त हुए स्पर्श को ग्रहण करने के लिये आत्मा ही आता है। अशुभ अथवा शुभ गुण तुझसे यह नहीं कहता कि तू मुझे समझ और न बुद्धि के विषय को प्राप्त हुए गुण को ग्रहण करने के लिये आत्मा ही आत्मा है। अशुभ अथवा शुभ द्रव्य तुझसे नही कहता कि तू मुझे जानो और न बुद्धि के विषय को प्राप्त हुए द्रव्य को ग्रहण करने के लिये आत्मा ही आता है। अज्ञानी जीव यह जानकर भी

1 सद्दत्तपरिणद। 2 जदि। 3 रूससे। 4 अबुहो। 5 एव तु जाणि दव्वस्स उवसमेणेव गच्छदे ज वृ ।

उपशम भाव को प्राप्त नहीं होता और पर पदार्थ के ग्रहण करने का मन करता है सो ठीक ही है क्योंकि स्वयं कल्याण रूप बुद्धि को प्राप्त नहीं हुआ है।। ३७३-३८२।।

आगे प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान आलोचना और चारित्र का स्वरूप बतलाते हैं -

कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं।
तत्तो णियत्तए अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं।। ३८३।।
कम्मं जं सुहमसुहं जह्मि य भावह्मि बज्झइ भविस्सं।
तत्तो णियत्तए जो सो पच्चक्खाणं हवइ चेया[1]।। ३८४।।
जं सुहमसुहमुदिण्णं संपडि य अणेयवित्थरविसेसं।
तं दोसं जो चयइ सो खलु आलोयणं चेया।। ३८५।।
[2]णिच्चं पच्चक्खाणं कुव्वइ णिच्चं य पडिक्कमदि जो।
[3]णिच्चं आलोचेयइ सो हु चरित्तं हवइ चेया[4]।। ३८६।।

पूर्व काल में किये हुए शुभाशुभ अनेक विस्तार विशेष को लिये हुए जो ज्ञानावरणादि कर्म है उनसे जो जीव अपने आत्मा को छुडाता है वह प्रतिक्रमण है। जिस भाव के होने पर जो शुभाशुभ कर्म भविष्य में बंधने वाले हैं उनसे जो ज्ञानी निवृत्त होता है वह प्रत्याख्यान है। अनेक विस्तार विशेष को लिये जो शुभाशुभ कर्म वर्तमान में उदय को प्राप्त है दोष स्वरूप उस कर्म को जो ज्ञानी अनुभवता है - उससे स्वामित्व भाव को छोडता है वह निश्चय से आलोचना है। तथा इस प्रकार जो आत्मा नित्य प्रतिक्रमण करता है, नित्य प्रत्याख्यान करता है और नित्य आलोचना करता है वह निश्चय से चारित्र है।। ३८३-३८६।।

आगे जो कर्मफल को अपना तथा अपना किया हुआ मानता है वह अष्टविध कर्मों का बन्ध करता है यह कहते हैं -

वेदंतो कम्मफलं अप्पाणं कुणइ जो दु कम्मफलं।
सो तं पुणोवि बंधइ वीयं दुक्खस्स अट्ठविहं।। ३८७।।
वेदंतो कम्मफलं मए कयं मुणइ जो दु कम्मफलं।
सो तं पुणोवि बंधइ वीयं दुक्खस्स अट्ठविहं।। ३८८।।
वेदंतो कम्मफलं सुहिदो दुहिदो य हवदि जो चेदा।
सो तं पुणोवि बंधइ वीयं दुक्खस्स अट्ठविहं।। ३८९।।

जो जीव कर्मफल का वेदन करता हुआ कर्मफल को आप रूप करता है - अपना मानता है वह दु ख के बीज स्वरूप आठ प्रकार के कर्म को फिर भी बाधता है। कर्मफल का वेदन करता हुआ जो जीव कर्मफल को अपना किया हुआ मानता है वह दु ख के बीज स्वरूप आठ प्रकार के कर्म को फिर भी बाधता है। जो जीव कर्मफल का वेदन करता हुआ सुखी दुखी होता है वह दु ख के बीज स्वरूप आठ प्रकार के कर्म को फिर भी बाधता है।। ३८७-३८९।।

आगे ज्ञान ज्ञेय से पृथक् है यह कहते हैं -

सत्थं णाणं ण हवइ जह्मा सत्थं ण याणए किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं सत्थं जिणा विंति।। ३९०।।

---

1 चेदा। 22 णिच्च पच्चक्खाण कुव्वदि णिच्चपि जो पडिक्कमदि। 3 णिच्च आलोचेदिय। 4 चेदा ज वृ।

सद्दो णाणं ण हवइ जह्मा सद्दो ण याणए किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं सद्दं जिणा विंति।। ३९१।।
रूवं णाणं ण हवइ जह्मा रूवं ण याणए किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं रूवं जिणा विंति।। ३९२।।
वण्णो णाणं ण हवइ जह्मा वण्णो ण याणए किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं वण्णं जिणा विंति।। ३९३।।
गंधो णाणं ण हवइ जह्मा गंधो ण याणए किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं गंधं जिणा विंति।। ३९४।।
ण रसो दु हवदि णाणं जह्मा दु रसो ण याणए किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं रसं य अण्णं जिणा विंति।। ३९५।।
फासो ण हवइ णाणं जह्मा फासो ण याणए किंचि।
नह्मा अण्णं णाणं अण्णं फासं जिणा विंति।। ३९६।।
कम्मं णाणं ण हवइ जह्मा कम्मं ण याणए किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं कम्मं जिणा विंति।। ३९७।।
धम्मो णाणं ण हवइ जह्मा धम्मो ण याणए किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं धम्मं जिण विंति।। ३९८।।
णाणमधम्मो ण हवइ जह्मा धम्मो ण याणए किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णमधम्मं जिण विंति।। ३९९।।
कालो णाणं ण हवइ जह्मा कालो ण याणए किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं कालं जिण विंति।। ४००।।
आयासंपि ण णाणं जह्मायासं ण याणए किंचि।
तह्मा अण्णं यासं अण्णं णाणं जिणा विंति।। ४०१।।
णज्झवसाणं णाणं अज्झवसाणं अचेदणं जह्मा।
तह्मा अण्णं णाणं अज्झवसाणं तहा अण्णं।। ४०२।।
जह्मा जाणइ णिच्चं तह्मा जीवो दु जाणओ णाणी।
णाणं च जाणयादो अव्वदिरित्तं मुणेयव्वं।। ४०३।।
णाणं सम्मादिट्ठि दु संजमं सुत्तमंगपुव्वगयं।
धम्माधम्मं च तहा पव्वज्जं अब्भुवंति बुहा।। ४०४।।

शास्त्र ज्ञान नहीं है क्योंकि शास्त्र कुछ जानता नहीं है इसलिये ज्ञान अन्य है और शास्त्र अन्य है ऐसा

जिनेन्द्र देव जानते है। शब्द ज्ञान नहीं है क्योंकि शब्द कुछ जानता नहीं है इसलिये ज्ञान अन्य है और शास्त्र अन्य है ऐसा जिनेन्द्र देव जानते हैं। रूप ज्ञान नहीं है क्योंकि रूप कुछ जानता नहीं है इसलिये ज्ञान अन्य है और रूप अन्य है ऐसा जिनेन्द्र देव जानते हैं। वर्ण ज्ञान नहीं है क्योंकि वर्ण कुछ जानता नहीं है इसलिये ज्ञान अन्य है और वर्ण अन्य है ऐसा जिनेन्द्र देव जानते है। गन्ध ज्ञान नहीं है क्योंकि गन्ध कुछ जानता नहीं है इसलिये ज्ञान अन्य है और गन्ध अन्य है ऐसा जिनेन्द्र देव जानते हैं। रस ज्ञान नहीं है क्योंकि रस कुछ जानता नहीं है इसलिये ज्ञान अन्य है और रस अन्य है ऐसा जिनेन्द्र देव जानते हैं। स्पर्श ज्ञान नहीं है क्योंकि स्पर्श कुछ जानता नहीं है इसलिये ज्ञान अन्य है और स्पर्श अन्य है ऐसा जिनेन्द्र देव जानते हैं। कर्म ज्ञान नहीं है क्योंकि कर्म कुछ जानता नहीं है इसलिये ज्ञान अन्य है और कर्म अन्य है ऐसा जिनेन्द्र देव कहते हैं। धर्मास्तिकाय ज्ञान नहीं है क्यों धर्मास्तिकाय कुछ जानता नहीं है इसलिये ज्ञान अन्य है और धर्मास्तिकाय जुदा है ऐसा जिनेन्द्र देव जानते है। अधर्मास्तिकाय ज्ञान नहीं है क्योंकि अधर्मास्तिकाय कुछ जानता नहीं है इसलिये ज्ञान अन्य है और अधर्मास्तिकाय अन्य है ऐसा जिनेन्द्र देव जानते हैं। कालद्रव्य ज्ञान नहीं है क्योंकि काल द्रव्य कुछ जानता नहीं है इसलिये ज्ञान अन्य है और काल द्रव्य अन्य है ऐसा जिनेन्द्र देव जानते हैं। आकाश भी ज्ञान नहीं है क्योंकि आकाश कुछ जानता नहीं है इसलिये ज्ञान अन्य है और आकाश अन्य है ऐसा जिनेन्द्र भगवान् जानते हैं। अध्यवसान ज्ञान नहीं है क्योंकि अध्यवसान अचेतन है जड है इसलिये ज्ञानी अन्य है और अध्यवसान अन्य है। चूंकि जीव निरन्तर जानता है इसलिये ज्ञायक है तथा ज्ञान है और ज्ञान ज्ञायक से अव्यतिरिक्त - अभिन्न है ऐसा जानना चाहिये। इस प्रकार ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि है, संयम है, अग-पूर्व गत सूत्र है, धर्म-अधर्म है तथा दीक्षा है ऐसा बुधजन अंगीकार करते हैं।। ३९०-४०४।।

अत्ता जस्सामुत्तो[1] ण हु सो आहारओ[2] हवइ[3] एवं।
आहारो खलु मुत्तो जह्मा सो पुग्गलमओ उ[4]।। ४०५।।
णवि सक्कइ घित्तुं जं ण[5] विमोत्तुं जं य जं परदव्वं।
सो कोवि य तस्स गुणो पाउगिओ[6] विस्सओ वावि।। ४०६।।
तह्मा उ[7] जो विसुद्धो चेया[8] सो णेव गिण्हए[9] किंचि।
णेव विमुंचइ[10] किंचिवि जीवाजीवाण दव्वाणं।। ४०७।।

इस प्रकार जिसका आत्मा अमूर्तिक है वह निश्चय से आहारक नहीं होता क्योंकि आहार मूर्तिक है तथा पुद्गलमय है। जो पर द्रव्य न ग्रहण किया जा सकता है और न छोडा जा सकता है वह आत्मा का कोई प्रायोगिक अथवा वैस्रसिक गुण ही है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो विशुद्ध आत्मा है वह जीव अजीव द्रव्य में से कुछ भी न ग्रहण करता है और न कुछ छोडता ही है।। ४०५-४०७।।

आगे कहते हैं कि लिंग मोक्षमार्ग नहीं है -

पासंडीलिंगाणि य गिहलिंगाणि व बहुप्पयाराणि।
घित्तुं वदंति मूढा लिंगमिणं मोक्खमग्गोत्ति।। ४०८।।
ण उ होदि मोक्खमग्गो लिंगं जं देहणिम्ममा अरिहा।
लिंगं मुइत्तु दंसणणाणचरित्ताणि सेयंति।। ४०९।।

---

1 जस्स अमुत्तो। 2 आहारगो। 3 हवदि। 4 दु। 5 ण मुंचदे चेव जं पर दव्व। 6 पाउग्गिय। 7 दु। 8 च्चेदा। 9 गिण्हदे। 10 विमुचदि ज वृ।

बहुत प्रकार के पाखण्डिलिंगों अथवा गृहस्थ लिंगों को ग्रहणकर मूढजन ऐसा कहते हैं कि यह लिंग मोक्ष का मार्ग है। परन्तु लिंग मोक्ष का मार्ग नहीं है क्योंकि अर्हन्त देव भी देह से निर्ममत्व हो तथा लिंग छोडकर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की ही सेवा करते हैं।। ४०८-४०९।।

आगे इसी बात को दृढ करते हैं -

ण वि एस मोक्खमग्गो पाखंडीगिहिमयाणि लिंगाणि।

दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गं जिणा विंति।। ४१०।।

जो पाखण्डी और गृहस्थ रूप लिंग हैं वह मोक्षमार्ग नहीं है। जिनेन्द्र भगवान् दर्शन, ज्ञान और चारित्र को ही मोक्षमार्ग कहते हैं।। ४१०।।

तह्मा जहित्तु लिंगे सागारणगारएहिं वा गहिए।

दंसणणाणचरित्ते अप्पाणं जुज मोक्खपहे।। ४११।।

इसलिये गृहस्थों और मुनियों के द्वारा गृहीत लिंगों को छोडकर दर्शन, ज्ञान और चारित्र स्वरूप मोक्षमार्ग में आत्मा को लगाओ।। ४११।।

आगे इसी मोक्षमार्ग में निरन्तर रत रहो यह उपदेश देते हैं -

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि[1] त चेव झाहि तं चेव।

तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु।। ४१२।।

हे भव्य ! तू पूर्वोक्त मोक्षमार्ग में आत्मा को लगा, उसी का ध्यान कर, उसी का चिन्तन कर, उसी में निरन्तर विहार कर, अन्य द्रव्यों में विहार मत कर।। ४१२।।

आगे कहते हैं कि जो बाह्यलिंगों में ममता बुद्धि रखते हैं वे समयसार को नही जानते हैं -

पाखंडीलिंगेसु[2] व गिहलिंगेसु व बहुप्पयारेसु।

कुव्वंति जे ममत्तं तेहिं ण णायं[3] समयसारं।। ४१३।।

जो बहुत प्रकार के पाखण्डिलिंगों और गृहस्थलिंगों में ममता करते हैं उन्होंने समयसार को नहीं जाना है।। ४१३।।

आगे कहते हैं कि व्यवहारनय दोनों लिंगो को मोक्षमार्ग बतलाता है परन्तु निश्चयनय किसी लिंग को मोक्षमार्ग नहीं कहता -

ववहारिओ पुण णओ दोण्णिवि लिंगाणि भणइ मोक्खपहे।

णिच्छयणओ ण[4] इच्छइ मोक्खपहे[5] सव्वलिंगाणि।। ४१४।।

व्यवहारनय तो मुनि और श्रावक के भेद से दोनों ही प्रकार के लिंगों को मोक्षमार्ग कहता है परन्तु निश्चयनय सभी लिंगों को मोक्षमार्ग में इष्ट नहीं करता।। ४१४।।

आगे श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव समयप्राभृत ग्रन्थ को पूर्ण करते हुए उसके फल की सूचना करते हैं-

जो समयपाहुडमिणं पडिदूणं[6] अत्थतच्चदो णाउं[7]।

अत्थे[8] ठाही चेया[9] सो होही उत्तमं सोक्खं।। ४१५।।

जो भव्य पुरुष, इस समयप्राभृत को पढकर तथा अर्थ और तत्व को जानकर इसके अर्थ में स्थित रहेगा वह उत्तम सुख स्वरूप होगा।। ४१५।।

इस प्रकार सर्वविशुद्धज्ञान का प्ररूपक नवम अंक पूर्ण हुआ।

---

1 ठेदयहि झायहि तं चेव। 2 पाखंडिय। 3 णाद। 4 णेच्छदि। 5 मक्खपहे। 6 पठिदूणय। 7 णादु। 8 ठाहिदि। 9 चेदा।

प्रवचनसारः

ज्ञानतत्वप्रज्ञापनाधिकारः

अब मंगलाचरण और ग्रन्थ का उद्देश्य कहते हैं -

एस सुरासुरमणुसिंदवंदिदं धोदघाइकम्ममलं।
पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं।।१।।
सेसे पुण तित्थयरे ससव्वसिद्धे विसुद्धसब्भावे।
समणे य णाण-दंसण-चरित्त-तव-वीरियायारे।।२।।
ते ते सव्वे समगं समगं पत्तेगमेव पत्तेयं।
वंदामि य वट्टंते अरहंते माणुसे खेत्ते।।३।।
किच्चा अरहंताणं सिद्धाणं तह णमो गणहराणं।
अज्झावयवग्गाणं साहूणं चेव सव्वेसिं।।४।।
तेसिं विसुद्धदंसण-णाण-पहाणासमं समासेज्ज।
उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाणसंपत्ती।।५।।पणगं।

यह मैं कुन्दकुन्दाचार्य, सुर-असुर और मनुष्यों के इन्द्रों से वन्दनीय, घातिकर्म रूप मल को नष्ट करने वाले और धर्म तीर्थ के कर्ता श्री वर्धमान स्वामी को नमस्कार करता हूँ।।१।।

इसके अनन्तर समस्त सिद्धों से सहित विशुद्ध स्वभाव के धारक अवशिष्ट तेईस तीर्थंकरों को और ज्ञान, दर्शन चारित्र, तप एव वीर्याचार के धारक श्रमणों - आचार्यादि महामुनियों को नमस्कार करता हूं।।२।।

फिर मनुष्य क्षेत्र - अढाईद्वीप में वर्तमान जितने अरहन्त परमेष्ठी हैं उन सबको एक साथ अथवा पृथक्-पृथक् रूप से प्रत्येक को वदना करता हू।।३।।

इस प्रकार समस्त अरहन्तों, सिद्धों, गणधरों, उपाध्यायों और साधुओं को नमस्कार कर तथा उनके विशुद्ध दर्शन-ज्ञान प्रधान आश्रम को प्राप्त हो मैं उस साम्य भाव को प्राप्त होता हू जिससे कि निर्वाण - परमाह्लाद रूप मोक्ष की प्राप्ति होती है।।४-५।।

आगे वीतराग और सरागचारित्र का फल बतलाते हैं -

संपज्जदि णिव्वाणं देवासुरमणुयरायविहवेहिं।
जीवस्स चरित्तादो दंसणणाणप्पहाणादो।।६।।

जीव को दर्शन-ज्ञान प्रधान चारित्र से देवेन्द्र, धरणेन्द्र और चक्रवर्ती आदि के वैभव के साथ निर्वाण की प्राप्ति होती है।

वीतराग और सराग के भेद से चारित्र दो प्रकार का है उनमें से वीतराग चारित्र से निर्वाण को प्राप्ति होती है और सराग चारित्र से देवेन्द्र आदि का वैभव प्राप्त होता है।।६।।

आगे चारित्र का स्वरूप कहते हैं -

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हि समो।। ७।।

निश्चय से चारित्र को धर्म कहते हैं, शम अथवा साम्यभाव को धर्म कहा है और मोह - मिथ्यादर्शन तथा क्षोभ - रागद्वेष से रहित आत्मा का परिणाम शम अथवा साम्यभाव कहलाता है।। ७।।

आगे चारित्र और आत्मा की एकता सिद्ध करते हैं -

परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं[1] तम्मयत्ति पण्णत्तं।
तह्मा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो[2]।। ८।।

द्रव्य जिस काल में जिस रूप परिणमन करता है उस काल में वह उसी रूप हो जाता है ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है इसलिये धर्म रूप परिणत आत्मा धर्म हो जाता है - चारित्र हो जाता है ऐसा जानना चाहिए।। ८।।

अब जीव की शुभ, अशुभ और शुद्ध दशा का निरूपण करते हैं -

जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसब्भावो।। ९।।

जीव जिस समय शुभ अथवा अशुभ रूप परिणमन करता है, उस समय शुभ अथवा अशुभ हो जाता है और जिस समय शुद्ध रूप परिणमन करता है उस समय उसके शुद्ध रूप परिणाम का सद्भाव होता है।। ९।।

आगे परिणाम वस्तु का स्वभाव है ऐसा निश्चय करते हैं -

णत्थि विणा परिणामं अत्थो अत्थं विणेह परिणामो।
दव्वगुणपज्जयत्थो अत्थो अत्थित्तणिव्वत्तो।। १०।।

पर्याय के बिना अर्थ नहीं होता और अर्थ के विना पर्याय नही रहता। द्रव्य, गुण और पर्याय में स्थित रहने वाला अर्थ ही अस्तित्व गुण से युक्त होता है।

जिस प्रकार कटक-कुण्डलादि पर्यायों के विना सुवर्ण नहीं रह सकता और सुवर्ण के विना कटक-कुण्डलादि पर्याय नहीं रह सकते उसी प्रकार पर्यायों के विना कोई भी पदार्थ नहीं रह सकता और पदार्थ के विना कोई भी पर्याय नही रह सकते। तात्पर्य यह है कि जो पदार्थ द्रव्य, गुण और पर्याय में स्थित रहता है - सामान्य-विशेषात्मक होता है उसी का सदभाव होता है। सामान्य और विशेष - द्रव्य और पर्याय परस्पर निरपेक्ष होकर नहीं रह सकते।। १०।।

आगे शुभ और शुद्ध परिणाम का फल कहते हैं -

धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो।
पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो व सग्गसुहं।। ११।।

धर्म अर्थात चारित्र गुण रूप जिसका आत्मा परिणत हो रहा है ऐसा जीव यदि शुद्धोपयोग से सहित है तो निर्वाण सुख को पाता है और यदि शुभोपयोग से सहित है तो स्वर्गसुख को प्राप्त करता है।। ११।।

आगे अशुभ परिणाम का फल अत्यन्त हेय है ऐसा कहते हैं -

---

1 तक्काले। 2 मुणेदव्वो ज वृ।

असुहोदयेण आदा कुणरो तिरियो भवीय णेरइयो।

दुक्खसहस्सेहिं सदा अभिंधुदो भमइ अच्चंतं।। १२।।

अशुभोपयोग रूप परिणमन करने से जीव खोटा, मनुष्य, तिर्यंच और नारकी होकर हजारों दु खों से दुखी होता हुआ सदा ससार में अत्यन्त भ्रमण करता रहता है।

अशुभोपयोग में चारित्र का अल्पमात्र भी सम्बन्ध नहीं होता इसलिये यह जीव अशुभ कर्मों का बन्धकर दुर्गतियों में निरन्तर भ्रमण करता रहता है।। १२।।

आगे शुद्धोपयोग का फल बतलाते हुए उसकी प्रशंसा करते हैं -

अइसयमादसमुत्थं विसयातीदं अणोवममणंतं।

अव्वुच्छिण्णं च सुहं सुद्धुवओगप्पसिद्धाणं।। १३।।

शुद्धोपयोग से निष्पन्न अरहन्त सिद्ध भगवान् को अतिशय रूप - सबसे अधिक, आत्मा से उत्पन्न विषयातीत, अनुपम, अनन्त और अनन्तरित सुख प्राप्त होता है।। १३।।

आगे शुद्धोपयोग रूप परिणत आत्मा का स्वरूप कहते हैं -

सुविदिदपदत्थसुत्तो संजमतवसंजुदो विगदरागो।

समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगोत्ति।। १४।।

जिसने जीवाजीवादि पदार्थ और उनके प्रतिपादक शास्त्र को अच्छी तरह जान लिया है, जो सयम और तप से सहित है, जिसका राग नष्ट हो चुका है और जो सुख-दु ख में समता परिणाम रखता है ऐसा श्रमण-मुनि शुद्धोपयोग का धारक कहा गया है।। १४।।

इ **आगे शुद्धोपयोग पूर्वक ही शुद्ध आत्मा का लाभ होता है ऐसा कहते हैं -**

उवओगविसुद्धो जो विगदावरणंतरायमोहरओ।

भूदो सयमेवादा जादि परं णेयभूदाणं।। १५।।

जो जीव उपयोग से विशुद्ध है अर्थात शुद्धोपयोग का धारण करने वाला है वह स्वय ही ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय और मोह रूपी रज को नष्ट करता हुआ ज्ञेयभूत-समस्त पदार्थों के पार को प्राप्त होता है - त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को जानता है।। १५।।

आगे शुद्धात्मस्वरूप जीव सर्वथा स्वाधीन है ऐसा निरूपण करते हैं -

तह सो लद्धसहावो सव्वण्हू सव्वलोगपदिमहिदो।

भूदो सयमेवादा हवदि सयंभुत्ति णिद्दिट्ठो।। १६।।

इस प्रकार शुद्धोपयोग के द्वारा जिसे आत्मस्वभाव प्राप्त हुआ है ऐसा जीव स्वय ही सर्वज्ञ तथा समस्त लोक के अधिपतियों द्वारा पूजित होता हुआ स्वयंभू हो जाता है ऐसा कहा गया है।। १६।।

आगे शुद्ध आत्मस्वभाव की नित्यता तथा कथंचित् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यपना दिखलाते हैं -

भंगविहीणो य भवो संभवपरिवज्जिदो विणासो हि।

विज्जदि तस्सेव पुणो ठिदिसंभवणाससमवायो।। १७।।

जो जीव स्वयंभू पद को प्राप्त हुआ है उसी का उत्पाद विनाशरहित है और विनाश उत्पादरहित है

अर्थात् उसकी जो शुद्ध दशा प्रकट हुई है उसका कभी नाश नहीं होगा और जो अज्ञान दशा का नाश हुआ है उसका कभी उत्पाद नहीं होगा। इतना होने पर भी उसके स्थिति, उत्पाद और नाश का समवाय रहता है क्योंकि वस्तु प्रत्येक क्षण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक रहती है।। १७।।

आगे उत्पादादि तीनों शुद्ध आत्मा में भी होते हैं ऐसा कथन करते हैं -

उप्पादो य विणासो विज्जदि सव्वस्स अत्थजादस्स।
पज्जाएण दु केणवि अत्थो[1] खलु होदि सब्भूदो[2]।। १८।।[3]

निश्चय से समस्त पदार्थ समूह का किसी पर्याय की अपेक्षा उत्पाद होता है किसी पर्याय की अपेक्षा विनाश होता है और किसी पर्याय की अपेक्षा वह पदार्थसमूह सद्भूत अर्थात् ध्रौव्य रूप होता है। जिस प्रकार सुवर्ण द्रव्य का केयूर आदि पर्याय की अपेक्षा उत्पाद होता है, अगूठी आदि पर्याय की अपेक्षा विनाश होता है और पीतता आदि पर्याय की अपेक्षा वह ध्रौव्य रूप रहता है इसी प्रकार समस्त द्रव्यों में समझना चाहिये।। १८।।

आगे इन्द्रियों के बिना ज्ञान और आनन्द किस प्रकार होते हैं ? ऐसा सन्देह दूर करते हैं -

पक्खीणघादिकम्मो अणंतवरवीरिओ अधिकतेजो।
जादो अदिंदिओ सो णाणं सोक्खं च परिणमदि।। १९।।

शुद्धोपयोग की सामर्थ्य से जिसके घातिया कर्म नष्ट हो चुके हैं, क्षायोपशमिक ज्ञान और दर्शन से असपृक्त होने के कारण जो अतीन्द्रिय हुआ है, समस्त अन्तराय का क्षय हो जाने से जिसके अनन्त उत्कृष्ट वीर्य प्रकट हुआ है और ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण के अत्यन्त क्षय से जिसके केवलज्ञान तथा केवलदर्शन रूप अधिक तेज जागृत हुआ है वह शुद्धात्मा ही स्वय ज्ञान तथा सुख रूप परिणमन करने लगता है। इस प्रकार ज्ञान और सुख आत्मा के स्वभाव ही हैं। चूकि स्वभाव पर की अपेक्षा नहीं रखता इसलिये शुद्धात्मा के इन्द्रियो के बिना ही ज्ञान और सुख संभव हैं।। १९।।[4]

आगे अतीन्द्रिय होने से शुद्धात्मा के शारीरिक सुख-दु ख नही होते हैं ऐसा कथन करते हैं -

सोक्खं वा पुण दुक्खं केवलणाणिस्स णत्थि देहगदं।
जह्मा अदिंदियत्तं जादं तम्हा दु तं णेयं।। २०।।

चूंकि केवलज्ञानी के अतीन्द्रियपना प्रकट हुआ है इसलिये उनके शरीरगत सुख और दु ख नही होते हैं ऐसा जानना चाहिये।। २०।।

आगे केवली भगवान् को अतीन्द्रिय ज्ञान से ही सब वस्तु का प्रत्यक्ष होता है यह कहते हैं -

परिणमदो खलु णाणं पच्चक्खा सव्वदव्वपज्जाया।
सो णेव ते विजाणदि ओग्गहपुव्वाहिं[5] किरियाहिं।। २१।।

केवलज्ञान रूप परिणमन करने वाले केवली भगवान् के समस्त द्रव्य और उनकी समस्त पर्यायें सदा प्रत्यक्ष रहती हैं। वे अवग्रह आदि रूप क्रियाओं से द्रव्य तथा पर्यायों को नही जानते हैं।। २१।।

---

1 अट्ठो। 2 सब्भूदो ज वृ । 3 घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्। शोकप्रमोदमाध्यस्थ्य जनो [illegible] ।। 59।। पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रत । अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्व त्रयात्मकम्।। 60।। आप्तमीमासाया समन्तभद्रस्य। 4 १९ वी गाथा के आगे जयसेनवृत्ति में निम्नलिखित गाथा अधिक है -

त सव्वट्ठवरिट्ठं इट्ठ अमरासुरप्पहाणेहिं।
ये सद्दहंति जीवा तेसिं दुक्खाणि खीयति।। 5 उग्गहपुव्वाहिं।

आगे केवली के कुछ भी परोक्ष नहीं है ऐसा कहते हैं -

णत्थि परोक्खं किंचिवि समंत सव्वक्खगुणसमिद्धस्स।
अक्खातीदस्स सदा सयमेव हि णाणजादस्स।। २२।।

जो समस्त आत्मा के प्रदेशों में स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द ज्ञान रूप समस्त इन्द्रियों के गुणों से समृद्ध है, अथवा आत्मा के समस्त गुणों से सम्पन्न है[1] इन्द्रियों से अतीत है तथा स्वयं ही सदा ज्ञान रूप परिणत रहते है ऐसे केवली भगवान् के कुछ भी पदार्थ परोक्ष नहीं है - वे त्रिकाल और लोकालोकवर्ती समस्त पदार्थों को युगपद् जानते है।। २२।।

आगे आत्मा को ज्ञान प्रमाण और ज्ञान को सर्वव्यापक दिखलाते है -

आदा णाणपमाणं णाण णेयप्पमाणमुदि्दट्ठं।
णेयं लोगालोगं तह्मा णाणं तु सव्वगयं।। २३ ।।

आत्मा ज्ञान के बराबर और ज्ञान ज्ञेय के बराबर कहा गया है। ज्ञेय लोक तथा अलोक है इसलिये ज्ञान सर्वगत है।

"प्रत्येक द्रव्य अपने गुण और पर्यायों के बराबर होता है" ऐसा आगम का वचन होने से आत्मा अपने ज्ञानगुण के बराबर ही है न उससे हीन है और न अधिक। ज्ञानगुण ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य पदार्थ के बराबर होता है और ज्ञेय लोक तथा अलोक के समस्त पदार्थ हैं। अर्थात् ज्ञान उन्हें जानता है इसलिये विषय की अपेक्षा सर्वगत है, सर्वव्यापक है।। २३ ।।

आगे आत्मा को ज्ञान प्रमाण न मानने पर दो पक्ष उपस्थित कर उन्हें दूषित करते हैं -

णाणप्पमाणमादा ण हवदि जस्सेह तस्स सो आदा।
हीणो वा अधिगो वा णाणादो हवदि धुवमेव।। २४।।
हीणो जदि सो आदा तण्णाणमचेदणं ण जाणदि।
अधिगो वा णाणादो णाणेण विणा कहं णादि।। २५।। जुगलं।

इस लोक में जिसके मत में आत्मा ज्ञान प्रमाण नहीं होता है उसके मत में वह आत्मा निश्चय ही ज्ञान से हीन अथवा अधिक होगा। यदि आत्मा ज्ञान से हीन है तो वह ज्ञान चेतन के साथ समवाय न होने से अचेतन हो जावेगा और उस दशा में पदार्थ को नहीं जान सकेगा। इसके विरुद्ध यदि आत्मा ज्ञान से अधिक है तो वह ज्ञानातिरिक्त आत्मा ज्ञान के विना पदार्थ को किस प्रकार जान सकेगा ? जब कि ज्ञान ही जानने का साधन है ।। २४-२५।।

आगे ज्ञान की भांति आत्मा भी सर्वव्यापक है ऐसा सिद्ध करते हैं -

सव्वगदो जिणवसहो सव्वेवि य तग्गया जगदि अट्ठा।
णाणमयादो य जिणो विसयादो तस्स ते भणिदा।। २६ ।।

ज्ञानमय होने से जिनश्रेष्ठ सर्वज्ञ भगवान् सर्वगत अर्थात् सर्वव्यापक हैं और उन भगवान् के विषय होने से जगत् के सभी पदार्थ तद्गत अर्थात् उन भगवान् में प्राप्त होते हैं। जब कि ज्ञान सर्वव्यापक है तब उससे तन्मय रहने वाला सर्वज्ञ भी सर्वव्यापक है यह सिद्ध हुआ।। २६।।

आगे आत्मा और ज्ञान में एकता तथा अन्यता का विचार करते हैं -

1 अथवा द्वितीयव्याख्यान - अक्ष्णोति ज्ञानेन व्याप्नोतीत्यक्ष आत्मा तद्गुणसमृद्धस्य ज वृ ।

णाणं अप्पत्ति मदं वट्टदि[1] णाणं विणा ण अप्पाणं।
तह्मा णाणं अप्पा अप्पा णाणं व अण्णं वा।। २७।।

ज्ञान आत्मा है ऐसा माना गया है, चूंकि ज्ञान आत्मा के विना नहीं होता इसलिये ज्ञान आत्मा है और आत्मा के सिवाय अन्य गुणों का भी आश्रय है अत ज्ञान रूप भी है और अन्य रूप भी है।

आत्मा अनन्तगुणों का पिण्ड है। ज्ञान उन अनन्त गुणों में एक प्रधान गुण है और आत्मा के सिवाय अन्यत्र नहीं पाया जाता इसलिये गुणगुणी में अभेद विवक्षाकर ज्ञान को आत्मा कह दिया है। परन्तु आत्मा जिस प्रकार ज्ञानगुण का आधार है उसी प्रकार अन्य गुणों का भी आधार है इसलिये ज्ञानगुण के आधार की अपेक्षा आत्मा ज्ञानरूप है तथा अन्य गुणों के आधार की अपेक्षा ज्ञानरूप नहीं भी है।। २७।।

आगे ज्ञान न तो ज्ञेय में जाता है और न ज्ञेय ज्ञान में जाता है ऐसा प्ररूपण करते हैं -

णाणी णाणसहावो अत्था णेयाप्पगा हि णाणिस्स।
रूवाणि व चक्खूणं णेवण्णोण्णेसु वट्टंति।। २८।।

निश्चय से आत्मा ज्ञान स्वभाव वाला है और पदार्थ उस ज्ञानी - आत्मा के ज्ञेयस्वरूप हैं। जिस प्रकार रूपी पदार्थ चक्षुओं में प्रविष्ट नहीं होते और चक्षु रूपी पदार्थों में प्रविष्ट नहीं होते उसी प्रकार ज्ञेय ज्ञानी - आत्मा में प्रविष्ट नहीं है और ज्ञानी ज्ञेय पदार्थों में प्रविष्ट नहीं हैं। पृथक् रहकर ही इन दोनों में ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है।। २८।।

आगे यद्यपि निश्चय से ज्ञानी ज्ञेयों में - पदार्थों में प्रविष्ट नहीं होता है तो व्यवहार से प्रविष्ट के समान जान पडता है ऐसा कथन करते हैं -

ण पविट्ठो णाविट्ठो णाणी णेयेसु रूवमिव चक्खू।
जाणदि पस्सदि णियदं अक्खातीदो जगमसेसं।। २९।।

इन्द्रियातीत अर्थात् अतीन्द्रिय ज्ञान सहित आत्मा जानने योग्य पदार्थों में प्रविष्ट नही होता और प्रविष्ट नहीं होता सर्वथा ऐसा भी नहीं है व्यवहार की अपेक्षा प्रविष्ट होता भी है। वह रूपी पदार्थ को नेत्र की तरह समस्त संसार को निश्चित रूप से जानता है।

जिस प्रकार चक्षु रुपी पदार्थ में प्रविष्ट नही होता फिर भी वह उसे देखता है इसी प्रकार आत्मा जानने योग्य पदार्थ में प्रविष्ट नही होता फिर भी वह उसे जानता है परन्तु दृश्य-दर्शक सम्बन्ध होने की अपेक्षा व्यवहार से जिस प्रकार चक्षु रुपी पदार्थ में प्रविष्ट हुआ कहलाता है उसी प्रकार ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध होने की अपेक्षा व्यवहार से आत्मा पदार्थों मे प्रविष्ट हुआ कहलाता है।। २९।।

आगे व्यवहार से ज्ञान पदार्थों में प्रवर्तता है ऐसा उदाहरण पूर्वक दर्शाते हैं -

रदणमिह इंदणीलं दुद्धज्झसियं जहा सभासाए।
अभिभूय तंपि दुद्धं वट्टदि तह णाणमत्थेसु।। ३०।।

इस लोक में जिस प्रकार दूध में डुबाया हुआ इन्द्रनील नामक मणि अपनी कान्ति से उस दूध को अभिभूत करके - नीला बनाकर रहता है उसी प्रकार ज्ञान भी पदार्थों को अभिभूत कर - ज्ञानरूप बनाकर उनमें रहता है।

यथार्थ में इन्द्रनीलमणि अपने आप में ही रहता है दूध में जो नीलाकार परिणमन हो रहा है वह दूध का ही है परन्तु इन्द्रनील मणि के सम्बन्ध से होने के कारण उपचार से इन्द्रनीलमणि का कहलाता है इसी प्रकार

1 वट्टइ।

ज्ञान सदा ज्ञानरूप ही रहता है परन्तु वह अपनी स्वच्छता के कारण दर्पण की तरह घटपटादि पदार्थ रूप हो जाता है। ज्ञान में जो घटपटादि पदार्थों का आकार प्रतिफलित होता है वह यथार्थ में ज्ञान का ही है परन्तु पदार्थों के निमित्त से होता है इसलिये पदार्थों का कहलाता है। पदार्थ ज्ञान में प्रतिबिम्बित होते हैं इसी अपेक्षा से "ज्ञान पदार्थ में व्याप्त रहता है" ऐसा व्यवहार होता है।। ३०।।

आगे व्यवहार से पदार्थ ज्ञान में रहते हैं यह बतलाते हैं -

जदि ते ण संति अत्था णाणे णाणं ण होदि सव्वगयं।
सव्वगयं वा णाणं कहं ण णाणट्ठिया अत्था[1]।। ३१।।

यदि वे पदार्थ ज्ञान में नहीं रहते हैं ऐसा माना जाय तो ज्ञान सर्वगत नहीं हो सकता और यदि ज्ञान सर्वगत है ऐसा माना जाता है तो पदार्थ ज्ञान में स्थित क्यों न माने जावें ? अवश्य माने जावें।। ३१।।

आगे यद्यपि ज्ञान का पदार्थों के साथ ग्राहक-ग्राह्य सम्बन्ध है तथापि निश्चय से दोनों पृथक् हैं ऐसा बतलाते हैं -

गेण्हदि णेव ण मुंचदि ण परं परिणमदि केवली भगवं।
पेच्छदि समंतदो सो जाणदि सव्वं णिरवसेसं।। ३२।।

केवली भगवान् पर पदार्थों को न ग्रहण करते हैं न छोड़ते हैं और न उन रूप परिणमन ही करते हैं फिर भी वे समस्त पदार्थों को सम्पूर्ण रूप से सर्वांग ही देखते और जानते हैं।

यद्यपि निश्चय नय से केवली भगवान किन्हीं पर पदार्थों का ग्रहण तथा त्याग आदि नहीं करते तथापि व्यवहारनय से वे समस्त पदार्थों के ज्ञाता-द्रष्टा कहे जाते हैं।। ३२।।

आगे केवलज्ञानी और श्रुतकेवली में समानता बतलाते हैं -

जो हि सुदेण विजाणदि अप्पाणं जाणगं सहावेण।
तं सुयकेवलिमिसिणो भणंति लोगप्पदीवयरा।। ३३।।

निश्चय से जो पुरुष श्रुतज्ञान के द्वारा स्वभाव से ही जानने वाले अपने आत्मा को जानता है उसे लोक को प्रकाशित करने वाले ऋषि श्रुतकेवली कहते हैं।

जिस प्रकार केवलज्ञानी एक साथ परिणत समस्त चैतन्य विशेष से शोभायमान केवलज्ञान के द्वारा अनादिनिधन, कारणरहित, असाधारण और स्वसंवेदन ज्ञान की महिमा सहित केवल आत्मा को अपने आप में वेदन करता है - अनुभव करता है उसी प्रकार श्रुतकेवली भी क्रमश परिणमन करने वाली कुछ चैतन्य शक्तियों से सुशोभित श्रुतज्ञान से पूर्वोक्त विशेषण विशिष्ट आत्मा को अपने आपमें वेदन करता है इसलिये इन दोनों में वस्तुस्वरूप जानने की अपेक्षा समानता है सिर्फ प्रत्यक्ष, परोक्ष और ज्ञायक शक्तियों के तारतम्य की अपेक्षा ही विशेषता है।। ३३।।

आगे श्रुत के निमित्त से ज्ञान में जो भेद होता है उसे दूर करते हैं -

सुत्तं जिणोवदिट्ठं पोग्गलदव्वप्पगेहिं वयणेहिं।
[2]तज्जाणणा हि णाणं सुत्तस्स य जाणणा भणिया।। ३४।।

पुद्गलद्रव्य स्वरूप वचनों के द्वारा जिनेन्द्र भगवान् ने जो उपदेश दिया है वह द्रव्यश्रुत है निश्चय से उसका जानना भावश्रुत ज्ञान है और व्यवहार से कारण में कार्य का उपचारकर उस द्रव्यश्रुत को भी ज्ञान कहा है। इस उल्लेख से यह सिद्ध हुआ कि सूत्र का ज्ञान श्रुतज्ञान कहलाता है। यदि कारणभूत श्रुत की उपेक्षा कर दी जावे

1 अट्ठा। 2 तं जाणणा।

तो ज्ञान ही अवशिष्ट रहता है। वह ज्ञान केवली और श्रुतकेवली के आत्मसवेदन के विषय में तुल्य ही रहता है अत उनके ज्ञान में श्रुतनिमित्तक विशेषता नहीं होती है।। ३४।।

आगे आत्मा और ज्ञान में कर्ता और कारणकृत भेद को दूर करते हैं -

जो जाणदि सो णाणं ण हवदि णाणेण जाणगो आदा।

णाणं परिणमदि सयं अट्ठा णाणट्ठिया सव्वे।। ३५।।

जो जानता है वह ज्ञान है, आत्मा ज्ञान के द्वारा ज्ञायक नहीं है। किन्तु वह स्वयं ही ज्ञानरूप परिणमन करता है और सब पदार्थ ज्ञान में स्वय स्थित रहते हैं।

आत्मा ज्ञप्तिक्रिया का कर्ता है और ज्ञान उसका करण है। आत्मा गुणी है ज्ञान गुण है। गुण गुणी में प्रदेश भेद नहीं है इसलिये अत्मा ही ज्ञान है और ज्ञान ही आत्मा है। जिस प्रकार अग्नि और उष्णता में अभेद है उसी प्रकार आत्मा और ज्ञान में अभेद है।। ३५।।

आगे ज्ञान क्या है ? और ज्ञेय क्या है ? इसका विवेक करते हैं -

तम्हा णाणं जीवो णेयं दव्वं तिधा समक्खादं।

दव्वति पुणो आदा परं च परिणामसंबद्धं।। ३६।।

चूंकि जीव और ज्ञान में अभेद है अत जीव ज्ञानस्वरूप है और अतीत-अनागत-वर्तमान अथवा उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य के भेद से तीन प्रकार परिणमन करने वाला द्रव्य ज्ञेय है - ज्ञान का विषय है। फिर जीव तथा पुद्गल आदि पांच अजीव पदार्थ परिणमन से सम्बद्ध होने के कारण द्रव्य इस व्यवहार के प्राप्त होते हैं। ज्ञान आत्मस्वरूप है परन्तु ज्ञेय आत्मा और अनात्मा के भेद से दो प्रकार का है।। ३६।।

आगे अतीत, अनागत पर्यायें वर्तमान की तरह ज्ञान में प्रतिभासित होती हैं ऐसा कथन करते हैं -

तक्कालिगेव सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं।

वट्टंते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीणं।। ३७।।

उन प्रसिद्ध जीव, पुद्गलादिक द्रव्यजातियों के वे समस्त विद्यमान और अविद्यमान पर्याय निश्चय से ज्ञान में अपनी अपनी विशेषाता लिये हुए वर्तमान काल सम्बन्धी पर्यायों की तरह विद्यमान रहते हैं।

ज्ञान चित्रपट के समान है जिस प्रकार चित्रपट में भूत-भविष्यत् और वर्तमान काल सम्बन्धी वस्तुओं के चित्र युगपत् प्रतिभासित रहते हैं उसी प्रकार ज्ञान में भी भूत, भविष्यत और वर्तमान काल सम्बन्धी द्रव्यपर्याय प्रतिभासित रहते हैं।। ३७।।

आगे अविद्यमान पर्याय किसी अपेक्षा से विद्यमान है ऐसा बतलाते हैं -

जे णेव हि संजाया जे खलु णट्ठा भवीय पज्जाया।

ते होंति असब्भूया पज्जाया णाणपच्चक्खा।। ३८।।

निश्चय से जो पर्याय उत्पन्न नहीं हुए हैं और जो उत्पन्न होकर नष्ट हो गये हैं वे अतीत और अनागत काल सम्बन्धी समस्त पर्याय यद्यपि असद्भूत पर्याय हैं - वर्तमान में अविद्यमान रूप हैं तथापि ज्ञान में प्रत्यक्ष होने से कथंचित् सद्भूत हैं।। ३८।।

आगे असद्भूत पर्यायें ज्ञान में प्रत्यक्ष हैं इसी को पुष्ट करते हैं -

जदि पच्चक्खमजादं पज्जायं पलयिदं च णाणस्स।

ण हवदि वा तं णाणं दिव्वं त्ति हि के परूविंति।। ३९।।

यदि अजात-अनुत्पन्न और प्रलयित-विनष्ट पर्याय केवलज्ञान के प्रत्यक्ष नहीं होते हैं तो उसे "यह दिव्यज्ञान है - सबसे उत्कृष्ट ज्ञान है" ऐसा कौन प्ररूपण करते हैं। केवलज्ञान की उत्कृष्टता इसी में है कि वह अतीत-अनागत पर्यायों को भी प्रत्यक्षवत् स्पष्ट जानता है।। ३९।।

आगे इन्द्रियजन्य ज्ञान अतीत-अनागत पर्यायों के जानने में असमर्थ है ऐसा कहते हैं -

[1]अत्थं अक्खणिवदिदं ईहापुव्वेहिं जे विजाणंति।

तेसिं परोक्खभूदं णादुमसक्कंति पण्णत्तं।। ४०।।

जो जीव इन्द्रिय गोचर पदार्थ को ईहा-अवाय-धारणा पूर्वक जानते हैं उन्हें परोक्ष पदार्थ - असद्भूत पर्याय का जानना अशक्य है ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है।। ४०।।

आगे अतीन्द्रिय ज्ञान सब कुछ जानता है ऐसा कहते हैं -

अपदेसं सपदेसं मुत्तममुत्तं च पज्जयमजादं।

पलयं गदं च जाणदि तं णाणमदिंदियं भणियं।। ४१।।

जो ज्ञान प्रदेश रहित कालाणु अथवा परमाणु को, प्रदेश सहित पचास्तिकायों को, मूर्त अर्थात् पुद्गल को, अमूर्त अर्थात् मूर्ति रहित शुद्ध जीवादि द्रव्यों को, अनुत्पन्न और विनष्ट पर्यायों को जानता है वह अतीन्द्रिय ज्ञान कहा गया है।। ४१।।

आगे अतीन्द्रिय ज्ञान में पदार्थाकार परिणमन रूप क्रिया नहीं होती है ऐसा कहते हैं -

परिणमदि णेयमट्ठं णादा जदि णेव खाइगं तस्स।

णाणंति तं जिणिंदा खवयंतं कम्ममेवुत्ता।। ४२।।

यदि ज्ञाता आत्मा ज्ञेय पदार्थ के प्रति सकल्प-विकल्प रूप परिणमन करता है तो उसके क्षायिकज्ञान नही है इसके विपरीत जिनेन्द्र भगवान ने उस आत्मा को कर्म का अनुभव करने वाला अर्थात् संसारी ही कहा है।। ४२।।

आगे ज्ञान बन्ध का कारण नहीं है किन्तु ज्ञेय में जो रागद्वेष रूप आत्मा की परिणति है वह बन्ध का कारण है ऐसा कहते है -

उदयगदा कम्मंसा जिणवरवसहेहिं णियदिणा भणिया।

तेसु हि मुहिदो रत्तो दुट्ठो वा बंधमणुहवदि।। ४३।।

जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है कि ससारी जीव के नियम पूर्वक कर्मों के अंश प्रति समय उदय में आते रहते हैं जो जीव उन उदयागत कर्मांशों में मोही, रागी अथवा द्वेषी होता है वह बन्ध का अनुभव करता है।। ४३।।

आगे रागादि का अभाव होने से केवली भगवान् की धर्मोपदेश आदि क्रियायें बन्ध का कारण नहीं हैं ऐसा कहते हैं -

ठाणणिसेज्जविहारा धम्मुवदेसो य णियदयो तेसिं।

अरहंताणं काले मायाचारोव्व इच्छीणं।। ४४।।

जिस प्रकार स्त्रियों के मायाचार रूप प्रवृत्ति स्वभाव से ही होती है उसी प्रकार अरहन्त भगवान् के अरहन्त अवस्था के काल में स्थान - विहार करते-करते रुक जाना, निषद्या - समवसरण में आसीन होना, विहार - आर्यक्षेत्रों में विहार करना और धर्मोपदेश देना ये कार्य स्वभाव से ही होते हैं।

चूंकि अरहन्त भगवान् के मोह का उदय नहीं होता इसलिये उनकी समस्त क्रियाएं इच्छा के अभाव में होती हैं और इसीलिये वे उनके बन्ध का कारण नही होती।। ४४।।

1 अट्ठ।

आगे अरहन्त भगवान् के पुण्य कर्म का उदय बन्ध का कारण नहीं है यह कहते हैं -

पुण्णफला अरहंता तेसिं किरिया पुणो हि ओदयिगा[1]।
मोहादीहिं विरहिदा तम्हा सा खाइगत्ति मदा।। ४५।।

अरहन्त भगवान् तीर्थंकर नामक पुण्यप्रकृति के फल हैं अर्थात् अरहन्त पद तीर्थंकर नामक पुण्यप्रकृति के उदय से होता है और उनकी शारीरिक तथा वाचनिक क्रिया निश्चय से कर्मोदयजन्य है तथापि वह क्रिया मोह, राग, द्वेषादि भावों से रहित है इसलिये क्षायिक मानी गई है।

यद्यपि औदयिकभाव बन्ध के कारण होते हैं तथापि मोह का उदय साथ न होने से अरहन्त भगवान् के औदयिक भाव बन्ध के प्रति अकिंचित्कर रहते हैं।। ४५।।

आगे केवलियों की तरह सभी जीवों के स्वभाव का कभी विघात नहीं होता ऐसा कहते हैं -

जदि सो सुहो व असुहो ण हवदि आदा सयं सहावेण।
संसारोवि ण विज्जदि सव्वेसिं जीवकायाणं।। ४६।।

यदि वह आत्मस्वभाव से स्वयं ही शुभ अथवा अशुभ रूप नहीं होवे तो समस्त जीवों के ससार ही नहीं होवे।

जिस प्रकार स्फटिकमणि जपा तथा तापिच्छ आदि फूलों के संसर्ग से लाल तथा नीला परिणमन करने लगता है उसी प्रकार यह आत्मा परिणामी होने के कारण शुभ अशुभ कर्मोदय का निमित्त मिलने से शुभ अशुभ रूप परिणमन करने लगता है। केवली भगवान् के शुभ अशुभ कर्मों का उदय छूट जाता है इसलिये उन्हें शुभ अशुभ रूप परिणमन से रहित कहा है परन्तु ससारी जीवों के वह निमित्त विद्यमान रहता है इसलिये उन्हें शुभ अशुभ परिणमन में सहित माना गया है। यदि केवली भगवान् की तरह ससार के प्रत्येक प्राणी को शुभ अशुभ परिणमन से रहित मान लिया जावे तो उनके संसार का ही अभाव हो जावे - वे नित्यमुक्त कहलाने लगें परन्तु ऐसा मानना प्रत्यक्ष विरुद्ध है अत केवली के सिवाय अन्य संसारी जीवों के शुभ अशुभ परिणमन माना जाता है।। ४६।।

आगे पहले कहा गया अतीन्द्रिय ज्ञान ही सब पदार्थों को जानता है ऐसा कहते हैं -

जं तक्कालियमिदरं जाणदि जुगवं समंतदो सव्वं।
अत्थं विचित्तविसमं तं णाण खाइय भणियं।। ४७।।

जो ज्ञान सर्वांग से वर्तमान एवं भूत-भविष्यत काल सम्बन्धी पर्यायों से सहित विविध तथा मूर्तिक-अमूर्तिक के भेद से विषमता को लिये हुए समस्त पदार्थों को एक साथ जानता है उसे क्षायिक ज्ञान कहा है।। ४७।।

आगे जो सबको नहीं जानता वह एक को भी नहीं जानता इस विचार को निश्चित करते हैं -

जो ण विजाणदि जुगवं अत्थे तेकालिके[2] तिहुवणत्थे।
णादु तस्स ण सक्कं सपज्जयं दव्वमेकं वा।। ४८।।

जो पुरुष तीन लोक में स्थित तीन काल सम्बन्धी समस्त पदार्थों को एक साथ नहीं जानता है उसके अनन्त पर्यायों से सहित एक द्रव्य को भी जानने की शक्ति नहीं है।

जिस प्रकार दाह्य-ईन्धन को जलाने वाली अग्नि स्वयं दाह्य के आकार परिणत हो जाती है उसी प्रकार ज्ञेयों को जानने वाला आत्मा स्वयं ज्ञेयाकार परिणत हो जाता है। केवलज्ञानी अनन्त ज्ञेयों को जानते हैं इसलिये उनके आत्मा में अनन्त ज्ञेयों के आकार दर्पण में घट-पटादि के समान प्रतिबिम्बित रहते हैं अत जो

1 ओदइया। 2 तिक्कालिगे।

केवलज्ञान के द्वारा प्रकाश्य अनन्त पदार्थों को नहीं जानता है वह उनके प्रतिबिम्बाधार आत्मा को भी नहीं जानता है।।४८।।

आगे जो एक को नहीं जानता वह सबको नही जानता ऐसा निश्चय करते हैं -

दव्वं अणंतपज्जयमेक्कमणंताणि दव्वजादाणि।
ण विजाणदि जदि जुगवं कध सो सव्वाणि जाणादि।।४९।।

जो अनन्तपर्यायों वाले एक -आत्म द्रव्य को नहीं जानता है वह अन्तरहित सम्पूर्ण द्रव्यों के समूह को कैसे जान सकता है ? जिस आत्मा में अनन्तज्ञेयों के आकार प्रतिफलित हो रहे हैं वही समस्त द्रव्यों को जान सकता है। तात्पर्य यह हुआ कि जो एक को जानता है वह सबको जानता है और जो सबको जानता है वह एक को जानता है। यहां एक से तात्पर्य केवलज्ञान विशिष्ट आत्मा से है[1]।।४९।।

आगे क्रमपूर्वक जानने से ज्ञान में सर्वगतपना सिद्ध नहीं हो सकता ऐसा सिद्ध करते हैं -

उप्पज्जदि जदि णाणं कमसो अत्थे[2] पडुच्च णाणिस्स।
न णेव हवदि णिच्चं ण [3]खाइगं णेव[4] सव्वगदं।।५०।।

यदि ज्ञानी - आत्मा का ज्ञान क्रम से पदार्थों का अवलम्बन कर उत्पन्न होता है तो वह न नित्य है, न क्षायिक है और न सर्वगत - समस्त पदार्थों को जानने वाला ही है।

उत्तरपदार्थ का आलम्बन मिलने पर पूर्व पदार्थ के आलम्बन से होने वाला ज्ञान नष्ट हो जाता है इसलिये वह नित्य नहीं हो सकता। ज्ञानावरण कर्म के क्षय से प्रकट होने वाला क्षायिक ज्ञान सदा उपयोगात्मक रहता है उसमें क्रमवर्तित्व संभव नहीं है। यह क्रमवर्तित्व क्षायोपशमिक ज्ञान में ही संभव है। इसी प्रकार जो ज्ञान क्रमवर्ती होता है वह सीमित होता है, वह एक काल में संसार के समस्त पदार्थों को नहीं जान सकता।।५०।।

आगे एक साथ प्रवृत्ति होने से ही ज्ञान में सर्वगतपना सिद्ध होता है ऐसा निरूपण करते हैं -

[5]तेकालणिच्चविसमं सकलं सव्वत्थ संभवं चित्तं।
जुगवं जाणदि जोण्हं अहो हि णाणस्स माहप्पं।।५१।।

जिनेन्द्र भगवान् का ज्ञान अतीतादि तीन कालों से सदा विषम, लोक-अलोक में सर्वत्र विद्यमान, नाना जाति के समस्त पदार्थों को एक साथ जानता है। निश्चय से क्षायिकज्ञान का विचित्र माहात्म्य है।।५१।।

आगे केवली के ज्ञान क्रिया होने पर भी बन्ध नहीं होता है यह निरूपण करते हैं -

ण वि परिणमदि ण गेण्हदि उप्पज्जदि णेव तेसु[6] अत्थेसु।
जाणण्णवि ते आदा अबंधगो तेण पण्णत्तो।।५२।।

केवलज्ञानी शुद्धात्मा चूंकि उन पदार्थों को जानता हुआ भी उन रूप न परिणमन करता है न उन्हें ग्रहण करता है और न उनमें उत्पन्न ही होता है इसलिये वह अबन्धक - बन्ध रहित कहा गया है।।५२।।[7]

इति [illegible]धिकार

आगे ज्ञान से अभिन्नरूप सुख का वर्णन करते हुए आचार्य महाराज ज्ञान और सुख में कौन-सा ज्ञान तथा सुख छोडने योग्य है और कौनसा ज्ञान तथा सुख ग्रहण करने योग्य है ? इसका विचार करते हैं -

---

1 एको भावः सर्वभावस्वभावः सर्वे भावा एकभावस्वभावाः। एको भावस्तत्त्वतो येन बुद्धः सर्वे भावास्तत्त्वतस्तेन बुद्धाः।।" 2 अट्ठे। 3 खाइयं। 4 सव्वगयं। 5 तिक्काल। 6 अट्ठेसु। 7 जानन्नप्येष विश्वं युगपदपि भवद्भावि भूतं समस्तं, मोहाभावाद्यदात्मा परिणमति परं नैव निर्लूनकर्मा। तेनास्ते युक्त एव प्रसभविकसितज्ञप्तिविस्तारपीतज्ञेयाकारं त्रिलोकीं पृथगपृथगथ द्योतयन् ज्ञानमूर्तिः।" 7 जदि वि णत्थि।

[1]अत्थि अमुत्तं मुत्तं अदिंदियं इंदियं च अत्थेसु।
णाणं च तथा सोक्खं जं तेसु परं च तं णेयं।। ५३।।

पदार्थों के विषय में जो ज्ञान अतीन्द्रिय होता है वह अमूर्तिक है और जो इन्द्रियजन्य होता है वह मूर्तिक कहलाता है। इसी प्रकार अतीन्द्रिय और इन्द्रियजन्य सुख भी क्रमश अमूर्तिक तथा मूर्तिक होता है। इन दोनों में जो उत्कृष्ट है वही उपादेय है।

मूर्तिक ज्ञान और सुख क्षायोपशमिक उपयोग शक्तियों तथा क्षायोपशमिक इन्द्रियों से उत्पन्न होता है अत पराधीन होने से कादाचित्क है, क्रम से प्रवृत्त होता है, प्रतिपक्षी से सहित है, हानिवृद्धि से युक्त है इसलिये हेय है और अमूर्तिक ज्ञान तथा सुख इससे विपरीत होने के कारण उपादेय है।। ५३।।

आगे अतीन्द्रिय सुख का कारण अतीन्द्रिय ज्ञान उपादेय है यह कहते हैं -

जं पेच्छदो अमुत्तं मुत्तेसु अदिंदियं च पच्छण्णं।
सकलं सगं च इदरं तं णाणं हवदि पच्चक्खं।। ५४।।

देखने वाले का जो ज्ञान अमूर्तिक द्रव्यों को तथा मूर्तिक द्रव्यों में अतीन्द्रिय अर्थात् परमाणु आदि को एव क्षेत्रान्तरित, कालान्तरित आदि प्रच्छन्न पदार्थों को इस प्रकार समस्त स्व और पर ज्ञेय को जानता है वह प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। अनन्त सुख का अनुभावक होने से यह प्रत्यक्ष ज्ञान ही उपादेय है।। ५४।।

आगे इन्द्रिय सुख का कारण इन्द्रिय ज्ञान हेय है इस प्रकार उसकी निन्दा करते है -

जीवो सयं अमुत्तो मुत्तिगदो तेण मुत्तिणा मुत्तं।
ओगिण्हित्ता जोग्गं जाणदि वा तण्ण जाणदि।। ५५।।

जीव निश्चयनय से स्वय अमूर्तिक है परन्तु व्यवहार से मूर्ति अर्थात शरीर में स्थित हो रहा है। यह जीव द्रव्य तथा भाव इन्द्रियों के आधारभूत मूर्त शरीर के द्वारा ग्रहण करने योग्य मूर्त पदार्थ का अवग्रह ईहा आदि क्रम से जानता है और क्षयोपशम की मन्दता तथा उपयोग के अभाव से नहीं भी जानता है।

इन्द्रिय ज्ञान यद्यपि व्यवहार से प्रत्यक्ष कहा जाता है तथापि निश्चयनय से केवलज्ञान की अपेक्षा परोक्ष ही है। परोक्षज्ञान जितने अंश में सूक्ष्म पदार्थ को नहीं जानता है उतने अंश में चित्त के खेद का कारण होता है और खेद ही दु ख है अत दु ख का जनक होने से इन्द्रियज्ञान हेय है - छोडने योग्य है।। ५५।।

आगे इन्द्रियों की अपने विषय में भी प्रवृत्ति होना एक साथ सम्भव नही है इसलिये इन्द्रिय ज्ञान हेय है यह कहते हैं -

फासो रसो य गंधो वण्णो सद्दो य पुग्गला होंति।
अक्खाणं ते अक्खा जुगवं ते णेव गेण्हंति।। ५६।।

स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द ये पुद्गल ही इन्द्रियों के विषय है सो उन्हें भी ये इन्द्रिया एक साथ ग्रहण नहीं करती है।

जिस प्रकार सब तरह से उपादेयभूत अनन्तसुख का कारणभूत केवलज्ञान एक साथ समस्त पदार्थों को जानता हुआ सुख का कारण होता है उस प्रकार यह इन्द्रिय ज्ञान अपने योग्य विषयों का भी युगपत् ज्ञान न होने से सुख का कारण नहीं है।। ५६।।

आगे इन्द्रिय ज्ञान प्रत्यक्ष नही है ऐसा निश्चय करते हैं -

1 "तस्स णमाइ लोगो देवासुरमणुअरायसबंधो।
णाण च तहा सोक्ख ज तेसु पर च त णेय।।" ज वृत्त्यावधिक पाठ ।

परदव्वं ते अक्खा णेव सहावोत्ति अप्पणो भणिदा।
उवलद्धं तेहि कहं पच्चक्खं अप्पणो होदि।। ५७।।

वे इन्द्रियां चूंकि आत्मा का स्वभाव नहीं है इसलिये पर द्रव्य कही गई है फिर उन इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किया हुआ पदार्थ आत्मा के प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है ?।। ५७।।

आगे परोक्ष और प्रत्यक्ष का लक्षण प्रकट करते हैं -

ज परदो विण्णाणं तं तु परोक्खत्ति भणिदमत्थेसु।
जदि केवलेण णादं हवदि हि जीवेण पच्चक्खं।। ५८।।

पदार्थ विषयक जो ज्ञान पर की सहायता से होता है वह परोक्ष कहलाता है और जो ज्ञान केवल आत्मा के द्वारा जाना जाता है वह प्रत्यक्ष कहा जाता है।। ५८।।

आगे यही अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान निश्चय सुख है ऐसा अभेद दिखलाते हैं -

जाद सयं समत्त णाणमणन्तत्थवित्थिदं[1] विमन्न।
रहिद तु [2]उग्गहादिहि सुहन्ति [3]एयंतियं भणिद[4]।। ५६।।

जो स्वय उत्पन्न हुआ है, परिपूर्ण है, अनन्त पदार्थों में विस्तृत है, निर्मल है और अवग्रह आदि क्रम से रहित है ऐसा ज्ञान ही निश्चय सुख है ऐसा कहा गया है।। ५६।।

आगे अनन्त पदार्थों को जानने के कारण केवलज्ञानी को खेद होता होगा इस पूर्व प्रश्न का निराकरण करते हैं -

ज केवलत्ति णाणं तं सोक्ख परिणाम च सो चेव।
खेदो तस्स ण [5]भणिदो जम्हा [6]घादी खय जादा।। ६0।।

जो केवल इस नाम वाला ज्ञान है वह सुख है और वही सुख सबके जानने रूप परिणाम है। केवलज्ञान के खेद नहीं कहा गया है। क्योंकि घातियाकर्म क्षय को प्राप्त हुए हैं।

खेद के स्थान ज्ञानावरणादि घातियाकर्म है। चूकि केवलज्ञानी के इनका क्षय हो चुकता है अत उनका केवलज्ञान आकुलता रूप खेद से सर्वथा रहित होता है।। ६0।।

आगे फिर भी केवलज्ञान को सुख रूप दिखलाते हैं -

णाणं अत्थतगद लोमालोगेसु[7] वित्थडा दिट्ठी।
णट्ठमणिट्ठं सव्वं इट्ठं पुण ज [8]तु तं लद्धं।। ६१।।

केवलज्ञानी का ज्ञान पदार्थों के अन्त को प्राप्त है अर्थात् अनन्त पदार्थों का जानने वाला है, उनकी दृष्टि अर्थात् केवलदर्शन लोक-अलोक में विस्तृत है, समस्त अनिष्ट नष्ट हो चुकते हैं और जो इष्ट होता है वह उन्हें प्राप्त हो चुकता है। इस प्रकार केवलज्ञान ही सुख रूप होता है।। ६१।।

आगे केवलज्ञानियों के ही पारमार्थिक सुख है ऐसी श्रद्धा करते हैं -

ण हि सद्दहंति सोक्खं सुहेसु परमंति विगदघादीणं।
[9]सुणिऊण ते अभव्वा भव्वा वा तं पडिच्छंति।। ६२।।

जिनके घातिया कर्म नष्ट हो चुके हैं ऐसे केवली भगवान् का सुख सब सुखों में उत्कृष्ट है ऐसा

1 वित्थड। 2 ओग्गहादिहिं। 3 एगंतिय। 4 भणिय। 5 भणिओ। 6 घादिक्खय। 7 लोयालोएसु। 8 हि। 9 सुणिदूण ज वृ।

सुनकर जो श्रद्धान नहीं करते हैं वे अभव्य हैं और जो श्रद्धान करते हैं वे भव्य हैं।। ६२।।[1]

आगे परोक्ष ज्ञानियों के जो इन्द्रियजन्य सुख होता है वह अपारमार्थिक है ऐसा कहते हैं -

मणुआसुरामरिंदा अहिद्दुआ[2] इंदिएहिं सहजेहिं।
असहंता तं दुक्खं रमंति विसएसु रम्मेसु।। ६३।।

सहजोत्पन्न इन्द्रियों से पीडित मनुष्य धरणेन्द्र और देवों के इन्द्र - स्वामी उस इन्द्रियजन्य दु ख को न सहते हुए रमणीक विषयों में क्रीडा करते हैं।। ६३।।

आगे जितनी इन्द्रियां हैं वे स्वभाव से ही दु ख रूप हैं ऐसा विचार करते हैं -

जेसिं विसयेसु [3]रदी तेसिं दुक्खं वियाण सब्भाव।
[4]जदि तं ण हि सब्भावं वावारो णत्थि विसयत्थं।। ६४।।

जिन जीवों की विषयों में प्रीति है उनके दु ख स्वभाव से ही जानो क्योंकि यदि वह दु ख उनके स्वभाव से उत्पन्न हुआ नहीं होता तो विषयों के लिये उनका व्यापार नहीं होता।

जिस प्रकार व्याधि से पीडित मनुष्यों का औषधि के लिये व्यापार होता है उसी प्रकार इन्द्रियों से पीडित मनुष्यों का विषयों के लिये व्यापार होता है। मनुष्य अनुकूल विषय पाने के लिये निरन्तर व्याकुल रहते हैं इससे विदित होता है कि वे इन्द्रियजन्य दु ख को सहन नहीं कर सकते है।। ६४।।

आगे मुक्तात्माओं को शरीर के बिना भी सुख है इसलिये शरीर सुख का साधन नहीं है यह कहते हैं -

पप्पा इट्ठे विसये फासेहिं समस्सिदे सहावेण।
परिणममाणो अप्पा सयमेव सुहं ण हवदि देहो।। ६५।।

स्पर्शनादि इन्द्रियों के द्वारा इष्ट विषयों को पाकर अशुद्ध ज्ञान-दर्शन रूप स्वभाव से परिणमन करने वाला आत्मा ही स्वयं सुख रूप होता है शरीर नहीं।

सुख चेतन का गुण है इसलिये वह उसी में व्यक्त होता है शरीर जड पदार्थ है इसलिये उसमें नहीं पाया जाता है।। ६५।।

आगे इसी का समर्थन करते हैं -

एगंतेण हि देहो सुहं ण देहिस्स कुणइ सग्गे वा।
विसयवसेण दु सोक्खं दुक्खं वा हवदि सयमादा।। ६६।।

यह निश्चय है कि शरीर आत्मा को स्वर्ग में भी सुख रूप नहीं करता किन्तु यह आत्मा ही विषयों के वश स्वयं सुख अथवा दु ख रूप हो जाता है।। ६६।।

आगे आत्मा स्वयं ही सुख स्वरूप है इसलिये जिस प्रकार देह सुख का कारण नहीं है उसी प्रकार पंचेन्द्रियों के विषय भी सुख के कारण नहीं हैं ऐसा कहते हैं -

तिमिरहरा जइ दिट्ठी जणस्स दीवेण णत्थि [5]कादव्वं।
तध सोक्खं सयमादा विसया किं तत्थ कुव्वंति।। ६७।।

यदि किसी मनुष्य की दृष्टि अन्धकार को नष्ट करने वाली है तो जिस प्रकार उसे दीपक से कुछ

1 सम्यसुखशीलितमनसा च्यवनमपि द्वेष्मेति किमु कामा।
स्थलमपि दहति झषाणां किमङ्ग पुनरङ्गमङ्गाराः।। ज वृ। 2 अहिद्दुदा। 3 रई। 4 जइ। 5 कायव्व।

कार्य नहीं होता है उसी प्रकार आत्मा यदि स्वयं सुख रूप होती है तो उसमें पंचेन्द्रियों के विषय क्या करते हैं ? अर्थात् कुछ नहीं।। ६७।।

आगे ज्ञान और सुख आत्मा का स्वभाव है यह दृष्टान्त से सिद्ध करते हैं -

सयमेव जधादिच्चो तेजो उण्हो य देवदा णभसि।
सिद्धोवि तधा णाणं सुहं च लोगे तधा देवो।। ६८।।

जिस प्रकार आकाश में सूर्य स्वयं तेजरूप है, उष्ण है और देवगति नामकर्म का उदय होने से देव है उसी प्रकार सिद्ध भगवान् भी इस जगत में ज्ञान रूप है सुखरूप है और देव स्वरूप है।। ६८।।[1]

इत्यानन्दाधिकार

आगे इन्द्रियजन्य सुख के स्वरूप का विचार प्रारम्भ करते हुए आचार्य महाराज सर्वप्रथम उसके साधनभूत शुभोपयोग का वर्णन करते हैं -

देवदजदिगुरुपूजासु चेव दाणम्मि वा सुसीलेसु।
उववासादिसु रत्तो सुहोवओगप्पगो अप्पा।। ६९।।

जो आत्मा देव, यति, गुरु की पूजा में, दान में, गुणव्रत-महाव्रत रूप उत्तम शीलों में और उपवासादि शुभ कार्यों में लीन रहता है वह शुभोपयोगी कहलाता है।। ६९।।

आगे इन्द्रियजन्य सुख शुभोपयोग के द्वारा साध्य है ऐसा कहते है -

जुत्तो सुहेण आदा तिरियो वा माणुसो व देवो वा।
भूदो तावदि कालं लहदि सुहं इंदियं विविहं।। ७०।।

जो आत्मा शुभोपयोग से सहित है वह तिर्यंच, मनुष्य अथवा देव होकर उतने समय तक इन्द्रियजन्य विविध सुखों को पाता है।। ७०।।

आगे इन्द्रियजन्य सुख यथार्थ में दु:ख ही है ऐसा कहते हैं -

सोक्खं सहावसिद्धं णत्थि सुराणंपि सिद्धमुवदेसे।
ते देहवेदणट्टा रमंति विसएसु रम्मेसु।। ७१।।

अन्य की बात जाने दो, देवों के भी स्वभावजन्य सुख नहीं है ऐसा जिनेन्द्र भगवान् के उपदेश में युक्तियों से सिद्ध है। वास्तव में वे शरीर की वेदना से पीडित होकर रमणीय विषयों में रमण करते हैं।। ७१।।

आगे शुभोपयोग और अशुभोपयोग में समानता सिद्ध करते हैं -

णरणारयतिरियसुरा भजंति जदि देहसंभवं दुक्खं।
किध सो सुहो व असुहो उवओगो हवदि जीवाणं।। ७२।।

जब कि मनुष्य, नारकी, तिर्यंच और देव चारों ही गति के जीव शरीर से उत्पन्न होने वाला दु:ख भोगते हैं तब जीवों का वह उपयोग शुभ अथवा अशुभ कैसे हो सकता है ?।

इन्द्रियजन्य सुख दु:खों का कारण होने से शुभोपयोग और अशुभोपयोग समान ही हैं निश्चय से इनमें कुछ अन्तर नहीं है।। ७२।।

---

1 ६८ वीं गाथा के आगे जयसेनवृत्ति में निम्नलिखित दो गाथाएं अधिक उपलब्ध हैं -
तेजो दिट्ठी णाणं इड्ढी सोक्खं तहेव ईसरियं।
तिहुवणपहाणदइयं माहप्पं जस्स सो अरिहो।। 1।।

आगे शुभोपयोग से उत्पन्न हुए फलवान् पुण्य को विशेष रूप से दोषाधायक मानकर उसका निषेध करते हैं -

कुलिसाउहचक्कधरा सुहोवओगप्पगेहिं भोगेहिं।
देहादीणं विद्धिं करेंति सुहिदा इवाभिरदा।। ७३ ।।

इन्द्र तथा चक्रवर्ती सुखियों के समान लीन हुए शुभोपयोगात्मक भोगों से शरीर आदि की ही वृद्धि करते हैं।

शुभोपयोग का उत्तमफल देवों में इन्द्र को और मनुष्यों में चक्रवर्ती को ही प्राप्त होता है परन्तु उस फल से वे अपने शरीर को ही पुष्ट करते हैं न कि आत्मा को भी। वे वास्तव में दु खी रहते हैं परन्तु बाह्य में सुखियों के समान मालूम होते हैं।। ७३ ।।

आगे शुभोपयोगजन्य पुण्य भी दु ख का कारण है यह प्रकट करते हैं

जदि संति हि पुण्णाणि य परिणामसमुब्भवाणि विविहाणि।
जणयंति विसयतण्हं जीवाणं देवदंताणं।। ७४ ।।

यह ठीक है कि शुभोपयोग रूप परिणामों से उत्पन्न होने वाले अनेक प्रकार के पुण्य विद्यमान रहते हैं परन्तु वे देवों तक समस्त जीवों की विषयतृष्णा ही उत्पन्न करते हैं।

शुभोपयोग के फलस्वरूप अनेक भोगोपभोगों की सामग्री उपलब्ध होती है उससे समस्त जीवों की विषयतृष्णा ही बढती है इसलिये शुभोपयोग को अच्छा कैसे कहा जा सकता है ?।। ७४ ।।

आगे पुण्य को दु ख का बीज प्रकट करते हैं -

ते पुण उदिण्णतण्हा दुहिदा तण्हाहि विसयसोक्खाणि।
इच्छंति अणुहवंति य आमरण दुक्खसतत्ता।। ७५ ।।

फिर, जिन्हें तृष्णा उत्पन्न हुई है ऐसे समस्त ससारी जीव तृष्णाओं से दु खी और दु खों से सतप्त होते हुए विषयजन्य सुखों की इच्छा करते हैं और मरण पर्यन्त उन्हीं का अनुभव करते रहते हैं।

विषयजन्य सुखों से तृष्णा बढती है और तृष्णा ही दु ख का प्रमुख कारण है अत शुभोपयोग के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले विषय सुख हेय हैं - छोड़ने योग्य हैं।। ७५ ।।

आगे फिर भी पुण्यजनित सुख को बहुत प्रकार से दु ख रूप वर्णन करते हैं -

सपरं बाधासहिदं[1] विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।
जं इंदियेहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तधा[2]।। ७६ ।।

जो सुख पांच इन्द्रियों से प्राप्त होता है वह पराधीन है, बाधा सहित है। बीच में नष्ट हो जाने वाला है, बन्ध का कारण है और विषम है - हानिवृद्धिरूप है इसलिये दु ख ही है।

शुभोपयोग से पुण्य होता है और पुण्य से इन्द्रियजन्य सुख मिलता है परन्तु यथार्थ में विचार करने पर वह इन्द्रियजन्य सुख दु ख रूप ही मालूम होता है।। ७६ ।।

आगे पुण्य और पाप में समानता है यह निश्चय करते हुए इस कथन का उपसंहार करते हैं -

ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसोत्ति पुण्णपावाणं।
हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो।। ७७ ।।

त गुणदो अधिगदरं अविच्छिदं मणुवदेवपदिभावं।
अपुणब्भावणिबद्धं पणमामि पुणो पुणो सिद्धं।। 2 ।। 1 सहियं। 2 तहा।

"पुण्य और पाप में विशेषता नहीं है" ऐसा जो नहीं मानता है वह मोह से आच्छादित होता हुआ भयानक और अन्त रहित संसार में भटकता रहता है।। ७७।।

आगे जो पुरुष शुभोपयोग और अशुभोपयोग को समान मानता हुआ समस्त रागद्वेष को छोडता है वही शुद्धोपयोग को प्राप्त होता है ऐसा कथन करते हैं -

एवं विदिदत्थो जो दव्वेसु ण रागमेदि दोसं वा।
उवओगविसुद्धो सो खवेदि देहुब्भवं दुक्खं।। ७८।।

इस प्रकार पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को जानने वाला जो पुरुष पर द्रव्यों में राग और द्वेष भाव को प्राप्त नहीं होता है वह उपयोग से विशुद्ध होता हुआ शरीरजन्य दु ख को नष्ट करता है।

सांसारिक सुख-दु ख का अनुभव रागद्वेष से होता है और चूंकि शुद्धोपयोगी जीव के वह अत्यन्त मन्द अथवा विनष्ट हो चुकते हैं इसलिये उसके शरीरजन्य दु ख का अनुभव नहीं होता है।। ७८।।

आगे मोहादि का उन्मूलन किये बिना शुद्धता का लाभ कैसे हो सकता है ? यह कहते हैं -

चत्ता पावारंभं समुट्ठिदो वा सुहम्मि चरियम्मि[1]।
ण जहदि जदि मोहादी ण लहदि सो अप्पगं सुद्धं।। ७९।।[2]

पापारम्भ को छोडकर शुभ आचरण में प्रवृत्त हुआ पुरुष यदि मोह आदि को नहीं छोडता है तो वह शुद्ध आत्मा को नहीं पाता है।

अशुभोपयोग को छोड कर शुभोपयोग में प्रवृत्त हुआ पुरुष जब मोह, राग, द्वेष आदि का त्याग करता है अर्थात् शुद्धोपयोग को प्राप्त होता है तभी कर्ममल कलंक से रहित शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त होता है। अन्यथा नहीं।। ७९।।

आगे मोह के नाश का उपाय प्रकट करते हैं -

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि[3] तस्स लयं।। ८०।।

जो पुरुष द्रव्य, गुण और पर्यायों के द्वारा अरहन्त भगवान् को जानता है वही आत्मा को जानता है और निश्चय से उसी का मोह विनाश को प्राप्त होता है।

अरहन्त भगवान् का जैसा स्वरूप है निश्चय नय से आत्मा का भी वैसा स्वरूप है अत अरहन्त के ज्ञान से आत्मा का ज्ञान स्वभाव सिद्ध है। जिस पुरुष को सौ टंच के सुवर्ण के समान शुद्ध आत्मस्वरूप का बोध हो गया है उसका मोहकर्म शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।। ८०।।

आगे यद्यपि मैंने स्वरूप चिन्तामणि पाया है तो भी प्रमादरूपी चोर विद्यमान है इसलिये जागता हूं यह कहते हैं -

जीवो ववगदमोहो उवलद्धो तच्चमप्पणो सम्मं।
जहदि जदि रागदोसे सो अप्पाणं लहदि सुद्धं।। ८१।।

---

1 चरियम्हि। 2 ७९ वीं गाथा के आगे जयसेनवृत्ति में निम्नांकित 2 गाथाए अधिक उपलब्ध हैं -
तवसंजमप्पसिद्धो सुद्धो सग्गापवग्गमग्गकरो।
अमरासुरिंदमहिदो देवो सो लोयसिहरत्थो।।
तं देवदेवदेवं जदिवरवसहं गुरुं तिलोयस्स।
पणमंति जे मणुस्सा ते सोक्खं अक्खयं जंति।। 3 जाइ।

जिसका दर्शन मोह नष्ट हो गया है ऐसा जीव आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानने लगता है - उसका अनुभव करने लगता है और वही जीव यदि रागद्वेष को छोड देता है तो शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त हो जाता है।

मिथ्यादर्शन के नष्ट होने से आत्मा के यथार्थ स्वरूप का श्रद्धान और बोध हो जाता है तथा रागद्वेष के छोडने से शुद्ध आत्मतत्व की प्राप्ति हो जाती है। जिसका मिथ्यादर्शन नष्ट हो गया है ऐसे जीव को रागद्वेष का नाश करने के लिये सदा जागरूक रहना चाहिए क्योंकि ये चोरों की भांति शुद्धात्मतत्व रूप चिन्तामणि को चुराने में सदा प्रयत्नशील रहते हैं।। ८१।।

आगे भगवान् अरहन्त देव ने स्वय अनुभव कर यही मोक्ष का वास्तविक मार्ग बतलाया है ऐसा निरूपण करते हैं -

[1]सव्वेवि य अरहंता तेण विधाणेण खविदकम्मंसा।
किच्चा तधोवदेसं णिव्वादा ते णमो तेसिं।। ८२।।[2]

सभी अरहन्त भगवान् उस पूर्वोक्त विधि से ही कर्मों के अंशों का क्षय कर तथा उसी प्रकार का उपदेश देकर निर्वाण को प्राप्त हुए हैं। मेरा उन सबके लिये नमस्कार है।। ८२।।

आगे शुद्धात्मलाभ के विरोधी मोह का स्वभाव और उसकी भूमिका का वर्णन करते हैं -

दव्वादिएसु मूढो भावो जीवस्स हवदि मोहोत्ति।
खुब्भदि[3]तेणोच्छण्णो पप्पा रागं व दोसं वा।। ८३।।

द्रव्य, गुण और पर्याय में विपरीताभिविनिवेश को प्राप्त हुआ जीव का जो भाव है वह मोह कहलाता है उस मोह से आच्छादित हुआ जीव राग और द्वेष को पाकर क्षुभित होने लगता है।

मोह, राग और द्वेष यह तीन प्रकार का मोह ही शुद्धात्मलाभ का परिपन्थी है - विरोधी है।। ८३।।

आगे बन्ध के कारण होने से मोह, राग और द्वेष नष्ट करने योग्य हैं ऐसा कहते हैं -

मोहेण व रागेण व दोसेण व परिणदस्स जीवस्स।
जायदि विविहो बंधो तम्हा ते सखवइदव्वा।। ८४।।

मोह, राग और द्वेष से परिणत जीव के विविध प्रकार का बन्ध होता है इसलिये वे सम्यक्प्रकार से क्षय करने के योग्य है।

बन्ध का कारण त्रिविध मोह ही है अत मोक्षाभिलाषी जीव को उसका क्षय करना चाहिये।। ८४।।

आगे मोह के लिंग (चिन्ह) बतलाते हैं इन्हें जानकर उत्पन्न होते ही नष्ट कर देना चाहिए ऐसा कहते हैं -

अट्ठे अजधागहणं करुणाभावो य तिरियमणुएसु।
विसएसु अप्पसंगो मोहस्सेदाणि लिंगाणि।। ८५।।

पदार्थों का अन्यथा ज्ञान, तिर्यंच और मनुष्यों पर करुणा का अभाव तथा इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति ये मोह के चिह्न हैं। इन प्रवृत्तियों से मोह के अस्तित्व का ज्ञान होता है।। ८५।।

आगे मोह का क्षय करने के लिए अन्य उपाय का विचार करते हैं -

जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खादीहिं बुज्झदो णियमा।

---

1 सव्वेवि। 2 ८२ वीं गाथा के आगे ज वृ में निम्न गाथा अधिक व्याख्यान है -
दसणसुद्धा पुरिसा णाणपहाणा समग्गचरियत्था।
पूजासक्काररिहा दाणस्स य हि णमो तेसिं।। 3 तेणुच्छण्णो।

खीयदि मोहोवचयो तम्हा सत्थं समधिदव्वं[1]।। ८६।।

प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा जिनेन्द्र प्रणीत शास्त्र से पदार्थों को जानने वाले पुरुष का मोह का समूह नियम से नष्ट हो जाता है इसलिये शास्त्र का अध्ययन करना चाहिये।। ८६।।

आगे जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे हुए शब्द ब्रह्म में पदार्थों की व्यवस्था किस प्रकार है ? इसका निरूपण करते हैं -

दव्वाणि गुणा तेसिं पज्जाया अट्ठसण्णया भणिया।
तेसु गुणपज्जयाणं अप्पा दव्वत्ति उवदेसो।। ८७।।

द्रव्य, गुण और उनके पर्याय अर्थ नाम से कहे गये हैं इन तीनों में गुण और पर्यायों का जो स्वभाव है वही द्रव्य कहलाता है ऐसा उपदेश है।

गुण और पर्याय द्रव्य से अपृथग्भूत हैं इसलिये इनका स्वभाव ही द्रव्य है ऐसा अभेद विवक्षा से कहा गया है।। ८७।।

आगे मोहक्षय में कारणभूत जिनेन्द्र का उपदेश मिलने पर ही पुरुषार्थ कार्यकारी है इसलिये उसकी प्रेरणा करते हैं -

जो मोहरागदोसे णिहणदि उवलद्धजोण्हमुवदेसं।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण।। ८८।।

जो पुरुष जिनेन्द्र भगवान् का उपदेश पाकर मोह, राग और द्वेष को नष्ट करता है वह थोडे ही समय में समस्त दु खों से छुटकारा पा जाता है।। ८८।।

आगे स्व-पर का भेदविज्ञान होने से ही मोह का क्षय होता है इसलिये स्वपर का भेदविज्ञान प्राप्त करने के लिये यत्न करते हैं -

णाणप्पगमप्पाणं परं च दव्वत्तणाहिसंबद्धं।
जाणदि जदि णिच्छयदो जो सो मोहक्खयं कुणदि।। ८९।।

जो पुरुष निश्चय से ज्ञानमय आत्मा को स्वकीय द्रव्यत्व से और शरीरादि पर पदार्थ को परकीय द्रव्यत्व से अभिसबद्ध जानता है वह मोह का क्षय करता है। मोह का क्षय स्वपरभेदविज्ञान से ही होता है।। ८९।।

आगे स्वपर भेद की सिद्धि आगम से करना चाहिये ऐसा उपदेश देते हैं -

तम्हा जिणमग्गादो गुणेहिं आदं परं च दव्वेसु।
अभिगच्छदु णिम्मोहं इच्छदि जदि अप्पणो अप्पा।। ९०।।

इसलिये यदि यह जीव अपने आपके मोहाभाव की इच्छा करता है तो उसे चाहिये कि वह जिनमार्ग से अर्थात् जिनेन्द्रप्रणीत आगम से विशेष गुणों के द्वारा समस्त द्रव्यों में निज और पर को पहिचाने।

गुण दो प्रकार के हैं - सामान्य और विशेष। जो समस्त द्रव्यों में समानरूप से पाये जावें वे सामान्य गुण हैं जैसे अस्तित्व, वस्तुत्व आदि और जो खास द्रव्यों में पाये जावें वे विशेष गुण हैं जैसे ज्ञान, दर्शन तथा रूप, रस, गन्ध स्पर्श आदि। इनमें से सामान्य गुणों के द्वारा किसी द्रव्य का पार्थक्य सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि वे समान रूप से सबमें पाये जाते हैं। पार्थक्य ज्ञान-दर्शनादि विशेष गुणों से ही सिद्ध हो सकता है इसलिये जो जीव यह चाहता है कि हमारा आत्मा मोह से रहित हो उसे विशेष गुणों के द्वारा सर्वप्रथम निज और पर का भेद विज्ञान प्राप्त करना चाहिये क्योंकि जब तक पर से भिन्न स्वद्रव्य के वास्तविक स्वरूप का बोध नहीं होगा तब तक उसकी

[1] समहिदव्वं।

प्राप्ति असम्भव बनी रहती है।। ९०।।

आगे जिनेन्द्र प्रणीत पदार्थों की श्रद्धा के बिना धर्म का लाभ नहीं हो सकता यह कहते हैं -

सत्तासंबद्धेदे सविसेसे जो हि णेव सामण्णे।

सद्दहदि ण सो समणो तत्तो धम्मो णेव संभवदि।। ९१।।

जो पुरुष श्रमण अवस्था में स्थित होता हुआ सत्ता से सम्बद्ध अर्थात् सामान्य गुणों से युक्त और अपने अपने विशेष गुणों से सहित इन जीव पुद्गलादि द्रव्यों का श्रद्धान नही करता है वह श्रमण नहीं है -साधु नहीं है और उस पुरुष से शुद्धोपयोग रुप धर्म का होना संभव नही है।। ९१।।

आगे मोहादि को नष्ट करने वाला श्रमण ही धर्म है ऐसा निरुपण करते हैं -

जो णिहदमोहदिट्ठी आगमकुसलो विरागचरियम्मि।

अब्भुट्ठिदो महप्पा धम्मोत्ति विसेसिदो समणो।। ९२।।

जिसने दर्शन मोह का नाश कर दिया है, जो आगम में कुशल है, वीतराग चारित्र म सावधान हैं और जिसका आत्मा रत्नत्रय के सद्भाव से महान् है ऐसा श्रमण - साधु धर्म है ऐसा कहा गया है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का धर्म कहा है यहां उनके आधारभूत श्रमण के आधार-आधेय में अभेद विवक्षा से धर्म कह दिया गया है।। ९२।।[1]

इति भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यकृते प्रवचनसारपरमागमे ज्ञानतत्वप्रज्ञापनो नाम प्रथम श्रुतस्कन्ध समाप्त ।

●

ज्ञेयतत्वाधिकार

अब ज्ञेय तत्व का कथन करते हुए यह दिखलाते हैं कि ज्ञेय अर्थात् ज्ञान का विषयभूत पदार्थ द्रव्य, गुण और पर्याय स्वरूप है -

अत्थो खलु दव्वमओ दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि।

तेहिं पुणो पज्जाया पज्जयमूढा हि परसमया।। १।।

निश्चय से पदार्थ द्रव्य रूप है, द्रव्य, गुण स्वरुप कहे गये है, उन द्रव्य और गुणों से पर्याय उत्पन्न होते है और जो जीव उन पर्यायों में मूढ है अर्थात् उन्हें ही द्रव्य मानते है वे परसमय है - मिथ्यादृष्टि है।। १।।

आगे स्वसमय और परसमय की व्यवस्था दिखलाते हैं -

जे पज्जयेसु णिरदा जीवा परसमयिगत्ति णिद्दिट्ठा।

आदसहावम्मि ठिदा ते सगसमया मुणेदव्वा।। २।।

जो जीव मनुष्यादि पर्यायों में निरत है अर्थात् उन्हें ही आत्मद्रव्य मानते है वे परसमय कहे गये है और

---

1 इसके आगे जयसेनवृत्ति में निम्नाकित 2 गाथाए अधिक व्याख्यात हैं -
जो त दिट्ठा तुट्ठो अब्भुट्ठित्ता करेदि सक्कार।
वंदणणमंसणादिहिं तत्तो सो धम्ममादियदि।।
तेण णरा तिरिच्छा देविं वा माणुसिं गदिं पप्पा।।
विहविस्सरियेहिं सया सपुण्णमणोरहा होंति।। 2 इस गाथा के पूर्व जयसेनवृत्ति में निम्नाकित गाथा का भी व्याख्यान किया गया है -
तम्हा तस्स णमाइं किच्चा णिच्चंपि त मणो होज्ज।
वोच्छामि संगहादो परमट्ठविणिच्छयाधिगम।। 1।। 3 परसमयिगति।

जो आत्मस्वरूप में स्थित है अर्थात् शुद्ध ज्ञानदर्शनस्वरूप आत्मा को अपना मानते हैं उन्हें स्वसमय मानना चाहिये।। २।।

अब द्रव्य का लक्षण कहते हैं -

[1]अपरिच्चत्त-सहावेणु-प्पाद-व्वय-धुवत्त-संबद्धं ।
गुणवं च सपज्जायं [2]जत्तं दव्वत्ति वुच्चंति।। ३।।

जो अपने स्वभाव को न छोड़ता हुआ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से सम्बद्ध रहता है, गुणवान् है और पर्यायों सहित है उसे द्रव्य कहते हैं।। ३।।

स्वभाव का अर्थ अस्तित्व है, वह अस्तित्व स्वरूपास्तित्व और सादृश्यास्तित्व के भेद से दो प्रकार का है। उनमें से स्वरूपास्तित्व का कथन करते हैं -

सब्भावो हि सहावो गुणेहिं [3]सगपज्जएहिं चित्तेहिं।
दव्वस्स सव्वकालं उप्पादव्वयधुवत्तेहिं।। ४।।

गुणों से, विविध प्रकार की पर्यायों से और उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से द्रव्य का जो सदा सद्भाव रहता है वही उसका स्वभाव है - स्वरूपास्तित्व है।। ४।।

अब सादृश्यास्तित्व का स्वरूप कहते हैं -

इह विविहलक्खणाणं लक्खणमेगं सदित्ति सव्वगयं।
उवदिसदा खलु धम्मं जिणवरवसहेण पण्णत्तं।। ५।।

निश्चय से इस लोक में धर्म का उपदेश देने वाले श्री वृषभ जिनेन्द्र ने कहा है कि भिन्न-भिन्न लक्षणों वाले द्रव्यों का "सत्" यह एक व्यापक लक्षण है। समस्त द्रव्यों में सामान्य रूप से व्याप्त रहने के कारण "सत्" को सादृश्यास्तित्व कहते हैं।

स्वरूपास्तित्व विशेषलक्षण रूप है क्योंकि उसके द्वारा प्रत्येक द्रव्य की द्रव्यान्तर से पृथक् व्यवस्था सिद्ध होती है और सादृश्यास्तित्व सामान्यलक्षण रूप है क्योंकि उसके द्वारा प्रत्येक द्रव्य की पृथक्-पृथक् सत्ता सिद्ध न होकर सबमें पाई जाने वाली समानता की सिद्धि होती है। जिस प्रकार वृक्ष अपने-अपने स्वरूपास्तित्व से आम, नीम आदि भेदों से अनेक प्रकार का है और सादृश्यास्तित्व से वृक्ष जाति की अपेक्षा एक है उसी प्रकार द्रव्य अपने-अपने स्वरूपास्तित्व से जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल के भेद से छह प्रकार हैं और सादृश्यास्तित्व से सत् की अपेक्षा सब एक है। स्वरूपास्तित्व विशिष्टग्राही है और सादृश्यास्तित्व सामान्यग्राही।। ५।।

आगे यह बतलाते हैं कि एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य से उत्पन्न नहीं होता, वह स्वयं सिद्ध है और सत्ता द्रव्य से अभिन्न है - अपृथग्भूत है -

दव्वं सहावसिद्धं सदिति जिणा तच्चदो समक्खादो।
सिद्धं [4]तध आगमदो णेच्छदि जो सो हि परसमओ।। ६।।

प्रत्येक द्रव्य स्वभाव से सिद्ध है - उसकी किसी दूसरे द्रव्य से उत्पत्ति नहीं होती है तथा सत् स्वरूप है - सत्ता से अभिन्न है ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने यथार्थ में कहा है। जो पुरुष आगम से उस प्रकार सिद्ध द्रव्यस्वरूप को नहीं मानता है वह परसमय है - मिथ्यादृष्टि है।। ६।।

अब बतलाते हैं कि उत्पादादित्रय रूप होने पर ही सत् द्रव्य होता है -

---

1 अपरिच्चत्तसहावं। 2 जं त। 3 सह। 4 तह।

सदवट्ठियं सहावे दव्वं दव्वस्स जो हि परिणामो।
अत्थेसु सो सहावो ठिदिसंभवणाससंबद्धो।। ७।।

स्वभाव में अवस्थित रहने वाला सत् द्रव्य कहलाता है और गुणपर्याय रूप अर्थों में उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य से सम्बन्ध रखने वाला द्रव्य का जो परिणमन है वह उसका स्वभाव है।

सत् द्रव्य का लक्षण अवश्य है परन्तु न केवल वह स्थितिरूप है - ध्रौव्यात्मक है अपितु उत्पाद और व्ययरूप भी है। इस प्रकार उत्पादादि त्रिलक्षण सत् ही द्रव्य का स्वरूप है।। ७।।

अब उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य के पारस्परिक अविनाभाव को सुदृढ करते हैं अर्थात् इस बात का निरूपण करते हैं कि उक्त तीनों धर्म परस्पर एक दूसरे को छोडकर नही रह सकते -

ण भवो भंगविहीणो भंगो वा णत्थि संभवविहीणो।
उप्पादो वि य भंगो ण विणा धोव्वेण अत्थेण।। ८।।

उत्पाद, व्यय से रहित नहीं होता, व्यय उत्पाद से रहित नही होना और उत्पाद तथा व्यय दोनों ही ध्रौव्य रूप पदार्थ के बिना नहीं होते।

किसी भी द्रव्य में नूतन पर्याय की उत्पत्ति, उसकी पूर्व पर्याय के नाश के बिना नही हो सकती और पूर्व पर्याय का नाश नूतन पर्याय की उत्पत्ति के बिना नहीं हो सकता तथा पूर्वोत्तर पर्यायों मे एकता ध्रौव्य के बिना सभव नही हो सकती अत उत्पादादि तीनों धर्म परस्पर में अविनाभूत हैं अर्थात एक दूसरे के बिना नहीं हो सकते हैं।। ८।।

आगे इस बात का निरूपण करते हैं कि उत्पादि तीनों द्रव्य से पृथक् नही हैं -

उप्पादट्ठिदिभंगा विज्जंते पज्जएसु पज्जाया।
[1]दव्वं हि संति णियदं तम्हा दव्वं हवदि सव्वं।। ९।।

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पर्यायों में रहते हैं और पर्याय ही - त्रिकालवर्ती अनेक पर्यायों का समूह ही द्रव्य है अत यह निश्चय है कि उत्पादादि सब द्रव्य ही हैं उससे पृथक् नहीं हैं।। ९।।

अब उत्पादादि में समय भेद को दूरकर द्रव्यपना सिद्ध करते हैं -

समवेदं खलु दव्वं सभवठिदिणाससण्णिदट्ठेहिं।
एकम्मि चेव समये तम्हा दव्व खु तत्तिदयं।। १०।।

निश्चय से द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य नामक पदार्थों से समवेत है, एकमेक है, जुदा नहीं है और वह भी एक ही समय में। अत यह निश्चय है कि उत्पादादि तीनों पदार्थ द्रव्य स्वरूप हैं - उससे भिन्न नहीं हैं।। १०।।

आगे अनेक द्रव्यों के संयोग से होने वाली पर्यायों के द्वार से द्रव्य में उत्पादादि का विचार करते हैं -

पाडुब्भवदि य अण्णो पज्जाओ पज्जओ वयदि अण्णो।
दव्वस्स तं पि दव्वं णेव पणट्ठं ण उप्पण्णं।। ११।।

द्रव्य का अन्य पर्याय उत्पन्न होता है और अन्य पर्याय नष्ट होता है फिर भी द्रव्य न नष्ट ही हुआ है और न उत्पन्न ही।

---

1 यदि "दव्व हि" के स्थान पर "दव्वम्हि" ऐसा सप्तम्यन्त पाठ मान लिया जाय तो यह अर्थ हो सकता है कि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पर्यायों में विद्यमान है और पर्यायें द्रव्य में विद्यमान हैं अत यह सब द्रव्य ही है यह निश्चयपूर्वक कहा जाता है।

सयोग से उत्पन्न होने वाले द्रव्यपर्याय दो प्रकार के हैं एक समानजातीय और दूसरा असमानजातीय। स्कन्ध की द्व्यणुक, त्र्यणुक, चतुरणुक आदि पिण्ड पर्याय समानजातीय पर्यायें हैं और जीव तथा पुद्गल के सम्बन्ध से होने वाले नर-नारकादि पर्याय असमानजातीय पर्यायें हैं। किसी स्कन्ध में त्र्यणुक पर्याय नष्ट होकर चतुरणुक पर्याय उत्पन्न हो गया पर परमाणुओं की अपेक्षा वह स्कन्ध न नष्ट ही हुआ है और न उत्पन्न ही। इसी प्रकार किसी जीव में मनुष्य पर्याय नष्ट होकर देव पर्याय उत्पन्न हो गया पर जीवत्व सामान्य की अपेक्षा वह जीव न नष्ट ही हुआ है और न उत्पन्न ही। इससे सिद्ध होता है कि उत्पादादि तीनों द्रव्य रूप ही है उससे पृथक् नहीं हैं।। ११।।

अब एक द्रव्य के द्वार से द्रव्य में उत्पादादि का विचार करते हैं -

परिणमदि सयं दव्वं गुणदो य गुणंतरं सदविसिट्ठं।
तम्हा गुणपज्जाया भणिया पुण दव्वमेवत्ति।। १२।।

अपने स्वरूपास्तित्व से अभिन्न द्रव्य स्वयं ही एक गुण से अन्यगुण रूप परिणमन करता है अत गुणपर्याय द्रव्य इस नाम से ही कहे गये हैं।

एक द्रव्य के आश्रित होने वाले पर्याय गुणपर्याय कहलाते है जैसे कि किसी आम में हरा रूप नष्ट होकर पीला रूप उत्पन्न हो गया यहां पर हरा और पीला रूप आम के गुणपर्याय हैं। अथवा किसी जीव का ज्ञानगुण मतिज्ञान रूप से नष्ट होकर श्रुतज्ञान रूप हो गया यहां मतिज्ञान और श्रुतज्ञान जीव के गुणपर्याय हैं। जिस प्रकार हरे पीले रूप में परिवर्तन होने पर भी आम आम ही रहता है अन्य रूप नही हो जाता है अथवा मति-श्रुतज्ञान में परिवर्तन होने पर भी जीव जीव ही रहता है अन्य रूप नहीं हो जाता है। उसी प्रकार ससार का प्रत्येक द्रव्य यद्यपि एक गुण से अन्यगुण रूप परिणमन करता है परन्तु वह स्वयं अन्य रूप नहीं हो जाता इससे सिद्ध होता है कि गुणपर्याय द्रव्य ही है - उससे भिन्न नहीं है।। १२।।

अब सत्ता और द्रव्य अभिन्न हैं इस विषय में युक्ति प्रदर्शित करते हैं -

ण हवदि जदि सद्दव्वं असद्धुवं हवदि तं कध दव्वं।
हवदि पुणो अण्णं वा तम्हा दव्वं सयं सत्ता।। १३।।

यदि द्रव्य स्वय सत् रूप न हो तो वह असत् रूप हो जावेगा और उस दशा में वह ध्रुवरूप - नित्यरूप किस प्रकार हो सकेगा ? द्रव्य में जो ध्रुवता है वह सत् रूप होने से ही है यदि द्रव्य को सत् रूप नही माना जावेगा तो द्रव्य की ध्रुवता नष्ट हो जावेगी अर्थात् द्रव्य ही नष्ट हो जावेगा। इसी प्रकार यदि सत्ता से द्रव्य को पृथक् माना जावे तो सत्ता गुण अनावश्यक हो जाता है। सत्ता की आवश्यकता द्रव्य का अस्तित्व सुरक्षित रखने के लिये ही होती है। यदि सत्ता से पृथक् रहकर भी द्रव्य का अस्तित्व सुरक्षित रह सकता है तो फिर उस सत्ता के मानने की आवश्यकता ही क्या है ? इससे सिद्ध होता है कि द्रव्य स्वयं सत्ता रूप है।। १३।।

अब पृथक्त्व और अन्यत्व का लक्षण प्रकट करते हुए द्रव्य और सत्ता में विभिन्नता सिद्ध करते हैं -

पविभत्तपदेसत्तं पुधत्तमिदि सासणं हि वीरस्स।
अण्णत्तमतब्भावो ण तब्भवं भवदि कधमेगं।। १४।।

निश्चय से श्री महावीर स्वामी का ऐसा उपदेश है कि प्रदेशों का जुदा-जुदा होना पृथक्त्व है और अन्य पदार्थ का अन्य रूप नहीं होना अन्यत्व कहलाता है। जब कि सत्ता और द्रव्य परस्पर में अन्यरूप नहीं होते, गुण और गुणी के रूप में जुदे-जुदे ही रहते हैं तब दोनों एक कैसे हो सकते हैं ? अर्थात नहीं हो सकते।

सत्ता गुण है और द्रव्य गुणी है। गुण गुणी में कभी भी भेद नहीं होता इसलिये दोनों में पृथक्त्व नाम का भेद न होने से एकता है - अभिन्नता है परन्तु सत्ता सदा गुण ही रहेगा और द्रव्य गुणी ही। त्रिकाल में भी अन्य रूप नहीं होंगे इसलिये दोनों में अन्यभाव नाम का भेद रहने से एकता नही है अर्थात् भिन्नता है। साराश यह हुआ कि द्रव्य और सत्ता में कथंचित् भेद और कथचिद् अभेद है।। १४।।

आगे अतद्भाव रूप अन्यत्व का लक्षण उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं -

सद्दव्वं सच्च गुणो सच्चेव य पज्जओत्ति वित्थारो।
जो खलु तस्स अभावो सो तदभावो अतब्भावो।। १५।।

सत्ता रूप द्रव्य है, सत्तारूप गुण है और सत्तारूप ही पर्याय है इस प्रकार सत्ता का द्रव्य, गुण और पर्यायों में विस्तार है। निश्चय से उसका जो परस्पर में अभाव है वह अभाव ही अतद्भाव है - "अन्यत्व" नाम का भेद है।

जिस प्रकार एक मोती की माला हार, सूत्र और मोती इन भेदों से तीन प्रकार है उसी प्रकार एक द्रव्य द्रव्य, गुण और पर्याय के भेद से तीन प्रकार है। जिस प्रकार मोती की माला का शुक्ल गुण, शुक्ल हार, शुक्ल सूत्र और शुक्ल मोती के भेद से तीन प्रकार है उसी प्रकार द्रव्य का सत्तागुण, सत्द्रव्य, सत् गुण और सत् पर्याय के भेद से तीन प्रकार है। जिस प्रकार भेद विवक्षा से मोती की माला का शुक्ल गुण, हार नहीं है, सूत्र नहीं है, और मोती नहीं है तथा हार सूत्र और मोती शुक्लगुण नहीं है उसी प्रकार एक द्रव्य में पाया जाने वाला सत्ता गुण द्रव्य नहीं है, गुण नहीं है और पर्याय नहीं है तथा द्रव्य गुण और पर्याय भी सत्ता नही है। सबका परस्पर में अन्योन्याभाव है। यही अतद्भाव या अन्यत्व नाम का भेद कहलाता है। सत्ता और द्रव्य के बीच यही अन्यत्व नाम का भेद है।। १५।।

अब अतद्भाव सर्वथा अभाव रूप है इसका निषेध करते हैं -

जं दव्वं तण्ण गुणो जो वि गुणो सो ण तच्चमत्थादो।
एसो हि अतब्भावो णेव अभावोत्ति णिद्दिट्ठो।। १६।।

जो द्रव्य है वह गुण नहीं है, और जो गुण है वह यथार्थ में द्रव्य नहीं है। निश्चय से यही अतद्भाव है - अन्यत्व नामक भेद है। सर्वथा अभाव अतद्भाव नही है ऐसा कहा गया है।

द्रव्य और गुण में सर्वथा अभाव मानने से दोनों का ही अस्तित्व सिद्ध नही होता अत एक का अन्यरूप नहीं हो सकना ही अतद्भाव माना जाता है।। १६।।

आगे सत्ता और द्रव्य में गुणगुणी भाव सिद्ध करते हैं -

जो खलु दव्वसहावो परिणामो सो गुणो सदविसिट्ठो।
सदवट्ठियं सहावे दव्वत्ति जिणोवदेसोयं।। १७।।

निश्चय से जो द्रव्य का स्वभावभूत उत्पादादित्रय रूप परिणाम है वह सत्ता से अभिन्न गुण है और निरन्तर स्वभाव में अवस्थित रहने वाला द्रव्य सत् है ऐसा जिनेन्द्र भगवान् का उपदेश है।

निरन्तर स्वभाव में स्थित रहने के कारण द्रव्य सत् कहलाता है और त्रिकालवर्ती द्रव्य का जो उत्पादादित्रय रूप परिणमन है वह उसका स्वभाव है। द्रव्य का स्वभाव सत्ता से अभिन्न है तथा गुण स्वरूप है। द्रव्य में सत्ता गुण की प्रधानता है और सत्ता गुण में द्रव्य रहता है ऐसा व्यवहार होता है। इसी व्यवहार के कारण द्रव्य को सत् कहा है। इस सत्ता गुण से सत् स्वरूप गुण द्रव्य का भान होता है अत सत्ता गुण है और द्रव्य गुणी है।। १७।।

अब गुण और गुणियों में नानापन का निराकरण करते हैं -

णत्थि गुणोत्ति व कोई पज्जाओ त्तीह वा विणा दव्वं।
दव्वत्तं पुणभावो तम्हा दव्वं सयं सत्ता।। १८।।

इस ससार में द्रव्य के बिना न कोई गुण है और न कोई पर्याय है अर्थात् जितने भी गुण अथवा पर्याय हैं वे सब द्रव्य के आश्रय ही रहते हैं। और चूकि द्रव्य का अस्तित्व उसका स्वभावभूत गुण है इसलिये द्रव्य स्वयं ही सत्ता रूप है।

साराश यह है कि जीवादि द्रव्य और उनके स्वभावभूत अस्तित्वादि गुण सर्वथा पृथक्-पृथक नहीं हैं।। १८।।

आगे सदुत्पाद और असदुत्पाद में अविरोध प्रकट करते हैं -

एवंविहे सहावे दव्वं दव्वत्थपज्जयत्थेहिं।
सदसब्भावणिबद्धं पाडुब्भावं सदा लभदि।। १९।।

इस प्रकार का द्रव्य, स्वभाव में द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक नयों की विवक्षा से क्रमश सत् और असत् इन दो भावों से सयुक्त उत्पाद को सदा प्राप्त होता है।

जिस प्रकार क्रम से होने वाली कटक-कुण्डलादि पर्यायों में सुवर्ण पहले से ही विद्यमान रहता है नवीन-नवीन उत्पन्न नही होता है इसलिये उसका उत्पाद सदुत्पाद कहलाता है उसी प्रकार क्रम से होने वाली नर-नारकादि पर्यायों में जीवादि द्रव्य पहले से ही विद्यमान रहता है नवीन-नवीन उत्पन्न नही होता है इसलिये द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से उनका उत्पाद सदुत्पाद कहलाता है। और जिस प्रकार सुवर्ण मे क्रम से होने वाली कटक-कुण्डलादि पर्यायें नई उत्पन्न होती हैं उसी प्रकार जीवादि द्रव्यों में क्रम से होने वाली नर-नारकादि पर्यायें नई नई ही उत्पन्न होती हैं अत पर्यायार्थिक नय से उसका असदुत्पाद कहलाता है।। १९।।

अब द्रव्यार्थिक नय से द्रव्य में जिस सदुत्पाद का वर्णन किया है उसी का पुन समर्थन करते हैं -

जीवो भवं भविस्सदि णरोऽमरो वा परो भवीय पुणो।
किं दव्वत्तं पजहदि ण जहं अण्णो कहं होदि।। २०।।

जीवद्रव्य, परिणमन करता हुआ मनुष्य, देव अथवा अन्य कुछ रूप होगा सो तद्रूप होकर क्या अपनी द्रव्यत्व शक्ति को - जीवत्व भाव को छोड देता है ? यदि नहीं छोडता है तो अन्य रूप कैसे हो सकता है ?

कालक्रम से द्रव्य में अनन्तपर्यायें उत्पन्न होती हैं परन्तु वे अन्वय शक्ति से साथ में लगे हुए द्रव्यत्वभाव को नही छोडती हैं अत इस द्रव्यत्वभाव की अपेक्षा उन अनन्तपर्यायों का उत्पाद सदुत्पाद ही कहलाता है।। २०।।

अब पर्यायार्थिक नय से द्रव्य में जिस असदुत्पाद का वर्णन किया था उसका समर्थन करते है -

मणुओ ण होदि देवो देवो वा माणुसो व सिद्धो वा।
एवं अहोज्जमाणो अणण्णभावं कधं लहदि।। २१।।

जो मनुष्य है वह उस समय देव नहीं है और जो देव है वह उस समय मनुष्य अथवा सिद्ध नहीं है क्योंकि एक द्रव्य की एक काल में एक ही पर्याय हो सकती है। इस प्रकार देवादि रूप नहीं होने वाला मनुष्यादि, परस्पर में अभिन्न भाव को किस प्रकार प्राप्त हो सकता है ?

पर्याय क्रमवर्ती ही होती है अत पूर्व पर्याय में उत्तर पर्याय का और उत्तरपर्याय में पूर्व पर्याय का

अभाव सुनिश्चित रहता है और यही कारण है कि उत्तर क्षण में होने वाली पर्याय का उत्पाद असदुत्पाद कहलाता है। यह कथन पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा है।। २१।।

अब एक ही द्रव्य में अन्यत्वभाव और अनन्यत्वभाव ये दो परस्पर विरोधी भाव किस तरह रहते हैं इसका वर्णन करते हैं -

दव्वट्ठिएण सव्वं दव्वं तं पज्जयट्ठिएण पुणो।
हवदि य अण्णमणण्णं तक्कालं तम्मयत्तादो।। २२।।

द्रव्यार्थिक नय की विवक्षा से वह सभी द्रव्य - द्रव्य की समस्त पर्यायें अन्य नही है और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से अन्य हैं क्योंकि उस समय वे उसी पर्याय रुप हो जाती हैं।

द्रव्यार्थिक नय अन्वयग्राही है और पर्यायार्थिक नय व्यतिरेकग्राही। द्रव्यार्थिक नय कालक्रम से होने वाली अनन्त पर्यायों में अन्वय को ग्रहण करता है इसलिये उसकी अपेक्षा से उन समस्त पर्यायों में अनन्यत्व भाव सिद्ध होता है और पर्यायार्थिक नय कालक्रम से होने वाली अनन्तपर्यायों में व्यतिरेक को ग्रहण करता है इसलिये उसकी अपेक्षा उन समस्त पर्यायों में अन्यत्व भाव सिद्ध होता है। साराश यह है कि नय विवक्षा से एक ही द्रव्य में दो परस्पर विरोधी भाव सिद्ध हो जाते हैं।। २२।।

अब सब प्रकार का विरोध दूर करने वाली सप्तभंगी वाणी का अवतार करते हैं -

अत्थित्ति य णत्थित्ति य हवदि अवत्तव्वमिदि पुणो दव्वं।
पज्जाएण दु केणवि तदुभयमादिट्ठमण्णं वा।। २३।।

द्रव्य किसी एक पर्याय से अस्तिरुप है, किसी एक पर्याय से नास्तिरुप है, किसी एक पर्याय से अवक्तव्य है, किसी एक पर्याय से अस्तिनास्तिरुप है और किन्ही अन्य पर्यायों से अन्य तीन भंग स्वरुप कहा गया है।

संसार के किसी भी पदार्थ में मुख्य रुप से तीन धर्म पाये जाते हैं एक विधि, दूसरा निषेध और तीसरा अवक्तव्य। इन धर्मों का जब पृथक्-पृथक् रुप से अथवा अन्य धर्मों के साथ सयुक्त रुप से कथन किया जाता है तब सात भग हो जाते है। ये भग किसी एक पर्याय की अपेक्षा से होते हैं अत उनक साथ कथचित् अर्थ को सूचित करने वाला "स्याद्" शब्द लगाया जाता है। सात भग इस प्रकार है - १ स्यादस्ति, २ स्यान्नास्ति ३ स्यादवक्तव्य, ४ स्यादस्तिनास्ति, ५ स्यादस्ति-अवक्तव्य, ६ स्यान्नास्ति-अवक्तव्य और ७ स्यादस्तिनास्ति-अवक्तव्य। इसका खुलासा इस प्रकार है -

१ स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव इस प्रकार स्वचतुष्टय की अपेक्षा द्रव्य अस्तिरुप है।

२ परद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा द्रव्य नास्ति रुप है।

३ एक काल में "अस्तिनास्ति" नहीं कह सकते इसलिये अवक्तव्य है।

४ क्रम से वचन द्वारा अस्तिनास्ति धर्मों का कथन हो सकता है इसलिये अस्तिनास्ति रुप है।

५ "अस्ति" धर्म को जब अवक्तव्य के साथ मिला कर कहते हैं तब द्रव्य अस्ति अवक्तव्य रुप है।

६ "नास्ति" धर्म को जो अवक्तव्य के साथ मिला कर कहते है तब द्रव्य नास्ति अवक्तव्य रुप है।

७ और, जब कालक्रम से "अस्ति" "नास्ति" धर्म को अवक्तव्य के साथ मिलाकर कहते है तब द्रव्य अस्तिनास्ति अवक्तव्य रुप होता है।। २३।।

आगे सदुत्पाद और असदुत्पाद के समर्थन में जीव की जिन मनुष्यादि पर्यायों का उल्लेख किया गया है वे मोह क्रिया के फल हैं और इस कारण वस्तुस्वभाव से पृथक् हैं ऐसा कथन करते हैं -

एसोत्ति णत्थि कोई ण णत्थि किरिया सहावणिव्वत्ता।
किरिया हि णत्थि अफला धम्मो जदि णिप्फलो परमो।। २४।।

यह पर्याय टंकोत्कीर्ण - अविनाशी है ऐसा नर-नारकादि पर्यायों में कोई भी पर्याय नहीं है और रागादि अशुद्धपरिणति रूप विभाव स्वभाव से उत्पन्न हुई जीव की अशुद्ध क्रिया नहीं है यह बात भी नही है अर्थात् वह अवश्य है। तथा चूंकि उत्कृष्ट वीतराग भाव रूपी परम धर्म निष्फल है अर्थात् नर-नारकादि पर्यायरूप फल से रहित है अत जीव की रागादि परिणमन रूप क्रिया फलरहित नहीं है अर्थात् सफल है, ये नर-नारकादि पर्याय उसी क्रिया के फल हैं।

ऊपर जीव की जिन नर-नारकादि पर्यायों का कथन किया है वे सब अनित्य हैं तथा मोहक्रिया से जन्य हैं अत शुद्ध निश्चय की अपेक्षा जीव से भिन्न हैं तथा छोड़ने योग्य हैं।। २४।।

आगे मनुष्यादि पर्याय जीव की क्रिया के फल हैं ऐसा प्रकट करते हैं -

कम्मं णामसमक्खं सभावमध अप्पणो सहावेण।
अभिभूय णरं तिरियं णेरइयं वा सुरं कुणदि।। २५।।

नाम नामक कर्म, अपने स्वभाव से जीव के स्वभाव को अभिभूत कर - आच्छादित कर जीव को मनुष्य, तिर्यंच, नारकी अथवा देव कर देता है।

यद्यपि जीव का शुद्धस्वभाव निष्क्रिय है तथापि संसारी दशा में उसका वह स्वभाव नामकर्म के स्वभाव से अभिभूत हो रहा है अत उसे मनुष्यादि पर्यायों में भ्रमण करना पड़ता है वास्तव में जीव इन प्रपचों से परवर्ती है।। २५।।

आगे इस बात का निर्धार करते हैं कि मनुष्यादि पर्यायों में जीव के स्वभाव का अभिभव -आच्छादन कैसे हो जाता है? -

णरणारयतिरियसुरा जीवा खलु णामकम्मणिव्वत्ता।
ण हि ते लद्धसहावा परिणममाणा सकम्माणि।। २६।।

मनुष्य, नारकी, तिर्यंच और देव इस प्रकार चारों गतियों के जीव निश्चय से नामकर्म के द्वारा रचे गये हैं और इसलिये वे अपने-अपने उपार्जित कर्मों के अनुरूप परिणमन करते हुए शुद्ध आत्मस्वभाव को प्राप्त नहीं होते हैं।

यद्यपि मनुष्यादि पर्याय नामकर्म के द्वारा रचे गये हैं फिर भी इतने मात्र से उनमें जीव के स्वभाव का अभिभव नहीं हो जाता। जिस प्रकार कि सुवर्ण में जड़े हुए माणिक्य रत्न का अभिभव नही होता है उसी प्रकार मनुष्यादि शरीर से सम्बद्ध जीव का अभिभव नही होता। उन पर्यायों में जो जीव अपने शुद्ध स्वभाव को प्राप्त नहीं कर पाते हैं उसका कारण है कि वहा वे अपने-अपने उपार्जित कर्मों के अनुरूप परिणमन करते रहते हैं। जिस प्रकार कि जल का प्रवाह वन में अपने प्रदेशों और स्वाद से नीम-चन्दनादि वृक्ष रूप होकर परिणमन करता है वहां वह जल अपने द्रव्यस्वभाव और स्वाद स्वभाव को प्राप्त नहीं कर पाता है उसी प्रकार यह आत्मा भी जब नर-नारकादि पर्यायों में अपने प्रदेश और भावों से कर्म रूप होकर परिणमन करता है तब वह शुद्ध चिदानन्द स्वभाव को प्राप्त नहीं होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जीव परिणमन के दोष से यद्यपि अनेक रूप हो जाता है तथापि उसके स्वभाव का नाश नहीं होता।। २६।।

आगे, जीवद्रव्यपने की अपेक्षा अवस्थित होने पर भी पर्याय की अपेक्षा अनवस्थित है - नानारूप है यह प्रकट करते हैं -

जायदि णेव ण णस्सदि खणभंगसमुब्भवे जणे कोई।
जो हि भवो सो विलओ संभवविलयत्ति ते णाणा।।२७।।

जिसमें प्रत्येक क्षण उत्पाद और व्यय हो रहा है ऐसे जीव लोक में द्रव्यदृष्टि से न तो कोई जीव उत्पन्न होता है और न कोई नष्ट ही होता है। द्रव्यदृष्टि से जो उत्पाद है वही व्यय है - दोनों एक रूप है परन्तु पर्याय दृष्टि से उत्पाद और व्यय नाना रूप है - जुदे-जुदे हैं।

जैसे किसी ने घडा फोडकर कूडा बना लिया। यहां जब मिट्टी की ओर दृष्टि डालकर विचार करते हैं तब कहना पडता है कि न मिट्टी उत्पन्न हुई है और न नष्ट ही। जो मिट्टी घडारूप थी वही तो कूडा रूप हुई है इसलिये दोनों एक ही हैं परन्तु जब घडा और कूडा इन दोनों पर्यायों की ओर दृष्टि देकर विचार करते हैं तब कहना पडता है कि घडा नष्ट हो गया और कूडा उत्पन्न हो गया। तथा यह दोनो पर्याय कालक्रम से हुई अत एक न होकर अनेक हैं। इस कथन से यह सिद्ध हुआ कि पदार्थ द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा अवस्थित तथा एक है और पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा अनवस्थित तथा अनेक है।।२७।।

अब जीव की अस्थिर दशा को प्रकट करते हैं -

तम्हा दु णत्थि कोई सहावसमयट्ठिदोत्ति ससारे।
संसारो पुण किरिया संसरमाणस्स दव्वस्स।।२८।।

इसलिये संसार में कोई भी जीव स्वभाव से अवस्थित है - स्थिर रूप है ऐसा नही है और चारों गतियों में संसरण-भ्रमण करने वाले जीव द्रव्य की जो क्रिया है - अन्य-अन्य अवस्था रूप परिणति है वही संसार है।।२८।।

आगे बतलाते हैं कि अशुद्ध परिणतिरूप ससार में जीव के साथ पुद्गल का सम्बन्ध किस प्रकार होता है जिससे कि उसे मनुष्यादि पर्याय धारण करना पडते हैं -

आदा कम्ममलिमसो परिणामं लहदि कम्मसंजुत्त।
तत्तो सिलिसदि कम्मं तम्हा कम्मं तु परिणामो।।२९।।

यह जीव अनादिबद्ध कर्मों से मलिन होता हुआ कर्मसयुक्त परिणाम को प्राप्त होता है - मिथ्यात्व तथा रागद्वेषादि रूप विभाव दशा को प्राप्त होता है और उस विभाव दशा से पुदगलात्मक द्रव्यकर्म के साथ सम्बन्ध को प्राप्त करता है इससे यह सिद्ध हुआ कि भावकर्म रूप आत्मा का सराग परिणाम ही कर्म का कारण होने से कर्म कहलाता है।

यह जीव अनादिकाल से कर्ममलकलंक से दूषित होकर मिथ्यात्व तथा रागद्वेषादि रूप परिणमन करता है उसके फलस्वरूप इसके साथ द्रव्यकर्म का सम्बन्ध हो जाता है और जब उसका उदय आता है तब इसे मनुष्यादि पर्यायों में भ्रमण करना पडता है। यह द्रव्यकर्म और भावकर्म का कार्यकारण भाव अनादिकाल से चला आ रहा है इसलिये इतरेतराश्रय दोष की आशंका नहीं करना चाहिये।।२९।।

अब यह सिद्ध करते हैं कि यथार्थ में आत्मा द्रव्यकर्मों का कर्ता नही है -

परिणामो सयमादा सा पुण किरियत्ति होइ जीवमया।
किरिया कम्मत्ति मदा तम्हा कम्मस्स ण दु कत्ता।।३०।।

जीव का जो परिणाम है वह स्वयं जीव है - जीवरूप है, उसकी जो क्रिया है वह भी जीव से निर्वृत्त होने के कारण जीवमयी है। और चूंकि रागादि परिणति रूप क्रिया ही कर्म - भावकर्म मानी गई है अत जीव उसी का कर्ता है पुद्गलरूप द्रव्यकर्म का कर्ता नहीं है।

कर्ता और कर्म का व्यवहार स्वद्रव्य में ही हो सकता है इसलिये जीव रागादिभाव कर्म का ही कर्ता है पुद्गलरूप द्रव्यकर्म का कर्ता नहीं है। भावकर्म जीव की निज की अशुद्ध परिणति है और द्रव्यकर्म पुदगल द्रव्य की परिणति है। तत्वदृष्टि से दो विजातीय द्रव्यों में कर्ताकर्म व्यवहार त्रिकाल में भी सम्भव नही है।। ३०।।

अब आत्मा जिस स्वरूप परिणमन करता है उसका प्रतिपादन करते हैं -

परिणमदि चेयणाए आदा पुण चेदणा तिधाभिमदा।

सा पुण णाणे कम्मे फलम्मि वा कम्मणो भणिदा।। ३१।।

आत्मा चेतना रूप परिणमन करता है और वह चेतना ज्ञान, कर्म तथा कर्मफल के भेद से तीन प्रकार की मानी तथा कही गई है।

जीव चाहे शुद्ध दशा में हो और चाहे अशुद्ध दशा में। प्रत्येक दशा में वह चेतना रूप ही परिणमन करता है। वह चेतना ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना के भेद से तीन प्रकार की कही गई है।। ३१।।

आगे उक्त तीनों चेतनाओं का स्वरूप कहते हैं -

णाणं अत्थवियप्पो कम्मं जीवेण जं समारद्धं।

तमणेगविधं भणिदं फलत्ति सोक्खं व दुक्खं वा।। ३२।।

पदार्थ का विकल्प - स्वपर का भेद लिये हुए जीवाजीवादि पदार्थों का तत्तदाकार से जानना ज्ञान है, जीव ने जो प्रारम्भ कर रक्खा है वह कर्म है, वह कर्म शुभाशुभादि के भेद से अनेक प्रकार का है और सुख अथवा दु ख कर्म का फल है।

जिस प्रकार दर्पण एक ही काल में घटपटादि विविध पदार्थों को प्रतिबिम्बित करता है उसी प्रकार ज्ञान एक ही काल में स्वपर का भेद लिये हुए विविध पदार्थों को प्रकट करता है। इस प्रकार आत्मा का जो ज्ञान भाव रूप परिणमन है उसे ज्ञान चेतना कहते है। जीव, पुद्गल कर्म के निमित्त से प्रत्येक समय जो शुभ अशुभ आदि अनेक भेदों को लिये हुए भाव कर्मरूप परिणमन करता है उसे कर्मचेतना कहते हैं तथा जीव, अपने-अपने कर्मबन्ध के अनुरूप जो सुख-दु खादि फलों का अनुभव करता है उसे कर्मफल चेतना कहते हैं।। ३२।।

आगे ज्ञान, कर्म और कर्मफल अभेद नय से आत्मा ही है इसका निश्चय करते हैं -

अप्पा परिणामप्पा परिणामो णाणकम्मफलभावी।

तम्हा णाणं कम्मं फलं च आदा मुणेदव्वो।। ३३।।

आत्मा परिणाम स्वरूप है - परिणमन करना आत्मा का स्वभाव है और वह परिणाम ज्ञान, कर्म और कर्मफल रूप होता है, इसलिये ज्ञान, कर्म और कर्मफल ये तीनों ही आत्मा है ऐसा मानना चाहिये।

यद्यपि भेद नय से आत्मा परिणामी है और ज्ञानादि परिणाम है, आत्मा चेतक अथवा वेदक है और ज्ञानादि चेत्य अथवा वेद हैं तथापि अभेद नय की विवक्षा से यहां परिणाम और परिणामी को एक मानकर ज्ञानादि को आत्मा कहा गया है ऐसा समझना चाहिये।। ३३।।

आगे इस अभेद भावना का फल शुद्धात्मतत्व की प्राप्ति है यह बतलाते हुए द्रव्य के सामान्य कथन का संकोच करते हैं -

कत्ता करणं कम्मं फलं च अप्पत्ति णिच्छिदो समणो।

परिणमदि णेव अण्णं जदि अप्पाणं लहदि सुद्धं।। ३४।।

कर्ता, करण, कर्म और फल आत्मा ही है ऐसा निश्चय करने वाला मुनि यदि अन्य द्रव्य रूप परिणमन नहीं करता है तो वह शुद्ध आत्मा को प्राप्त कर लेता है।। ३४।।

इस प्रकार द्रव्य सामान्य का वर्णन पूर्ण कर अब द्रव्य विशेष का वर्णन प्रारम्भ करते हुए सर्वप्रथम द्रव्य के जीव और अजीव भेदों का निरूपण करते हैं -

दव्वं जीवमजीवं जीवो पुण चेदणोपयोगमयो।
पोग्गलदव्वप्पमुहं अचेदणं हवदि य अजीवं।। ३५।।

द्रव्य के दो भेद हैं जीव और अजीव। इनमें से जीव चेतनामय और उपयोगमय है तथा पुद्गलद्रव्य को आदि लेकर पाच प्रकार का अजीव चेतना से रहित है।

पदार्थ को सामान्य विशेष रूप से जानने की जीव की जो शक्ति है उसे चेतना कहते हैं और उस शक्ति का ज्ञानदर्शन रूप जो व्यापार है उसे उपयोग कहते हैं। ज्ञान और दर्शन के भेद से चेतना तथा उपयोग दोनों के दो भेद हैं। यह द्विविध चेतना और द्विविध उपयोग जिसमें पाया जावे उसे जीव द्रव्य कहते हैं और जिसमें उक्त चेतना तथा तन्मूलक उक्त उपयोग का अभाव हो उसे अजीव द्रव्य कहते हैं। अजीवद्रव्य के पांच भेद हैं - १ पुद्गल, २ धर्म, ३ अधर्म, ४ आकाश और ५ काल।। ३५।।

आगे लोक और अलोक के भेद से द्रव्य के दो भेद दिखलाते हैं -

पुग्गलजीवणिबद्धो धम्माधम्मत्थिकायकालड्ढो।
वट्टदि आयासे जो लोगो सो सव्वकाले दु।। ३६।।

अनन्त आकाश में जो क्षेत्र पुद्गल तथा जीव से सयुक्त और धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय एव काल से सहित हो वह सर्वकाल - अतीत, अनागत और वर्तमान इन तीनों कालों में लोक कहा जाता है।

इस गाथा में लोक का लक्षण कहा गया है अत पारिशेष्यात अलोक का लक्षण अपने आप प्रतिफलित हो जाता है। जहा केवल आकाश ही आकाश हो उसे अलोक कहते हैं।। ३६।।

आगे क्रिया और भाव की अपेक्षा द्रव्यों में विशेषता बतलाते है -

उप्पादट्ठिदिभंगा पोग्गलजीवप्पगस्स लोगस्स।
परिणामा[1] जायंते[2] संघादादो व भेदादो।। ३७।।

पुद्गल और जीव स्वरूप लोक के उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य परिणाम से- एक समयवर्ती अर्थपर्याय से, सघात से - मिलने से तथा भेद से बिछुडने से होते हैं।

संसार के प्रत्येक पदार्थों में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वरूप परिणमन होता रहता है। वह परिणमन किन्हीं में भावरूप होता है और किन्ही में क्रिया तथा भाव दोनों रूप होता है। अगुरुलघुगुण के निमित्त से प्रत्येक पदार्थ में जो समय समय पर शक्ति के अंशों का परिवर्तन होता है उसे भाव कहते हैं और प्रदेश परिस्पन्दात्मक जो हलन-चलन है उसे क्रिया कहते हैं। जीव और पुद्गल द्रव्य में क्रिया तथा भाव दोनों रूप परिणमन होता है परन्तु आकाश, धर्म, अधर्म और काल इन द्रव्यों में सदा भाव रूप ही परिणमन होता है। जीव मे भी ससारी जीव के ही क्रिया रूप परिणमन होता है मुक्त जीव के मुक्त होने के प्रथम समय को छोडकर अन्य अनन्तकाल तक भावरूप ही परिणमन होता है। इस प्रकार क्रिया और भाव की अपेक्षा जीवादि द्रव्यों में विशेषता है।। ३७।।

आगे गुणों की विशेषता से ही द्रव्य में विशेषता होती है यह सिद्ध करते हैं -

लिंगेहिं जेहिं दव्वं जीवमजीवं च हवदि विण्णाद।
ते तब्भावविसिट्ठा मुत्तामुत्ता गुणा णेया।। ३८।।

जिन चिह्नों से जीव अजीव द्रव्य जाना जाता है वे द्रव्य भाव से विशिष्ट अथवा अविशिष्ट मूर्तिक

1 परिणामादो। 2 जायदि।

और अमूर्तिक गुण जानना चाहिये।

"ते तब्भावविसिट्ठा" यहा पर दोनों ही वृत्तिकारो ने "तब्भावविसिट्ठा" और अतब्भावविसिट्ठा" इस प्रकार दो पाठ मानकर वृत्ति लिखी है जिसका अभिप्राय यह है - द्रव्य और गुण में आधार-आधेय अथवा लक्ष्य-लक्षणभाव है। द्रव्य में गुण रहते हैं अथवा गुणों के द्वारा द्रव्य का परिज्ञान होता है। भेद नय से जिस समय विचार करते हैं उस समय द्रव्य द्रव्य रूप ही रहता है और गुण गुणरूप ही। द्रव्य गुण नही होता और गुण द्रव्य नहीं हो पाता इसलिये यहां गुणों को विशेषण दिया गया है कि वे अतद्भाव से विशिष्ट हैं अर्थात् द्रव्यत्व भाव से विशिष्ट नही है - जुदे हैं। और अभेद नय से जब विचार करते हैं तब प्रदेश भेद न होने से द्रव्य और गुण एक रूप ही दृष्टिगत होते है इसलिये इस नय विवक्षा से गुणों को विशेषण दिया गया है कि वे तदभाव से विशिष्ट हैं अर्थात द्रव्य के स्वभाव से विशिष्ट है द्रव्य रूप ही है उससे जुदे नहीं है। जो द्रव्य जैसा होता है उसके गुण भी वैसे ही होते है इसलिये मूर्तद्रव्य के गुण मूर्त होते है - इन्द्रियग्राह्य होते है जैसे कि पुद्गल के रूप रस, गन्ध स्पर्श और अमूर्त द्रव्य के गुण अमूर्त होते है - इन्द्रियों के द्वारा अग्राह्य होते है जैसे कि जीव के ज्ञान-दर्शनादि।। ३८।।

आगे मूर्त और अमूर्त गुणों का लक्षण ग्रन्थकार स्वय कहते हैं -

मुत्ता इंदियगेज्झा पोग्गलदव्वप्पगा [1]अणेगविधा।
दव्वाणममुत्ताणं गुणा अमुत्ता मुणेदव्वा।। ३९।।

मूर्त गुण इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य है, पुद्गलद्रव्यात्मक हैं और अनेक प्रकार के हैं तथा अमूर्तिक द्रव्यों के गुण अमूर्तिक हैं इन्द्रियों के द्वारा अग्राह्य है ऐसा जानना चाहिये।। ३९।।

अब मूर्त पुद्गल द्रव्य के गुणों को कहते हैं -

वण्णरसगंधफासा विज्जंते पुग्गलस्स सुहुमादो।
पुढवीपरियंतस्स य सद्दो सो पोग्गलो चित्तो।। ४०।।

सूक्ष्म-परमाणु से लेकर महास्कन्ध पृथिवी पर्यन्त पुद्गल के रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये चार प्रकार के गुण विद्यमान रहते हैं। इनके सिवाय अक्षर अनक्षर आदि के भेद से विविध प्रकार का जो शब्द है वह भी पौद्गलिक है पुद्गल सम्बन्धी पर्याय है।

कर्ण इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य होने तथा भित्ति आदि मूर्त पदार्थों के द्वारा रुक जाने आदि के कारण शब्द मूर्तिक है परन्तु रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के समान वह पुद्गल में सदा विद्यमान नही रहता इसलिये गुण नहीं है। शब्द परमाणु में भी नहीं रहता किन्तु स्कन्ध में रहता है अर्थात् स्कन्धों के पारस्परिक आघात से उत्पन्न होता है इसलिये पुद्गल का गुण न होकर उसकी पर्याय है।। ४०।।

अब अन्य पांच अमूर्तद्रव्यों के गुणों का वर्णन करते हैं -

आगासस्सवगाहो धम्मद्दव्वस्स गमणहेदुत्तं।
धम्मेदरदव्वस्स दु गुणो पुणो ठाणकारणदा।। ४१।।
कालस्स वट्टणा से गुणोवओगोत्ति अप्पणो भणिदो।
णेया संखेवादो गुणा हि मुत्तिप्पहीणाणं।। ४२।। जुगलं।

आकाशद्रव्य का अवगाह, धर्मद्रव्य का गमनहेतुत्व, अधर्म द्रव्य का स्थितिहेतुत्व, कालद्रव्य का वर्तना और जीव द्रव्य का उपयोग गुण कहा गया है। इस प्रकार अमूर्तद्रव्यों के गुण संक्षेप से जानना चाहिये।

पुद्गल को छोडकर अन्य पांच द्रव्य अमूर्तिक हैं इसलिये उनके गुण भी अमूर्तिक है। न उन द्रव्यों का

---
1 अणेयविहा।

इन्द्रियों के द्वारा साक्षात् ज्ञान होता है और न उनके गुणों का। समस्त द्रव्यों के लिये अवगाहन- स्थान देना आकाश द्रव्य का गुण है। यद्यपि अलोकाकाश में आकाश को छोडकर ऐसा कोई द्रव्य नहीं है जिसके लिये वह अवगाहन देता हो तो भी शक्ति की अपेक्षा उसका गुण रहता ही है। जीव और पुद्गल के गमन में सहायक होना धर्म द्रव्य का गुण है, उन्ही की स्थिति में निमित्त होना अधर्म द्रव्य का गुण है समय-समय प्रत्येक द्रव्यों की पर्यायों के बदलने में सहायक होना काल द्रव्य का गुण है, और जीवाजीवादि पदार्थों को सामान्य विशेष रूप से जानना जीव द्रव्य का गुण है। यह आकाशादि पाच अमूर्तिक द्रव्यों के असाधारण गुणों का सक्षिप्त विवेचन है।।४१-४२।।

आगे छह द्रव्यों में प्रदेशवत्त्व और अप्रदेशवत्त्व की अपेक्षा विशेषता बतलाते हैं -

जीवा पोग्गलकाया[1] धम्माऽधम्मा पुणो य आगासं[2]।
देसेहिं[3] असंखादा[4] णत्थि पदेसत्ति कालस्स।।४३।।

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश मे पाच द्रव्य प्रदेशों की अपेक्षा असख्यात हैं अर्थात् इनके असंख्यात प्रदेश हैं और कालद्रव्य के प्रदेश नहीं हैं। कालद्रव्य एक प्रदेशात्मक है अत एव उसमे द्वितीयादि प्रदेश नहीं हैं।।४३।।[5]

अब प्रदेशी और अप्रदेशी द्रव्य कहां रहते हैं इसका विवेचन करते हैं -

लोगालोगेसु णभो धम्माधम्मेहि आददो लोगो।
सेसे पडुच्च कालो जीवा पुण पोग्गला सेसा।।४४।।

आकाश, लोक और अलोक दोनों में व्याप्त है, धर्म और अधर्म के द्वारा लोक व्याप्त है अर्थात् ये दोनों समस्त लोक में फैलकर रह रहे हैं। शेष रहे जीव, पुद्गल और काल सो ये तीनों विवक्षावश लोक में व्याप्त हैं। कालद्रव्य स्वय एक प्रदेशी है इसलिये लोक के एक प्रदेश में रहता है परन्तु ऐसे काल द्रव्य गणना मे असख्यात हैं और लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर रहते हैं इसलिये अनेक कालाणुओं की अपेक्षा काल द्रव्य समस्त लोक में स्थित है। एक जीव द्रव्य के असंख्यात प्रदेश हैं और सकोच-विस्तार रूप स्वभाव होने से वे छोटे-बडे शरीर के अनुरूप लोक के असख्यातवें भाग में अवस्थित रहते हैं। लोक पूरण समुद्घात के समय लोक में भी व्याप्त हो जाते हैं। परन्तु वह अवस्था किन्हीं जीवों के समय मात्र के लिये होती है। अधिकाश काल शरीर प्रमाण के अनुरूप लोकाकाश में ही रहकर बीतता है। यह एक जीव द्रव्य की अपेक्षा विचार हुआ। नाना जीवों की अपेक्षा जीव द्रव्य समस्त लोक में व्याप्त है। पुद्गल द्रव्य का अवस्थान लोक के एक प्रदेश से लेकर समस्त लोक में है। पुद्गलों में वस्तुत द्रव्य संज्ञा परमाणुओं की है। ऐसे परमाणु रूप पुद्गल द्रव्य अनन्तानन्त है। परमाणु एक प्रदेशी है इसलिये वह लोक के एक ही प्रदेश में स्थित रहता है परन्तु जब वह परमाणु अपने स्निग्ध और रूक्षगुण के कारण अन्य परमाणुओं के साथ मिलकर स्कन्ध हो जाता है तब लोक के एक से अधिक प्रदेशों को व्याप्त करने लगता है। ऐसा नियम नहीं है कि लोक के एक प्रदेश में एक ही परमाणु रहे। यदि ऐसा नियम मान लिया जावे तो लोक के असंख्यात प्रदेशों में असख्यात से अधिक परमाणु स्थान नहीं पा सकेंगे। नियम ऐसा है कि परमाणु एक ही प्रदेश में रहता है परन्तु उस एक प्रदेश में संख्यात-असंख्यात-अनन्त परमाणुओं से निर्मित स्कन्ध भी स्थित हो सकते हैं। पुद्गल परमाणुओं में परस्पर अवगाहन देने की सामर्थ्य होने के कारण उक्त मान्यता में कुछ भी आपत्ति नहीं आती। इस प्रकार स्कन्ध की अपेक्षा अथवा अनन्तानन्त परमाणुओं की अपेक्षा पुद्गल द्रव्य भी समस्त लोक में व्याप्त होकर स्थित है। सारांश यह हुआ कि काल जीव और पुद्गल ये तीन द्रव्य, एक द्रव्य की अपेक्षा लोक के

1 पुग्गलकाया। 2 आवासं। 3 सप्पदेसेहिं। 4 असखा। 5 ४३ वीं गाथा के बाद ज.वृ में निम्नाकित गाथा अधिक व्याख्यात है -
एदाणि पंच दव्वाणि उज्झियकाल तु अत्थिकायत्ति।
भण्णते काया पुण बहुप्पदेसाण पचयत्त।।

एक देश में और अनेक द्रव्य की अपेक्षा सर्वलोक में स्थित है।। ४४।।

आगे इन द्रव्यों में प्रदेशवत्त्व और अप्रदेशवत्त्व की संभवता दिखाते हैं -

[1]जध ते [2]णभप्पदेसा [3]तधप्पदेसा हवंति सेसाणं।

अपदेसो परमाणू तेण पदेसुब्भवो भणिदो।। ४५।।

जिस प्रकार आकाश में प्रदेश होते हैं उसी प्रकार शेष- धर्म, अधर्म और एक जीव द्रव्य तथा पुद्गल के भी प्रदेश होते हैं।। परमाणु स्वयं अप्रदेश है - अद्वितीयादि प्रदेशों से रहित है परन्तु उससे ही प्रदेशों की उत्पत्ति कही गई है।

पुद्गल का परमाणु आकाश के जितने क्षेत्र को रोकता है उसे आकाश का एक प्रदेश कहते हैं। ऐसे प्रदेश आकाश में अनन्त हैं। एक प्रदेश प्रमाण आकाश में विद्यमान धर्म-अधर्म द्रव्य के अंश एक प्रदेश कहलाते हैं। ऐसे प्रदेश धर्म, अधर्म द्रव्य में असख्यात हैं। इसी प्रकार जीव और पुद्गल में भी प्रदेशों का सद्भाव समझ लेना चाहिए। एक जीव द्रव्य में असंख्यात प्रदेश हैं तथा पुद्गल में स्कन्ध की अपेक्षा सख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश हैं। परमाणु एक प्रदेशात्मक है। इस प्रकार सब द्रव्यों में प्रदेश का व्यवहार परमाणुजन्य ही है।। ४५।।

अब कालाणु प्रदेश रहित ही है इस बात का नियम करते हैं -

समओ दु अप्पदेसो पदेसमेत्तस्स दव्वजादस्स।

वदिवददो सो वट्टदि पदेसमागासदव्वस्स।। ४६।।

समय अप्रदेश है - द्वितीयादि प्रदेशों से रहित है। जब एक प्रदेशात्मक पुद्गलजाति रूप परमाणु मन्द गति से आकाश द्रव्य के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश के प्रति गमन करता है तब उसमे समय की उत्पत्ति होती है।

यहा काल द्रव्य की समय पर्याय और उसका उपादान कारण कालाणु दोनों को एक मानकर कथन किया है।। ४६।।

अब काल पदार्थ के द्रव्य और पर्याय का विश्लेषण करते हैं -

वदिवददो तं देसं तस्सम समओ तदो परो पुव्वो।

जो अत्थो सो कालो समओ उप्पण्णपद्धंसी।। ४७।।

आकाश के उस प्रदेश के प्रति मन्दगति से जाने वाले परमाणु के जो काल लगता है उसके बराबर सूक्ष्मकाल है। कालद्रव्य की पर्यायभूत समय कहलाता है और उसके आगे तथा पहले अन्वयीरूप से स्थिर रहने वाला जो पदार्थ है वह काल द्रव्य है। समय वर्तमान पर्याय की अपेक्षा उत्पन्न-प्रध्वसी है - उत्पन्न होकर नष्ट होता रहता है।। ४७।।

अब आकाश के प्रदेश का लक्षण कहते हैं -

[4]आगासमणुणिविट्ठं [5]आगासपदेससण्णया भणिद।

सव्वेसिं च [6]अणूणं सक्कदि तं देदुमवकासं।। ४८।।

परमाणु से रोका हुआ जो आकाश है वह आकाश का प्रदेश इस नाम से कहा गया है। वह आकाश एक प्रदेश अन्य सब द्रव्यों के प्रदेशों को तथा परम सूक्ष्म अवस्था को प्राप्त हुए अनन्त पुद्गलस्कन्धों को अवकाश देने में समर्थ है[7]।। ४८।।

आगे तिर्यक्प्रचय और उर्ध्वप्रचय का लक्षण कहते हैं -

---

1 जह। 2 णहप्पदेसा। 3 तहप्पदेसा। 4 समयपर्यायस्योपादानकारणत्वात्समय कालाणु। 5-6 आयास। 7 शेषपंचद्रव्यप्रदेशानां परमसौक्ष्म्यपरिणतानन्तपरमाणुस्कन्धानां च।

एको व दुगे बहुगा संखातीदा तदो अणंता य।
दव्वाणं च पदेसा संति हि समयत्ति कालस्स।। ४९।।

कालद्रव्य को छोडकर शेष पांच द्रव्यों के प्रदेश एक, दो, बहुत अर्थात सख्यात, असंख्यात और उसके बाद अनन्त तक यथायोग्य होते हैं परन्तु कालद्रव्य का समय पर्यायरूप एक ही प्रदेश है।

प्रदेशों के समूह को तिर्यक्प्रचय और क्रमवर्ती समयों के समूह को ऊर्ध्वताप्रचय कहते हैं। ऊर्ध्वताप्रचय सभी द्रव्यों में होता है परन्तु तिर्यक्प्रचय उन्हीं द्रव्यों में सम्भव है जिनमें कि अनेक प्रदेश पाये जाते हैं। यत काल द्रव्य एकप्रदेशी है अत उसमें तिर्यक्प्रचय नहीं होता केवल ऊर्ध्वताप्रचय ही होता है।। ४९।।

अब कालद्रव्य में जो ऊर्ध्वप्रचय होता है वह निरन्वय होता किन्तु द्रव्यपने से अन्वयी रूप ध्रुवरूप होता है यह सिद्ध करते हैं -

उप्पादो पद्धंसो विज्जदि जदि जस्स एकसमयम्मि।
समयस्स सोवि समओ सभावसमवट्ठिदो हवदि।। ५०।।

जिस कालाणु रूप समय का एक ही समय में उत्पाद और व्यय होता है वह समय भी - काल पदार्थ भी अपने स्वभाव में अवस्थित रहता है।

कालाणु द्रव्य होने के कारण ध्रुवरूप रहता है और उसमें समयरूप पर्यायों का उत्पाद तथा व्यय होता रहता है। मन्दगति से चलने वाला पुद्गल परमाणु जब पूर्व कालाणु को छोडकर उत्तरवर्ती कालाणु के पास पहुंचता है तब नवीन समय पर्याय का उत्पाद होता है और पूर्व समय पर्याय का व्यय होता है परन्तु कालाणु दोनों मे अन्वयरूप से विद्यमान रहता है।। ५०।।

आगे यह सिद्ध करते हैं कि वर्तमान समय के समान काल द्रव्य के अतीत-अनागत सभी समयों में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य होते हैं -

[1]एकम्मि संति समये संभवठिदिणाससण्णिदा अट्ठा।
समयस्स सव्वकाल एस हि कालाणुसब्भावो।। ५१।।

एक समय पर्याय में कालाणुरूप कालद्रव्य के उत्पाद, स्थिति तथा विनाश रूप भाव होते हैं। निश्चय से यह उत्पादादित्रय रूप कालाणु का सद्भाव सदा काल विद्यमान रहता है।

जिस प्रकार कालद्रव्य एक ही समय में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप परिणमन करता है उसी प्रकार सब समय में परिणमन करता है।। ५१।।

आगे कालद्रव्य अप्रदेश है इसका यह अर्थ नही है कि उसमें एक भी प्रदेश नही होता। यहा अप्रदेश का अर्थ एक प्रदेशी है। यदि कालद्रव्य को एकप्रदेशी न माना जावे तो उसका अस्तित्व ही सिद्ध नही हो सकेगा। यह बतलाते हैं -

जस्स ण संति पदेसा पदेसमेत्तं व तच्चदो णादु।
सुण्णं जाण तमत्थं अत्थंतरभूदमत्थीदो।। ५२।।

जिस द्रव्य में बहुत प्रदेश नहीं है अथवा जो परमार्थ से एक प्रदेशी भी नही जाना जा सकता है अर्थात् जिसमें एक प्रदेश भी नहीं है अस्तित्व से बहिर्भूत उस पदार्थ को तुम शून्य जानो।

पदार्थ का अस्तित्व उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से होता है तथा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य प्रदेशों पर

1 एगम्मि।

निर्भर है अत जिस द्रव्य में एक भी प्रदेश नहीं होगा उसका अस्तित्व सिद्ध नही हो सकता। यत कालद्रव्य अस्तित्व रूप है अत उसे एक प्रदेशी मानना चाहिये। अप्रदेश का अर्थ द्वितीयादि प्रदेश से रहित समझना चाहिये।। ५२।।

इस प्रकार ज्ञेय तत्व को कहकर अब ज्ञान ज्ञेय के विभाग से आत्मा का निश्चय करना चाहते हैं अत सर्वप्रथम आत्मा को परभावों से जुदा करने के लिये उसके व्यवहार जीवत्व के कारण दिखलाते हैं -

सपदेसेहिं समग्गो लोगो अट्ठेहिं णिट्ठिदो णिच्चो।
जो तं जाणदि जीवो [1]पाणचदुक्काहिसंबद्धो।। ५३ ।।

यह लोक अपने प्रदेशों मे परिपूर्ण है, जीवाजीवादि पदार्थों से भरा हुआ है और नित्य है इसे जो जानता है तथा इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास इन चार प्राणों से संयुक्त है वह जीव है।

यद्यपि जीव, निश्चय से स्वत सिद्ध परम चैतन्य रूप निश्चय प्राण से जीवित रहता है तथापि यहां व्यवहार की अपेक्षा उसे इन्द्रियादि चार बाह्य प्राणों से जीवित रहने वाला बतलाया है। वह भी इसलिये कि इन सर्वगम्य बाह्य प्राणों से अल्पज्ञ मनुष्य भी जीव को लोक के अन्य पदार्थों से अत्यन्त भिन्न समझने लगे।। ५३ ।।

अब वे चार प्राण कौन हैं ? यह स्वय ग्रन्थकार बतलाते हैं -

इंदियपाणो य तधा बलपाणो तह य आउपाणो य।
आणप्पाणप्पाणो जीवाणं होंति पाणा ते।। ५४ ।।

स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पांच इन्द्रिय प्राण, मनोबल, वचनबल और कायबल ये तीन बल प्राण, इसी प्रकार आयु प्राण और श्वासोच्छ्वास प्राण ये जीवों के (चार अथवा दश) प्राण होते हैं।

जिनके सयोग से जीव जीवित और वियोग से मृत कहलावे उन्हें प्राण कहते हैं। ऐसे प्राण अभेद विवक्षा से चार और भेद विवक्षा से दश होते हैं।। ५४ ।।[2]

अब जीव शब्द की निरुक्ति पूर्वक यह बतलाते हैं कि प्राण जीवत्व के कारण हैं तथा पौद्गलिक हैं -

पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीवस्सदि जो हि जीविदो पुव्वं।
सो जीवो पाणा पुण पोग्गलदव्वेहिं णिव्वत्ता।। ५५ ।।

जो पूर्वोक्त चार प्राणों से वर्तमान में जीवित है, आगे जीवित होगा और पहले जीवित था वह जीव है। वे सभी प्राण पुद्गल द्रव्य से रचे गये है।

"य प्राणै जीवति स जीव" जो प्राणों से जीवित है वह जीव है यह वर्तमान प्राणियों की अपेक्षा निरुक्ति है। "य प्राणै जीविष्यति स जीव" जो प्राणों से जीवित होगा वह जीव है। यह विग्रहगति में स्थित जीवों की अपेक्षा निरुक्ति है और "य प्राणैरजीवत् स जीव" जो प्राणों से जीवित था वह जीव है यह मुक्त जीवों की अपेक्षा जीव की निरुक्ति है ऐसा समझना चाहिये।। ५५ ।।

अब प्राण पौद्गलिक हैं इस बात को स्वतन्त्र रूप से सिद्ध करते हैं -

जीवो पाणणिबद्धो बद्धो मोहादिएहिं कम्मेहि।
उवभुंजं कम्मफलं बज्झदि अण्णेहिं कम्मेहिं।। ५६ ।।

मोह आदि पौद्गलिक कर्मों से बंधा हुआ जीव पूर्वोक्त प्राणों से बद्ध होता है और उनके सम्बन्ध से

---

1 पाणचउक्केण सबद्धो। 2 ५४ वीं गाथा के बाद ज वृ में निम्न गाथा अधिक व्याख्यात है -
पचवि इंदियपाणा मणवचिकाया य तिण्णि बलपाणा।
आणप्पाणप्पाणो आउगपाणेण होंति दस पाणा।।

ही कर्मों के फल को भोगता हुआ अन्य ज्ञानावरणादि पौद्गलिक कर्मों से बद्ध होता है।

यत प्राणों के कारण और कार्य दोनों ही पौद्गलिक हैं अत प्राण भी पौद्गलिक ही है - पुद्गल से निष्पन्न है ऐसा जानना चाहिए।। ५६।।

अब प्राण पौद्गलिक कर्म के कारण हैं यह स्पष्ट करते हैं -

पाणाबाधं जीवो मोहपदेसेहिं कुणदि जीवाणं।
जदि सो हवदि हि बंधो णाणावरणादिकम्मेहिं।। ५७।।

यदि वह प्राणसंयुक्त जीव, मोह और रागद्वेष रूप भावों से स्वजीव और पर जीवों के प्राणों का घात करता है तो उसके ज्ञानावरणादि कर्मों से बन्ध होता है।

यह जीव इन्द्रियादि प्राणों के द्वारा कर्मफल को भोगता है, उसे भोगता हुआ मोह तथा रागद्वेष को प्राप्त होता है और मोह तथा रागद्वेष से स्वजीव तथा परजीवों के प्राणों का विघात करता है। अन्य जीवों के प्राणों का विघात न भी कर सके तो भी अन्तरंग के कलुषित हो जाने से स्वकीय भाव प्राणों का घात तो करता ही है। इस प्रकार संक्लिष्ट परिणाम होने से ज्ञानावरणादि नवीन कर्मों का बन्ध करता है। इससे यह सिद्ध होता है कि प्राण पौद्गलिक कर्मों के कारण हैं।। ५७।।

आगे इन पौद्गलिक प्राणों की सन्तति क्यों चलती है ? इसका अन्तरग कारण कहते हैं -

आदा कम्ममलिमसो धारदि[1] पाणो पुणो पुणो अण्णे।
ण जहदि जाव ममत्तं देहपधाणेसु वियएसु।। ५८।।

अनादिकालीन कर्म से मलिन आत्मा तब तक बार-बार दूसरे प्राणो को धारण करता रहता है जब तक कि वह शरीरादि विषयों में ममत्व भाव को नहीं छोडता है।

ससार, शरीर और भोगों में ममता बुद्धि ही प्राणों की सन्तति को आगे चलाने में अन्तरंग कारण है।। ५८।।

अब पौद्गलिक प्राणों की सन्तति के रोकने में अन्तरंग कारण बतलाते हैं -

जो इंदियादिविजई भवीय उवओगमप्पग झादि।
कम्मेहिं सो ण रंजदि किह तं पाण अणुचरति।। ५९।।

इन्द्रियविषय, कषाय आदि को जीतने वाला होकर शुद्ध उपयोग रूप आत्मा का ध्यान करता है वह कर्मों से अनुरक्त नहीं होता फिर प्राण उसका अनुचरण कैसे कर सकते हैं - उसके साथ कैसे सम्बन्ध कर सकते है ? अर्थात् नहीं कर सकते।। ५९।।

आगे आत्मा को अन्य पदार्थों से बिलकुल ही जुदा करने के लिये व्यवहार जीव की चतुर्गति रूप पर्याय का स्वरूप कहते हैं -

अत्थित्तणिच्छिदस्स हि अत्थस्सत्थतरम्मि सभूदो।
अत्थो पज्जायो सो संठाणादिप्पभेदेहिं।। ६०।।

स्वलक्षणभूत स्वरूपास्तित्व से निश्चित जीव पदार्थ की अन्य पदार्थ - पुद्गल द्रव्य के सयोग से उत्पन्न हुई जो दशा विशेष है वह पर्याय है। वह पर्याय संस्थान, संहनन आदि के भेद से अनेक प्रकार की है।

नामकर्मादि रूप पुद्गल के साथ सम्बन्ध होने पर जीव में नर-नारकादि रूप पर्यायें उत्पन्न होती हैं जो अपने संस्थान, संहनन आदि के भेद से विविध प्रकार की हुआ करती हैं। पर सयोगज होने के कारण ऐसी सभी पर्यायें विभावपर्यायें कहलाती हैं अत एव त्याज्य हैं।। ६०।।

---
1 धरेदि।

अब जीव की पूर्वोक्त पर्यायों को दिखलाते हैं -

णरणारयतिरियसुरा संठाणादीहिं अण्णहा जादा।

पज्जाया जीवाणं[1] उदयादु हि णामकम्मस्स।। ६१।।

संसारी जीवों की जो नर, नारक, तिर्यंच और देव पर्याय हैं वे नामकर्म के उदय से सस्थान संहनन आदि के द्वारा स्वभाव पर्याय से भिन्न विभाव रूप उत्पन्न होते हैं।

जिस प्रकार एक ही अग्नि ईन्धन के भेद से अनेक प्रकार की दिखती है उसी प्रकार एक ही आत्मा कर्मोदयवश अनेक रूप दिखाई देता है।। ६१।।

आगे, यद्यपि आत्मा अन्य द्रव्यों के साथ संकीर्ण है - मिला हुआ है तो भी उसका स्वरूपास्तित्व स्वपर के विभाग का कारण है यह दिखलाते हैं -

तं सब्भावणिबद्धं दव्वसहावं तिहा समक्खादं।

जाणदि जो सवियप्पं ण मुहदि सो अण्णदवियम्हि।। ६२।।

जो पुरुष उस पूर्व कथित द्रव्य के स्वरूपास्तित्व से युक्त द्रव्य, गुण, पर्याय अथवा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य के भेद से तीन प्रकार कहे हुए द्रव्य के स्वभाव को भेद सहित जानता है वह शुद्धात्म द्रव्य से भिन्न अन्य अचेतन द्रव्यों में मोह को प्राप्त नहीं होता। आत्म द्रव्य का स्वरूपास्तित्व ही उसे पर पदार्थों से विविक्त सिद्ध करता है।। ६२।।

आगे सब प्रकार से आत्मा को भिन्न करने के लिये पर द्रव्य के सयोग का कारण दिखलाते हैं -

अप्पा उवओगप्पा उवओगो णाणदंसणं भणिदो।

सो हि सुहो असुहो वा उवओगो अप्पणो हवदि।। ६३।।

उपयोग स्वरूप है, ज्ञान और दर्शन उपयोग कहे गये हैं और आत्मा का वह उपयोग शुभ तथा अशुभ होता है।

आत्मा के चैतन्यानुविधायी परिणाम को उपयोग कहते हैं। उस उपयोग का परिणमन ज्ञानदर्शन के भेद से दो प्रकार का होता है। सामान्य चेतना के परिणाम को दर्शनोपयोग और विशेष चेतना के परिणाम को ज्ञानोपयोग कहते हैं। आत्मा का यह उपयोग अपने आप में शुद्ध होता है परन्तु मोह का उदय उसे मलिन करता रहता है। जिस उपयोग के साथ मोह का उदय मिश्रित रहता है वह अशुद्धोपयोग कहलाता है और जो उपयोग मोह के उदयं से अमिश्रित रहता है वह शुद्धोपयोग कहलाता है। मोह का उदय असंख्यात प्रकार का होता है परन्तु सक्षेप में उसके शुभ-अशुभ के भेद से दो भेद माने जाते हैं। शुद्धोपयोग कर्म बन्ध का कारण नहीं है परन्तु शुभ-अशुभ के भेद से विभाजित अशुद्धोपयोग कर्म बन्ध का कारण माना गया है। इस प्रकार आत्मा का जो परद्रव्य के साथ संयोग होता है उसमें उसका अशुद्धोपयोग ही कारण है।। ६३।।

अब कौन उपयोग किस कर्म का कारण है यह बतलाते हैं -

उवओगो जदि हि सुहो पुण्णं जीवस्स संचयं जादि।

असुहो वा[2] तध पावं तेसिमभावे ण चयमत्थि।। ६४।।

यदि जीव का उपयोग शुभ होता है तो पुण्य कर्म संचय - बन्ध को प्राप्त होता है और अशुभ होता है तो पाप कर्म संचय को प्राप्त होता है। इन शुभ-अशुभ उपयोगों के अभाव में कर्मों का चय - सग्रह - बन्ध नहीं होता है।। ६४।।

---

1 उप्पादि दि। 2 तह।

आगे शुभोपयोग का स्वरूप कहते हैं -

जो जाणादि जिणिंदे पेच्छदि सिद्धे तधेव अणगारे।
जीवे य साणुकंपो उवओगो सो सुहो तस्स।। ६५।।

जो जीव परमभट्टारक महादेवाधिदेव श्री अर्हन्त भगवान को जानता है, ज्ञानवरणादि अष्ट कर्म से रहित और सम्यग्दर्शनादि गुणों से विभूषित श्री सिद्ध परमेष्ठी को ज्ञानदृष्टि से देखता है, उसी प्रकार आचार्य, उपाध्याय और साधु रूप निष्परिग्रह गुरुओं को जानता देखता है तथा जीव मात्र पर दयाभाव से सहित है उस जीव का वह उपयोग शुभोपयोग कहलाता है।। ६५।।

अब अशुभोपयोग का स्वरूप बतलाते हैं -

विसयकसाओगाढो दुस्सुदिदुच्चित्तदुट्ठगोट्ठिजुदो।
उग्गो उम्मग्गपरो उवओगो जस्स सो असुहो।। ६६।।

जीव का जो उपयोग विषय और कषाय से व्याप्त है, मिथ्याशास्त्रों का सुनना, आर्त-रौद्र रूप खोटे ध्यानों में प्रवृत्त होना तथा दुष्ट-कुशील मनुष्यों के साथ गोष्ठी करना आदि कार्यों में युक्त है हिंसादि पापों के आचरण में उग्र है और उन्मार्ग - विपरीत मार्ग के चलाने में तत्पर है वह अशुभोपयोग है।। ६६।।

आगे शुभाशुभभाव से रहित शुद्धोपयोग का वर्णन करते हैं -

असुहोवओगरहिदो सुहोवजुत्तो ण अण्णदवियम्मि।
होज्झं मज्झत्थोऽहं णाणप्पगमप्पगं झाए।। ६७।।

जो अशुभोपयोग से रहित है और शुभोपयोग में भी जो उद्यत नहीं हो रहा है ऐसा मैं आत्मातिरिक्त अन्य द्रव्यों में मध्यस्थ होता हूं और ज्ञानस्वरूप आत्मा का ही ध्यान करता हूं।

जो अशुभोपयोग को पहले ही छोड चुका है अब शुभोपयोग में भी प्रवृत्त होने के लिये जिसका जी नहीं चाहता, जो शुद्धात्मा को छोडकर अन्य सब द्रव्यों में मध्यस्थ हो रहा है और जो निरन्तर सहज चैतन्य से उद्भासित एक निजशुद्ध आत्मा का ही ध्यान करता है वह शुद्धोपयोगी है। इस जीव के उपयोग को शुद्धोपयोग कहते हैं। इस शुद्धोपयोग के प्रभाव से आत्मा का परद्रव्य के साथ संयोग छूट जाता है। इसलिये ही श्री कुन्दकुन्दस्वामी ने शुद्धोपयोगी होने की भावना प्रकट की है।। ६७।।

आगे शरीरादि परद्रव्य में भी माध्यस्थ्यभाव प्रकट करते हैं -

णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं।
कत्ता ण [1]ण कारयिदा अणुमत्ता णेव कत्तीणं।। ६८।।

न मैं शरीर हूं, न मन हूं, न वचन हूं, न उनका कारण हूं, न उनका करने वाला हूं न कराने वाला हूं और न करने वालों को अनुमति देने वाला हूं।

परम विवेकी मनुष्य जिस प्रकार शरीर से इतर पदार्थों में परत्व बुद्धि रखते हैं उसी प्रकार स्वशरीर में भी परत्व बुद्धि रखते हैं। स्वशरीर ही नहीं उसके आश्रय से होने वाले काय, वचन और मनोयोग में भी परत्व बुद्धि रखते हैं। यही कारण है कि कुन्दकुन्द स्वामी ने यहां यह भावना प्रकट की है कि मैं कायादि तीनों योगों में से कोई भी नहीं हूं, न मैं इन्हें स्वयं करता हूं, न दूसरों से कराता हूं और न इनके करने वालों को अनुमति ही देता हूं।। ६८।।

आगे इस बात का निश्चय करते हैं कि शरीर, वचन और मन तीनों ही परद्रव्य हैं -

1 हि।

देहो य मणो वाणी पोग्गलदव्वप्पगत्ति णिदि्दट्ठा।
पोग्गलदव्वं पि पुणो पिंडी परमाणुदव्वाणं।। ६९।।

शरीर, मन और वचन तीनों ही पुद्गल द्रव्यात्मक हैं ऐसे कहे गये हैं और पुद्गल द्रव्य भी परमाणुरूप द्रव्यों का स्कन्धरूप पिण्ड है।। ६९।।

आगे आत्मा के परद्रव्य तथा उसके कर्तृत्व का अभाव सिद्ध करते हैं -

णाहं पोग्गलमइओ ण ते मया पोग्गला कया पिंडं।
तम्हा हि ण देहोऽहं कत्ता वा तस्स देहस्स।। ७०।।

मैं पुद्गल रूप नहीं हू और न मेरे द्वारा वे पुद्गल पिण्ड - शरीर रूप किये गये हैं। इसलिये निश्चय से मैं शरीर नही हूं और न उस शरीर का कर्ता ही हूं।

मैं सहज चैतन्य से उद्भासित अखण्ड चेतन द्रव्य हू और शरीर पुद्गल से निर्वृत्त अचेतन पदार्थ है, एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता नहीं है, सभी द्रव्यों का सहज स्वभाव से शाश्वतिक परिणमन हो रहा है। मैं अपने सहज शुद्ध स्वभाव का ही कर्ता हो सकता हू, जड शरीर का कर्ता तो त्रिकाल में नहीं हो सकता, उसके कर्ता तो पुद्गल परमाणु हैं जिनके कि द्वारा शरीराकार स्कन्ध की रचना हुई है। इस प्रकार के विचारों से श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने अपनी शुद्ध आत्मा को अन्य द्रव्यों से अत्यन्त विभक्त सिद्ध किया है।। ७०।।

आगे "यदि आत्मा पुद्गल परमाणुओं में शरीराकार परिणमन नही करता है तो फिर उनमें शरीररूप पर्याय की उत्पत्ति किस प्रकार होती है ?" इस प्रश्न का उत्तर देते हैं -

अपदेसो परमाणू पदेसमेत्तो य सयमसद्दो जो।
णिद्धो वा लुक्खो वा दुपदेसादित्तमणुहवदि।। ७१।।

जो परमाणु द्वितीयादि प्रदेशों से रहित है, एक प्रदेश मात्र है और स्वय शब्द से रहित है, वह यत स्निग्ध अथवा रूक्ष गुण का धारक होता है अत द्विप्रदेशादिपने का अनुभव करता है।

यद्यपि परमाणु एक प्रदेश रूप है तो भी वह स्निग्ध अथवा रूक्ष गुण के कारण दूसरे परमाणुओं के साथ मिलकर स्कन्ध बन जाता है। ऐसा स्कन्ध दोप्रदेशी से लेकर संख्यात, असख्यात और अनन्तप्रदेशी तक होता है। जीव का शरीर भी ऐसे ही परमाणुओं के संयोग से बना हुआ है। यथार्थ में पुद्गल परमाणुओं का पुज ही शरीर का कर्ता है। यह जीव मोह के उदय से व्यर्थ ही अपने आपको उसका कर्ता धर्ता मानकर रागी द्वेषी होता है।। ७१।।

आगे परमाणु का वह स्निग्ध अथवा रूक्ष गुण किस प्रकार का है यह कहते हैं -

एगुत्तरमेगादी अणुस्स णिद्धत्तणं च लुक्खत्तं।
परिणामादो भणिदं जाव अणंतत्तमणुहवदि।। ७२।।

परमाणु में जो स्निग्धता और रूक्षता रहती है उसमें अगुरुलघु गुण के कारण प्रत्येक समय परिणमन होता रहता है। इस परिणमन के कारण वह स्निग्धता और रूक्षता एक से लेकर एक एक अश की वृद्धि होते-होते अनन्तपने तक का अनुभव करने लगती है ऐसा कहा गया है।

स्निग्धता और रूक्षता पुद्गल के गुण है। प्रत्येक गुण में अनन्त अविभाज्य शक्ति के अश होते हैं जिन्हें गुणांश या अविभागप्रतिच्छेद कहते हैं। अगुरुलघुगुण की सहायता पाकर इन गुणाशों में प्रत्येक समय हानि वृद्धि होती रहती है। इस हानि वृद्धि को आगम में षड्गुणी हानिवृद्धि कहा है। उसके सख्यातभागवृद्धि, असख्यातभागवृद्धि, अनन्तभागवृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि, अनन्तगुणवृद्धि, सख्यातभागहानि, असंख्यातभागहानि,

1 पुग्गल। 2 पुग्गला।

अनन्तभागहानि, संख्यातगुणहानि, असख्यातगुणहानि और अनन्तगुणहानि इस प्रकार नाम है। स्निग्ध और रुक्ष गुण के अंशों में जब वृद्धि होने लगती है तब एक अंश से लेकर बढते-बढते अनन्त अश तक बढ जाते हैं और जब उसमें हानि होने लगती है तब घटते-घटते एक अश तक रह जाते हैं। परमाणुओं में जब स्निग्धता और रुक्षता के अंश घटते-घटते एक अंश तक रह जाते हैं तब वे जघन्यगुण के धारक कहलाने लगते है। ऐसे परमाणुओं का दूसरे परमाणुओं के साथ बन्ध नहीं होता। हां, उन परमाणुओं की स्निग्धता और रुक्षता के अंश में जब पुन वृद्धि हो जावेगी तब फिर वे बन्ध के योग्य हो जावेगें। परमाणुओं का जो परस्पर में बन्ध होता है उसमें उनकी रुक्षता और स्निग्धता ही कारण मानी गई है। परमाणुओं का यह बन्ध अपने से दो अधिक गुण वालों के साथ ही होता है ऐसा नियम है। यह बन्ध स्निग्ध का स्निग्ध के साथ, रुक्ष का रुक्ष के साथ तथा स्निग्ध का रुक्ष के साथ अथवा रुक्ष का स्निग्ध के साथ होता है। दो गुण वाले का चार गुण वाले के साथ अथवा तीन गुण वाले का पाच गुण वाले के साथ बन्ध होता है। इस प्रकार गुणों की समता और विषमता दोनों ही अवस्थाओं मे बन्ध होता है परन्तु गुणों का दो अधिक होना आवश्यक है। जघन्य गुणवाले तथा समानगुण वाले परमाणुओ का परस्पर में बन्ध नही होता।। ७२।।

आगे किस प्रकार के स्निग्ध और रुक्षगुण से परमाणु पिण्ड पर्याय को प्राप्त होते हैं यह दिखलाते हैं -

णिद्धा वा लुक्खा वा अणुपरिणामा समा व विसमा वा।
समदो दुराधिगा जदि बज्झंति आदिपरिहीणा।। ७३।।

अपने शक्त्यशों में परिणमन करने वाले परमाणु यदि स्निग्ध हो अथवा रुक्ष हों दो चार छह आदि अशों की गिनती की अपेक्षा सम हों अथवा तीन पांच सात आदि अंशों की गिनती की अपेक्षा विसम हों अपने अंशों से दो अधिक हों और आदि अंश - जघन्य अश से रहित हों तो परस्पर बन्ध को प्राप्त होते है अन्यथा नहीं।। ७३।।

पूर्वोक्त बात को पुन स्पष्ट करते हैं -

णिद्धत्तणेण दुगुणो चदुगुणणिद्धेण बधमणुहवदि।
लुक्खेण वा तिगुणिदो अणु बज्झदि पचगुणजुत्तो।। ७४।।

स्निग्धता से द्विगुण अर्थात् स्निग्धगुण के दो अंशों को धारण करने वाला परमाणु चतुर्गुण स्निग्ध के साथ अर्थात् स्निग्धता के चार अश धारण करने वाले परमाणु के साथ बन्ध का अनुभव करता है। और रुक्षता से त्रिगुण अर्थात् रुक्षगुण के तीन अंशों को धारण करने वाला परमाणु पाचगुण युक्त रुक्ष अर्थात् रुक्षगुण के पांच अंशों को धारण करने वाले परमाणु के साथ बंधता है- मिलकर स्कन्ध दशा को प्राप्त होता है।

इस कथन से यह नहीं समझ लेना चाहिये कि स्निग्ध का स्निग्ध के ही साथ और रुक्ष का रुक्ष के ही साथ बन्ध होता है। यह तो द्विगुणाधिक का बन्ध होता है इसका उदाहरण मात्र है। वैसे बन्ध स्निग्ध स्निग्ध का, रुक्ष रुक्ष का, स्निग्ध रुक्ष का और रुक्ष स्निग्ध का होता है।। ७४।।[1]

आगे आत्मा द्विप्रदेशादि पुद्गल, स्कन्धों का कर्ता नहीं है यह कहते हैं -

---

1 उक्तंच - णिद्धा णिद्धेण बज्झति लुक्खा लुक्खा य पोग्गला।
णिद्धलुक्खा य बज्झंति रुवारुवीय पोग्गला।।
णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिएण लुक्खस्स लुक्खेण दुराहिएण।
णिद्धस्स लुक्खेण हवेदि बधो जहण्णवज्जे विसमे समे वा।।

दुपदेसादी खंधा सुहुमा वा बादरा ससंठाणा।
पुढविजलतेउवाऊ सगपरिणामेहिं जायंते।। ७५।।[1]

दो प्रदेशों को आदि लेकर संख्यात, असंख्यात तथा अनन्त पर्यन्त प्रदेशों को धारण करने वाले, सूक्ष्म अथवा बादर, विभिन्न आकारों से सहित तथा पृथिवी, जल, अग्नि और वायु रूप स्कन्ध अपने अपने स्निग्ध और रूक्ष गुणों के परिणमन से होते हैं।

तात्पर्य यह है कि पुद्गल स्कन्धों का कर्ता पुद्गल द्रव्य ही है आत्मा नहीं है।। ७५।।

आगे आत्मा पुद्गलस्कन्धों को खींचकर लाने वाला भी नहीं है यह बतलाते हैं -

ओगाढगाढणिचिदो पोग्गलकाएहिं[2] सव्वदो लोगो।
सुहुमेहिं बादरेहिं य अप्पाउग्गेहिं[3] जोग्गेहि।। ७६।।

यह लोक सब जगह सूक्ष्म, स्थूल, अप्रायोग्य - कर्मवर्गणा रूप होने की योग्यता से रहित तथा योग्य - कर्मवर्गणा रूप होने की योग्यता से सहित पुद्गल कायों से ठसाठस भरा हुआ है।

कर्म रूप होने योग्य पुद्गलवर्गणाए लोक के प्रत्येक प्रदेश में विद्यमान हैं अत जब जीव रागद्वेषादि भावों से युक्त होता है तब अपने अपने ही क्षेत्र में विद्यमान कर्मरूप होने योग्य पुदगल वर्गणाओं के साथ सम्बन्ध को प्राप्त हो जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि[4] जीव जहां रहता है वही उसके बन्ध योग्य पुद्गल भी रहते हैं वह अन्य बाह्य स्थान से उन्हें खीच कर नही लाता है।। ७६।।

आगे आत्मा पुद्गलपिण्ड को कर्मरूप नहीं परिणमाता यह कहते हैं -

कम्मत्तणपाओग्गा खंधा जीवस्स परिणइ पप्पा।
गच्छंति कम्मभावं ण दु ते जीवेण परिणमिदा।। ७७।।

कर्मरूप होने के योग्य पुद्गल स्कन्ध, जीव की रागद्वेषादि रूप परिणति को प्राप्त कर स्वय ही कर्म रूप परिणमन को प्राप्त हो जाते हैं। वे जीव के द्वारा नहीं परिणमाये जाते हैं।

कर्म पुद्गलमय हैं इसलिये उनका उपादान पुद्गल स्कन्ध ही है जीव केवल निमित्त है[5]।। ७७।।

आगे शरीराकार परिणत पुद्गलपिण्डों का कर्ता जीव नही है यह कहते हैं -

ते ते कम्मत्तगदा पोग्गलकाया[6] पुणो[7] हि जीवस्स।
संजायंते देहा देहंतरसंकमं पप्पा।। ७८।।

वे वे द्रव्यकर्म रूप परिणत हुए पुद्गल स्कन्ध अन्य पर्याय का सम्बन्ध पाकर फिर भी जीव के शरीर रूप उत्पन्न हो जाते हैं।

जीव के परिणामों का निमित्त पाकर जो पुद्गलकाय कर्मरूप परिणत होते हैं वे अन्य जन्म में शरीराकार हो जाते हैं। यह सब क्रिया पुद्गल स्कन्धों में अपने आप ही होती है अत जीव शरीराकार परिणत पुद्गलपिण्डों का भी कर्ता नहीं है।। ७८।।

---

1 स्निग्धरूक्षत्वाम्या बन्ध , न जघन्यगुणानाम्, गुणसाम्ये सदृशानाम्, द्व्यधिकादिगुणाना तु, अध्याय 5 तत्वार्थसूत्र। 2 पुग्गलकायेहिं। 3 अप्पाओग्गेहिं। 4 ततो ज्ञायते यत्रैव शरीरावगाढक्षेत्रे जीवस्तिष्ठति बन्धयोग्यपुद्गला अपि तत्रैव तिष्ठन्ति न च बहिर्भागाज्जीव आनयति। 5 जीवकृत परिणाम निमित्तमात्र प्रपद्य पुनरन्ये। स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गला कर्मभावेन।। पु सि । 6 पुग्गलकाया। 7 पुणोवि।

अब आत्मा के शरीर का अभाव बतलाते हैं -

ओरालिओ य देहो देहो वेउव्विओ य तेजयिओ।
आहारय कम्मइओ पोग्गल[1]दव्वप्पगा सव्वे।। ७९।।

औदारिकशरीर वैक्रियिक शरीर, तैजसशरीर, आहारकशरीर और कार्मण शरीर ये सब शरीर पुद्गल द्रव्यात्मक हैं। यत शरीर पुद्गल द्रव्यात्मक हैं अत आत्मा के नहीं हैं।। ७९।।

आगे, यदि ऐसा है तो शरीरादि समस्त परद्रव्यों से जुदा करने वाला जीव का असाधारण - उसी एक में पाया जाने वाला लक्षण क्या है ? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हैं -

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्द।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाण।। ८०।।

जो रस रहित हो, रूप रहित हो, गन्ध रहित हो, अव्यक्त हो स्पर्श रहित हो, शब्द रहित हो, इन्द्रियों के द्वारा जिसका ग्रहण नहीं हो सकता है, सब प्रकार के आकारों से रहित हो और चेतना गुण से सहित हो उसे जीव जानो।

पांच प्रकार के रस, पांच प्रकार के रूप, दो प्रकार के गन्ध, आठ प्रकार के स्पर्श, अनेक प्रकार के शब्द और द्विकोण, त्रिकोण आदि विविध प्रकार के संस्थान पुद्गल में ही पाये जाते हैं और मूर्त होने से उसी का इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण - ज्ञान होता है परन्तु जीव उससे भिन्न है उसका एक चेतना ही असाधारण गुण है जो समस्त जीवों में पाया जाता है और जीव को छोडकर किसी अन्य द्रव्य में नहीं पाया जाता। वह जीव अमूर्तिक है अत इन्द्रियों के द्वारा उसका साक्षात्कार नहीं हो सकता है।। ८०।।

आगे अमूर्त आत्मा में जब स्निग्ध और रूक्ष गुण का अभाव है तब उसका पौदगलिक कर्मों के साथ बन्ध कैसे होता है ? यह पूर्वपक्ष रखते हैं -

मुत्तो रूवादिगुणो बज्झदि फासेहिं अण्णमण्णेहि।
तव्विवरीदो अप्पा बंधदि किध पोग्गलं कम्मं।। ८१।।

रूपादि गुणों से सम्पन्न मूर्त - पुद्गल द्रव्य, स्निग्धत्व-रूक्षत्व स्पर्श से परस्पर में बन्ध को प्राप्त होता है यह ठीक है परन्तु उससे विपरीत आत्मा पौद्गलिक कर्म को किस प्रकार बाधता है ?।। ८१।।

आगे अमूर्तिक आत्मा के भी बन्ध होता है ऐसा सिद्धान्त पक्ष रखते हैं -

रूवादिएहिं रहिदो पेच्छदि जाणादि रूवमादीणि।
दव्वाणि गुणे य जधा तध बंधो तेण जाणीहि।। ८२।।

रूपादि गुणों से रहित आत्मा जिस प्रकार रूप आदि से सहित घटपटादि पुद्गल द्रव्यों और उनके गुणों को देखता तथा जानता है उसी प्रकार रूपादि गुणों से युक्त कर्मरूप पुद्गल द्रव्य के साथ इसका बन्ध होता है ऐसा जानो।

जिस प्रकार रूपादि से रहित आत्मा रूपादि पदार्थों को जान सकता है देख सकता है उसी प्रकार रूपादि से रहित आत्मा रूपादि गुणों से युक्त कर्मरूप पुद्गलों को ग्रहण कर सकता है। ऐसा वस्तु का स्वभाव है। अत इसमें कोई बाधा नहीं दिखती। अथवा इसका भाव इस प्रकार समझना चाहिये - जैसे कोई बालक मिट्टी के बैल को अपना समझ कर देखता है, जानता है परन्तु वह मिट्टी का बैल उस बालक से सर्वथा जुदा है। जुदा होने पर भी यदि कोई उस मिट्टी के बैल को तोड देता है तो वह बालक दु खी होता है। इसी प्रकार कोई गोपाल

1 पुग्गल।

सचमुच के बैल को देखता है जानता है परन्तु वह बैल उस गोपाल से सर्वथा जुदा है। जुदा होने पर भी यदि कोई उस बैल को चुरा लेता है या नष्ट कर देता है तो वह गोपाल दु खी होता है। जब कि उक्त दोनों ही प्रकार के बैल बालक तथा गोपाल से जुदे हैं तब वे उनके अभाव में दु खी क्यों होते हैं ? इससे यह बात विचार में आती है कि वे बालक और गोपाल उन बैलों को अपना देखते जानते हैं। इस कारण अपने परिणामों से बँध रहे हैं। उनका ज्ञान बैल के निमित्त से तदाकार परिणत हो रहा है इसलिये परस्वरूप बैलों से सम्बन्ध का व्यवहार आ जाता है। इसी प्रकार इस आत्मा का कर्मरूप पुद्गल के साथ कुछ सम्बन्ध नही है परन्तु अनादिकाल से एक क्षेत्रावगाहकर ठहरे हुए पुद्गलों के निमित्त से जीव में रागद्वेषादि भाव पैदा होते हैं। इन्ही के कारण यह कर्मों का बन्ध करने वाला कहलाता है। "गाय बाध दी गई है" यहा तत्व दृष्टि से जब विचार करते हैं तब बन्धन रस्सी का रस्सी के साथ है न कि रस्सी का गाय के साथ। फिर भी "गाय बाध दी गई" ऐसा व्यवहार होता है। उसका भी कारण यह है कि जब तक रस्सी का रस्सी के साथ सम्बन्ध रहेगा तब तक गाय उस स्थान से अन्यत्र नही जा सकेगी। इसी प्रकार नवीन कर्मों का सम्बन्ध आत्मा के एक क्षेत्रावगाह में स्थित पुरातन कर्मों के साथ ही होता है न कि आत्मा के साथ, फिर भी आत्मा बद्ध कहलाता है। उसका भी कारण यह है कि जब तक पुरातन कर्मों के साथ नवीनकर्मों का सम्बन्ध जारी रहता है तब तक आत्मा स्वतन्त्र नहीं रह सकता। इन दोनों में ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।। ८२।।

आगे भाव बन्ध का स्वरूप कहते हैं -

उवओगमओ जीवो मुज्झदि रज्जेदि वा पदुस्सेदि।
पप्पा विविधे विसए जो हि पुणो तेहिं संबधो।। ८३।।

जो उपयोग स्वभाव वाला जीव विविध प्रकार के - इष्ट-अनिष्ट विषयो को पाकर मोहित होता है - उन्हें अपना मानने लगता है, राग करता है अथवा द्वेष करता है वह उन्ही भावो से बन्ध को प्राप्त होता है।

मोह - पर पदार्थ को अपना मानना, राग - इष्ट वस्तुओं के मिलने पर प्रसन्न होना और द्वेष - प्रतिकूल सामग्री मिलने पर विषाद युक्त होना ये तीनों भाव ही भावबन्ध हैं।। ८३।।

अब भावबन्ध के अनुसार द्रव्य बन्ध का स्वरूप बतलाते है -

भावेण जेण जीवो पेच्छदि जाणादि आगदं विसए।
रज्जदि तेणेव पुणो बज्झदि कम्मत्ति उवएसो।। ८४।।

जीव इन्द्रियों के विषय में आये हुए इष्ट-अनिष्ट पदार्थों को जिस भाव से जानता है देखता है और राग करता है उसी भाव से पौद्गलिक द्रव्य कर्म का बन्ध होता है ऐसा उपदेश है।

मोह कर्म के दो भेद हैं - १ दर्शनमोहनीय और २ चारित्रमोहनीय। दर्शन मोह के उदय से यह जीव आत्मस्वरूप को भूलकर पर पदार्थ में आत्मबुद्धि करने लगता है इसे मोह अथवा मिथ्यादर्शन कहते हैं। चारित्रमोहनीय के उदय से यह जीव इष्ट पदार्थों को पाकर प्रसन्नता का अनुभव करता है और अनिष्ट पदार्थों को पाकर दु खी होता है। जीव की इस परिणति को रागद्वेष अथवा कषाय कहते हैं। द्विविध मोह के उदय से आत्मा में जो विकार होता है वह भावबन्ध कहलाता है। इस भाव बन्ध के होने पर आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाह रूप से कार्मणवर्गणा में कर्मरूप परिणमन हो जाता है इसे द्रव्य बन्ध कहते हैं। इस कथन से यह सिद्ध हुआ कि द्रव्य बन्ध भावबन्ध पूर्वक होता है।। ८४।।

आगे पुद्गलबन्ध, जीवबन्ध और उभय बन्ध का स्वरूप बतलाते हैं -

फासेहिं [1]पोग्गलाणं बंधो जीवस्स रागमादीहिं।
अण्णोण्णं अवगाहो [2]पोग्गलजीवप्पगो भणिदो।। ८५।।

---

1 पुग्गलाणं। 2 पुग्गल।

यथायोग्य स्निग्ध और रुक्ष स्पर्श गुणों के द्वारा पूर्व और नवीन कर्म रूप पुद्गल परमाणुओं का जो बन्ध है वह पुद्गल बन्ध है, रागादि भावों से जीव में जो विकार उत्पन्न होता है वह जीव बन्ध है और पुद्गल तथा जीव का जो परस्पर में अवगाह - प्रदेशानुप्रवेश होता है वह पुद्गल-जीवबन्ध - उभय बन्ध कहा गया है।। ८५।।

आगे द्रव्यबन्ध भावबन्धहेतुक है यह सिद्ध करते हैं -

सपदेसो सो अप्पा तेसु पदेसेसु पोग्गला[1] काया।
पविसंति जहाजोग्गं तिट्ठंति[2] य जंति बज्झंति।। ८६।।

वह आत्मा लोकाकाश के तुल्य असख्यातप्रदेशी होने से सप्रदेश है उन असंख्यात प्रदेशों में कर्मवर्गणा के योग्य पुद्गलपिण्ड काय, वचन और मनोयोग के अनुसार प्रवेश करते हैं, बन्ध को प्राप्त होते हैं स्थिति को प्राप्त होते है और फिर चले जाते हैं - निर्जीर्ण हो जाते हैं।

आगम में द्रव्य कर्म बन्ध की चार अवस्थाए बतलाई है १ प्रदेशबन्ध, २ प्रकृतिबन्ध, ३ स्थितिबन्ध और ४ अनुभागबन्ध। तीव्र, मन्द अथवा मध्यम योगों का आलम्बन पाकर आत्मा के असख्यात प्रदेशों में जो कर्मपिण्ड का प्रवेश होता है उसे प्रदेशबन्ध कहते है, प्रविष्ट कर्मपिण्ड आत्मप्रदेशों के साथ सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं उसे प्रकृति बन्ध कहते है, कषायभाव के अनुसार कर्मपिण्ड उन आत्मप्रदेशों में यथायोग्य समय तक स्थित रहते है उसे स्थितिबन्ध कहते है और आबाधा काल पूर्ण होने पर कर्मपिण्ड अपना फल देते हुए खिरने लगते हैं इसे अनुभागबन्ध कहते है। यह चारों प्रकार का द्रव्य बन्ध भावबन्ध पूर्वक होता है।। ८६।।

आगे द्रव्यबन्ध का हेतु होने से परिणामरूप भावबन्ध ही निश्चय से बन्ध है यह सिद्ध करते है -

रत्तो बंधदि कम्मं मुच्चदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा।
एसो बंधसमासो जीवाणं जाण णिच्छयदो।। ८७।।

रागी जीव कर्मों को बाधता है और रागरहित आत्मा कर्मों से मुक्त होता है। ससारी जीवों का यह बन्ध तत्व का संक्षेप कथन निश्चय से जानो।

निश्चय से बन्ध और मोक्ष का संक्षिप्त कारण राग का सद्भाव तथा राग का अभाव ही है इसलिये रागभाव को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये।। ८७।।

आगे परिणाम ही द्रव्यबन्ध के साधक हैं यह बतलाते हुए परिणामों की विशेषता का वर्णन करते हैं -

परिणामादो बंधो परिणामो रागदोसमोहजुदो।
असुहो मोहपदोसो सुहो व असुहो हवदि रागो।। ८८।।

जीव के परिणाम से द्रव्यबन्ध होता है, वह परिणाम रागद्वेष तथा मोह से सहित होता है, उनमें मोह और द्वेष अशुभ है तथा राग शुभ और अशुभ दोनो प्रकार का है।। ८८।।

आगे द्रव्य रूप पुण्य-पाप बन्ध का कारण होने से शुभाशुभ परिणामों की क्रमश पुण्य-पाप सज्ञा है और शुभाशुभ भाव से रहित शुद्धोपयोग रूप परिणाम मोक्ष का कारण है यह कहते हैं -

सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पावत्ति भणियमण्णेसु।
परिणामो णण्णगदो दुक्खक्खयकारणं समये।। ८९।।

निज शुद्धात्म द्रव्य से अन्य - बहिर्भूत शुभाशुभ पदार्थों में जो शुभ परिणाम है उसे पुण्य और जो

1 पुग्गला। 2 चिट्ठंति।

अशुभ परिणाम है उसे पाप कहा है। तथा अन्य पदार्थों से हटकर निजशुद्धात्म द्रव्य में जो परिणाम है वह आगम में दु खक्षय का कारण बतलाया है। ऐसा परिणाम शुद्ध कहलाता है।। ८९।।

आगे जीव की स्वद्रव्य में प्रवृत्ति और परद्रव्य से निवृत्ति करने के लिये स्वपर का भेद दिखलाते हैं -

भणिदा पुढविप्पमुहा जीवणिकायाध थावरा य तसा।
अण्णा ते जीवादो जीवोवि य तेहिंदो अण्णो।। ९०।।

पृथिवी को आदि लेकर स्थावर और त्रसरूप जो जीवों के छह निकाय कहे गये हैं वे सब जीव से भिन्न हैं और जीव भी उनसे भिन्न है।

यह त्रस और स्थावर का विकल्प शरीरजन्य है। वास्तव में जीव न त्रस है न स्थावर है। वह तो शुद्ध चैतन्य घनानन्दरूप आत्मद्रव्य मात्र है।। ९०।।

आगे स्वपर का भेद ज्ञान होने से जीव की स्वद्रव्य में प्रवृत्ति होती है और स्वपर का भेदज्ञान न होने से परद्रव्य में प्रवृत्ति होती है यह दिखलाते हैं -

जो ण विजाणदि एवं परमप्पाणं सहावमासेज्ज।
कीरदि अज्झवसाणं अहं ममेदत्ति मोहादो।। ९१।।

जो जीव इस प्रकार स्वभाव को प्राप्तकर पर तथा आत्मा को नही जानता है वह मोह से "मैं शरीरादि रूप हू, ये शरीरादि मेरे हैं", ऐसा मिथ्या परिणाम करता है।

जब तक इस जीव को भेदविज्ञान नहीं होता तब तक यह दर्शनमोह के उदय से "मैं शरीरादि रूप हू" ऐसा और चारित्रमोह के उदय से "ये शरीरादि मेरे हैं, मैं इनका स्वामी हू" ऐसे विपरीताभिनिवेश करता रहता है। यह विपरीताभिनिवेश ही संसार भ्रमण का कारण है इसलिये इसे दूर करने के लिये भेदविज्ञान प्राप्त करना चाहिये।। ९१।।

आगे आत्मा का कर्म क्या है ? इसका निरूपण करते हैं -

कुव्व सभावमादा हवदि हि कत्ता सगस्स भावस्स।
पोग्गलदव्वमयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाण।। ९२।।

अपने स्वभाव को करता हुआ आत्मा निश्चय से स्वभाव का ही - स्वकीय चैतन्य परिणाम का ही कर्ता है पुद्गल द्रव्यरूप कर्म तथा शरीरादि समस्त भावों का कर्ता नही है।

निश्चय से कर्तृकर्म का व्यवहार वहीं बनता है जहा व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध होता है। जीव व्यापक है और उसके चैतन्य परिणाम व्याप्य है अत जीव स्वकीय चैतन्य परिणाम का ही कर्ता हो सकता है। ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म और औदारिक शरीरादि नोकर्म पुद्गल द्रव्य हैं। इनका जीव के साथ व्याप्य-व्यापक भाव किसी भी तरह सिद्ध नहीं है अत वह इनका कर्ता त्रिकाल में भी नही हो सकता।। ९२।।

आगे पुद्गल परिणाम आत्मा का कर्म क्यों नही ? यह शंका दूर करते हैं -

गेण्हदि णेव ण मुचदि करेदि ण हि पोग्गलाणि कम्माणि।
जीवो पोग्गलमज्झे वट्टण्णवि सव्वकालेसु।। ९३।।

जीव सदा काल पुद्गल के बीच में रहता हुआ भी पौद्गलिक कर्मों को न ग्रहण करता है, न छोडता है और न करता ही है।

जिस प्रकार अग्नि लोहपिण्ड के बीच में रहकर भी उसे न ग्रहण करती है, न छोडती है और न करती

है उसी प्रकार यह जीव भी पुद्गल के बीच रह कर भी न उसे ग्रहण करता है न छोड़ता है और न करता ही है। संसार के सर्व पदार्थ स्वतन्त्र हैं और अपने उपादान से होने वाले उनके परिणमन भी स्वतन्त्र हैं फिर जीव पुद्गल द्रव्य का कर्ता कैसे हो सकता है ? ।। ६३ ।।

आगे यदि ऐसा है तो आत्मा पुद्गल कर्मों के द्वारा क्यों ग्रहण किया जाता है और क्यों छोड़ा जाता है ? यह बतलाते हैं -

स इदाणिं कत्ता सं सगपरिणामस्स दव्वजादस्स।
आदीयदे कदाई विमुच्चदे कम्मधूलीहिं।। ६४ ।।

वह आत्मा इस समय - ससारी दशा में आत्मद्रव्य से उत्पन्न हुए अपने ही अशुद्ध परिणामों का कर्ता होता हुआ कर्मरूप धूली के द्वारा ग्रहण किया जाता है और किसी काल में छोड़ दिया जाता है।

जब आत्मा अपने आप में उत्पन्न हुए रागादि अशुद्ध भावों को करता है तब कर्म रूप धूली उसे आवृत कर देती है और जब आबाधा पूर्ण हो जाती है तब वही कर्मरूपी धूली उस आत्मा स जुदी हो जाती है - उसे छोड देती है। इन दोनों का ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। यथार्थ में आत्मा न कर्मों को ग्रहण करती है और न कर्म आत्मा को ग्रहण करते हैं। यदि ग्रहण करने लगें तो दोनों का एक अस्तित्व हो जावे परन्तु ऐसा त्रिकाल में भी नहीं हो सकता क्योंकि सत् का कभी नाश नहीं होता और असत् की उत्पत्ति नही होती।। ६४ ।।

आगे पुद्गल कर्मों में ज्ञानावरणादि रूप विचित्रता किसकी की हुई है यह निरूपण करते हैं -

परिणमदि जदा अप्पा सुहम्मि रागदोसजुदो।
तं पविसदि कम्मरयं णाणावरणादिभावेहिं।। ६५ ।।[1]

जिस समय यह आत्मा रागद्वेष से सहित होता हुआ शुभ अथवा अशुभ भावों म परिणमन करता है उसी समय कर्मरूपी धूली ज्ञानावरणादि आठ रूप कर्म होकर आत्मा में प्रवेश करती है।

जिस प्रकार वर्षा ऋतु में जब नूतन मेघ का जल भूमि के साथ सयोग करता है तब वहा के अन्य पुद्गल अपने आप विविध रूप होकर हरीघास, शिलीन्ध्र तथा इन्द्रगोप कीटक आदि रूप परिणमन करने लगते हैं इसी प्रकार जब रागी-द्वेषी आत्मा शुभ-अशुभ भावों में परिणमन करता है तब उसका निमित्त पाकर कर्मरूपी धूली में ज्ञानावरणादि रूप विचित्रता स्वय उत्पन्न हो जाती है। तात्पर्य यह हुआ कि पुद्गलात्मक कर्मों म जो विचित्रता देखी जाती है उसका कर्ता पुद्गल ही है जीव नही।। ६५ ।।

आगे अभेदनय से बन्ध के कारणभूत रागादिरूप परिणमन करने वाला आत्मा ही बन्ध कहलाता है यह कहते हैं -

सपदेसो सो अप्पा कसायदो मोहरागदोसेहिं।
कम्मरजेहिं सिलिट्ठो बंधोत्ति परूविदो समये।। ६६ ।।

जो लोकाकाश के बराबर असख्यात प्रदेशो से सहित है तथा माह राग एव द्वेष स काषायित - कषैला होता हुआ कर्मरूपी धूली से श्लिष्ट हो रहा है - सबद्ध हो रहा है वह आत्मा ही बन्ध है एसा आगम में कहा गया है।

जिस प्रकार अनेक प्रदेशों वाला वस्त्र, लोध, फिटकरी आदि पदार्थों के द्वारा कषैला होकर जब लाल-पीले आदि रगों में रंगा जाता है तब वह स्वय लाल-पीला आदि हो जाता है। उस समय "यह वस्त्र लाल

1 ६५ वी गाथा के बाद ज वृ में निम्न गाथा अधिक व्याख्यात है -
सुयपयडीण विसोही तिव्वो असुहाण सकिलेसम्मि।
विवरीदो दु जहण्णो अणुभागो सव्वपयडीण।।

या पीले रंग से रंगा हुआ है" ऐसा न कहकर "लाल वस्त्र" "पीला वस्त्र" यही व्यवहार होने लगता है। उसी प्रकार जब यह आत्मा भाव कर्म से कषायित होकर कर्मरज से आश्लिष्ट होता है - भावबन्ध पूर्वक द्रव्यबन्ध को प्राप्त होता है तब "यह आत्मा का बन्ध है" ऐसा न कहकर अभेदनय मे "यह बन्ध है" ऐसा कहा जाने लगता है। इस दृष्टि से आत्मा ही बन्ध है ऐसा कथन सिद्ध हो जाता है।। ९६।।

आगे निश्चयबन्ध और व्यवहारबन्ध का स्वरूप दिखलाते हैं -

एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्चएण णिद्दिट्ठो।
अरहंतेहिं जदीणं ववहारो अण्णहा भणिदो।। ९७।।

जीवों के जो रागादि भाव है वे ही निश्चय से बन्ध है इस प्रकार बन्ध तत्व की संक्षिप्त व्याख्या अर्हन्त भगवान् ने मुनियों के लिये बतलाई है। व्यवहार बन्ध इससे विपरीत कहा है अर्थात् आत्मा के साथ कर्मों का जो एक क्षेत्रावगाह होता है वह व्यवहार बन्ध है।। ९७।।

आगे अशुद्ध नय से अशुद्ध आत्मा की ही प्राप्ति होती है ऐसा उपदेश करते है -

ण जहदि जो दु ममत्तिं अहं ममेदत्ति देहदविणेसु।
सो सामण्णं चत्ता पडिवण्णो होइ उम्मग्ग।। ९८।।

जो पुरुष शरीर तथा धनादिक में "मै इन रूप हू" और "ये मेरे हैं' इस प्रकार की ममत्व बुद्धि को नही छोडता है वह शुद्धात्मपरिणति रूप मुनिमार्ग को छोड कर अशुद्ध परिणति रूप उन्मार्ग को प्राप्त होता है।

शरीर तथा धनादिक को अपना बतलाना अशुद्ध नय का काम है इसलिये जो अशुद्ध नय से शरीरादि में अहता और ममता को नहीं छोडता है वह मुनि पद से भ्रष्ट होकर मिथ्यामार्ग को प्राप्त होता है अत अशुद्ध नय का आलम्बन छोडकर सदा शुद्ध नय का ही आलम्बन ग्रहण करना चाहिये।। ९८।।

आगे शुद्ध नय से शुद्धात्मा का लाभ होता है ऐसा निश्चय करते है -

णाहं होमि परेसिं ण मे परे संति णाणमहमेक्को।
इदि जो झायदि झाणे सो अप्पाण हवदि झादा।। ९९।।

"मै शरीरादि पर द्रव्यों का नहीं हू और ये शरीरादि पर पदार्थ भी मेरे नही हैं। मैं तो एक ज्ञान रूप हू" इस प्रकार जो ध्यान में अपने शुद्ध आत्मा का चिन्तन करता है वही ध्याता है - वास्तविक ध्यान करने वाला है।

शुद्धनय शुद्धात्मा को शरीर-धनादि बाह्य पदार्थों से भिन्न बतलाता है। इसलिये उसका आलम्बन लेकर जो अपने आप को बाह्य पदार्थों से असपृक्त शुद्ध - टकोत्कीर्ण ज्ञान स्वभाव अनुभव करता है वह शुद्धात्मा को प्राप्त होता है और वही सच्चा ध्याता कहलाता है।। ९९।।

आगे नित्य होने से शुद्ध आत्मा ही ग्रहण करने योग्य है ऐसा उपदेश देते है -

एवं णाणप्पाणं दंसणभूदं अदिंदियमहत्थं।
धुवमचलमणालंबं मण्णेऽहं अप्पगं सुद्ध।। १००।।

मै आत्मा को ऐसा मानता हूं कि वह ज्ञानात्मक है, दर्शनरूप है, अतीन्द्रिय है, सबसे महान् श्रेष्ठ है, नित्य है, अचल है, पर पदार्थों के आलम्बन से रहित है और शुद्ध है।। १००।।

आगे विनाशी होने के कारण आत्मा के सिवाय अन्य पदार्थ प्राप्त करने योग्य नहीं हैं ऐसा उपदेश देते हैं -

देहा वा दविणा वा सुहदुक्खा वाध सत्तुमित्तजणा।
जीवस्स ण संति धुवा धुवोवओगप्पगा अप्पा।। १०१।।

शरीर अथवा धन, अथवा सुख-दु ख, अथवा शत्रु-मित्रजन, ये सभी जीव के अविनाशी नहीं हैं। केवल ज्ञान-दर्शन स्वरूप शुद्ध आत्मा ही अविनाशी है।

शरीर-धन तथा शत्रु-मित्रजन तो स्पष्ट ही जुदे है और इन्हें नष्ट होते हुए प्रत्यक्ष देखते भी हैं परन्तु इच्छा की पूर्ति से होने वाला सुख और इच्छा के सद्भाव मे उत्पन्न होने वाला दु ख भी आत्मा से जुदा है अर्थात् आत्मा का स्वस्वभाव नहीं है। तथा संयोगजन्य है अत क्षणभंगुर है। जो सुख इच्छा के अभाव मे उत्पन्न होता है उसमें किसी बाह्य पदार्थ के आलम्बन की अपेक्षा नहीं रहती अत वह नित्य है तथा स्वस्वभाव रूप है। परन्तु ऐसा सुख वीतराग-सर्वज्ञ दशा के प्रकट हुए विना प्राप्त नही हो सकता है।। १०१।।

आगे शुद्धात्मा की उपलब्धि से क्या होता है ? यह कहते हैं -

जो एवं जाणित्ता झादि परं अप्पगं विसुद्धप्पा।
सागाराणागारो खवेदि सो मोहदुग्गठि।। १०२।।

जो गृहस्थ अथवा मुनि ऐसा जान कर परमात्मा - उत्कृष्ट आत्मस्वरूप का ध्यान करता है वह विशुद्धात्मा होता हुआ मोह की दुष्ट गाठ को क्षीण करता है - खोलता है।

शुद्धात्मा की उपलब्धि का फल अनादिकालीन मोह की दुष्ट गाठ को खोलना है ऐसा जानकर उसकी प्राप्ति के लिये सतत् प्रयत्नशील रहना चाहिये।। १०२।।

आगे मोह की गांठ के खुलने से क्या होता है ? यह कहते हे -

जो णिहदमोहगंठी रागपदोसे खवीय सामण्णे।
होज्जं समसुहदुक्खो सो सोक्खं अक्खय लहदि।। १०३।।

जो पुरुष मोह की गांठ को खोलता हुआ मुनि अवस्था में रागद्वेष को नष्टकर सुख-दु ख मे समान दृष्टि वाला होता है वह अविनाशी मोक्ष सुख को प्राप्त करता है।

मोक्ष का अविनाशी सुख उसी जीव को प्राप्त हो सकता है जा सर्वप्रथम दर्शनमोह की गाठ को खोलकर सम्यग्दृष्टि बनता है फिर मुनि अवस्था में राग और द्वेष को क्षीण करता हुआ सुख-दु ख मे मध्यस्थ रहता है - अनुकूल-प्रतिकूल सामग्री के मिलने पर हर्ष-विषाद का अनुभव नहीं करता है।। १०३।।

आगे, एकाग्ररूप से चिन्तन करना ही जिसका लक्षण है ऐसा ध्यान आत्मा की अशुद्ध दशा को नहीं रहने देता है ऐसा निश्चय करते हैं -

जो खविदमोहकलुसो विसयविरत्तो मणो णिरुंभित्ता।
समवट्ठिदो सहावे सो अप्पाण हवदि धादा[1]।। १०४।।

जिसने मोहजन्य कलुषता को दूर कर दिया है, जो पंचेन्द्रियों के विषयों से विरक्त है, और मन को रोककर जो स्वस्वभाव में सम्यक्प्रकार से स्थित है वही पुरुष आत्मा का ध्यान करने वाला है।

जब तक इस पुरुष का हृदय मिथ्यादर्शन के द्वारा कलंकित हो रहा है। विषय-कषाय में इसकी आसक्ति बढ रही है, पवनवेग से ताडित ध्वजा के अंचल के समान जब तक इसका चित्त चचल रहता है और विविध इच्छाओं के कारण जब तक इसका ज्ञानोपयोग आत्मस्वभाव में स्थिर न रहकर इधर-उधर भटकता रहता

1 झादा।

है तब तक यह पुरुष शुद्ध आत्म स्वरूप का ध्यान नहीं कर सकता यह निश्चित है।। १०४।।

आगे जिन्हें शुद्धात्मतत्व की प्राप्ति हो गई ऐसे सर्वज्ञ भगवान् किसका ध्यान करते हैं ऐसा प्रश्न प्रकट करते हैं -

णिहदघणघादिकम्मो पच्चक्खं सव्वभावतच्चण्हू।
णेयंतगदो समणो झादि[1] किमट्ठं असंदेहो।। १०५।।

जिन्होंने अत्यन्त दृढ घातिया कर्मों को नष्ट कर दिया है, जो प्रत्यक्ष रूप से समस्त पदार्थों को जानने वाले है, जो जानने योग्य पदार्थों के अन्त को प्राप्त हैं तथा सन्देह रहित है ऐसे महामुनि केवली भगवान् किसलिये अथवा किस पदार्थ का ध्यान करते है ?।। १०५।।

आगे केवली भगवान् इसका ध्यान करते हैं यह बतलाते हुए पूर्वोक्त प्रश्न का समाधान प्रकट करते हैं -

सव्वाबाधविजुत्तो समंतसव्वक्खसोक्खणाणड्ढो।
भूदो अक्खातीदो झादि अणक्खो परं सोक्खं।। १०६।।

जो सब प्रकार की पीडाओं से रहित है, सर्वांग परिपूर्ण आत्मजन्य अनन्तसुख तथा अनन्तज्ञान से युक्त है और स्वयं इन्द्रियरहित होकर इन्द्रियातीत है - इन्द्रिय ज्ञान के अविषय है ऐसे केवली भगवान् अनाकुलता रूप उत्कृष्ट सुख का ध्यान करते हैं।

सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती और व्युपरतक्रियानिवर्ति नामक दो शुक्लध्यान केवली भगवान् के क्रमश तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में होते है ऐसा आगम में लिखा है। ध्यान का लक्षण एकाग्रचिन्तानिरोध है - किसी एक पदार्थ में मनोव्यापार को स्थिर करना ध्यान कहलाता है। जब कि केवली भगवान् त्रिलोक और त्रिकाल सम्बन्धी समस्त पदार्थों को एक साथ जान रहे हैं तब उनके किसी एक पदार्थ में एकाग्रचिन्तानिरोध रूप ध्यान किस प्रकार सभव हो सकता है ? यह प्रश्न स्वाभाविक है। इसका उत्तर श्री कुन्दकुन्द भगवान् ने इस प्रकार दिया है कि सर्वज्ञदेव जो परम सुख का अनुभव करते है वही उनका ध्यान है। यहां ऐसा नही समझना चाहिये कि उन्हें परम सुख प्राप्त नहीं है इसलिये उसका ध्यान करते हैं। परम सुख तो उन्हें घातिचतुष्क का क्षय होते ही प्राप्त हो जाता है इसलिये उसकी प्राप्ति के लिये ध्यान करते हैं यह बात नहीं है। किन्तु स्थिरीभूत ज्ञान से उसका अनुभव करते है ऐसा भाव ग्रहण करना चाहिए। वास्तव में स्थिरीभूत ज्ञान को ही ध्यान कहते है। ज्ञान में अस्थिरता के कारण कषाय और योग होते है। इनमें से कषाय तो दशमगुणस्थान तक ही रहती है उसके आगे योगजन्य अस्थिरता रहती है जो तेरहवें गुणस्थान के अन्त में नष्ट होने लगती है और चौदहवें गुणस्थान में बिलकुल ही नष्ट हो जाती है अत अस्थिरता के नष्ट हो जाने से उनका ज्ञान स्थिरीभूत हो जाता है। यही उनका ध्यान है।। १०६।।

आगे यह शुद्धात्मा की प्राप्ति ही मोक्षमार्ग है ऐसा निश्चय करते हैं -

एवं जिणा जिणिंदा सिद्धा मग्गं समुट्ठिदा समणा।
जादा णमोत्थु तेसिं तस्स य णिव्वाणमग्गस्स।। १०७।।

यत सामान्य केवली, तीर्थंकर केवली तथा अन्य सामान्य मुनि इसी शुद्धात्मोपलब्धि रूप मार्ग का अवलम्बन कर सिद्ध हुए है अत उन्हें और उस मोक्षमार्ग को मेरा नमस्कार होवे।। १०७।।

आगे श्री कुन्दकुन्दस्वामी स्वयं इसी मोक्षमार्ग की परिणति को स्वीकृत करते हुए अपनी भावना प्रकट करते हैं -

---

1 कमट्ठं।

तम्हा[1]तध जाणित्ता अप्पाणं जाणगं [2]सभावेण।
परिवज्जामि ममत्तिं उवट्ठिदो णिम्मत्तम्मि।। १०८।।[3]

इसलिये मै भी उन्ही सामान्य केवली तथा तीर्थकर केवली आदि के समान स्वभाव से ज्ञायक आत्मा को जानकर ममता को छोडता हू और ममता के अभाव रूप वीतराग भाव मे अवस्थित होता हू।। १०८।।

इति भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यकृते प्रवचनसारपरमागमे ज्ञेयतत्वप्रज्ञापनो नाम द्वितीय श्रुतस्कन्ध समाप्त ।

*

चारित्राधिकार

आगे श्री कुन्दकुन्दस्वामी दु:खों से छुटकारा चाहने वाले पुरुषों को मुनिपद ग्रहण करने की प्रेरणा करते हैं -

एवं पणमिय सिद्धे [4]जिणवरवसहे पुणो पुणो समणे।
पडिवज्जदु सामण्ण जदि इच्छदि दुक्खपरिमोक्ख।। १।।

हे भव्यजीवो ! यदि आप लोग दु खों से छुटकारा चाहते है तो इस प्रकार सिद्धो को जिनवरो में श्रेष्ठ तीर्थंकर-अर्हन्तों को और आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु रूप मुनियो को बार-बार प्रणाम कर मुनि पद को प्राप्त करें।। १।।

मुनि होने का इच्छुक पुरुष पहले क्या क्या करे यह उपदेश देते हैं -

आपिच्छ बंधुवग्ग विमोइदो गुरु-कलत्त-पुत्तेहि।
आसिज्ज णाण-दंसण-चरित्त-तव-वीरियायार।। २।।
समणं गणिं गुणड्ढं कुलरूववयोविसिट्ठमिट्ठदर।
समणेहि तं पि पणदो पडिच्छ म चेदि अणुगहिदो।। ३।।

जो मुनि होना चाहता है वह सर्व प्रथम अपने बन्धुवर्ग से पूछकर गुरु, स्त्री तथा पुत्रो से छुटकारा प्राप्त करे। फिर ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य इन पाच आचारों को प्राप्त होकर ऐसे आचार्य के पास पहुचे जो कि अनेक गुणों से सहित हों, कुल, रूप तथा अवस्था से विशिष्ट हों और अन्य मुनि जिसे अत्यन्त चाहते हो। उनके पास पहुंचकर उन्हें प्रणाम करता हुआ यह कहे कि हे प्रभो ! मुझे अगीकार कीजिये। अनन्तर उनके द्वारा अनुगृहीत होकर निम्नांकित भावना प्रकट करे।। २-३।।

णाहं होमि परेसिं ण मे परे णत्थि मज्झमिह किंचि।
इदि णिच्छिदो जिदिंदो जादो जधजादरूवधरो।। ४।।

"मैं दूसरों का नहीं हूं, दूसरे मेरे नही हैं और न इस लोक में मेरा कुछ है" इस प्रकार निश्चित कर जितेन्द्रिय होता हुआ सद्योजात बालक के समान दिगम्बर रूप को धारण करे।। ४।।

---

1 तह। 2 सहावेण। 3 १०८ वीं गाथा के बाद ज वृ. में निम्नलिखित गाथा की व्याख्या अधिक की गई है -
दंसणसंसुद्धाण सम्मण्णाणोवजोगजुत्ताण।
अव्वाबाधरदाण णमो णमो सिद्धसाहूणं।।
4 सासादनादिक्षीणकषायान्ता एकदेशजिना उच्यन्ते शेषाश्चानागारकेवलिनो जिनवरा भण्यन्ते। तीर्थकरपरमदेवाश्च जिनवरवृषभा इति तान् जिनवरवृषभान्।

आगे सिद्धि के कारणभूत बाह्यलिंग और अन्तरंगलिंग इन दो लिंगों का वर्णन करते हैं -

[1]जधजाद-रूव-जादं [2]उप्पाडिद-केस-मसुगं सुद्धं।
रहिदं हिंसादीदो अप्पडिकम्मं हवदि लिंग।। ५।।
[3]मुच्छा-रंभ-विजुत्तं जुत्तं [4]उवजोग-जोग-सुद्धीहिं।
लिंगं ण परावेक्खं अपुणब्भवकारणं जोण्ह।। ६।। जुगल।

जो सद्योजात बालक के समान निर्विकार निरग्रन्थ रूप के धारण करने से उत्पन्न होता है जिसमें शिर तथा दाडी-मूंछ के बाल उखाड दिये जाते है, जो शुद्ध है - निर्विकार है, हिंसादि पापों से रहित है और शरीर की संभाल तथा सजावट से रहित है वह बाह्य लिंग है। तथा जो मूर्च्छा - परपदार्थों में ममता परिणाम और आरम्भ से रहित है, उपयोग और योग की शुद्धि से सहित है, पर की अपेक्षा से दूर है एव मोक्ष का कारण है श्री जिनेन्द्र देव के द्वारा कहा हुआ वह अन्तरगलिंग - भावलिंग है।

जैनागम में बहिरंग लिंग और अन्तरंग लिंग - दोनों ही लिंग परस्पर सापेक्ष रहकर ही कार्य के साधक बतलाये हैं। अन्तरग लिंग के बिना बहिरग केवल नट के समान वेष मात्र है उससे आत्मा का कुछ भी कल्याण साध्य नहीं है और बहिरग लिंग के बिना अन्तरंग लिंग का होना सभव नही है। क्योंकि जब तक बाह्य परिग्रह का त्याग होकर यथार्थ निरग्रन्थ अवस्था प्रकट नही हो जाती तब तक मूर्च्छा या आरम्भ रूप आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग नही हो सकता और जब तक हिंसादि पापों का अभाव तथा शरीरासक्ति का भाव दूर नही हो जाता तब तक उपयोग और योग की शुद्धि नही हो सकती। इस प्रकार उक्त दोनों लिंग ही अपुनर्भव - फिर से जन्म धारण नही करना अर्थात मोक्ष के कारण हैं।। ५-६।।

आगे श्रमण कौन होता है ? यह कहते हैं -

आदाय तं पि लिंगं गुरुणा परमेण तं णमंसित्ता।
सोच्चा सवदं किरियं उवट्ठिदो होदि सो समणो।। ७।।

जो परमभट्टारक अर्हन्त परमेश्वर अथवा दीक्षा गुरु से पूर्वोक्त दानो लिंगों को ग्रहण कर उन्हें नमस्कार करता है और व्रत सहित आचार विधि को सुनकर शुद्ध आत्मस्वरूप मे उपस्थित रहता है - अपने उपयोग को अन्य पदार्थों से हटाकर शुद्धात्मस्वरूप के चिन्तन में लीन रखता है वह श्रमण होता है।। ७।।

आगे यद्यपि श्रमण अखण्डित सामायिक चारित्र को प्राप्त होता है तो भी कदाचित छेदोपस्थापक हो जाता है यह कहते हैं -

वदसमिदिंदियरोधो [5]लोचावस्सयमचेलमण्हाणं।
खिदिसयणम[6]दंतवणं ठिदिभोयणमेयभत्तं च।। ८।।
एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता।
तेसु पमत्तो समणो छेदोवट्ठावगो होदि।। ९।। जुम्म।

पांच[7] महाव्रत, पांच[8] समितियां, पाच[9] इन्द्रियों का निरोध करना, केशलोंच करना, छह आवश्यक, वस्त्र का त्याग, स्नान का त्याग, पृथिवी पर सोना, दन्तधावन नहीं करना, खडे-खडे आहार करना और एक बार भोजन

1 जधजादरूपजादं। 2 उप्पादिय। 3 मुच्छारंभविमुक्कं। 4 उवओग। 5 लोचावस्सय। 6 मदंतवणं। 7 अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। 8 ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और प्रतिष्ठापन। 9 स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और कर्ण इनका निरोध करना। 10 समता, वन्दना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, कायोत्सर्ग।

करना - ये मुनियों के मूलगुण निश्चयपूर्वक श्री जिनेन्द्र देव के द्वारा कहे गये हैं। जो मुनि इनमें प्रमाद करता है वह छेदोपस्थापक होता है।

ये अट्ठाईस मूलगुण निर्विकल्प सामायिक चारित्र के भेद हैं इन्ही से मुनि पद की सिद्धि होती है। इनमें प्रमाद होने से निर्विकल्पक सामायिक चारित्र का भंग हो जाता है इसलिये इनमें सदा सावधान रहना चाहिये। मुनि के अनुभव में जब यह बात आवे कि मेरे संयम के अमुक भेद में भंग हुआ है तब वह उसी भेद में आत्मा को फिर से स्थापित करे। ऐसी दशा में वह मुनि छेदोपस्थापक कहलाता है।। ८-९।।

आगे आचार्यों के प्रव्रज्यादायक और छेदोपस्थापक के भेद से दो भेद हैं ऐसा कहते हैं -

लिंगग्गहणं तेसिं गुरुत्ति पव्वज्जदायगो होदि।
छेदेसुवट्ठवग्गा सेसा णिज्जावया समणा।। १०।।

उन मुनियों को पूर्वोक्त लिंग ग्रहण कराने वाले गुरु प्रव्रज्यादायक दीक्षा देने वाले गुरु होते हैं और एकदेश तथा सर्वदेश के भेद से दो प्रकार का छेद होने पर जो पुन उसी सयम में फिर से स्थापित करते हैं वे अन्य मुनि निर्यापक गुरु कहलाते है।

विशाल मुनिसंघ में दीक्षा गुरु और निर्यापक गुरु इस प्रकार पृथक-पृथक दो गुरु होते हैं। दीक्षागुरु नवीन शिष्यों को दीक्षा देते हैं और निर्यापकगुरु संयम का भंग होने पर सघस्थ मुनियों को प्रायश्चित्तादि के द्वारा पुन संयम में स्थापित करते हैं। अल्पमुनि संघ में एक ही आचार्य दोनों काम कर सकते हैं।। १०।।

आगे संयम का भंग होने पर उसके पुन जोडने की विधि कहते है -

पयदम्हि समारद्धे छेदो समणस्स कायचेट्ठम्मि।
जायदि जदि तस्स पुणो आलोयणपुव्विया किरिया।। ११।।
[1]छेदुपजुत्तो समणो समणं ववहारिण जिणमदम्मि।
आसेज्जालोचित्ता उवदिट्ठ तेण कायव्व।। १२।।

यत्नपूर्वक प्रारम्भ हुई शरीर की चेष्टा में यदि साधु के भग होता है तो उसका आलोचना पूर्वक फिर से वही क्रिया करना प्रायश्चित्त है और जो साधु अन्तरंग संयमभग रूप उपयोग से सहित है वह जिनमत में व्यवहार क्रिया में चतुर किसी अन्य मुनि के पास जाकर आलोचना करे तथा उनके द्वारा बतलाये हुए प्रायश्चित्त का आचरण करे।

बहिरंग और अन्तरंग के भेद से सयम का भग दो प्रकार का है - जहा प्रमाद रहित ठीक-ठीक प्रवृत्ति करते हुए भी कदाचित् शारीरिक क्रियाओं में भंग हो जाता है उसे बहिरंग सयम का भग कहते हैं। इसका प्रायश्चित्त यही है कि उस भग की आलोचना करे तथा पुन वैसी प्रवृति न करे पूर्ववत् ठीक-ठीक आचरण करे। जहां उपयोग रूप सयम का भंग होता है उसे अन्तरंग सयम का भग कहते हैं। जिस मुनि के यह अन्तरग संयम का भंग हुआ हो वह जिनप्रणीत आचारमार्ग में निपुण किसी निर्यापकाचार्य के पास जाकर छलरहित अपने दोषों की आलोचना करे और वे निर्यापकाचार्य जो प्रायश्चित्त दें उसका शुद्ध हृदय से आचरण करे। ऐसा करने से ही छूटा हुआ संयम पुन प्राप्त हो सकता है।। ११-१२।।

आगे मुनि पद के भग का कारण होने से परपदार्थों के साथ सम्बन्ध छोडना चाहिये ऐसा कहते हैं

अधिवासे य विवासे छेदविहूणो भवीय सामण्णे।
समणो विहरदु णिच्चं परिहरमाणो णिबधाणि।। १३।।

मुनि, मुनिपद में अन्तरंग और बहिरंग भग से रहित होकर निरन्तर पर पदार्थों में रागद्वेष पूर्ण सम्बन्धों को छोडता हुआ गुरूओं के समीप में अथवा किसी अन्य स्थान में विहार करे।

नवदीक्षित साधु अपने गुरुजनों से अधिष्ठित गुरुकुल में निवास करे अथवा अन्य किसी स्थान पर। परन्तु वह सदा मुनिपद के भंग के कारणों को बचाता रहे और बाह्य पदार्थों में रागद्वेष रूप सम्बन्ध को छोडता रहे अन्यथा उसका चारित्र मलिन होने की संभावना रहती है।। १३।।

आगे आत्मद्रव्य में सम्बन्ध होने से ही मुनि पद की पूर्णता होती है ऐसा उपदेश करते हैं -

चरदि णिबद्धो णिच्चं समणो णाणम्मि दंसणमुहम्मि।
पयदो मूलगुणेसु य जो सो पडिपुण्णसामण्णो।। १४।।

जो मुनि, ज्ञान में तथा दर्शन आदि गुणों में लीन रहकर निरन्तर प्रवृत्ति करता है और पूर्वोक्त मूलगुणों में निरन्तर प्रयत्नशील रहता है उसी का मुनिपना पूर्णता को प्राप्त होता है।

सच्चा श्रमण - साधु मुनि वही है जो बाह्य पदार्थों से हटकर शुद्ध ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग रूप स्व-स्वभाव में निरन्तर लीन रहता है। तथा अट्ठाईस मूलगुणों का निरतिचार पालन करता है।। १४।।

आगे मुनिपद के भंग का कारण होने से मुनि को प्रासुक आहार आदि में भी ममत्व नहीं करना चाहिये यह कहते हैं -

भत्ते वा खवणे वा आवसधे[1] वा पुणो विहारे वा।
[2]उवधिम्मि वा णिबद्धं णेच्छदि समणम्मि [3]विकधम्मि।। १५।।

उत्तममुनि, भोजन में, उपवास में, गुहा आदि निवास स्थान में, विहार कार्य में, शरीर रूप परिग्रह में, साथ रहने वाले अन्य मुनियों में अथवा विकथा में ममत्वपूर्वक सम्बन्ध की इच्छा नहीं करता है।। १५।।

आगे प्रमाद पूर्ण प्रवृत्ति ही मुनिपद का भंग है ऐसा कहते हैं -

अपयत्ता वा चरिया सयणासणठाणचकमादीसु।
समणस्स [4]सव्वकालं हिंसा सा [5]संततत्ति मदा।। १६।।

सोना, बैठना, खडा होना तथा विहार करना आदि क्रियाओं में साधु की जो प्रयत्नरहित - स्वच्छन्द प्रवृत्ति है वह निरन्तर अखण्ड प्रवाह से चलने वाली हिंसा है ऐसा माना गया है।

प्रमादपूर्ण प्रवृत्ति से हिंसा होती है और हिंसा से मुनिपद का भग होता है अत मुनि को चाहिये कि वह सदा प्रमाद रहित प्रवृत्ति करे।। १६।।

आगे छेद अर्थात् मुनिपद का भग अन्तरंग और बहिरग के भेद से दो प्रकार का होता है ऐसा कहते हैं -

मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदीसु।। १७।।

दूसरा जीव मरे अथवा न मरे परन्तु अयत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करने वाले के हिंसा निश्चित है अर्थात् वह नियम से हिंसा करने वाला है तथा जो पाचों समितियों में प्रयत्नशील रहता है अर्थात् यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करता है उसके बाह्य हिंसामात्र से बन्ध नहीं होता है।

आत्मा में प्रमाद की उत्पत्ति होना भावहिंसा है और शरीर के द्वारा किसी प्राणी का विघात होना

---

1 आवसहे। 2 उवधिम्हि। 3 विकहम्हि। 4 सव्वकाले। 5 सततत्तियत्ति।

द्रव्यहिंसा है। भावहिंसा से मुनिपद का अन्तरग भग होता है और द्रव्य हिंसा से बहिरग भग होता है। बाह्य में जीव चाहे मरे, चाहे न मरे परन्तु जो मुनि अयत्नाचार पूर्वक गमनागमनादि करता है उसके प्रमाद के कारण भाव हिंसा होने से मुनिपद का अन्तरंग भग निश्चित रूप से होता है और जो मुनि प्रमादरहित प्रवृत्ति करता है उसके बाह्य में जीवों का विघात होने पर भी प्रमाद के अभाव में भावहिंसा न होने से हिंसाजन्य पापबन्ध नही होता है। भावहिंसा के साथ होने वाली द्रव्यहिंसा ही पापबन्ध का कारण है। केवल द्रव्यहिंसा से पापबन्ध नही होता परन्तु भावहिंसा द्रव्यहिंसा की अपेक्षा नहीं रखती। वह हो अथवा न भी हो परन्तु भावहिंसा के होने पर नियम से पापबन्ध होता है। इसलिये निरन्तर प्रमाद रहित ही प्रवृत्ति करना चाहिये।। १७।।[1]

आगे भावहिंसा रूप अन्तरंग भग (छेद) का सर्वप्रकार से त्याग करना चाहिये ऐसा कहते हैं -

अयदाचारो समणो छस्सुवि कायेसु बधगोत्ति[2] मदो[3]।

चरदि जद जदि णिच्च कमल व जले णिरुवलेवो।। १८।।

अयत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करने वाला साधु छहों कायो के विषय म बन्ध करने वाला है ऐसा माना गया है और वही साधु यदि निरन्तर यत्नाचारपूर्वक प्रवृति करता है तो जल मे कमल की तरह कर्मबन्ध रूप लेप से रहित होता है।। १८।।

आगे अन्तरग छेद का कारण होने से परिग्रह का सर्वथा त्याग करना चाहिय ऐसा कहत है -

हवदि व ण हवदि बंधो मदे हि जीवेऽध कायचेट्ठम्मि[4]।

बंधो धुवमुवधीदो इदि समणा छंडिया सव्व।। १९।।

गमनागमन रूप शरीर की चेष्टा में जीव के मरने पर कर्म का बन्ध होता भी है और नही भी होता है। परन्तु परिग्रह से कर्म बन्ध निश्चित होता है इसलिये मुनि सब प्रकार के परिग्रह का त्याग करते हैं।

यदि अन्तरग में प्रमाद परिणति है तो बाह्य में जीववध कर्म बन्ध का कारण होता है अन्यथा नही। इसलिये कहा है कि शरीर की चेष्टा में जो त्रस-स्थावर जीवों का विघात होता है उससे कर्म बन्ध होता भी है और नहीं भी होता है परन्तु परिग्रह अन्तरग के मूर्च्छा परिणाम के बिना नही होता अत उसके रहते हुए कर्मबन्ध जारी ही रहता है। यह विचार कर मुनि सब प्रकार के परिग्रह का त्याग कर चुकते हैं। यहा तक कि वस्त्र तथा भोजन पात्र वगैरह कुछ भी अपने पास नहीं रखते हैं।। १९।।

अब, यहा कोई यह आशका करे कि बाह्यपरिग्रह का सर्वथा त्याग कर देने पर भी यदि अन्तरग में उसकी लालसा बनी रहती है तो उस त्याग से क्या लाभ है ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए कहते हैं कि मुनि का जो बाह्य परिग्रह त्याग है वह अन्तरंग लालसा से रहित ही होता है -

ण हि णिरवेक्खो चाओ ण हवदि भिक्खुस्स आसयविसुद्धी[5]।

अविसुद्धस्स य चित्ते कहं[6] णु कम्मक्खओ विहिओ।। २०।।

मुनि का त्याग यदि निरपेक्ष नही है - अन्तरग की लालसा से रहित नही है तो उसके आशय-उपयोग की विशुद्धि नहीं हो सकती और जिसके आशय में विशुद्धता नहीं है उसके कर्मों का क्षय कैसे हो सकता है ? अर्थात् नही हो सकता।

---

1 १७ वीं गाथा के बाद ज.वृ में निम्न दो गाथाओं की व्याख्या अधिक की गई है -
उच्चालियम्हि पाए इरियासमिदस्स णिग्गमत्थाए।
आबाधेज्ज कुलिंग मरिज्ज त जोगमासेज्ज।।
ण हि तस्स तण्णिमित्तो बधो सुहुमो य देसिदो समये।
मुच्छापरिग्गहोच्चिय अज्झप्पपमाणदो दिट्ठो।। जुम्म। 2 बधकरोत्ति। 3 मदम्हि। 4 कायचेट्ठम्हि। 5 आसयविसोहो। 6 कह तु।

जिस प्रकार जब तक धान का छिलका दूर नहीं हो जाता तब तक उसके भीतर रहने वाले चावल की लालिमा दूर नहीं की जा सकती इसी प्रकार जब तक परिग्रह का त्याग नही हो जाता तब तक अन्तरंग में निर्मलता नहीं आ सकती और जब तक अन्तरंग में निर्मलता नहीं आ जाती तब तक कर्मों का क्षय किस प्रकार हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता। अभिप्राय यह है कि कर्मक्षय के लिये अन्तरंग की विशुद्धि आवश्यक है और अन्तरग की विशुद्धि के लिये बाह्य परिग्रह का त्याग आवश्यक है। जहां बाहय परिग्रह के त्याग का उपदेश है वहा अन्तरग की लालसा का त्याग भी स्वत सिद्ध है क्योंकि उसके विना केवल बाहय त्याग से आत्मा का कल्याण नही हो सकता यह निश्चित है।। २०।।[1]

आगे अन्तरग संयम का घात परिग्रह से ही होता है ऐसा कहते है -

[2]किध [3]तम्मि णत्थि मुच्छा आरंभो वा असजमो तस्स।
[4]तध परदव्वम्मि रदो [5]कधमप्पाणं [6]पसाधयदि।। २१।।

उस परिग्रह की आकांक्षा रखने वाले पुरुष में मूर्च्छा - ममतापरिणाम आरम्भ तथा सयम का विघात किस प्रकार नही हो ? अर्थात् सब प्रकार से हो। तथा जो साधु परद्रव्य मे रत रहता है वह आत्मा का प्रसाधन कैसे कर सकता है - आत्मा को उज्ज्वल कैसे बना सकता है।

यदि कोई ऐसा कहे कि हम बाहय परिग्रह रखते हुए भी उसमें मूर्च्छा परिणाम नही करते हैं इसलिये हमारी उससे कोई हानि नहीं होती है। इसके उत्तर में श्री कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि जिसके पास परिग्रह है उसकी उस परिग्रह में मूर्च्छा न हो, तज्जन्य आरम्भ न हो और उन दोनो के निमित्त से उसके सयम में कोई बाधा न हो यह संभव नही है। जहां परिग्रह होगा वहां मूर्च्छा आरम्भ और असयम नियम से होता है। इसके सिवाय जो शुद्ध आत्मद्रव्य को छोडकर परद्रव्य में रत रहता है वह अपनी आत्मा का प्रसाधन नही कर पाता क्योंकि उसके लिये उपयोग का तन्मयैकभाव आवश्यक है और वह तब तक सभव नही होता जब तक परिग्रह मे आसक्ति बनी रहती है। इसलिये अन्तरग सयम का घातक समझकर साधु को परिग्रह दूर से ही छोड देना चाहिये।। २१।।

आगे परमोपेक्षा रूप सयम धारण करने की शक्ति न होने पर आहार तथा सयम, शौच और ज्ञान के उपकरण मुनि ग्रहण कर सकते हैं ऐसा कहते हैं -

छेदो जेण ण विज्जदि गहणविसग्गेसु सेवमाणस्स।
समणो तेणिह वट्टदु कालं खेत्तं वियाणत्ता।। २२।।

ग्रहण करते तथा छोडते समय धारण करने वाले मुनि के जिस परिग्रह से सयम का घात न हो, मुनि काल तथा क्षेत्र का विचार कर उस परिग्रह से इस लोक में प्रवृत्ति कर सकता है।

यद्यपि जहा समस्त परिग्रह का त्याग होता है ऐसा परमोपेक्षा रूप सयम ही आत्मा का धर्म है। यही उत्सर्ग मार्ग है परन्तु अब क्षेत्र और काल के दोष से मनुष्य हीन शक्ति के धारक होने लगे हैं अत परमोपेक्षा रूप

---

1 20 वीं गाथा के बाद ज वृ में निम्न गाथाए अधिक पायी जाती है -
गेण्हदि व चेलखंड भायणमत्थित्ति भणिदमिह सुत्ते।
जदि सो चत्तालंबो हवदि कह वा अणारंभो।। 1।।
वत्थक्खंड दुद्दियभायणमण्ण च गेण्हदि णियद।
विज्जदि पाणारंभो विक्खेवो तस्स चित्तम्मि।। 2।।
गेण्हइ विधुणइ धोवइ सोसेइ जद तु आदवे खित्ता।
पत्थ च चेलखंड बिभेदि परदो य पालयदि।। 3।। विसेसय। 2 किह। 3 तम्हि। 4 तह। 5 कह। 6 पसाहयदि।

संयम के धारक मुनि अत्यल्प रह गये है। हीन शक्ति के धारक मुनियों को शरीर की रक्षा के लिये आहार ग्रहण करना पडता है, विहारादि के समय शारीरिक शुद्धि के लिये कमण्डलु रखना पडता है, उठते-बैठते समय जीवों का विघात बचाने के लिये मयूरपिच्छ रखना पडती है तथा उपयोग की स्थिरता और ज्ञान की वृद्धि के लिये शास्त्र रखना होता है। यद्यपि ये परिग्रह हैं और परमोपेक्षा रूप संयम के धारक मुनि के इनका अभाव होता है परन्तु अल्पशक्ति के धारक मुनियों का इनके बिना निर्वाह नही हो सकता इसलिये कुन्दकुन्द स्वामी ने अपवाद मार्ग के रूप में इनके ग्रहण करने की आज्ञा प्रदान की है। इनके ग्रहण करते समय मुनि को इस बात का विचार अवश्य ही करना चाहिये कि हमारे द्वारा स्वीकृत उपकरणों में कोई उपकरण सयम का विघात करने वाला तो नहीं है। यदि हो तो उसका परित्याग करना चाहिये। यहां कितने ही लोग, काल का अर्थ शीतादि ऋतु और क्षेत्र का अर्थ शीतप्रधान आदि देश लेकर ऐसा व्याख्यान करने लगते हैं कि मुनि शीतप्रधान देशों में शीतऋतु के समय कम्बलादि ग्रहण कर सकते हैं ऐसी कुन्दकुन्द स्वामी की आज्ञा है। सो यह उनकी मिथ्या कल्पना है। कुन्दकुन्द स्वामी तो अणुमात्र परिग्रह के धारक मुनि को निगोद का पात्र बतलाते हैं। वे कम्बल धारण करने की आज्ञा किस प्रकार दे सकते हैं। इसी गाथा में वे स्पष्ट लिख रहे हैं कि जिनके ग्रहण करने तथा छोडने मे वीतराग भाव रूप सयम पद का भंग न हो ऐसे परिग्रह से मुनि अपनी प्रवृत्ति - निर्वाह मात्र कर सकता है उसे अपना समझकर ग्रहण नही कर सकता। कम्बलादि के ग्रहण और त्याग दोनों में ही रागद्वेष की उत्पत्ति होने से वीतराग भाव रूप संयम का घात होता है यह प्रत्येक मनुष्य अपने अनुभव से समझ सकता है अत वह कदापि ग्राह्य नही है।।२२।।

आगे अपवादमार्गी मुनि के द्वारा ग्रहण करने योग्य परिग्रह का स्पष्ट वर्णन करते हैं -

[1]अप्पडिकुट्ठं उवधिं अपत्थणिज्जं [2]असजदजणेहिं।

मुच्छादिजणणर[3]हिदं गेण्हदु समणो [4]जदि वियप्प।।२३।।

अपवादमार्गी उस परिग्रह को ग्रहण करे जो कि कर्मबन्ध का साधक न होने से अप्रतिकृष्ट हो - अनिन्दित हो, असंयमी मनुष्य जिसे पाने की इच्छा न करते हों, ममता आदि की उत्पत्ति से रहित हो और थोडा हो।

अपवादमार्गी मुनि को कमण्डलु, पीछी और शास्त्र ग्रहण करने की आज्ञा है सो मुनि ऐसे कमण्डलु आदि को ग्रहण करे जिसके निर्माण में हिंसा आदि पाप न होते हों, जिसे दखकर अन्य मनुष्यों का मन न लुभा जावे, जो रागदि भावों को बढाने वाले न हों और परिमाण में एकाधिक न हो। जैसे मुनि यदि कमण्डलु ग्रहण करें तो मिट्टी या लकडी का अथवा तूंबा आदि का ग्रहण करें। तांबा, पीतल या चर्म आदि का ग्रहण न करें तथा एक से अधिक न रक्खें। क्योंकि चर्म का बना कमण्डलु हिंसाजन्य और हिंसा का जनक होने से प्रतिकृष्ट है - निन्दित है। तांबा, पीतल आदि का कमण्डलु अन्य असंयमी मनुष्यों के द्वारा चुराया जा सकता है। और एक से अधिक होने पर उसके संरक्षणादि जन्य आकुलता उत्पन्न होने लगती है। इसी प्रकार पीछी भी ऐसी हो जो सजावट से रहित हो। मयूरपिच्छ से बनी हुई। शास्त्र भी एक दो से अधिक साथ में न रक्खें। कितने ही साधुओं के साथ अनेकों शास्त्रों से भरी पेटिया चलती है यह जिनाज्ञा के विरुद्ध होने से ठीक नही है।।२३।।

आगे उत्सर्ग मार्ग ही वस्तु धर्म है अपवाद मार्ग नहीं ऐसा उपदश देते हैं -

किं किंचण त्ति तक्कं अपुणब्भवकामिणोध [5]देहेवि।

[6]संगत्ति जिणवरिंदा [7]अप्पडिकम्मत्तिमुद्दिट्ठा।।२४।।[8]

जब मोक्ष के अभिलाषी मुनि के, शरीर में भी यह परिग्रह है, ऐसा जानकर श्री जिनेन्द्र देव ने

1 अप्पदिकुट्ठ। 2 असजदजणस्स। 3 रहिय। 4 जदिवि अप्प। 5 देहोवि। 6 सगोत्ति। 7 अप्पडिकम्मत्त।

8 २४ वीं गाथा के आगे ज वृ में स्त्रीमुक्ति का निराकरण करने वाली ११ गाथाओं की व्याख्या अधिक की गई है। वे गाथाए इस प्रकार

अप्रतिकर्मत्व अर्थात् ममत्वभाव सहित शरीर की क्रिया के त्याग का उपदेश दिया है तब उस मुनि के क्या अन्य कुछ भी परिग्रह है ऐसा विचार होता है।

जब श्री जिनेन्द्रदेव ने शरीर को भी परिग्रह बतलाकर उसमें ममतामयी क्रियाओं के त्याग का उपदेश दिया है तब अन्य परिग्रह मुनि कैसे रख सकते हैं ?।। २४।।

आगे यथार्थ में उपकरण कौन हैं ? वह बतलाते हैं -

उवयरणं जिणमग्गे लिंगं जहजादरूवमिदि भणिदं।
गुरुवयणं पि य विणओ सुत्तज्झयणं च पण्णत्त।। २५।।

जिनमार्ग में यथाजात रूप - निर्ग्रन्थमुद्रा, गुरुओं के वचन, उनका विनय और शास्त्रों का अध्ययन ये उपकरण कहे गये हैं।

जिनके द्वारा परम वीतरागरूप शुद्ध आत्मदशा की प्राप्ति में सहयाग प्राप्त हो उन्हें उपकरण कहते हैं। ऐसे उपकरण जिनशासन में निम्नलिखित ४ माने गये हैं। १ सद्योजात बालक के समान निर्विकार दिगम्बर मुद्रा, २ पूज्य गुरुओं के वचनानुसार प्रवृत्ति करना, ३ गुण तथा गुणाधिक मुनियों की विनय करना और ४ शास्त्र अध्ययन करना। यथार्थ में आत्मा की शुद्ध दशा की प्राप्ति में इन्हीं कारणों से साक्षात सहयाग प्राप्त होता है इसलिये ये ही वास्तविक उपकरण हैं। परन्तु ये चारों ही सहजानन्दस्वरूप शुद्धात्मद्रव्य से बहिर्भूत शरीर रूप पुद्गल द्रव्य के आश्रित हैं अत परिग्रह हैं और त्याज्य हैं।। २५।।

पहले कह आये हैं कि मुनि के शरीर मात्र परिग्रह होता है। अब आगे उसके पालन की विधि का उपदेश करते हैं -

---

पेच्छदि ण हि इह लोग पर च समणिंददेसिदो धम्मो।
धम्मम्हि तम्हि कम्हा वियप्पिय लिंगमित्थीण।। १।।
णिच्छयदो इत्थीण सिद्धी ण हि तेण जम्मणा दिट्ठा।
तम्हा तप्पडिरूव वियप्पिय लिंगमित्थीण।। २।।
पइडीपमादमइया एतासिं वित्ति भासिया पमदा।
तम्हा ताओ पमदा पमादबहुलोत्ति णिद्दिट्ठा।। ३।।
सति धुव पमदाण मोहपदोसा भय दुगच्छा य।
चित्ते चित्ता माया तम्हा तासिं ण णिव्वाण।। ४।।
ण विणा वट्टदि णारी एक्क वा तेसु जीवलोयम्हि।
ण हि सउण च गत्त तम्हा तासिं च सवरण।। ५।।
चित्तस्सावो तासिं सित्थिल्ल अत्तव च पक्खलणं।
विज्जदि सहसा तासु अ उप्पादो सुहुममणुआण।। ६।।
लिंगम्हि य इत्थीण थणतरे णाहिकक्खपदेसेसु।
भणिदो सुहुमुप्पादो तासिं कह सजमो होदि।। ७।।
जदि दसणेण सुद्धा सुत्तज्झयणेण चावि सजुत्ता।
घोर चरदि व चरिय इत्थिस्स ण णिज्जरा भणिदा।। ८।।
तम्हा त पडिरूव लिंग तासिं जिणेहिं णिद्दिट्ठं।
कुलरूववओजुत्ता समणीओ तस्समाचारा।। ९।।
वण्णेसु तीसु एक्को कल्लाणंगो तवोसहो वयसा।
सुमुहो कुंछारहिदो लिंगग्गहणे हवदि जोग्गो।। १०।।
जो रयणत्तयणासो सो भंगो जिणवरेहिं णिद्दिट्ठो।
सेसं भंगेण पुणो ण होदि सल्लेहणा अरिहो।। ११।।

इह लोगणिरावेक्खो[1]अप्पडिबद्धो परम्मि लोयम्मि।
जुत्ताहारविहारो रहिदकसाओ हवे समणो।। २६।।

इस लोक से निरपेक्ष और पर लोक की आकाक्षा से रहित साधु कषाय रहित होता हुआ योग्य आहार-विहार करने वाला हो।

मुनि इस लोक सम्बन्धी मनुष्य पर्याय से निरपेक्ष रहता है और परलोक में प्राप्त होने वाले देवादि पर्याय सम्बन्धी सुखों की आकांक्षा नहीं करता है इसलिये इष्टानिष्ट सामग्री के सयोग से होने वाले कषायभाव पर विजय प्राप्त करता हुआ योग्य आहार ग्रहण करता है तथा ईर्यासमिति पूर्वक आवश्यक विहार भी करता है।। २६।।[2]

आगे योग्य आहारविहार करने वाला साधु आहार विहार से रहित होता है ऐसा उपदेश देते हैं -

जस्स अणेसणमप्पा त पि तओ तप्पडिच्छगा समणा।
अण्णं भिक्खमणेसणमध[4] ते समणा अणाहारा।। २७।।

मुनि की आत्मा परद्रव्य का ग्रहण न करने से निराहार स्वभाव वाली है, वही उनका अन्तरग तप है मुनि निरन्तर उसी अन्तरंग तप की इच्छा करते हैं और एषणा के दोषों से रहित जो भिक्षा वृत्ति करते हैं उसे सदा अन्य अर्थात् भिन्न समझते हैं इसलिये वे आहार ग्रहण करते हुए भी निराहार हैं ऐसा समझना चाहिये।

इसी प्रकार विहार रहित स्वभाव होने के कारण विहार करते हुए भी विहार रहित होते हैं ऐसा जानना चाहिये।। २७।।

आगे मुनि के युक्ताहारपन कैसे सिद्ध होता है यह कहते हैं -

केवलदेहो समणो देहे[5] ण ममेत्ति रहितपरकम्मो।
आउत्तो तं तवसा [6]अणिगूह अप्पणो सत्ति।। २८।।

श्रमण, केवल शरीर रूप परिग्रह से युक्त होता है, शरीर में भी "यह मेरा नही है" ऐसा विचार कर सजावट से रहित होता है, और अपनी शक्ति को न छुपा कर उसे तप से युक्त करता है अर्थात तप में लगाता है।

मुनि, शरीर को सदा स्वशुद्धात्म द्रव्य से बहिर्भूत मानते हैं इसलिय कभी उसका सस्कार नही करत है, और अपनी शक्ति अनुसार उसे तप में लगाते हैं इसलिये उनके युकताहारपना अनायास सिद्ध है।। २८।।

आगे युक्ताहार का स्वरूप विस्तार से कहते हैं -

एक्कं खलु तं भत्तं अप्पडिपुण्णोदर [7]जधालद्धं।
चरणं भिक्खेण दिवा ण रसावेक्ख ण [8]मधुमस।। २९।।

मुनि का वह भोजन निश्चय से एक ही बार होता है, अपूर्ण उदर (खाली पेट) होता है सरस-नीरस जैसा मिल जाता है वैसा ही ग्रहण किया जाता है, भिक्षावृत्ति से प्राप्त होता है दिन में ही लिया जाता है, रस की अपेक्षा से रहित होता है और मधुमास रूप नहीं होता है।। २९।।[9]

---

1 अप्पडिबधो। 2 २६ वीं गाथा के बाद ज वृ में निम्नलिखित गाथा अधिक व्याख्यात है -
कोहादिएहि चउविहि विकहाहि तहिंदियाणमत्थेहिं।
समणो हवदि पमत्तो उवजुत्तो णेह णिद्दाहिं।। 1।। 3 तवो। 4 एषणादोषशून्यम्, अन्नस्याहारस्यैषण वाञ्छान्नेषणम्। 5 देहेवि ममत्त। 6 अणिगूहिय। 7 जहालद्धं। 8 मुदमस्स।

9 २९ वीं गाथा के बाद ज वृ में निम्नांकित ३ गाथाएं अधिक व्याख्यात हैं -
पक्केसु अ आमेसु अ विपच्चमाणासु मंसपेसीसु।

आगे उत्सर्गमार्ग और अपवादमार्ग की मित्रता से ही चारित्र की स्थिरता रह सकती है ऐसा कहते हैं -

बालो वा वुड्ढो वा समभिहदो वा पुणो गिलाणो वा।
चरियं चरउ सजोग्गं मूलच्छेदं जधा ण हवदि।। ३०।।

जो मुनि बालक है अथवा वृद्ध है अथवा तपस्या या मार्ग के श्रम से खिन्न है, अथवा रोगादि से पीडित है वह अपने योग्य उस प्रकार चर्या का आचरण कर सकता है जिस प्रकार की मूल सयम का घात न हो।

"संयम का साधन शुद्धात्मतत्व ही है शरीर नहीं है" ऐसा विचार कर शरीर रक्षा की ओर दृष्टि न डाल, बालक, वृद्ध, श्रान्त अथवा ग्लान मुनि को भी स्वस्थ तरुणतपस्वी के समान ही कठोर आचरण करना चाहिये यह उत्सर्गमार्ग है और "शरीर भी संयम का साधन है। क्योंकि मनुष्य शरीर क नष्ट होने पर देवादि के शरीर से सयम धारण नहीं किया जा सकता है" ऐसा विचार कर शरीर रक्षा की ओर दृष्टि डाल बालक, वृद्ध, श्रान्त अथवा ग्लान मुनि मूलसंयम का घात न करते हुए कोमल आचरण कर सकते हैं यह अपवादमार्ग है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी यहा प्रकट कर रहे है कि उक्त दोनों ही मार्ग परस्पर में सापेक्ष हैं। आचरण में शिथिलता न आ जावे इसलिये उत्सर्गमार्ग को धारण करना चाहिये और असमय में शरीर नष्ट न हो जाय इसलिये मूल संयम की विराधना न करते हुए अपवादमार्ग भी धारण करना चाहिये। क्योंकि किसी एक मार्ग के आलम्बन मे सयम की सिद्धि नही हो सकती है।। ३०।।

आगे उत्सर्गमार्ग और अपवादमार्ग के विरोध से चारित्र में स्थिरता नही आ सकती है यह कहते हैं -

आहारे व विहारे देसं काल सम खम उवधि।
जाणित्ता ते समणो वट्टदि जदि अप्पलेवी सो।। ३१।।

मुनि देश, काल, श्रम, सहनशक्ति और शरीररूप परिग्रह को अच्छी तरह जानकर आहार तथा विहार में प्रवृत्ति करता है। यद्यपि ऐसा करने से उसके अल्प कर्मबन्ध होता है तो भी वह आहारादि में उक्त प्रकार से प्रवृत्ति करता है।

आहारादि के ग्रहण में अल्प कर्मबन्ध होता है, इस भय से जो अत्यन्त कठोर आचरण के द्वारा शरीर को नष्ट कर देते है वे देवपर्याय में पहुंचकर असयमी हो जाते है और सयम के अभाव में उनके अधिक कर्मबन्ध होने लगता है। इस प्रकार अपवादमार्ग का विरोध कर केवल उत्सर्गमार्ग के अपनाने से चारित्र गुण का घात होता है। इसी प्रकार कोई शिथिलाचारी मुनि आहार-विहार में प्रवृत्ति करते हुए शुद्धात्मभावना की उपेक्षा कर देते हैं तो उनके ऐसा करने से अधिक कर्म बन्ध होने लगता है इस प्रकार उत्सर्गमार्ग का विरोधकर केवल अपवादमार्ग के अपनाने से चारित्र गुण का घात होता है अत उसकी स्थिरता रखने वाले मुनियो को उक्त दोनों मार्गों में निर्विरोध प्रवृत्ति करना चाहिये ऐसी शास्त्राज्ञा है।। ३१।।

आगे एकाग्रता रूप मोक्षमार्ग का कथन करते हैं। उस एकाग्रता का मूल साधन आगम है अत उसी में चेष्टा करना चाहिए यह बतलाते हैं -

---

सत्तत्तियमुववादो तज्जादीण णिगोदाण।। १।।
जो पक्कमपक्क वा पेसी मंसस्स खादि पासदि वा।
सो किल णिहणदि पिंड जीवाणमणेगकोडीण।। २।।
अप्पडिकुट्ठं पिंड पाणिगय णेव देयमण्णस्स।
दत्ताभोत्तुमजोग्ग भुत्तो वा होदि पडिकुट्ठो।। ३।। (अप्पडिकुट्ठाहार) इत्यपि पाठ ।

एयग्गगदो समणो एयग्गं णिच्छिदस्स अत्थेसु।
णिच्छित्ती आगमदो आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा।। ३२।।

श्रमण वही है जो एकाग्रता को प्राप्त है, एकाग्रता उसी के होती है जो जीवाजीवादि पदार्थों के विषय में निश्चित है अर्थात् संशय-विर्ययादि रहित सम्यग्ज्ञान का धारक है और पदार्थों का निश्चय आगम से होता है इसलिये आगम के विषय में चेष्टा करना - आगम का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उद्योग करना श्रेष्ठ है।। ३२।।

आगे आगम से हीन मुनि कर्मों का क्षय नही कर सकता यह कहते है -

आगमहीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि।
अविजाणंतो अत्थे खवेदि कम्माणि किध भिक्खू।। ३३।।

आगम से हीन मुनि न आत्मा को जानता है और न आत्मा से भिन्न शरीरादि पर पदार्थों को। स्व पर पदार्थों को नहीं जानने वाला भिक्षु कर्मों का क्षय कैसे कर सकता है ?।। ३३।।

आगे मोक्षमार्ग में गमन करने वाले साधु के आगम ही चक्षु है यह बतलाते हैं -

आगमचक्खू साहू इंदियचक्खूणि सव्वभूदाणि।
[1]देवा य ओहिचक्खू सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू।। ३४।।

मुनि आगम रूपी नेत्रों के धारक है, ससार के समस्त प्राणी इन्द्रिय रूपी चक्षुओ से सहित हैं, देव अवधिज्ञान रूपी नेत्रों से युक्त है और अष्टकर्म रहित सिद्ध भगवान् सब ओर से चक्षु वाले है अर्थात केवलज्ञान के द्वारा समस्त पदार्थों को युगपत् जानने वाले हैं।। ३४।।

आगे आगम रूपी चक्षु के द्वारा ही सब पदार्थ जाने जाते है ऐसा कहत है -

सव्वे आगमसिद्धा अत्था गुणपज्जएहिं चित्तेहिं।
जाणंति [2]आगमेण हि पेच्छि[3]त्ता ते वि ते समणा।। ३५।।

विविध गुण पर्यायों से सहित जीवाजीवादि समस्त पदार्थ आगम से सिद्ध हैं। निश्चय से उन पदार्थों को वे महामुनि आगम के द्वारा ही जानते हैं।। ३५।।

आगे जिसे आगम ज्ञान नही है वह मुनि ही नही है ऐसा कहते है -

आगमपुव्वा दिट्ठी ण [4]भवदि जस्सेह सजमो तस्स।
णत्थित्ति भणइ सुत्तं असंजदो [5]हवदि[6] किध समणो।। ३६।।

इस लोक में जिसके आगमज्ञान पूर्वक सम्यग्दर्शन नही होता है उसके सयम नही होता है ऐसा सिद्धान्त कहते हैं। फिर जिसके संयम नहीं है वह मुनि कैसे हो सकता है ?।

जिस पुरुष के प्रथम ही आगम को जानकर पदार्थों का श्रद्धान न हुआ हो उस पुरुष के सयम भाव भी नहीं होता यह निश्चय है और जिसके सयम नही है वह मुनि कैसे हो सकता है ? अर्थात् नही हो सकता है। मुनि बनने के लिए आगमज्ञान, सम्यग्दर्शन और तीनों संयम की प्राप्ति आवश्यक है।। ३६।।

आगे जब तक आगम ज्ञान, तत्वार्थश्रद्धान और सयम इन तीनों की एकता नही होती तब तक मोक्षमार्ग प्रकट नही होता ऐसा कहते हैं -

ण हि आगमेण सिज्झदि सद्दहणं जदि ण अत्थि अत्थेसु।
सद्दहमाणो अत्थे असंजदो वा ण णिव्वादि।। ३७।।

---

1 देवादि। 2 आगमेण य। 3 पेच्छित्ता। 4 हवदि। 5 होदि। 6 किह।

यदि जीवाजीवादि पदार्थों में श्रद्धान नहीं है तो मात्र आगम के जान लेने से ही जीव सिद्ध नही होता है। अथवा पदार्थों का श्रद्धान करता हुआ भी यदि असंयत हो तो भी निर्वाण प्राप्त नही कर सकता है।

सिद्ध होने के लिये आगमज्ञान पदार्थश्रद्धान और संयम तीनों का यौगपद्य - एक साथ प्राप्त होना ही समर्थ कारण है।। ३७।।

आगे आत्मज्ञानी जीव की महत्ता प्रकट करते हैं -

जं अण्णाणी कम्मं खवेइ भवसयसहस्सकोडीहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेइ उस्सासमेत्तेण।। ३८।।

अज्ञानी जीव, जिस कर्म को लाखों-करोडों पर्यायों द्वारा क्षपित करता है तीन गुप्तियों से गुप्त आत्मज्ञानी जीव उस कर्म को उच्छ्वासमात्र में क्षपित कर देता है। ज्ञान की और खासकर आत्मज्ञान की बडी महिमा है।। ३८।।

आगे आत्मज्ञान शून्य पुरुष के आगमज्ञान, तत्वार्थश्रद्धान और संयमभाव की एकता भी कार्यकारी नही है यह कहते हैं -

परमाणुपमाणं वा मुच्छा देहादियेसु जस्स पुणो।
विज्जदि जदि सो सिद्धिं ण लहदि सव्वागमधरोवि।। ३९।।

जिसके शरीरादि पर पदार्थों में परमाणु प्रमाण भी ममताभाव विद्यमान है वह समस्त आगम का धारक होकर भी सिद्धि को प्राप्त नहीं होता है।

जो शुद्धात्मद्रव्य से अतिरिक्त शरीरादि पर पदार्थों में थोडी भी मूर्च्छा रखता है उन्हें अपना मानता है वह समस्त आगम का जानने वाला होकर भी आत्मज्ञान से शून्य है और जो आत्मज्ञान से शून्य है वह मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता है यह निश्चय है।। ३९।।[1]

आगे कैसा मुनि संयत कहलाता है यह बतलाते हैं -

पंचसमिदो तिगुत्तो पंचेंदियसंवुडो[2] [3]जिदकसाओ।
दंसणणाणसमग्गो समणो सो संजदो भणिदो।। ४०।।

जो ईर्यादि पांच समितियों से सहित है, कायगुप्ति, वचनगुप्ति और मनोगुप्ति इन तीन गुप्तियों से युक्त है, स्पर्शनादि पांच इन्द्रियों को रोकने वाला है, क्रोधादि कषायों को जीतने वाला है और सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान से पूर्ण है - सम्पन्न है ऐसा साधु ही संयत कहा गया है।। ४०।।

आगे श्रमण अर्थात् साधु का लक्षण कहते हैं -

समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पससणिंदसमो।
समलोट्ठकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो।। ४१।।

जिसे शत्रु और मित्रों का समूह एक समान हो, सुख और दु ख एक समान हो, प्रशंसा और निन्दा एक समान हो, पत्थर के ढेले और सुवर्ण एक समान हो तथा जो जीवन और मरण में समभाव वाला हो वह श्रमण अर्थात् साधु है।। ४१।।

---

1 ३९ वीं गाथा के आगे ज. वृ में निम्नांकित गाथा अधिक उपलब्ध है -
चागो य अणारंभो विसयविरागो खओ कसायाण।
सो संजमोत्ति भणिदो पव्वज्जाए विसेसेण।। १।। 2 संउडो। 3 जिय।

आगे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में एक साथ प्रवृत्ति करने वाला मुनि ही एकाग्रता को प्राप्त होता है यह कहते हैं -

दंसणणाणचरित्तेसु तीसु जुगवं समुट्ठिदो जो दु।
एयग्गगदोत्ति मदो सामण्णं तस्स परिपुण्ण[1]।। ४२।।

जो साधु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनो मे एक साथ उद्यत रहता है वह एकाग्रगत है तथा उसी का मुनिपद पूर्णता को प्राप्त होता है ऐसा माना गया है।। ४२।।

आगे एकाग्रता का अभाव मोक्षमार्ग नही है यह प्रकट करते है -

मुज्झदि वा रज्जदि वा दुस्सदि वा दव्वमण्णमासेज्ज।
जदि समणो अण्णाणी बज्झदि कम्मेहि विविहेहि।। ४३।।

यदि साधु अन्य द्रव्य को पाकर मोह करता है अथवा राग करता है अथवा द्वेष करता है तो वह अज्ञानी है तथा विविध कर्मों से बद्ध होता है।

शुद्धात्मद्रव्य को छोडकर पर पदार्थों में आत्मबुद्धि करना तथा इष्टानिष्ट वस्तुओ में रागद्वेष करना मोहोदय के कार्य है। जब तक इस जीव के मोह का उदय रहता है तब तक वह अज्ञानी रहता है और अनेक प्रकार का कर्मबन्ध उसके जारी रहता है।। ४३।।

आगे एकाग्रता ही मोक्ष का मार्ग है यह बतलाते हैं -

[2]अत्थेसु जो ण मुज्झदि ण हि रज्जदि णेव दोसमु[3]पयादि।
समणो जदि सो णियदं खवेदि कम्माणि[4]विविधाणि।। ४४।।

जो मुनि बाह्य पदार्थों में न मोह करता है, न राग करता है और न द्वेष करता है वह निश्चित ही अनेक कर्मों का क्षय करता है।। ४४।।

समणा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता य होंति समयम्मि।
तेसु वि सुद्धुवजुत्ता अणासवा सासवा सेसा।। ४५।।

मुनि परमागम में शुद्धोपयोगी और शुभोपयोगी के भेद से दो प्रकार के कहे गये हैं। उनमे से शुद्धोपयोगी आस्रव से रहित है और शेष - शुभोपयोगी आस्रव से सहित हैं।। ४५।।

आगे शुभोपयोगी श्रमण का लक्षण प्रकट करते हैं -

अरहंतादिसु भत्ती वच्छलदा [5]पवयणाभिजुत्तसु।
विज्जदि जदि सामण्णे सा सुहजुत्ता [6]भवे चरिया।। ४६।।

यदि मुनि अवस्था में, अरहन्त आदि में भक्ति तथा परमागम से युक्त महामुनियो मे वत्सलता - गोवत्स की तरह स्नेहानुवृत्ति है वह शुभोपयोग से युक्त चर्या है।। ४६।।

आगे शुभोपयोगी मुनियों की प्रवृत्ति दिखलाते हैं -

वंदण-णमंसणेहिं अब्भुट्ठाणाणुगमणपडिवत्ती।
समणेसु समावणओ ण णिंदिया रायचरियम्मि।। ४७।।

सरागचारित्र की दशा में अपने से पूज्य मुनियों को वन्दना करना नमस्कार करना आते हुए देख उठकर खडा होना, जाते समय पीछे-पीछे चलना इत्यादि प्रवृत्ति तथा उनके श्रम - थकावट को दूर करना निन्दित नहीं है।। ४७।।

---

1 पडिपुण्ण। 2 अट्ठेसु। 3 मुवयादि। 4 विविहाणि। 5 पवयणाहिजुत्तेसु। 6 हवे।

आगे शुभोपयोगी मुनियों की अन्य प्रवृत्तियां दिखलाते हैं -

दंसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं।
चरिया हि सरागाणं जिणिंदपूजोवदेसो य।। ४८।।

दर्शन और ज्ञान का उपदेश देना, शिष्यों का संग्रह करना। उनका पोषण करना तथा जिनेन्द्र देव की पूजा का उपदेश देना यह सब सरागी अर्थात् शुभोपयोगी मुनियों की प्रवृत्ति है।। ४८।।

आगे जो कुछ भी प्रवृत्तियां होती हैं वे शुभोपयोगी मुनियों के ही होती हैं ऐसा प्रतिपादन करते हैं-

उवकुणदि जो वि णिच्चं चादुव्वण्णस्स समणसंघस्स।
कायविराधणरहिदं सोवि सरागप्पधाणो से।। ४९।।

जो ऋषि, मुनि, यति और अनगार के भेद से चतुर्विध मुनि समूह का षटकायिक जीवों की विराधना से रहित उपकार करता है - वैयावृत्ति के द्वारा उन्हें सुख पहुचाता है वह भी सराग प्रधान अर्थात शुभोपयोगी साधु है।। ४९।।

आगे षट्कायिक जीवों की विराधना न करते हुए ही वैयावृत्य करना चाहिये ऐसा कहते हैं -

जदि कुणदि कायखेदं वेज्जावच्चत्थमुज्जदो समणो।
ण हवदि हवदि अगारी धम्मो सो सावयाण से।। ५०।।

यदि वैयावृत्य के लिये उद्यत हुआ साधु षट्कायिक जीवों की हिंसा करता है तो वह मुनि नही है। वह तो श्रावकों का धर्म है।

यद्यपि वैयावृत्य अन्तरंग तप है और शुभोपयोगी मुनियों के कर्तव्यों मे से एक कर्तव्य है तथपि वे उस प्रकार की वैयावृत्य नहीं करते जिसमें कि षटकायिक जीवों की विराधना हो। विराधना पूर्वक वैयावृत्य करना श्रावकों का धर्म है न कि मुनियों का।। ५०।।

यद्यपि परोपकार में शुभ कषाय के प्रभाव से अल्प कर्म बन्ध होता है तो भी शुभोपयोगी पुरुष उसे करे ऐसा उपदेश देते हैं -

जोण्हाणं णिरवेक्खं सागारणगारचरियजुत्ताणं।
अणुकंपयोवयारं कुव्वदु लेवो यदि वियप्प।। ५१।।

यद्यपि अल्प कर्मबन्ध होता है तथापि शुभोपयोगी श्रमण गृहस्थ अथवा मुनिधर्म की चर्या से युक्त श्रावक और मुनियों का निरपेक्ष हो दया भाव से उपकार करे।। ५१।।

आगे उसी परोपकार के कुछ प्रकार बतलाते हैं -

रोगेण वा [2]क्षुधाए [3]तण्हणया वा समेण वा रुढं।
[4]देट्ठा समणं साधू पडिवज्जदु आदसत्तीए।। ५२।।

शुभोपयोगी मुनि, किसी अन्य मुनि को रोग से, भूख से, प्यास से अथवा श्रम - थकावट आदि से आक्रान्त देख उसे अपनी शक्ति अनुसार स्वीकृत करे अर्थात् वैयावृत्य द्वारा उसका खेद दूर करे।। ५२।।

आगे शुभोपयोगी मुनि वैयावृत्य के निमित्त लौकिक जनों से वार्तालाप भी करते हैं यह दिखलाते हैं -

वेज्जावच्चणिमित्तं गिलाण-गुरु-बाल-वुड्ढ-समणाणं।
लोगिग-जण-संभासा ण णिंदिदा वा सुहोवजुदा।। ५३।।

---

1 विराहण । 2 छुहाए। 3 तण्हाए वा। 4 दिट्ठा।

ग्लान (बीमार), गुरु, बाल अथवा वृद्ध साधुओं की वैयावृत्य के निमित्त, शुभभावों से सहित लौकिकजनों के साथ वार्तालाप करना भी निन्दित नहीं है।। ५३।।

आगे यह शुभोपयोग मुनियों के गौण और श्रावकों के मुख्य रूप से होता है ऐसा कथन करते हैं -

एसा पसत्थभूता समणाणं वा पुणो घरत्थाणं।
चरिया परेत्ति भणिदा ता एव परं लहदि सोक्खं।। ५४।।

यह शुभराग रूप प्रवृत्ति मुनियों के अल्परूप में और गृहस्थों के उत्कृष्ट रूप में होती है। गृहस्थ इसी शुभप्रवृत्ति से उत्कृष्ट सुख प्राप्त करते हैं।। ५४।।

आगे कारण की विपरीतता से शुभोपयोग के फल में विपरीतता - भिन्नता सिद्ध होती है यह कहते हैं -

रागो पसत्थभूदो वत्थुविसेसेण फलदि विवरीदं।
णाणाभूमिगदाणि हि बीयाणि व सस्सकालम्मि।। ५५।।

जिस प्रकार नाना प्रकार की भूमि में पडे हुए बीज धान्योत्पत्ति के समय भिन्न-भिन्न प्रकार के फल फलते हैं उसी प्रकार यह शुभ राग, वस्तु की विशेषता से - जघन्य मध्यम उत्कृष्ट पात्र की विभिन्नता से विपरीत - भिन्न-भिन्न प्रकार का फल फलता है।। ५५।।

आगे कारण की विपरीतता से फल की विपरीतता दिखलाते हैं -

छदुमत्थविहिदवत्थुसु वदणियमज्झयणझाणदाणरदो।
ण लहदि अपुणब्भावं भावं सादप्पगं लहदि।। ५६।।

छद्मस्थ जीवों द्वारा अपनी बुद्धि से कल्पित देव, गुरु, धर्मादिक पदार्थों को उददेश्य कर व्रत, नियम, अध्ययन, ध्यान तथा दान में तत्पर रहने वाला पुरुष अपुनर्भव अर्थात मोक्ष को प्राप्त नहीं होता किन्तु सुखस्वरूप देव या मनुष्य पर्याय को प्राप्त होता है।। ५६।।

आगे इसी बात को और भी स्पष्ट करते हैं -

अविदिदपरमत्थेसु य [1]विसयकसायाधिगेसु [2]पुरिसेसु।
जुट्ठं कदं व दत्तं फलदि कुदेवेसु [3]मणुजेसु।। ५७।।

परमार्थ को नहीं जानने वाले तथा विषय-कषाय से अधिक पुरुषों की सेवा करना, टहल चाकरी करना और उन्हें दान देना कुदेवों तथा नीच मनुष्यों में फलता है।। ५७।।

आगे इसी का समर्थन करते हैं -

जदि ते विसयकसाया पावत्ति परूविदा व सत्थेसु।
[4]कह ते [5]तप्पडिबद्धा पुरिसा णित्थारगा होंति।। ५८।।

यदि वे विषय-कषाय पाप हैं इस प्रकार शास्त्रों में कहे गये हैं तो उन पापरूप विषयकषायों में आसक्त पुरुष संसार से तारने वाले कैसे हो सकते हैं ? अर्थात् किसी भी प्रकार नहीं हो सकते हैं।। ५८।।

आगे पात्रभूत तपोधन का लक्षण कहते हैं -

उवरदपावो पुरिसो समभावो धम्मिगेसु सव्वेसु।
गुणसमिदिदोवसेवी हवदि स भागी सुमग्गस्स।। ५९।।

---

1 विसयकसायादिगेसु। 2 पुरुसेसु। 3 मणुवेसु। 4 किह। 5 त पडिबद्धा।

जो पुरुष पापों से विरत है, समस्त धर्मात्माओं में साम्यभाव रखता है और गुण समूह की सेवा करता है वह सुमार्ग का भागी है अर्थात् मोक्षमार्ग का पथिक है।। ५९।।

आगे इसी को पुन स्पष्ट करते हैं -

असुहोवयोगरहिदा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता वा।
णित्थारयंति लोगं तेसु पसत्थं लहदि भत्तो।। ६०।।

जो अशुभोपयोग से रहित है और शुद्धोपयोग अथवा शुभोपयोग से युक्त हैं वे उत्तममुनि भव्य मनुष्य को तारते हैं। उनकी भक्ति करने वाला मनुष्य प्रशस्त फल को प्राप्त होता है।। ६०।।

आगे गुणाधिक मुनियों के प्रति कैसी प्रवृत्ति करनी चाहिए यह कहते हैं -

दिट्ठा पगदं वत्थू अब्भुट्ठाणप्पधाणकिरियाहिं।
वट्टदु तदो गुणादो[1] विसेसिदव्वोत्ति उवदेसो।। ६१।।

इसलिये निर्विकार निर्ग्रन्थ रूप के धारक उत्तम पात्र को देखकर जिनमें उठकर खड़े होने की प्रधानता है ऐसी क्रियाओं से प्रवृत्ति करना चाहिये क्योंकि गुणों के द्वारा आदर-विनयादि विशेष करना योग्य है ऐसा अरहन्त भगवान् का उपदेश है।। ६१।[2]

आगे अभ्युत्थानादि क्रियाओं को विशेष रूप से बतलाते है -

अब्भुट्ठाणं गहणं उवासणं पोसण च सक्कार।
अंजलिकरणं पणमं भणिदं इह गुणाधिगाणं हि।। ६२।।

इस लोक में निश्चयपूर्वक अपने से अधिक गुण वाले महापुरुषो के लिये उठकर खड़े होना, आइये-आइये आदि कहकर अंगीकार करना, समीप में बैठकर सेवा करना अन्नपानादि की व्यवस्था कराकर पोषण करना, गुणों की प्रशसा करते हुए सत्कार करना, विनय से हाथ जोडना तथा नमस्कार करना योग्य कहा गया है।। ६२।।

आगे श्रमणाभास मुनियों के विषय में उक्त समस्त क्रियाओं का निषेध करते है -

अब्भुट्ठेया समणा सुत्तत्थविसारदा उपासेया।
संजमतवणाणड्ढा पणिवदणीया हि समणेहि।। ६३।।

जो आगम के अर्थ में निपुण हैं तथा संयम, तप और ज्ञान से सहित हैं ऐसे मुनि ही निश्चय से अन्य मुनियों के द्वारा उठकर खड़े होने योग्य, सेवा करने के योग्य तथा वन्दना करने के योग्य हैं।

जो उक्त गुणों से रहित हैं ऐसे श्रमणाभास मुनियों के प्रति अभ्युत्थानादि क्रियाओं का प्रतिषेध है।। ६३।।

आगे श्रमणाभास का लक्षण कहते हैं -

ण हवदि समणोत्ति मदो संजमतवसुत्तसपजुत्तो वि।
जदि सद्दहदि ण अत्थे आदपधाणे जिणक्खादे।। ६४।।

यदि कोई मुनि संयम, तप तथा आगम से युक्त होकर भी जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे हुए जीवादि पदार्थों का श्रद्धान नहीं करता है तो वह श्रमण नहीं है - मुनि नहीं है ऐसा माना गया है। सम्यग्दर्शन से हीन मुनि श्रमणाभास कहलाता है।। ६४।।

---

1 विशेषदव्वत्ति ज.वृ। 2 ज.वृ. में इस गाथा का ऐसा भाव प्रकट किया गया है कि निर्विकार निर्ग्रन्थ रूप के धारक तपोधन को अपने संघ में आता देख कर तीन दिन पर्यन्त उनका उठकर खड़े होना आदि सामान्य क्रियाओं द्वारा सत्कार करना चाहिये और तीन दिन बाद विशिष्ट परिचय होने पर गुणों के अनुसार उनके सत्कार में विशेषता करना चाहिये।

आगे समीचीन मुनि को जो दोष लगाता है वह चारित्र हीन है ऐसा कहते हैं -

अववददि सासणत्थं समणं दिट्ठा पदोसदो जो हि।
किरियासु णाणुमण्णदि हवदि हि सो णट्ठचारित्तो।। ६५।।

जो मुनि, जिनेन्द्रदेव की आज्ञा में स्थित अन्य मुनि को देखकर द्वेषवश उनकी निन्दा करता है तथा अभ्युत्थान आदि क्रियाओं के होने पर प्रसन्न नहीं होता वह निश्चय से चारित्र रहित है।। ६५।।

आगे जो स्वयं गुणहीन होकर अपने से अधिक गुणवाले मुनि से अपनी विनय कराना चाहता है उसकी निन्दा करते हैं -

गुणदोधिगस्स विणयं पडिच्छगो जो वि होमि समणोत्ति।
होज्जं गुणाधरो जदि सो होदि अणंतसंसारी।। ६६।।

जो मुनि स्वयं गुणों का धारक न होता हुआ भी "मैं मुनि हूं" इस अभिमानवश अधिक गुणवाले महामुनियों से विनय की इच्छा करता है वह अनन्तसंसारी है अर्थात अनन्त काल तक संसार में भ्रमण करने वाला है।। ६६।।

आगे जो स्वयं गुणाधिक होकर हीन गुण वाले मुनि की वन्दनादि क्रिया करता है उसकी निन्दा करते हैं -

अधिगगुणा सामण्णे वट्टंति गुणाधरेहि किरियासु।
जदि ते मिच्छुवजुत्ता हवंति पब्भट्टचारित्ता।। ६७।।

जो मुनि, मुनिपद में स्वयं अधिक गुणवाले होकर गुणहीन मुनियों के साथ वन्दनादि क्रियाओं में प्रवृत्त होते हैं अर्थात् उन्हें नमस्कारादि करते हैं वे मिथ्यात्व से युक्त तथा चारित्र से भ्रष्ट होते हैं।। ६७।।

आगे मुनि को असत्संग से बचना चाहिये ऐसा कहते हैं -

णिच्छिदसुत्तत्थपदो समिदकसायो[1] तवोधिगो[2] चावि।
लोगिगजणसंसग्गं ण[3] जहदि जदि संजदो[4] ण हवदि।। ६८।।[5]

जिसने आगम के अर्थ और पदों का निश्चय किया है, जिसकी कषायें शान्त हो चुकी हैं और जो तपश्चरण से अधिक है ऐसा होकर भी यदि मुनि लौकिक मनुष्यों के संसर्ग को नहीं छोडता है तो वह संयमी नहीं है।। ६८।।

आगे लौकिक मनुष्य का लक्षण कहते हैं -

णिग्गंथं[6] पव्वइदो वट्टदि जदि एहिगेहि कम्मेहि।
सो लोगिगोदि भणिदो संजमतवसंपजुत्तोवि[7]।। ६९।।

यदि कोई मुनि निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण करके इस लोक सम्बन्धी ज्योतिष तन्त्र मन्त्र आदि क्रियाओं द्वारा प्रवृत्ति करता है तो वह संयम तथा तप से युक्त होता हुआ भी लौकिक है ऐसा कहा गया है।। ६९।।

आगे सत्संग करना चाहिये ऐसा कहते हैं -

---

1 समितकषायो। 2 तओधिगो। 3 चयदि। 4 णविदि। 5 ६८ गाथा के आगे ज. वृ. में निम्न गाथा अधिक व्याख्यात है -
तिसिदं व भुक्खिदं वा दुहिदं दट्ठूण जो दुहिदमणो।
पडिवज्जदि तं किवया तस्सेसा होदि अणुकंपा।। १।। 6 पव्वयिदो। 7 संजुदो चावि।

तम्हा समं गुणादो समणो समण गुणेहिं वा अहिय।

अधिवसदु तम्हि णिच्चं इच्छदि जदि दुक्खपरिमोक्ख।। ७०।।

इसलिये यदि साधु दु ख से छुटकारा चाहता है तो वह निरन्तर ऐसे मुनि के साथ रहे जो कि गुणों की अपेक्षा अपने समान हो अथवा अपने से अधिक हो।। ७०।।

आगे संसार तत्व का उद्घाटन करते हैं -

जे अजधागहिदत्था एदे तच्चत्ति णिच्छिदा समये।

अच्चंतफलसमिद्धं भमंति ते तो परं कालं।। ७१।।

जो जिनमत में स्थित होकर भी पदार्थ को ठीक-ठीक ग्रहण नही करते हैं और अतत्व को "यह तत्व है" ऐसा निश्चित कर बैठे हैं वे वर्तमान काल से लेकर अनन्तफलों से परिपूर्ण दीर्घकाल तक भ्रमण करते रहते हैं।। ७१।।

आगे मोक्षतत्व का स्वरूप बतलाते हैं -

अजधाचार-विजुत्तो जधत्थ-पद-णिच्छिदो-पसतप्पा।

अफले चिरं ण जीवदि इह सो संपुण्णसामण्णो।। ७२।।

जो मिथ्याचारित्र से रहित है तथा यथावस्थित पदार्थों का निश्चय होने से जिसकी आत्मा शान्त है - कषाय के उद्रेक से रहित है वह सम्पूर्ण मुनिपद को धारण करने वाला मुनि इस नि सार ससार में चिर काल तक जीवित नहीं रहता अर्थात् शीघ्र ही मुक्त हो जाता है।। ७२।।

आगे मोक्ष तत्व का साधन तत्व दिखलाते हैं -

सम्मं विदिदपदत्था चत्ता उवहिं बहित्थमज्झत्थं।

विसयेसु णावसत्ता जे ते सुद्धत्ति णिदिद्ट्ठा।। ७३।।

जिन्होंने यथार्थरूप से समस्त तत्वों को जान लिया है, और जो बहिरग तथा अन्तरग परिग्रह को छोडकर पंचेन्द्रियों के विषयों में लीन नहीं हैं वे महामुनि शुद्ध हैं - मोक्षतत्व को साधन करने वाले हैं ऐसा कहा गया है।। ७३।।

आगे मोक्ष तत्व का साधनतत्व सब मनोरथों का स्थान है ऐसा कहते हैं -

सुद्धस्स य सामण्णं भणियं सुद्धस्स दसणं णाण।

सुद्धस्स य णिव्वाणं सोच्चिय सिद्धो णमो तस्स।। ७४।।

साक्षात् मोक्षतत्व को साधन करने वाले शुद्धोपयोगी मुनि के ही मुनि पद कहा गया है, उसी के दर्शन और ज्ञान कहे गये हैं, उसी के मोक्ष कहा गया है और वही सिद्धस्वरूप है। ऐसे शुद्धोपयोगी महामुनि को नमस्कार हो।। ७४।।

आगे शिष्यजनों को शास्त्र का फल दिखलाते हुए प्रकृत ग्रन्थ को समाप्त करते हैं -

बुज्झदि सासणमेयं सागारणगारचरियया जुत्तो।

जो सो पवयणसारं लहुणा कालेण पप्पोदि।। ७५।।

जो पुरुष, गृहस्थ अथवा मुनि की चर्या से युक्त होता हुआ अरहन्त भगवान् के इस शासन को समझता है वह अल्पकाल में ही प्रवचनसार को - सिद्धान्त के रहस्यभूत परमात्मभाव को पा लेता है।। ७५।।

इति भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यकृते प्रवचनसारपरमागमे चारित्राधिकारो नाम तृतीय श्रुतस्कन्ध समाप्त ।

* * *

नियमसारः

जीवाधिकारः

मंगलाचरण और प्रतिज्ञावाक्य

णमिऊण जिणं वीरं अणंतवरणाणदंसणसहावं।
वोच्छामि णियमसारं केवलिसुदकेवलीभणिदं।।१।।

अनन्त और उत्कृष्ट ज्ञान, दर्शन स्वभाव से युक्त श्री महावीर जिनेन्द्र को नमस्कार कर मैं केवली और श्रुतकेवली के द्वारा कहे हुए नियमसार को कहूंगा।।१।।

मोक्षमार्ग और उसका फल

मग्गो मग्गफलं ति य दुविहं जिणसासणे समक्खादं।
मग्गो मोक्खउवायो तस्स फलं होइ णिव्वाणं।।२।।

जिन शासन में मार्ग और मार्गफल इस तरह दो प्रकार का कथन किया गया है। इनमें मोक्ष का उपाय अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मार्ग है और निर्वाण की प्राप्ति होना मार्ग का फल है।।२।।

नियमसार पद की सार्थकता

णियमेण य जं कज्जं तण्णियमं णाणदंसणचरित्तं।
विवरीयपरिहरत्थं भणिदं खलु सारमिदि वयणं।।३।।

नियम से जो करने योग्य है वह नियम है, ऐसा नियम ज्ञान, दर्शन और चारित्र है। इनमें विपरीत अर्थात् मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन और मिथ्याचारित्र का परिहार करने के लिये "सार" यह वचन निश्चय से कहा गया है।

भावार्थ - नियमसार का अर्थ, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है इन्हीं का इस ग्रन्थ में वर्णन किया जावेगा।।३।।

नियम और उसका फल

णियमं मोक्खउवायो तस्स फलं हवदि परमणिव्वाणं।
एदेसिं तिण्हं पि य पत्तेयपरूवणा होई।।४।।

नियम अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्ष का उपाय है और उसका फल परम निर्वाण है। इस ग्रन्थ में इन तीनों का पृथक्-पृथक् निरूपण है।।४।।

व्यवहार सम्यग्दर्शन का स्वरूप

अत्तागमतच्चाणं सद्दहणादो हवेइ सम्मत्तं।
ववगयअसेसदोसो सयलगुणप्पा हवे अत्ता।।५।।

आप्त, आगम और तत्वों के श्रद्धान से सम्यग्दर्शन होता है। जिसके समस्त दोष नष्ट हो गये हैं तथा जो समस्त गुणों से तन्मय है ऐसा पुरुष आप्त कहलाता है।।५।।

अठारह दोषों का वर्णन

[1]छुहतण्हभीरुरोसो रागो मोहो चिंता जरा रुजा मिच्चू।
स्वेदं खेद मदो रइ विम्हियणिद्दा जणुव्वेगो।। ६।।

क्षुधा, तृष्णा, भय, द्वेष, राग, मोह, चिन्ता, बुढ़ापा, रोग, मृत्यु, पसीना, खेद, मद, रति, विस्मय, निद्रा, जन्म और उद्वेग ये अठारह दोष हैं।। ६।।

परमात्मा का स्वरूप

णिस्सेसदोसरहिओ केवलणाणाइपरमविभवजुदो।
सो परमप्पा उच्चइ तव्विवरीओ ण परमप्पा।। ७।।

जो (पूर्वोक्त) समस्त दोषों से रहित है तथा केवलज्ञान आदि परम वैभव से युक्त है वह परमात्मा कहा जाता है। उससे जो विपरीत है वह परमात्मा नहीं है।। ७।।

आगम और तत्वार्थ का स्वरूप

तस्स मुहग्गदवयणं पुव्वापरदोसविरहियं सुद्धं।
आगममिदि परिकहियं तेणा दु कहिया हवंति तच्चत्था।। ८।।

उन परमात्मा के मुख से निकले हुए वचन, जो कि पूर्वापर दोष से रहित तथा शुद्ध हैं "आगम" इस शब्द से कहे गये हैं। और उस आगम के द्वारा कहे हुए जो पदार्थ हैं वे तत्वार्थ हैं।। ८।।

तत्वार्थों का नामोल्लेख

जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा य काल आयासं।
तच्चत्था इदि भणिदा णाणागुणापज्जएहिं संजुत्ता।। ९।।

जीव, पुद्गलकाय, धर्म, अधर्म, काल और आकाश ये तत्वार्थ कहे गये हैं। ये तत्वार्थ अनेक गुण और पर्यायों से संयुक्त हैं।। ९।।

जीव का लक्षण तथा उपयोग के भेद

जीवो उवओगमओ उवओगो णाणदंसणो होइ।
णाणुवओगो दुविहो सहावणाणं विभावणाणं त्ति।। १०।।

जीव उपयोगमय है अर्थात् जीव का लक्षण उपयोग है। उपयोग ज्ञानदर्शन रूप है, अर्थात् उपयोग के ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग के भेद से दो भेद हैं। उनमें ज्ञानोपयोग, स्वभावज्ञान और विभावज्ञान के भेद से दो प्रकार का है।। १०।।

स्वभावज्ञान और विभावज्ञान का विवरण

केवलमिंदियरहियं असहायं तं सहावणाणं त्ति।
सण्णाणिदरवियप्पे विहावणाणं हवे दुविहं।। ११।।

इन्द्रियों से रहित तथा प्रकाश आदि बाह्य पदार्थों की सहायता से निरपेक्ष जो केवलज्ञान है वह स्वभावज्ञान है। सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान के विकल्प से विभावज्ञान दो प्रकार का है।। ११।।

---

1 क्षुधा तृष्णा भयं द्वेषो रागो मोहश्च चिन्तनम्।
जरा रुजा च मृत्युश्च स्वेद खेदो मदो रति।। १५।।
विस्मयो जनन निद्रा विषादोऽष्टादश ध्रुवा।
त्रिजगत्सर्वभूतानां दोषा साधारणा इमे।। १६।।

सम्यग्विभावज्ञान तथा मिथ्याविभावज्ञान के भेद

सण्णाणं चउभेदं मदिसुदओही तहेव मणपज्जं।
अण्णाणं तिवियप्प मदियाई भेददो चेव।। १२।।

सम्यग्विभावज्ञान के चार भेद हैं - मति, श्रुत, अवधि और मन पर्यय। और अज्ञान रूप विभावज्ञान कुमति, कुश्रुत तथा विभंगावधि के भेद से तीन प्रकार का है।। १२।।

दर्शनोपयोग के भेद

तह दंसणउवओगो ससहावेदरवियप्पदो दुविहो।
केवलमिंदियरहियं असहायं तं सहावमिदि भणिदं।। १३।।

उसी प्रकार दर्शनोपयोग, स्वस्वभावदर्शनोपयोग और विभावदर्शनोपयोग के भेद से दो प्रकार का है। इनमें इन्द्रियों से रहित तथा पर पदार्थ की सहायता से निरपेक्ष जो केवलदर्शन है वह स्वभावदर्शन है इस प्रकार कहा गया है।। १३।।

विभावदर्शन और पर्याय के भेद

चक्खु अचक्खू ओही तिण्णिवि भणिदं विभावदिच्छित्ति।
पज्जाओ दुवियप्पो सपरावेक्खो य णिरवेक्खो।। १४।।

चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन और अवधिदर्शन ये तीनों दर्शन विभावदर्शन हैं इस प्रकार कहा गया है। स्वपरापेक्ष और निरपेक्ष के भेद से पर्याय के दो भेद हैं।। १४।।

विभावपर्याय और स्वभावपर्याय का विवरण

णरणारयतिरियसुरा पज्जाया ते विभावमिदि भणिदा।
कम्मोपाधिविवज्जियपज्जाया ते सहावमिदि भणिदा।। १५।।

मनुष्य, नारक, तिर्यंच और देव ये विभाव पर्यायें कही गई हैं तथा कर्मरूप उपाधि से रहित जो पर्यायें हैं वे स्वभावपर्यायें कही गई हैं।। १५।।

मनुष्यादि पर्यायों का विस्तार

माणुस्सा दुवियप्पा कम्ममहीभोगभूमिसंजादा।
सत्तविहा णेरइया णादव्वा पुढविभेएण।। १६।।

कर्मभूमिज और भोगभूमिज के भेद से मनुष्य दो प्रकार के है तथा पृथिवियों के भेद से नारकी सात प्रकार के जानना चाहिये।। १६।।

चउदहभेदा भणिदा तेरिच्छा सुरगणा चउब्भेदा।
एदेसिं वित्थारं लोयविभागेसु णादव्वं।। १७।।

तिर्यंचों के चौदह और देवसमूह के चार भेद कहे गये हैं। इन सबका विस्तार लोकविभाग में जानना चाहिए।

भावार्थ - सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्तक, अपर्याप्तक, बादरएकेन्द्रिय पर्याप्तक, अपर्याप्तक, द्वीन्द्रिय पर्याप्तक, अपर्याप्तक, त्रीन्द्रिय पर्याप्तक, अपर्याप्तक, चतुरिन्द्रियपर्याप्तक, अपर्याप्तक, असंज्ञिपचेन्दिपर्याप्तक, अपर्याप्तक और संज्ञिपंचेन्द्रियपर्याप्तक, अपर्याप्तक के भेद से तिर्यंचों के चौदह भेद हैं। तथा भवनवासी, व्यन्तर,

ज्योतिष्क और वैमानिक के भेद से देवसमूह के चार भेद हैं। इन सबका विस्तार लोकविभाग नामक परमागम में जानना चाहिए।। १७।।

आत्मा के कर्तृत्व-भोक्तृत्व का वर्णन

कत्ता भोत्ता आदा पोग्गलकम्मस्स होदि ववहारा।
कम्मजभावेणादा कत्ता भोत्ता दु णिच्छयदो।। १८।।

आत्मा पुद्गल कर्म का कर्ता-भोक्ता व्यवहार से है और आत्मा कर्मजनित भाव का कर्ता-भोक्ता निश्चय से अर्थात् अशुद्धनिश्चय से है।

भावार्थ - अनुपचरित असद्भूतव्यवहार नय की अपेक्षा आत्मा द्रव्यकर्म का कर्ता और उसके फल का भोक्ता है और अशुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा कर्मजनित मोह, राग, द्वेष आदि भावकर्म का कर्ता तथा भोक्ता है। अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से शरीरादि नोकर्म का कर्ता है तथा उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से घटपटादि का कर्ता है। यह अशुद्ध जीव का कथन है।। १८।।

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय से जीव की पर्यायों का वर्णन

दव्वत्थिएण जीवा वदिरित्ता पुव्वभणिदपज्जाया।
पज्जयणएण जीवा संजुत्ता होंति दुविहेहिं।। १९।।

द्रव्यार्थिक नय से जीव, पूर्वकथित पर्यायों से व्यतिरिक्त - भिन्न है और पर्यायार्थिकनय से जीव स्वपरापेक्ष तथा निरपेक्ष - दोनों प्रकार की पर्यायों से संयुक्त हैं।

भावार्थ - यहां द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा जीव की भिन्नता तथा अभिन्नता का वर्णन किया गया है इसलिये स्याद्वाद की शैली से जीव का स्वरूप समझना चाहिये।। १९।।

इस प्रकार श्री कुन्दकुन्दाचार्य विरचित नियमसार ग्रन्थ में जीवाधिकार नाम का पहला अधिकार समाप्त हुआ। १

*

अजीवाधिकारः

पुद्गल द्रव्य के भेदों का कथन

अणुखंधवियप्पेण दु पोग्गलदव्वं हवेइ दुवियप्पं।
खंधा हु छप्पयारा परमाणू चेव दुवियप्पो।। २०।।

अणु और स्कन्ध के विकल्प से पुद्गल द्रव्य दो विकल्प वाला है। इनमें स्कन्ध छह प्रकार के हैं और परमाणु दो भेदों से युक्त है।

भावार्थ - प्रथम ही पुद्गल द्रव्य के दो भेद हैं - १ स्वभाव पुद्गल और २ विभावपुद्गल। उनमें परमाणु स्वभाव पुद्गल है और स्कन्ध विभाव पुद्गल है। स्वभाव पुद्गल के कार्यपरमाणु और कारणपरमाणु की अपेक्षा दो भेद हैं तथा विभाव पुद्गल - स्कन्ध के अतिस्थूल आदि छह भेद है। इन छह भेदों के नाम तथा उदाहरण आगे की गाथाओं में स्पष्ट किये गये हैं।। २०।।

स्कन्धों के छह भेद

अइथूलथूल थूलं थूलसुहुमं च सुहुमथूलं च।
सुहुमं अइसुहुमं इदि धरादियं होदि छब्भेयं।। २१ ।।
भूपव्वदमादीया भणिदा अइथूलथूलमिदि खंधा।
थूला इदि विण्णेया सप्पीजलतेलमादीया।। २२ ।।
छायातवमादीया थूलेदरखंधमिदि वियाणाहि।
सुहुमथूलेदि भणिया खंधा चउरक्खविसया य।। २३ ।।
सुहुमा हवंति खंधा पावोग्गा कम्मवग्गणस्स पुणो।
तव्विवरीया खंधा अइसुहुमा इदि परूवेंदि।। २४ ।।

अतिस्थूल, स्थूल, स्थूलसूक्ष्म, सूक्ष्मस्थूल, सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म ऐसे पृथिवी आदि स्कन्ध के छह भेद हैं।। २१ ।।

भूमि, पर्वत आदि अतिस्थूल स्कन्ध कहे गये हैं तथा घी, जल, तेल आदि स्थूल स्कन्ध हैं ऐसा जानना चाहिये।। २२ ।।

छाया, आतप आदि स्थूलसूक्ष्म स्कन्ध हैं ऐसा जानो। तथा चार इन्द्रियों के विषय सूक्ष्मस्थूल स्कन्ध हैं ऐसा कहा गया है।। २३ ।।

कर्मवर्गणा रूप होने के योग्य स्कन्ध सूक्ष्म हैं और इनसे विपरीत अर्थात् कर्मवर्गणा रूप न होने के योग्य स्कन्ध अतिसूक्ष्म हैं ऐसा आचार्य निरूपण करते हैं।। २४ ।।

भावार्थ - जो पृथक् करने पर पृथक् हो जावें और मिलाने पर फिर मिल न सकें ऐसे पुद्गल स्कन्धों को अतिस्थूल कहते है जैसे पृथिवी, पर्वत आदि। जो पृथक् करने पर पृथक् हो जावें और मिलाने पर पुन मिल जावें ऐसे पुद्गल स्कन्धों को स्थूल कहते हैं जैसे घी, जल, तेल आदि तरल पदार्थ। जो नेत्रों से दिखाई तो देते हैं पर ग्रहण नहीं किये जा सकते ऐसे स्कन्धों को स्थूलसूक्ष्म कहते हैं जैसे छाया, आतप आदि। जो नेत्रों से देखने में तो नहीं आते परन्तु अपनी-अपनी इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये जाते है ऐसे स्कन्धों को सूक्ष्मस्थूल कहते हैं जैसे कर्ण, घ्राण, रसना और स्पर्शन इन्द्रिय के विषयभूत शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श। जो कर्मवर्गणा रूप परिणमन करने के योग्य है ऐसे स्कन्ध सूक्ष्म कहलाते है ये इन्द्रिय ज्ञान के द्वारा नहीं जाने जाते मात्र कार्य द्वारा इनका अनुमान होता है। तथा जो इतने सूक्ष्म हैं कि कर्मवर्गणा रूप परिणमन नहीं कर सकते उन्हें अतिसूक्ष्म स्कन्ध कहते हैं ये अवधिज्ञानादि प्रत्यक्ष ज्ञानों के द्वारा जाने जाते हैं।। २१-२४ ।।

कारण परमाणु और कार्य परमाणु का लक्षण

धाउचउक्कस्स पुणो जं हेऊ कारणंति तं णेयो।
खंधाणं अवसाणो णादव्वो कज्जपरमाणू।। २५ ।।

जो पृथिवी, जल, तेज, और वायु इन चार धातुओं का कारण है उसे कारण परमाणु जानना चाहिये और स्कन्धों के अवसान को अर्थात् स्कन्धों में भेद होते-होते जो अन्तिम अंश रहता है उसे कार्य परमाणु जानना चाहिये।

भावार्थ - पृथिवी, जल, अग्नि और वायु का जो रूप अपने ज्ञान में आता है वह अनेक परमाणुओं के मेल से बना हुआ स्कन्ध है। इस स्कन्ध के बनने में जो परमाणु मूल कारण हैं वे कारण परमाणु कहलाते है। स्निग्ध और रूक्ष गुण के कारण परमाणु परस्पर में मिलकर स्कन्ध बनते हैं जब उनमें स्निग्धता और रूक्षगुणों का

ह्रास होता है तब विघटन होता है इस तरह विघटन होते होते जो अन्तिम अंश - अविभाज्य अंश रह जाता है वह कार्य परमाणु कहलाता है।। २५।।

परमाणु का लक्षण

अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं णेव इंदिए गेज्झं।
अविभागी जं दव्वं परमाणू तं वियाणाहि।। २६।।

आप ही जिसका आदि है, आप ही जिसका मध्य है, आप ही जिसका अन्त है, जो इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण में नहीं आता, तथा जिसका दूसरा विभाग नही हो सकता उसे परमाणु द्रव्य जानो।

भावार्थ - परमाणु एकप्रदेशी होने से उसमें आदि, मध्य और अन्त का विभाग नही होता तथा उसका इतना सूक्ष्म परिणमन है कि वह इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य नहीं होता इसी तरह एकप्रदेशी होने से उसमें विभाग नही हो पाता।। २६।।

परमाणु के स्वभाव गुण और विभावगुण का वर्णन

एयरसरूवगंधं दोफासं तं हवे सहावगुणं।
विहावगुणमिदि भणिदं जिणसमये सव्वपयडत्तं।। २७।।

एक रस, एक रूप, एक गन्ध और दो स्पर्शों से युक्त जो परमाणु है वह स्वभाव गुण वाला है और द्व्यणुक आदि स्कन्ध दशा में अनेक रस, अनेक रूप, अनेक गन्ध और अनेक स्पर्शवाला जो परमाणु है वह जिनशासन में सर्वप्रकट रूप से विभाव गुण वाला है ऐसा कहा गया है।

भावार्थ - जो परमाणु स्कन्ध दशा से विघटित होकर एकप्रदेशीपने को प्राप्त हुआ है उसमें खट्टा, मीठा, कडुआ, कषायला और चर्परा इन पांच रसों में से कोई एक रस होता है, श्वेत, पीत नील, लाल और कृष्ण इन पांच वर्णों में से कोई एक वर्ण होता है, सुगन्ध, दुर्गन्ध इन दो में से कोई एक गन्ध होता है और शीत-उष्ण में से कोई एक तथा स्निग्ध-रूक्ष में से कोई एक इस प्रकार दो स्पर्श होते हैं। कर्कश, मृदु, गुरु और लघु ये चार स्पर्श आपेक्षिक होने से परमाणु में विवक्षित नही हैं। इस प्रकार पांच गुणों से युक्त परमाणु स्वभाव गुण वाला परमाणु कहा गया है परन्तु यही परमाणु जब स्कन्ध दशा में अनेक रस, अनेक रूप, अनेक गन्ध और अनेक स्पर्शों से युक्त होता है तब विभावगुण वाला कहा गया है। तात्पर्य यह है कि परमाणु स्वभावपुद्गल है और स्कन्ध विभावपुद्गल है।। २७।।

पुद्गल की स्वभाव पर्याय और विभाव पर्याय का वर्णन

अण्णणिरावेक्खो जो परिणामो सो सहावपज्जायो।
खंधसरूवेण पुणो परिणामो सो विहावपज्जायो।। २८।।

जो अन्यनिरपेक्ष परिणाम है वह स्वभावपर्याय है और स्कन्ध रूप से जो परिणाम है वह विभावपर्याय है।

भावार्थ - पुद्गलद्रव्य का परमाणुरूप जो परिणमन है वह अन्य परमाणुओं से निरपेक्ष होने के कारण स्वभाव पर्याय है, तथा स्कन्ध रूप जो परिणमन है, वह अन्य परमाणुओं से सापेक्ष होने के कारण विभाव पर्याय है।। २८।।

परमाणु में द्रव्य रूपता का वर्णन

पोग्गलदव्वं उच्चइ परमाणू णिच्छएण इदरेण।
पोग्गलदव्वेत्ति पुणो ववदेसो होदि खंधस्स।। २९।।

निश्चयनय से परमाणु को पुद्गल द्रव्य कहा जाता है और व्यवहार से स्कन्ध के "पुद्गलद्रव्य है" ऐसा व्यपदेश होता है।

भावार्थ - पुद्गल द्रव्य के परमाणु और स्कन्ध की अपेक्षा दो भेद हैं। दोनों भेदों में द्रव्य और पर्यायरूपता है, क्योंकि द्रव्य के बिना पर्याय नहीं रहता और पर्याय के बिना द्रव्य नहीं रहता ऐसा आगम का उल्लेख है। यहां निश्चयनय की अपेक्षा परमाणु को द्रव्य और स्कन्ध को पर्याय कहा गया है। स्कन्ध में जो पुद्गल द्रव्य का व्यवहार होता है अथवा परमाणु में जो पर्याय का व्यवहार होता है उसे व्यवहारनय का विषय बताया है एतावता नयविवक्षा से दोनों में उभयरूपता है।। २९।।

धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य का लक्षण

गमणणिमित्तं धम्ममधम्मं ठिदि जीवपुग्गलाणं च।
अवगहणं आयासं जीवादीसव्वदव्वाणं।। ३०।।

जो जीव और पुद्गलों के गमन का निमित्त है वह धर्म है, जो जीव और पुद्गलों की स्थिति का निमित्त है वह अधर्म है तथा जो जीवादि समस्त द्रव्यों के अवगाहन का निमित्त है वह आकाश है।

भावार्थ - छह द्रव्यों में सिर्फ जीव और पुद्गल द्रव्य में क्रिया है शेष चार द्रव्य क्रिया रहित हैं। जिनमें क्रिया होती है उन्हीं में क्रिया का अभाव होने पर स्थिति का व्यवहार होता है इस तरह जीव और पुद्गल इन दो द्रव्यों की क्रिया में जो अप्रेरक निमित्त है वह धर्म द्रव्य है तथा उन्हीं दो द्रव्यों की स्थिति में जो अप्रेरक निमित्त है वह अधर्म द्रव्य है। अवगाहन समस्त द्रव्यों का होता है इसलिये आकाश का लक्षण बतलाते हुए कहा गया है कि जो जीवादि समस्त द्रव्यों को अवगाहन स्थान देने में निमित्त है वह आकाश द्रव्य है।। ३०।।

व्यवहारकाल का वर्णन

समयावलिभेदेण दु दुवियप्पं अहव होइ तिवियप्पं।
[1]तीदो संखेज्जावलिहदसंठाणप्पमाणं तु।। ३१।।

समय और आवलि के भेद से व्यवहार काल के दो भेद हैं अथवा अतीत, वर्तमान और भविष्यत् के भेद से तीन भेद हैं। उनमें अतीतकाल, संख्यात आवलि तथा हतसंस्थान अर्थात् संस्थान से रहित सिद्धों का जितना प्रमाण है उतना है।

भावार्थ - व्यवहारकाल के समय और आवलि की अपेक्षा दो भेद हैं। इनमें समय कालद्रव्य की सबसे लघु पर्याय है। असंख्यात समयों की एक आवलि होती है। यहा आवली, निमेष, काष्ठा, कला, नाडी, दिन-रात आदि का उपलक्षण है। दूसरी विधि से काल के भूत, वर्तमान और भविष्यत की अपेक्षा तीन भेद हैं। इनमें भूतकाल संख्यात आवलि तथा सिद्धों के बराबर है।। ३१।।

भविष्यत् तथा वर्तमान काल का लक्षण और निश्चयकाल का स्वरूप -

जीवा दु पुग्गलादोऽणंतगुणा [2]भावि संपदा समया।
लोयायासे संति य परमट्ठो सो हवे कालो।। ३२।।

भावी अर्थात् भविष्यत्काल जीव तथा पुद्गल से अनन्तगुणा है। सम्प्रति अर्थात् वर्तमान काल समयमात्र है। लोकाकाश के प्रदेशों पर जो कालाणु हैं वह परमार्थ अर्थात् निश्चय काल है।। ३२।।

---

1 यहां "तीदो संखेज्जावलिहदसंठाणप्पमाण तु" इस पाठ के बदले गोम्मटसार जीवकाण्ड में "तीदा संखेज्जावलिहदसिद्धाण पमाण तु" ऐसा पाठ है जिसका अर्थ होता है - संख्यात आवलि से गुणित सिद्धों का जितना प्रमाण है उतना अतीत काल है।

2 मुद्रित प्रतियों में "धावि" पाठ है जो कि त्रुटिपूर्ण जान पड़ता है। वर्तमान और भविष्यत् काल का लक्षण जीवकाण्ड में भी इस प्रकार बताया गया है -

जीवादि द्रव्यों के परिवर्तन का कारण तथा धर्मादि चार द्रव्यों की स्वभाव गुणपर्याय रूपता का वर्णन -

जीवादीदव्वाणं परिवट्टणकारणं हवे कालो।
धम्मादिचउण्णाणं सहावगुणपज्जया होंति।। ३३।।

जीवादि द्रव्यों के परिवर्तन का कारण काल है। धर्मादिक चार द्रव्यों के स्वभाव गुणपर्यायें होती हैं।

भावार्थ - जीवादिक द्रव्यों में जो समय-समय में वर्तना रूप परिणमन होना है उसका निमित्त कारण काल द्रव्य है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन चार द्रव्यों के जो गुण तथा पर्याय हैं वे सदा स्वभावरूप ही होते हैं उनमें विभावरूपता नहीं आती।। ३३।।

अस्तिकाय तथा उसका लक्षण

एदे छद्दव्वाणि य कालं मोत्तूण अत्थिकायत्ति।
णिद्दिट्ठा जिणसमये काया हु बहुप्पदेसत्तं।। ३४।।

काल द्रव्य को छोडकर ये छह द्रव्य जिनशासन में "अस्तिकाय" कहे गये है। बहुप्रदेशीपना काय द्रव्य का लक्षण है।

भावार्थ - जिनागम में काल द्रव्य को छोडकर शेष जीव, पुद्गल, धर्म अधर्म और आकाश ये पांच द्रव्य अस्तिकाय कहे गये हैं। जिनमें बहुत प्रदेश हों उसे अस्तिकाय कहते हैं। काल द्रव्य एक प्रदेशी है अत वह अस्तिकाय में सम्मिलित नहीं है।। ३४।।

किस द्रव्य के कितने प्रदेश हैं इसका वर्णन -

संखेज्जासंखेज्जाणंतपदेसा हवंति मुत्तस्स।
धम्माधम्मस्स पुणो जीवस्स असखदेसा हु।। ३५।।
लोयायासे ताव इदरस्स अणतयं हवे देसा।
कालस्स ण कायत्तं एयपदेसो हवे जह्मा।। ३६।।

मूर्त अर्थात् पुद्गल द्रव्य के संख्यात, असख्यात और अनन्तप्रदेश होते है, धर्म, अधर्म और एक जीव द्रव्य के असंख्यातप्रदेश हैं, लोकाकाश में धर्मादिक के समान असख्यात प्रदेश है परन्तु अलोकाकाश में अनन्त प्रदेश हैं। काल द्रव्य में कायपना नहीं है क्योंकि वह एकप्रदेशी है।। ३५-३६।।

द्रव्यों में मूर्तिक, अमूर्तिक तथा अचेतन का विभाग

पुग्गलदव्वं मोत्तं मुत्तिविरहिया हवंति सेसाणि।
चेदणभावो जीवो चेदणगुणवज्जिया सेसा।। ३७।।

पुद्गल द्रव्य मूर्तिक है शेष द्रव्य अमूर्तिक है। जीव द्रव्य चेतन है और शेष द्रव्य चेतनागुण से रहित हैं।। ३७।।

इस प्रकार श्री कुन्दकुन्दाचार्य विरचित नियमसार ग्रन्थ में अजीवाधिकार नाम का दूसरा अधिकार समाप्त हुआ। २।

*

समओ दु वट्टमाणो जीवादो सव्वपुग्गलादो वि।
भावी अणतगुणिदो इति ववहारो हवे कालो।। ५७८।।

वर्तमान काल समयमात्र है और भावी काल जीवों तथा समस्त पुद्गल द्रव्यों से अनन्तगुणा है। इस प्रकार व्यवहारकाल का वर्णन है।

शुद्धभावाधिकार:

हेय-उपादेय तत्वों का वर्णन

जीवादिबहित्तच्चं हेयमुवादेयमप्पणो अप्पा।
कम्मोपाधिसमुब्भवगुणपज्जाएहिं वदिरित्तो।। ३८।।

जीवादि बाह्यतत्व हेय हैं - छोड़ने के योग्य हैं और कर्मरूप उपाधि से उत्पन्न होने वाले गुण तथा पर्यायों से रहित आत्मा, आत्मा के लिये उपादेय है - ग्रहण करने के योग्य है।। ३८।।

निर्विकल्प तत्व का स्वरूप

णो खलु सहावठाणा णो माणवमाणभावठाणा वा।
णो हरिसभावठाणा णो जीवस्साहरिस्सठाणा वा।। ३९।।

निश्चय से जीव के स्वभावस्थान (विभाव स्वभाव के स्थान) नही है, मान-अपमान भाव के स्थान नहीं है, हर्षभाव के स्थान नहीं है तथा अहर्षभाव के स्थान नहीं हैं।। ३९।।

णो ठिदिबंधट्ठाणा जीवस्स ण उदयठाणा वा।
णो अणुभागट्ठाणा जीवस्स ण उदयठाणा वा।। ४०।।

जीव के स्थितिबन्ध स्थान नहीं है, प्रकृतिस्थान नहीं है, प्रदेशस्थान नही है, अनुभागस्थान नहीं है और उदयस्थान नही है।

भावार्थ - प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश की अपेक्षा बन्ध के चार भेद हैं सो जीव के चारों ही प्रकार के बन्धस्थान नहीं है। जब बन्धस्थान नही है तब उदयस्थान कैसे हो सकते है ? वास्तव में बन्ध और उदय की अवस्था व्यवहारनय से है, यहां निश्चयनय की प्रधानता से उसका निषेध किया गया है।। ४०।।

णो खइयभावठाणा णो खयउवसमसहावठाणा वा।
ओदइयभावठाणा णो उवसमणे सहावठाणा वा।। ४१।।

जीव के क्षायिक भाव के स्थान नही है, क्षायोपशमिक स्वभाव के स्थान नहीं है, औदयिकभाव के स्थान नहीं है और औपशमिक स्वभाव के स्थान नहीं है।

भावार्थ - कर्मों की क्षय, क्षयोपशम, उपशम और उदय रूप अवस्थाओं में होने वाले भाव क्रम से क्षायिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक और औदयिक भाव कहलाते है। ये परनिमित्त से होने के कारण जीव के स्वभाव स्थान नहीं हैं। निश्चयनय जीव के कर्मबन्ध का स्वीकृत नहीं करना इसलिये कर्मों के निमित्त से होने वाली अवस्थाएं भी जीव की नही है।। ४१।।

चउगइभवसंभमणं जाइ जरामरणरोयसोका य।
कुलजोणिजीवमग्गणठाणा जीवस्स णो संति।। ४२।।

जीव के चतुर्गति रूप संसार में परिभ्रमण, जन्म, मरण, रोग, शोक, कुल, योनि, जीवस्थान और मार्गणास्थान नहीं है।। ४२।।

णिद्दंडो णिद्दंदो णिम्ममो णिक्कलो णिरालंबो।
णीरागो णिद्दोसो णिम्मूढो णिब्भयो अप्पा।। ४३।।

आत्मा निर्दण्ड - मन, वचन, काय के व्यापार से रहित है, निर्द्वन्द्व है, निर्मम है, निष्कल - शरीररहित है, निरालम्ब है, नीराग है, निर्दोष है, निर्मूढ है और निर्भय है।। ४३।।

णिग्गंथो णीरागो णिस्सल्लो सयलदोसणिम्मुक्को।
णिक्कामो णिक्कोहो णिम्माणो णिम्मदो अप्पा।। ४४।।

आत्मा निर्ग्रन्थ है, नीराग है, नि शल्य है, सकल दोषों से निर्मुक्त है, निष्काम है, निष्क्रोध है, निर्मान है और निर्मद है।। ४४।।

वण्णरसगंधफासा थीपुंणओसयादिपज्जाया।
संठाणा संहणणा सव्वे जीवस्स णो संति।। ४५।।

वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श, स्त्री, पुरुष, नपुंसकादि पर्याय, संस्थान और संहनन ये सभी जीव के नहीं है।। ४५।।

तब फिर जीव कैसा है ?

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं।। ४६।।

जीव को रसरहित, रूपरहित, गन्धरहित, (अत एव बाह्य में) अव्यक्त - अप्रकट, चेतनागुण से सहित, शब्दरहित, लिंग अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा अग्राह्य और किसी निर्दिष्ट आकार से रहित जानो।। ४६।।

जारिसिया सिद्धप्पा भवमल्लिय जीव तारिया होंति।
जरमरणजम्ममुक्का अट्ठगुणालंकिया जेण।। ४७।।

जैसे सिद्धात्माएं हैं वैसे ही संसारी जीव हैं क्योंकि (स्वभावदृष्टि से वे भी) जरा, मरण और जन्म से रहित तथा सम्यक्त्वादि आठ गुणों से अलंकृत हैं।। ४७।।

असरीरा अविणासा अणिंदिया णिम्मला विसुद्धप्पा।
जह लोयग्गे सिद्धा तह जीवा संसिदी णेया।। ४८।।

जिस प्रकार लोकाग्र में स्थित सिद्ध भगवान् शरीररहित, अविनाशी, अतीन्द्रिय, निर्मल और विशुद्धात्मा हैं उसी प्रकार (स्वभादृष्टि से) संसार में स्थित जीव जो शरीररहित, अविनाशी, अतीन्द्रिय, निर्मल और विशुद्धात्मा हैं।। ४८।।

एदे सव्वे भावा ववहारणयं पडुच्च भणिदा हु।
सव्वे सिद्धसहावा सुद्धणया संसिदी जीवा।। ४९।।

वास्तव में ये सब भाव व्यवहारनय की अपेक्षा कहे गये हैं। शुद्ध नय से ससार में रहने वाले सब जीव सिद्ध स्वभाव वाले हैं।

भावार्थ - यद्यपि संसारी जीव की वर्तमान पर्याय दूषित है तो भी उसे द्रव्य स्वभाव की अपेक्षा सिद्ध भगवान् के समान कहा गया है।। ४९।।

परद्रव्य हेय है और स्वद्रव्य उपादेय है -

पुव्वुत्तसयलभावा परदव्वं परसहावमिदि हेयं।
सगदव्वमुवादेयं अंतरतच्चं हवे अप्पा।। ५०।।

पहले कहे हुए समस्तभाव परद्रव्य तथा परस्वभाव हैं इसलिये हेय हैं - छोड़ने के योग्य हैं और आत्मा अन्तस्तत्व - स्वभाव तथा स्वद्रव्य है अत उपादेय है।।५०।।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के लक्षण तथा उनकी उत्पत्ति के कारण -

विवरीयाभिणिवेसविवज्जियसद्दहणमेव सम्मत्तं।
संसयविमोहविब्भमविवज्जियं होदि सण्णाणं।।५१।।
चलमलिणमगाढत्तविवज्जिय सद्दहणमेव सम्मत्तं।
अधिगमभावो णाणं हेयोपादेयतच्चाणं।।५२।।
सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा।
अंतरहेऊ भणिदा दंसणमोहस्स खयपहुदी।।५३।।
सम्मत्तं सण्णाणं विज्जदि मोक्खस्स होदि सुण चरणं।
ववहारणिच्छएण दु तम्हा चरणं पवक्खामि।।५४।।
ववहारणयचरित्ते ववहारणयस्स होदि तवचरणं।
णिच्छयणयचारित्ते तवचरणं होदि णिच्छयदो।।५५।।

विपरीत अभिप्राय से रहित श्रद्धान ही सम्यक्त्व है तथा सशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है।।५१।।

(अथवा) चल, मलिन और अगाढत्व दोष से रहित श्रद्धान ही सम्यक्त्व है और हेयोपादेय तत्वों का ज्ञान होना ही सम्यग्ज्ञान है।।५२।।

सम्यक्त्व का बाह्य निमित्त जिनसूत्र - जिनागम और उसके ज्ञायक पुरुष हैं तथा अन्तरंग निमित्त दर्शनमोहनीय कर्म का क्षय आदि कहा गया है।

भावार्थ - निमित्त कारण के दो भेद हैं एक बहिरंग निमित्त और दूसरा अन्तरग निमित्त। सम्यक्त्व की उत्पत्ति का बहिरंग निमित्त जिनागम और उसके ज्ञाता पुरुष हैं तथा अन्तरग निमित्त दर्शनमोहनीय अर्थात् मिथ्यात्व, सम्यङ् मिथ्यात्व तथा सम्यक्त्वप्रकृति एव अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ इन प्रकृतियों का उपशम, क्षय और क्षयोपशम का होना है। बहिरंग निमित्त के मिलने पर कार्य की सिद्धि होती भी है और नहीं भी होती परन्तु अन्तरग निमित्त के मिलने पर कार्य की सिद्धि नियम से होती है।।५३।।

सम्यक्त्व और सम्यग्ज्ञान तो मोक्ष के लिये हैं ही, सुन, सम्यक्चारित्र भी मोक्ष के लिये है इसलिये मैं व्यवहार और निश्चय नय से सम्यक्चारित्र को कहूंगा।

भावार्थ - मोक्ष प्राप्ति के लिये जिस प्रकार सम्यक्त्व और सम्यग्ज्ञान आवश्यक कहे गये हैं उसी प्रकार सम्यक्चारित्र को आवश्यक कहा गया है इसलिये यहां व्यवहार और निश्चय दोनों नयों के आलम्बन से सम्यक्चारित्र को कहूंगा।।५४।।

व्यवहारनय के चारित्र में व्यवहारनय का तपश्चरण होता है और निश्चयनय के चारित्र में निश्चय नय का तपश्चरण होता है।

भावार्थ - व्यवहारनय से पापक्रिया के त्याग को चारित्र कहते हैं इसलिये इस चारित्र में व्यवहारनय के विषयभूत अनशन-ऊनोदर आदि को तप कहा जाता है। तथा निश्चयनय से निजस्वरूप में अविचल स्थिति को चारित्र कहा है इसलिये इस चारित्र में निश्चयनय के विषयभूत सहज निश्चयनयात्मक परमभाव स्वरूप परमात्मा में प्रतपन को तप कहा है।।५५।।

इस प्रकार श्री कुन्दकुन्दाचार्य विरचित नियमसार ग्रन्थ में शुद्धभावाधिकार नाम का तीसरा अधिकार समाप्त हुआ।३।

व्यवहारचारित्राधिकारः

अहिंसा महाव्रत का स्वरूप

कुलजोणिजीवमग्गणठाणाइसु जाणऊण जीवाणं।
तस्सारंभणियत्तणपरिणामो होइ पढमवदं।। ५६।।

कुल, योनि, जीवसमास तथा मार्गणास्थान आदि में जीवों का ज्ञानकर उनके आरम्भ से निवृत्तिरूप जो परिणाम है वह पहला अहिंसा महाव्रत है।। ५६।।

सत्य महाव्रत का स्वरूप

रागेण व दोसेण व मोहेण व मोसभासपरिणामं।
जो पजहदि साहु सया बिदियवयं होइ तस्सेव।। ५७।।

जो साधु राग से, दोष से अथवा मोह से असत्यभाषा के परिणाम को छोड़ता है उसी के सदा दूसरा सत्य महाव्रत होता है।। ५७।।

अचौर्य महाव्रत का स्वरूप

गामे व णयरे वारण्णे वा पेछिऊण परमत्थ।
जो मुचदि गहणभावं तिदियवदं होदि तस्सेव।। ५८।।

जो ग्राम में, नगर में अथवा वन में परकीय वस्तु को देखकर उसके ग्रहण के भाव को छोड़ता है उसी के तीसरा अचौर्य महाव्रत होता है।। ५८।।

ब्रह्मचर्य महाव्रत का स्वरूप

दट्ठूण इच्छिरुवं वांछाभावं णिवत्तदे तासु।
मेहुणसण्णविवज्जिय परिणामो अहव तुरीयवदं।। ५९।।

जो स्त्रियों के रूप को देखकर उनमें वांछा भाव को छोड़ता है अथवा मैथुनसंज्ञा से रहित जिसके परिणाम हैं उसी के चौथा ब्रह्मचर्य महाव्रत होता है।। ५९।।

परिग्रहत्याग महाव्रत का स्वरूप

सव्वेसिं गंथाणं चागो णिरवेक्खभावणापुव्वं।
पंचमवदमिदि भणिदं चारित्तभरं वहंतस्स।। ६०।।

निरपेक्ष भावनापूर्वक अर्थात् ससार सम्बन्धी किसी भोगोपभोग अथवा मान-सम्मान की इच्छा नहीं रखते हुए समस्त परिग्रहों का जो त्याग है, चारित्र के भार को धारण करने वाले मुनि का वह पाचवा परिग्रहत्याग महाव्रत कहा गया है।। ६०।।

ईर्यासमिति का स्वरूप

पासुगमग्गेण दिवा अवलोगंतो जुगप्पमाणं हि।
गच्छइ पुरदो समणो इरियासमिदी हवे तस्स।। ६१।।

जो साधु दिन में प्रासुक - जीव जन्तु रहित मार्ग से युग प्रमाण - चार हाथ प्रमाण भूमि को देखता हुआ आगे चलता है उसके ईर्यासमिति होती है।। ६१।।

भाषासमिति का स्वरूप

पेसुण्णहासकक्कसपरणिंदप्पप्पसंसियं वयणं।
परिचत्ता सपरहिदं भासासमिदी वदंतस्स।। ६२।।

पैशुन्य - चुगली, हास्य, कर्कश, परनिन्दा और आत्मप्रशंसा रूप वचन को छोडकर स्वपर हितकारी वचन को बोलने वाले साधु के भाषासमिति होती है।। ६२।।

एषणासमिति का स्वरूप

कदकारिदाणुमोदणरहिदं तह पासुगं पसत्थं च।
दिण्णं परेण भत्तं समभुत्ती एसणासमिदी।। ६३।।

पर के द्वारा दिए हुए, कृत, कारित, अनुमोदना से रहित, प्रासुक तथा प्रशस्त आहार को ग्रहण करने वाले साधु के एषणासमिति होती है।। ६३।।

आदाननिक्षेपणसमिति का स्वरूप

पोथइकमंडलाइं गहणविसग्गेसु पयत्तपरिणामो।
आदावणणिक्खेवणसमिदी होदित्ति णिद्दिट्ठा।। ६४।।

पुस्तक तथा कमण्डलु आदि को ग्रहण करते अथवा रखते समय जो प्रमाद रहित परिणाम है वह आदान-निक्षेपण समिति होती है ऐसा कहा गया है।। ६४।।

प्रतिष्ठापनसमिति का स्वरूप

पासुगभूमिपदेसे गूढे रहिए परोपरोहेण।
उच्चारादिच्चागो पइठासमिदी हवे तस्स।। ६५।।

पर की रुकावट से रहित, गूढ और प्रासुक भूमि प्रदेश में जिसके मल आदिक का त्याग हो उसके प्रतिष्ठापनसमिति होती है।। ६५।।

मनोगुप्ति का लक्षण

कालुस्समोहसण्णारागद्दोसाइअसुहभावाणं ।
परिहारो मणगुत्ती ववहारणयेण परिकहियं।। ६६।।

कलुषता, मोह, सञ्ज्ञा, राग, द्वेष आदि अशुभ भावों का जो त्याग है उसे व्यवहारनय से मनोगुप्ति कहा गया है।। ६६।।

वचनगुप्ति का लक्षण

थीराजचोरभत्तकहादिवयणस्स पावहेउस्स।
परिहारो वचगुत्ती अलीयादिणियत्तिवयणं वा।। ६७।।

पाप के कारणभूत स्त्री, राज, चोर और भोजन कथा आदि सम्बन्धी वचनों का परित्याग अथवा असत्य आदि के त्यागरूप जो वचन हैं वह वचनगुप्ति है।। ६७।।

कायगुप्ति का लक्षण

बंधणछेदणमारण आकुंचण तह पसारणादीया।
कायकिरियाणियत्ती णिद्दिट्ठा कायगुत्तित्ति।। ६८।।

बांधना, छेदना, मारना, सकोड़ना तथा पसारना आदि शरीर सम्बन्धी क्रियाओं से निवृत्ति होना कायगुप्ति कही गई है।। ६८।।

निश्चय नय से मनोगुप्ति और वचनगुप्ति का स्वरूप

जा रायादिणियत्ती मणस्स जाणीहि तम्मणोगुत्ती।
अलियादिणियत्तिं वा मोणं वा होइ वदिगुत्ती।। ६९।।

मन की जो रागादि परिणामों से निवृत्ति है उसे मनोगुप्ति जानो और असत्यादिक से निवृत्ति अथवा मौन धारण करना वचनगुप्ति है।। ६९।।

निश्चयनय से कायगुप्ति का स्वरूप

कायकिरियाणियत्ती काउस्सग्गो सरीरगे गुत्ती।
हिंसाइणियत्ती वा सरीरगुत्तित्ति णिदिट्ठा।। ७०।।

शरीर सम्बन्धी क्रियाओं का त्याग करना अथवा कायोत्सर्ग करना कायगुप्ति है अथवा हिंसादिपापों से निवृत्ति होना कायगुप्ति है ऐसा कहा गया है।। ७०।।

अर्हन्त परमेश्वर का स्वरूप

घणघाइकम्मरहिया केवलणाणाइ परमगुणसहिया।
चोत्तिसअदिसअजुत्ता अरिहंता एरिसा होंति।। ७१।।

घन - अत्यन्त अहितकारी घातिया कर्मों से रहित, केवलज्ञानादि परमगुणों से सहित और चौंतीस अतिशयों से सहित ऐसे अरहन्त होते हैं।। ७१।।

सिद्ध परमेष्ठी का स्वरूप

णट्ठट्ठकम्मबंधा अट्ठमहागुणसमण्णिया परमा।
लोयग्गठिदा णिच्चा सिद्धा ते एरिसा होंति।। ७२।।

जिन्होंने अष्टकर्मों का बन्ध नष्ट कर दिया है, जो आठ महागुणों से सहित हैं उत्कृष्ट हैं, लोक के अग्रभाग में स्थित हैं तथा नित्य हैं वे ऐसे सिद्ध परमेष्ठी होते हैं।। ७२।।

आचार्य परमेष्ठी का स्वरूप

पंचाचारसमग्गा पंचिंदियदंतिदप्पणिद्दलणा।
धीरा गुणगंभीरा आयरिया एरिया होंति।। ७३।।

जो पांच प्रकार के (दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य) आचारों से परिपूर्ण हैं, पाच इन्द्रिय रूपी हस्तियों के गर्व को चूर करने वाले हैं, धीर हैं तथा गुणों से गंभीर हैं ऐसे आचार्य होते हैं।। ७३।।

उपाध्याय परमेष्ठी का स्वरूप

रयणत्तयसंजुत्ता जिणकहियपयत्थदेसया सूरा।
णिक्कंखभावसहिया उवज्झाया एरिसा होंति।। ७४।।

जो रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र) से संयुक्त हैं, जो जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे हुए पदार्थों का उपदेश करने वाले हैं, शूरवीर हैं, परिषह आदि के सहने में समर्थ हैं तथा निष्कांक्षभाव से सहित हैं अर्थात जो उपदेश के बदले किसी पदार्थ की इच्छा नहीं रखते हैं ऐसे उपाध्याय होते हैं।। ७४।।

साधु परमेष्ठी का स्वरूप

वावारविप्पमुक्का चउव्विहाराहणासयारत्ता।
णिग्गंथा णिम्मोहा साहू एदेरिसा होंति।। ७५।।

जो व्यापार से सर्वथा रहित हैं, चार प्रकार की (दर्शन, ज्ञान, चारित्र एवं तप) आराधनाओं में सदा लीन रहते हैं, परिग्रह रहित हैं तथा निर्मोह हैं ऐसे साधु होते हैं।। ७५।।

व्यवहारनय के चारित्र का समारोपकर निश्चयनय के चारित्र का वर्णन करने की प्रतिज्ञा -

एरिसयभावणाए ववहारणयस्स होदि चारित्तं।
णिच्छयणयस्स चरणं एत्तो उड्ढं पवक्खामि।। ७६।।

इस प्रकार की भावना से व्यवहारनय का चारित्र होता है अब इसके आगे निश्चयनय के चारित्र को कहूंगा।। ७६।।

इस प्रकार श्री कुन्दकुन्दाचार्य विरचित नियमसार ग्रन्थ में व्यवहारचारित्राधिकार नाम का चौथा अधिकार समाप्त हुआ। ४।

●

परमार्थप्रतिक्रमणाधिकारः

णाहं णारयभावो तिरियत्थो मणुवदेवपज्जाओ।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं।। ७७।।
णाहं मग्गणठाणो णाहं गुणठाण जीवठाणो व।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं।। ७८।।
णाहं बालो वुड्ढो ण चेव तरुणो ण कारणं तेसिं।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं।। ७९।।
णाहं रागो दोसो ण चेव मोहो ण कारणं तेसिं।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं।। ८०।।
णाहं कोहो माणो ण चेव माया ण होमि लोहोहं।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं।। ८१।।

मैं नारक पर्याय, तिर्यंच पर्याय, मनुष्यपर्याय अथवा देवपर्याय नहीं हूं। निश्चय से मैं उनका न कर्ता हूं, न कराने वाला हूं और न करने वालों की अनुमोदना करने वाला हूं।। ७७।।

मैं मार्गणास्थान नहीं हूं, गुणस्थान नहीं हूं, और न जीवस्थान हूं। निश्चय से मैं उनका न करने वाला हूं, न कराने वाला हूं और न करने वालों की अनुमोदना कराने वाला हूं।। ७८।।

मैं बालक नहीं हूं, वृद्ध नहीं हूं, तरुण नहीं हूं और न उनका कारण हूं। निश्चय से मैं उनका करने वाला नहीं हूं, कराने वाला नहीं हूं और करने वालों की अनुमोदना करने वाला नहीं हूं।। ७९।।

मैं राग नहीं हूं, द्वेष नहीं हूं, मोह नहीं हूं और न उनका कारण हूं। मैं उनका करने वाला नहीं हूं, कराने वाला नहीं हूं और करने वालों की अनुमोदना करने वाला नहीं हूं।। ८०।।

मैं क्रोध नहीं हूं, मान नहीं हूं, माया नहीं हूं और लोभ नहीं हूं। मैं उनका करने वाला नहीं हूं, कराने

वाला नही हूं और करने वालो की अनुमोदना करने वाला नही हूं।। ८१।।

एरिसभेदब्भासे मज्झत्थो होदि तेण चारित्तं।
तं दढकरणणिमित्तं पडिक्कमणादी पवक्खामि।। ८२।।

इस प्रकार के भेद ज्ञान का अभ्यास होने पर जीव मध्यस्थ होता है और उस मध्यस्थभाव से चारित्र होता है। आगे उसी चारित्र मे दृढ करने के लिये प्रतिक्रमण आदि को कहूंगा।। ८२।।

प्रतिक्रमण किसके होता है ?

मोत्तूण वयणरयणं रागादीभाववारणं किच्चा।
अप्पाणं जो झायदि तस्स दु होदित्ति पडिकमण।। ८३।।

जो वचनों की रचना को छोडकर तथा रागादिभावों का निवारण कर आत्मा का ध्यान करता है उसके प्रतिक्रमण होता है।। ८३।।

आराहणाइ वट्टइ मोत्तूण विराहणं विसेसेण।
सो पडिकमणं उच्चइ पडिक्कमणमओ हवे जम्हा।। ८४।।

जो विराधना को विशेष रूप से छोडकर आराधना मे वर्तता है वह साधु प्रतिक्रमण कहा जाता है क्योंकि वह प्रतिक्रमणमय है।

भावार्थ - यहां अभेद विवक्षा के कारण प्रतिक्रमण करने वाले साधु को ही प्रतिक्रमण कहा गया है।। ८४।।

मोत्तूण अणायारं आयारे जो दु कुणदि थिरभाव।
सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा।। ८५।।

जो साधु अनाचार को छोडकर आचार में स्थिरभाव करता है वह प्रतिक्रमण कहा जाता है क्योंकि वह प्रतिक्रमणमय होता है।। ८५।।

उम्मग्गं परिचत्ता जिणमग्गे जो दु कुणदि थिरभाव।
सो पडिकमण उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा।। ८६।।

जो उन्मार्ग को छोडकर जिनमार्ग में स्थिरभाव करता है वह प्रतिक्रमण कहलाता है क्योंकि वह प्रतिक्रमणमय होता है।। ८६।।

मोत्तूण सल्लभावं णिस्सल्ले जो दु साधु परिणमदि।
सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा।। ८७।।

जो साधु शल्यभाव को छोडकर नि शल्यभाव मे परिणमन करता है - उस रूप प्रवृत्ति करता है वह प्रतिक्रमण कहा जाता है क्योंकि वह प्रतिक्रमणमय है।। ८७।।

चत्ता ह्यगुत्तिभावं तिगुत्तिगुत्तो हवेइ जो साहू।
सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा।। ८८।।

जो साधु अगुप्तिभाव को छोडकर तीन गुप्तियों से गुप्त - सुरक्षित रहता है वह प्रतिक्रमण कहा जाता है क्योंकि वह प्रतिक्रमणमय होता है।। ८८।।

मोत्तूण अट्टरुद्दं झाणं जो झादि धम्मसुक्कं वा।
सो पडिकमणं उच्चइ जिणवरणिद्दिट्ठसुत्तेसु।। ८९।।

जो आर्त्त और रौद्र ध्यान को छोडकर धर्म अथवा शुक्लध्यान का ध्यान करता है वह जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कथित शास्त्रों में प्रतिक्रमण कहा जाता है।। ८९।।

मिच्छत्तपहुदिभावा पुव्वं जीवेण भाविया सुइरं।
सम्मत्तपहुदिभावा अभाविया होंति जीवेण।। ९०।।

जीव ने पहले चिर काल तक मिथ्यात्व आदि भाव भाये हैं। सम्यक्त्व आदि भाव जीव ने नही भाये हैं।। ९०।।

मिच्छादंसणणाणचरित्तं चइऊण णिरवसेसेण।
सम्मत्तणाणचरणं जो भावइ सो पडिकमण।। ९१।।

जो सम्पूर्ण रूप से मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र को छाडकर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की भावना करता है वह प्रतिक्रमण है।। ९१।।

आत्मध्यान ही प्रतिक्रमण है

उत्तमअट्ठ आदा तम्हि ठिदा हणदि मुणिवरा कम्मं।
तम्हा दु झाणमेव हि उत्तमअट्ठस्स पडिकमणं।। ९२।।

उत्तमार्थ आत्मा है उसमें स्थिर मुनिवर कर्म का घात करते हैं इसलिये उत्तमार्थ - उत्कृष्ट पदार्थ आत्मा का ध्यान करना ही प्रतिक्रमण है।। ९२।।

झाणणिलीणो साहू परिचाग कुणइ सव्वदोसाणं।
तम्हा दु झाणमेव हि सव्वदिचारस्स पडिकमणं।। ९३।।

ध्यान में विलीन साधु सब दोषो का परित्याग करता है इसलिये निश्चय से ध्यान ही सब अतिचारों समस्त दोषों का प्रतिक्रमण है।। ९३।।

व्यवहार प्रतिक्रमण का वर्णन

पडिकमणणामधेये सुत्ते जह वण्णिद पडिक्कमणं।
तह णच्चा जो भावइ तस्स तदा होदि पडिक्कमणं।। ९४।।

प्रतिक्रमण नामक शास्त्र में जिस प्रकार प्रतिक्रमण का वर्णन किया गया है उसे जानकर जो उसकी भावना करता है उस समय उसके प्रतिक्रमण होता है।। ९४।।

इस प्रकार श्रीकुन्दकुन्दाचार्य विरचित नियमसार ग्रन्थ मे परमार्थप्रतिक्रमण नाम का पाचवा अधिकार पूर्ण हुआ।५।

निश्चयप्रत्याख्यानाधिकार:

मोत्तूण सयलजप्पमणागयसुहमसुहवारणं किच्चा।
अप्पाणं जो झायदि पच्चक्खाणं हवे तस्स।। ९५।।

जो समस्त वचन जाल को छोडकर तथा आगामी शुभ-अशुभ का निवारणकर आत्मा का ध्यान करता है उसके प्रत्याख्यान होता है।। ९५।।

आत्मा का ध्यान किस प्रकार किया जाता है ?

केवलणाणसहावो केवलदंसणसहावसुहमइओ।
केवलसत्तिसहावो सोहं इदि चिंतए णाणी।। ९६।।

ज्ञानी जीव को इस प्रकार चिन्तन करना चाहिये कि मै केवलज्ञान स्वभाव हूं, केवलदर्शन स्वभाव हूं, सुखमय हूं और केवलशक्ति स्वभाव हूं।

भावार्थ - ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य ही मेरे स्वभाव हैं अन्य भाव विभाव हैं इस प्रकार ज्ञानी जीव आत्मा का ध्यान करते हैं।। ९६।।

णियभावं णवि मुच्चइ परभावं णेव गेण्हए केइं।
जाणदि पस्सदि सव्वं सोहं इदि चिंतए णाणी।। ९७।।

जो निजस्वभाव को नहीं छोड़ता है, परभाव को कुछ भी ग्रहण नहीं करता है, मात्र सबको जानता देखता है वह मै हूं, इस प्रकार ज्ञानी जीव को चिन्तन करना चाहिये।। ९७।।

पयडिट्ठिदि अणुभागप्पदेसबंधेहिं वज्जिदो अप्पा।
सोहं इदि चिंतिज्जो तत्थेव य कुणदि थिरभावं।। ९८।।

प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बन्धों से रहित जो आत्मा है वहीं मैं हूं, इस प्रकार चिन्तन करता हुआ ज्ञानी जीव उसी आत्मा में स्थिरभाव को करता है।। ९८।।

ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो।
आलंबणं च मे आदा अवसेसं च वोसरे।। ९९।।

मै ममत्व को छोडता हूं और निर्ममत्व में स्थित होता हूं, मेरा आलम्बन आत्मा है और शेष सबका परित्याग करता हूं।। ९९।।

आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे।। १००।।

निश्चय से मेरा आत्मा ही ज्ञान में है, मेरा आत्मा ही दर्शन और चारित्र में है, आत्मा ही प्रत्याख्यान में है और आत्मा ही संवर और योग - शुद्धोपयोग में है।

भावार्थ - गुण गुणी में अभेद कर आत्मा ही को ज्ञान, दर्शन, चारित्र, प्रत्याख्यान, संवर तथा शुद्धोपयोग रूप कहा है।। १००।।

जीव अकेला ही जन्म मरण करता है

एगो य मरदि जीवो एगो य जीवदि सयं।
एगस्स जादि मरणं एगो सिज्झदि णीरयो।। १०१।।

यह जीव अकेला ही मरता है और अकेला ही स्वयं जन्म लेता है। एक का मरण होता है और एक ही कर्म रूपी रज से रहित होता हुआ सिद्ध होता है।। १०१।।

ज्ञानी जीव की भावना

एको मे सासदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा।। १०२।।

ज्ञान, दर्शन लक्षण वाला, शाश्वत एक आत्मा ही मेरा है सयोग लक्षण वाले शेष समस्त भाव मुझसे बाह्य है।। १०२।।

आत्मगत दोषों से छूटने का उपाय

जं किंचि मे दुच्चरित्तं सव्वं तिविहेण वोसरे।
सामाइयं तु तिविहं करेमि सव्वं णिरायारं।। १०३।।

मेरा जो कुछ भी दुश्चारित्र - अन्यथा प्रवर्तन है उस सबको त्रिविध - मन, वचन, काय से छोडता हू और जो त्रिविध (सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि के भेद से तीन प्रकार का) चारित्र है उस सबको निराकार - निर्विकल्प करता हूं।। १०३।।

सम्मं मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केणवि।
आसाए वोसरित्ता णं समाहि पडिवज्जए।। १०४।।

मेरा सब जीवों में साम्यभाव है, मेरा किसी के साथ वैर नहीं है। वास्तव में आशाओं का परित्याग कर समाधि प्राप्त की जाती है।। १०४।।

निश्चय प्रत्याख्यान का अधिकारी कौन है ?

णिक्कसायस्स दंतस्स सूरस्स ववसायिणो।
संसारभयभीदस्स पच्चक्खाणं सुहं हवे।। १०५।।

जो निष्कषाय है, इन्द्रियों का दमन करने वाला है, समस्त परीषहों को सहन करने में शूरवीर है, उद्यमशील है तथा संसार के भय से भीत है उसी के सुखमय प्रत्याख्यान - निश्चयप्रत्याख्यान होता है।। १०५।।

एवं भेदब्भासं जो कुव्वइ जीवकम्मणो णिच्चं।
पच्चक्खाणं सक्कदि धरिदे सो संजदो णियमा।। १०६।।

इस प्रकार जो निरन्तर जीव और कर्म के भेद का अभ्यास करता है वह संयत - साधु नियम से प्रत्याख्यान धारण करने को समर्थ है।। १०६।।

इस प्रकार श्री कुन्दकुन्दाचार्य विरचित नियमसार ग्रन्थ में निश्चयप्रत्याख्यानाधिकार नाम का छठवा अधिकार पूर्ण हुआ। ६।

*

परमालोचनाधिकार:

आलोचना किसके होती है ?

णोकम्मकम्मरहियं विहावगुणपज्जएहिं वदिरित्तं।
अप्पाणं जो झायदि समणस्सालोयणं होदि।। १०७।।

जो नोकर्म और कर्म से रहित तथा विभावगुण पर्यायों से भिन्न आत्मा का ध्यान करता है उस साधु के आलोचना होती है।। १०७।।

आलोचना के चार रूप

आलोयणमालुंछणवियडीकरणं च भावसुद्धी य।
चउविहमिह परिकहियं आलोयणलक्खणं समए।। १०८।।

आलोचन, आलुंछन, अविकृतीकरण और भावशुद्धि इस तरह आगम में आलोचना का लक्षण चार प्रकार का कहा गया है।। १०८।।

आलोचन का स्वरूप

जो पस्सदि अप्पाणं समभावे संठवित्तु परिणामं।
आलोयणमिदि जाणह परमजिणंदस्स उवएसं।। १०९।।

जो जीव अपने परिणाम को समभाव में स्थापित कर अपने आत्मा को देखता है - उसके वीतराग स्वभाव का चिन्तन करता है वह आलोचन है ऐसा परम जिनेन्द्र का उपदेश जानो।। १०९।।

आलुंछन का स्वरूप

कम्ममहीरुहमूलच्छेदसमत्थो सकीय परिणामो।
साहीणो समभावो आलुंछणमिदि समुद्दिट्ठं।। ११०।।

कर्म रूप वृक्ष का मूलच्छेद करने में समर्थ, स्वाधीन, समभाव रूप जो अपना परिणाम है वह आलुंछन इस नाम से कहा गया है।। ११०।।

अविकृतीकरण का स्वरूप

कम्मादो अप्पाणं भिण्णं भावेइ विमलगुणणिलयं।
मज्झत्थभावणाए वियडीकरणं त्ति विण्णेयं।। १११।।

जो मध्यस्थभावना में कर्म से भिन्न तथा निर्मल गुणों के निवास स्वरूप आत्मा की भावना करता है उसकी वह भावना अविकृतीकरण है ऐसा जानना चाहिये।। १११।।

भावशुद्धि का स्वरूप

मदमाणमायलोहविवज्जियभावो दु भावसुद्धि त्ति।
परिकहियं भव्वाणं लोयालोयप्पदरिसीहिं।। ११२।।

भव्य जीवों का मद, मान, माया और लोभ से रहित जो भाव है वह भावशुद्धि है ऐसा लोकालोक के देखने वाले सर्वज्ञ भगवान् ने कहा है।। ११२।।

इस प्रकार श्रीकुन्दकुन्दाचार्य विरचित नियमसार ग्रन्थ में परमालोचनाधिकार नाम का सातवां अधिकार समाप्त हुआ। ७।

*

शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्ताधिकार:

निश्चय प्रायश्चित्त का स्वरूप

वदसमिदिसीलसंजमपरिणामो करणणिग्गहो भावो।
सो हवदि पायछित्तं अणवरयं चेव कायव्वो।। ११३।।

व्रत, समिति, शील और संयम रूप परिणाम, तथा इन्द्रिय निग्रहरूप जो भाव है वह प्रायश्चित्त है। यह प्रायश्चित्त निरन्तर करने योग्य है।। ११३।।

कोहादिसगब्भावक्खयपहुदिभावणाए णिग्गहणं।
पायच्छित्तं भणिदं णियगुणचिंता य णिच्छयदो।। ११४।।

क्रोधादिक स्वकीय विभाव भावों के क्षय आदिक की भावना में लीन रहना तथा निजगुणों का चिन्तन करना निश्चय से प्रायश्चित्त कहा गया है।। ११४।।

कषायों पर विजय प्राप्त करने का उपाय

कोहं खमया माणं समद्दवेणज्जवेण मायं च।
संतोसेण य लोहं जयदि खु ए चहुविहकसाए।। ११५।।

क्रोध को क्षमा से, मान को स्वकीय मार्दव धर्म से, माया को आर्जव से और लोभ को सतोष से इस तरह चार कषायों को ज्ञानी जीव निश्चय से जीतता है।। ११५।।

निश्चय प्रायश्चित्त किसके होता है ?

उक्किट्ठो जो बोहो णाणं तस्सेव अप्पणो चित्तं।
जो धरइ मुणी णिच्चं पायच्छित्तं हवे तस्स।। ११६।।

उसी आत्मा का जो उत्कृष्ट बोध, ज्ञान अथवा चिन्तन है उसे जो मुनि निरन्तर धारण करता है उसके प्रायश्चित्त होता है।। ११६।।

किं बहुणा भणिएण दु वरतवचरण महेसिण सव्व।
पायच्छित्तं जाणह अणेयकम्माण खयहेउ।। ११७।।

बहुत कहने से क्या ? महर्षियो का जो उत्कृष्ट तपश्चरण है उस सबको तू अनेक कर्मों के क्षय का कारण प्रायश्चित्त जान।। ११७।।

तप प्रायश्चित्त क्यों है ?

णताणंतभवेण समज्जिअसुहअसुहकम्मसदोहो।
तवचरणेण विणस्सदि पायच्छित्तं तवं तम्हा।। ११८।।

क्योकि अनन्तानन्त भवों के द्वारा उपार्जित शुभ-अशुभ कर्मों का समूह तपश्चरण के द्वारा विनष्ट हो जाता है इसलिये तप प्रायश्चित्त है।। ११८।।

ध्यान ही सर्वस्व क्यों है ?

अप्पसरुवालबणभावेण दु सव्वभावपरिहार।
सक्कदि काउं जीवो तम्हा झाण हवे सव्व।। ११९।।

आत्मस्वरुप का अवलम्बन करने वाले भाव से जीव समस्त विभावभावों का निराकरण करने में समर्थ होता है इसलिये ध्यान ही सब कुछ है।। ११९।।

सुहअसुहवयणरयणं रायादीभाववारण किच्चा।
अप्पाणं जो झायदि तस्स दु णियम हवे णियमा।। १२०।।

शुभ-अशुभ वचनों की रचना तथा रागादिक भावों का निवारण कर जो आत्मा का ध्यान करता है उसके नियम से नियम अर्थात् रत्नत्रय होता है।। १२०।।

कायोत्सर्ग किसके होता है ?

कायाईपरदव्वे थिरभावं परिहरत्तु अप्पाणं।
तस्स हवे तणुसग्गं जो झायइ णिव्विअप्पेण।। १२१।।

जो शरीर आदि पर द्रव्य में स्थिर भाव को छोडकर निर्विकल्प रूप से आत्मा का ध्यान करता है उसके कायोत्सर्ग होता है।। १२१ ।।

इस प्रकार श्रीकुन्दकुन्दाचार्य विरचित नियमसार ग्रन्थ में शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्ताधिकार नाम का आठवां अधिकार समाप्त हुआ। ८।

परमसमाध्यधिकारः

परमसमाधि किसके होती है ?

वयणोच्चारणकिरियं परिचत्ता वीयरायभावेण।
जो झायदि अप्पाणं परमसमाही हवे तस्स।। १२२।।

जो वचनोच्चारण की क्रिया को छोडकर वीतराग भाव से आत्मा का ध्यान करता है उसके परमसमाधि होती है।। १२२।।

संजमणियमतवेण दु धम्मज्झाणेण सुक्कझाणेण।
जो झायइ अप्पाणं परमसमाही हवे तस्स।। १२३ ।।

जो सयम, नियम और तप से तथा धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान के द्वारा आत्मा का ध्यान करता है उसके परमसमाधि होतीहै।। १२३ ।।

समता के बिना सब व्यर्थ है

किं काहदि वणवासो कायकलेसो विचित्तउववासो।
अज्झयणमोणपहुदी समदा रहियस्स समणस्स।। १२४ ।।

समताभाव से रहित साधु का वनवास, कायक्लेश, नाना प्रकार का उपवास तथा अध्ययन और मौन आदि धारण करना क्या करता है ? कुछ नहीं।। १२४ ।।

स्थायी सामायिक व्रत किससे होता है ?

विरदो सव्वसावज्जे तिगुत्तो पिहिदिंदिओ।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे।। १२५ ।।

जो समस्त सावद्य - पाप सहित कार्यों में विरत है, तीन गुप्तियों को धारण करने वाला है तथा जिसने इन्द्रियों को निरुद्ध कर लिया है उसके स्थायी सामायिक होता है ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा गया है।। १२५ ।।

जो समो सव्वभूदेसु थावरेसु तसेसु वा।
तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे।। १२६ ।।

जो स्थावर और त्रस सब जीवों में समभाव वाला है उसके स्थायी सामायिक होता है ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा गया है।। १२६ ।।

जस्स सण्णिहिदो अप्पा संजमे णियमे तवे।
तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे।। १२७ ।।

'जिसका आत्मा संयम, नियम तथा तप में सन्निहित रहता है उसके स्थायी सामायिक होता है ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा गया है।। १२७।।

जस्स रागो दु दोसो दु विगडिं ण जणेदि दु।
तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे।। १२८।।

राग और द्वेष जिसके विकार उत्पन्न नहीं करते हैं उसके स्थायी सामायिक होता है ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा गया है।। १२८।।

जो दु अट्टं च रुद्दं च झाणं वज्जेदि णिच्चसा।
तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे।। १२९।।

जो निरन्तर आर्त्त और रौद्र ध्यान का परित्याग करता है उसके स्थायी सामायिक होता है ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा गया है।। १२९।।

जो दु पुण्णं च पावं च भावं वज्जेदि णिच्चसा।
तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे।। १३०।।

जो निरन्तर पुण्य और पापरूप भाव को छोडता है उसके स्थायी सामायिक होता है ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा गया है।। १३०।।

जो दु हस्सं रई सोगं अरतिं वज्जेदि णिच्चसा।
तस्स सामाइग ठाई इदि केवलिसासणे।। १३१।।
जो दुगुंछा भयं वेदं सव्वं वज्जेदि णिच्चसा।
तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे।। १३२।।

जो निरन्तर हास्य, रति, शोक और अरति का परित्याग करता है उसके स्थायी सामायिक होता है ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा गया है।। १३१।।

जो निरन्तर जुगुप्सा, भय और सब प्रकार के वेदों को छोडता है उसके स्थायी सामायिक होता है ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा गया है।। १३२।।

जो दु धम्मं च सुक्कं च झाणं झाएदि णिच्चसा।
तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे।। १३३।।

जो निरन्तर धर्म्य और शुक्लध्यान को करता है उसके स्थायी सामायिक होता है ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा गया है।। १३३।।

इस तरह श्री कुन्दकुन्दाचार्य विरचित नियमसार ग्रन्थ में परमसमाध्यधिकार नाम का नौवा अधिकार समाप्त हुआ। ९।

*

परमभक्त्यधिकारः

सम्मत्तणाणचरणे जो भत्तिं कुणइ सावगो समणो।
तस्स दु णिव्वुदिभत्ती होदि त्ति जिणेहि पण्णत्तं।। १३४।।

जो श्रावक अथवा मुनि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में भक्ति करता है उसे निर्वृत्तिभक्ति - मुक्ति की प्राप्ति होती है ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है।। १३४।।

मोक्खंगयपुरिसाणं गुणभेदं जाणिऊण तेसिं पि।

जो कुणदि परमभत्तिं ववहारणयेण परिकहियं।। १३५।।

मोक्ष को प्राप्त करने वाले पुरुषों के गुणभेद को जानकर उनकी भी परमभक्ति करता है उसे भी निर्वृत्ति भक्ति - मुक्ति की प्राप्ति होती है ऐसा व्यवहारनय से कहा गया है।। १३५।।

मोक्खपहे अप्पाणं ठविऊण य कुणदि णिव्वुदी भत्ती।

तेण दु जीवो पावइ असहायगुणं णियप्पाणं।। १३६।।

मोक्षमार्ग में अपने आपको स्थापित कर जो निर्वृत्तिभक्ति - मुक्ति की आराधना करता है उससे जीव असहाय - स्वापेक्ष गुणों से युक्त निज आत्मा को प्राप्त करता है।। १३६।।

रायादीपरिहारे अप्पाणं जो दु जुंजदे साहू।

सो जोगभत्तिजुत्तो इदरस्स य कह हवे जोगो।। १३७।।

जो साधु अपने आत्मा को रागादिक के परित्याग में लगाता है वह योगभक्ति से युक्त है अन्य साधु के योग कैसे हो सकता है ?।। १३७।।

सव्वविअप्पाभावे अप्पाणं जो दु जुंजदे साहू।

सो जोगभत्तिजुत्तो इदरस्स य किह हवे जोगो।। १३८।।

जो साधु अपने आत्मा को समस्त विकल्पों के अभाव मे लगाता है वह योग भक्ति से युक्त है अन्य साधु के योग किस प्रकार हो सकता है ?।। १३८।।

योग का लक्षण

विवरीयाभिणिवेसं परिचत्ता जोण्हकहियतच्चेसु।

जो जुंजदि अप्पाणं णियभावो सो हवे जोगो।। १३९।।

जो विपरीत अभिप्राय को छोडकर जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित तत्वों मे अपने आपको लगाता है उसका वह निजभाव ही योग है।। १३९।।

उसहादिजिणवरिंदा एवं काऊण जोगवरभत्तिं।

णिव्वुदिसुहमावण्णा तम्हा धरु जोगवरभत्तिं।। १४०।।

ऋषभादि जिनेन्द्र इस प्रकार योग की उत्तमभक्ति कर निर्वाण के सुख को प्राप्त हुए हैं इसलिये तू भी योग की उत्तम भक्ति को धारण कर।। १४०।।

इस प्रकार श्रीकुन्दकुन्दाचार्य विरचित नियमसार ग्रन्थ मे परमभक्त्यधिकार नाम का दशवां अधिकार समाप्त हुआ। १०।

निश्चयपरमावश्यकाधिकारः

आवश्यक शब्द की निरुक्ति

जो ण हवदि अण्णवसो तस्स दु कम्मं भणंति आवासं।
कम्मविणासणजोगो णिव्वुदिमग्गो त्ति पिज्जुत्तो।। १४१।।

जो अन्य के वश में नहीं होता उसके कार्य को आवश्य (आवश्यक) कहते हैं। कर्मों का नाश करने वाला जो योग है वह निर्वृत्ति - निर्वाण का मार्ग है ऐसा कहा गया है।। १४१।।

आवश्यक युक्ति का निरुक्तार्थ

ण वसो अवसो अवसस्स कम्म वावस्सयं त्ति बोधव्वा।
जुत्ति त्ति उवाअं ति य णिरवयवो होदि णिज्जेत्ति।। १४२।।

जो अन्य के वश नहीं है वह अवश है। और अवश का जो कर्म है वह आवश्यक (आवश्य) है ऐसा जानना चाहिये। युक्ति इसका अर्थ उपाय है। आवश्यक की जो युक्ति है वह आवश्यक युक्ति है इस तरह आवश्यक युक्ति शब्द का सम्पूर्ण निरुक्ति अर्थ है।

भावार्थ - शब्द से निकलने वाले अर्थ को निरुक्त अर्थ कहते हैं। यहा आवश्यक युक्ति शब्द का ऐसा ही अर्थ बतलाया गया है।। १४२।।

वट्टदि जो सो समणो अण्णवसो होदि असुहभावेण।
तम्हा तस्स दु कम्मं आवस्सयलक्खणं ण हवे।। १४३।।

जो साधु अशुभ भाव से प्रवृत्ति करता है वह अन्यवश है इसलिये उसका कार्य आवश्यक नाम से युक्त नही है।

भावार्थ - अवश साधु का कार्य आवश्यक है अन्यवश साधु का कार्य आवश्यक नही है।। १४३।।

जो चरदि संजदो खलु सुहभावे सो हवेइ अण्णवसो।
तम्हा तस्स दु कम्मं आवासयलक्खणं ण हवे।। १४४।।

जो साधु निश्चय से शुभभाव में प्रवृत्ति करता है वह अन्यवश है इसलिये उसका कर्म आवश्यक नाम वाला नही है।

भावार्थ- एक सौ तेतालीस तथा एक सौ चवालीसवीं गाथा में कहा गया है कि जो साधु शुभ और अशुभ भावों में प्रवृत्ति करता है वह अवश नहीं है किन्तु अन्यवश है इसलिये उसका जो कर्म है वह आवश्य अथवा आवश्यक नही कहला सकता।। १४४।।

दव्वगुणपज्जयाणं चित्तं जो कुणाइ सो वि अण्णवसो।
मोहंधयारववगयसमणा कहयंति एरिसय।। १४५।।

जो साधु द्रव्य, गुण और पर्यायों के मध्य में अपना चित्त लगाता है अर्थात उनके विकल्प में पडता है वह भी अन्यवश है ऐसा मोहरूपी अन्धकार से रहित मुनि कहते हैं।। १४५।।

आत्मवश कौन है ?

परिचत्ता परभावं अप्पाणं झादि णिम्मलसहावं।
अप्पवसो सो होदि हु तस्स दु कम्मं भणंति आवासं।। १४६।।

जो परपदार्थ को छोडकर निर्मलस्वभाव वाले आत्मा का ध्यान करता है वह आत्मवश है। निश्चय से उसके कर्म को आवश्यककर्म कहते हैं।। १४६।।

शुद्धनिश्चय आवश्यक प्राप्ति का उपाय

आवासं जइ इच्छसि अप्पसहावेसु कुणदि थिरभावं।
तेण दु सामण्णगुणं संपुण्णं होदि जीवस्स।। १४७।।

यदि तू आवश्यक की इच्छा करता है तो आत्मस्वभाव में अत्यन्त स्थिरभाव को कर। उससे ही जीव का श्रामण्यगुण - मुनिधर्म पूर्ण होता है।। १४७।।

आवश्यक करने की प्रेरणा

आवासएण हीणो पब्भट्ठो होदि चरणदो समणो।
पुव्वुत्तकमेण पुणो तम्हा आवासयं कुज्जा।। १४८।।

क्योंकि आवश्यक से रहित साधु चारित्र से अत्यन्तभ्रष्ट हैं इसलिये पूर्वोक्त क्रम से आवश्यक करना चाहिये।। १४८।।

आवासएण जुत्तो समणो सो होदि अंतरंगप्पा।
आवासय परिहीणो समणो सो होदि बहिरप्पा।। १४९।।

जो साधु आवश्यक कर्म से युक्त है वह अन्तरात्मा है और जो आवश्यक कर्म से रहित है वह बहिरात्मा है।। १४९।।

अंतरबाहिरजप्पे जो वट्टइ सो हवेइ बहिरप्पा।
जप्पेसु जो ण वट्टइ सो उच्चइ अंतरंगप्पा।। १५०।।

जो साधु अन्तर्जल्प और बाह्य जल्प में वर्तता है वह बहिरात्मा है और जो (किसी भी प्रकार के) जल्पों में नहीं वर्तता है वह अन्तरात्मा कहा जाता है।। १५०।।

जो धम्मसुक्कझाणम्हि परिणदो सोवि अंतरगप्पा।
झाणविहीणो समणो बहिरप्पा इदि विजाणीहि।। १५१।।

जो धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान में परिणत है वह भी अन्तरात्मा है। ध्यानविहीन साधु बहिरात्मा है ऐसा जान।। १५१।।

प्रतिक्रमण आदि क्रियाओं की सार्थकता

पडिकमणपहुदि किरियं कुव्वंतो णिच्छयस्स चारित्तं।
तेण दु विरागचरिए समणो अब्भुट्ठिदो होदि।। १५२।।

प्रतिक्रमण अदि क्रियाओं को करने वाले के निश्चयचारित्र होता है और उस निश्चय चारित्र से साधु वीतराग चारित्र में उद्यत होता है।

भावार्थ - यहां प्रतिक्रमणादि क्रियाओं की सार्थकता बतलाते हुए कहा गया है कि जो साधु प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान तथा आलोचना आदि क्रियाओं को करता रहता है उसी के निश्चयचारित्र होता है और उस निश्चय चारित्र के द्वारा ही साधु वीतराग चारित्र में आरूढ होता है।। १५२।।

वयणमयं पडिकमणं वयणमयं पच्चक्खाण णियमं च।
आलोयणवयणमयं तं सव्वं जाण सज्झाउं।। १५३।।

जो वचनमय प्रतिक्रमण, वचनमय प्रत्याख्यान, वचनमय नियम और वचनमय आलोचना है उस सबको तू स्वाध्याय जान।

भावार्थ - प्रतिक्रमण आदि के पाठ बोलना स्वाध्याय में गर्भित है।। १५३।।

जदि सक्कदि कादुं जे पडिकमणादिं करेज्ज झाणमयं।
सत्तिविहीणो जा जइ सद्दहणं चेव कायव्वं।। १५४।।

हे मुनिशार्दूल ! यदि करने को समर्थ है तो तुझे ध्यानमय प्रतिक्रमणादि करना चाहिये और यदि शक्ति से रहित है तो तुझे तब तक श्रद्धान ही करना चाहिये।। १५४।।

जिणकहियपरमसुत्ते पडिकमणादिय परीक्खऊण फुडं।
मोणव्वएण जोई णियकज्जं साहये णिच्चं।। १५५।।

जिनेन्द्रदेव के द्वारा कहे हुए परमागम में प्रतिक्रमणादिक की अच्छी तरह परीक्षा कर योगी को निरन्तर मौनव्रत से निजकार्य सिद्ध करना चाहिये।। १५५।।

विवाद वर्जनीय है

णाणाजीवा णाणाकम्मं णाणाविहं हवे लद्धी।
तम्हा वयणविवादं सगपरसमएहिं वज्जिज्जो।। १५६।।

जीव हैं, नाना कर्म है और नाना प्रकार की लब्धिया है इसलिये स्वधर्मियों और परधर्मियें के साथ वचनसम्बन्धी विवाद वर्जनीय है - छोडने के योग्य है।। १५६।।

सहजतत्व की आराधना की विधि

लद्धूणं णिहि एक्को तस्स फलं अणुहवेइ सुजणत्ते।
तह णाणी णाणणिहिं भुंजेइ चइत्तु परतत्तिं।। १५७।।

जिस प्रकार कोई एक मनुष्य निधि को प्राप्त कर स्वजनों के बीच में स्थित हो उसका फल भोगता है उसी प्रकार ज्ञानी जीव ज्ञानरूपी निधि को प्राप्त कर परसमूह को छोड उसका अनुभव करता है।। १५७।।

सव्वे पुराणपुरिसा एवं आवासयं य काऊण।
अपमत्तपहुदिठाणं पडिवज्ज य केवली जादा।। १५८।।

समस्त पुराणपुरुष इस प्रकार आवश्यक कर अप्रमत्तादिक स्थानों को प्राप्त करके केवली हुए हैं।

भावार्थ - जितने पुराण पुरुष अब तक केवली हुए हैं वे सब पूर्वोक्त विधि से प्रमत्तविरत नामक छठवें गुणस्थान में आवश्यक कर्म को करके अप्रमत्तादि गुणस्थानों को प्राप्त हुए हैं और तदनन्तर केवली हुए हैं।। १५८।।

इस प्रकार श्रीकुन्दकुन्दाचार्य विरचित नियमसार ग्रन्थ में निश्चयपरमावश्यकाधिकार नाम का ग्यारहवां अधिकार पूर्ण हुआ। ११।

*

शुद्धोपयोगाधिकारः

निश्चय और व्यवहार नय से केवली की व्याख्या

जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं।। १५९।।

व्यवहारनय से केवली भगवान सबको जानते और देखते है परन्तु निश्चय नय से केवलज्ञानी अपने आपको जानते देखते है।। १५९।।

केवलज्ञान और केवलदर्शन साथ साथ होते है -

जुगवं वट्टइ णाणं केवलणाणिस्स दसणं च तहा।
दिणयरपयासतापं जह वट्टइ तह मुणेयव्वं।। १६०।।

जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश और प्रताप एक साथ वर्तता है उसी प्रकार केवलज्ञानी का ज्ञान और दर्शन एक साथ वर्तता है ऐसा जानना चाहिये।

भावार्थ - छद्मस्थ जीवों के पहले दर्शन होता है उसके बाद ज्ञान होता है परन्तु केवली भगवान् के दर्शन और ज्ञान दोनों साथ ही साथ होते हैं।। १६०।।

ज्ञान और दर्शन के स्वरूप की समीक्षा

णाणं परप्पयासं दिट्ठी अप्पपयासया चेव।
अप्पा सपरपयासो होदि त्ति हि मण्णसे जदि हि।। १६१।।

ज्ञान पर प्रकाशक है, दर्शन स्वप्रकाशक है और आत्मा स्वपरप्रकाशक है ऐसा यदि तू वास्तव में मानता है (तो यह तेरी विरुद्ध मान्यता है)।। १६१।।

णाणं परप्पयासं तइया णाणेण दंसणं भिण्णं।
ण हवदि परदव्वगयं दंसणमिदि वण्णिद तम्हा।। १६२।।

यदि ज्ञान पर प्रकाशक ही है तो दर्शन ज्ञान से भिन्न सिद्ध होगा क्योंकि दर्शन पर द्रव्यगत नही होता ऐसा पूर्वसूत्र में कहा गया है।। १६२।।

अप्पा परप्पयासो तइया अप्पेण दसण भिण्ण।
ण हवदि परदव्वगयं दंसणमिदि वण्णिदं तम्हा।। १६३।।

यदि आत्मा पर प्रकाशक ही है तो दर्शन आत्मा से भिन्न होगा क्योंकि दर्शन परद्रव्यगत नहीं होता ऐसा पहले कहा गया है।। १६३।।

णाणं परप्पयासं ववहारणयेण दंसणं तम्हा।
अप्पा परप्पयासो ववहारणयेण दसणं तम्हा।। १६४।।

व्यवहारनय से ज्ञान परप्रकाशक है इसलिये दर्शन परप्रकाशक है और आत्मा व्यवहारनय से पर प्रकाशक है इसलिये दर्शन पर प्रकाशक है।। १६४।।

णाणं अप्पपयासं णिच्छयणयएण दंसण तम्हा।
अप्पा अप्पपयासो णिच्छयणएण दसण तम्हा।। १६५।।

निश्चय नय से ज्ञान स्वप्रकाशक है इसलिये दर्शन स्वप्रकाशक है और निश्चयनय से आत्मा स्वप्रकाशक है इसलिये दर्शन स्वप्रकाशक है।। १६५।।

अप्पसरूवं पेच्छदि लोयालोयं ण केवली भगवं।
जइ कोइ भणइ एवं तस्स य किं दूसणं होइ।। १६६।।

केवली भगवान् निश्चय से आत्मस्वरूप को देखते हैं लोक-अलोक को नहीं देखते है, यदि ऐसा कोई

कहता है तो उसे क्या दूषण है ? अर्थात् नहीं है।। १६६।।

प्रत्यक्ष ज्ञान का वर्णन

मुत्तममुत्तं दव्वं चेयणमियरं सगं च सव्वं च।
पेच्छंतस्स दु णाणं पच्चक्खमणिंदिय होइ।। १६७।।

मूर्त, अमूर्त, चेतन, अचेतन द्रव्य तथा स्व और समस्त परद्रव्य को देखने वाले का ज्ञान प्रत्यक्ष एव अतीन्द्रिय होता है।। १६७।।

परोक्षज्ञान का वर्णन

पुव्वुत्तसयलदव्वं णाणागुणपज्जएण संजुत्तं।
जो ण य पेच्छइ सम्मं परोक्खदिट्ठी हवे तस्स।। १६८।।

जो नाना गुण और पर्यायों से सयुक्त पूर्वोक्त समस्त द्रव्यों को अच्छी तरह नही देखता है उसकी दृष्टि परोक्षदृष्टि है अर्थात् उसका ज्ञान परोक्षज्ञान है।। १६८।।

लोयालोयं जाणइ अप्पाण णेव केवली भगव।
जइ कोइ भणइ एवं तस्स य किं दूसण होइ।। १६९।।

केवली भगवान (व्यवहार मे) लोकालोक को जानते हैं आत्मा को नही ऐसा यदि कोई कहता है तो क्या दूषण है ?।। १६९।।

णाण जीवसरूवं तम्हा जाणेइ अप्पगं अप्पा।
अप्पाणं ण वि जाणदि अप्पादो होदि विदिरित्तं।। १७०।।

ज्ञान जीव का स्वरूप है इसलिये आत्मा आत्मा को जानता है, यदि ज्ञान आत्मा को न जाने तो वह आत्मा से भिन्न - पृथक सिद्ध हो।। १७०।।

अप्पाण विणु णाणं णाण विणु अप्पणो ण संदेहो।
तम्हा सपरपयास णाणं तह दसण होदि।। १७१।।

आत्मा को ज्ञान जानो और ज्ञान आत्मा है ऐसा जानो, इसमे सन्देह नही है इसलिये ज्ञान तथा दर्शन दोनों स्वपरप्रकाशक हैं।। १७१।।

केवलज्ञानी के बन्ध नही है

जाणंतो पस्संतो ईहा पुव्वं ण होइ केवलिणो।
केवलणाणी तम्हा तेण दु सोऽबधगो भणिदो।। १७२।।

जानते देखते हुए केवली के पूर्व में इच्छा नही होती इसलिय वे केवलज्ञानी अबन्धक - बन्धरहित कहे गये है।

भावार्थ - बन्ध का कारण इच्छा है, मोह कर्म का सर्वथा क्षय हो जाने से केवली के जानने देखने के पहले कोई इच्छा नही होती और इच्छा के बिना उनके बन्ध नही होता।। १७२।।

केवली के वचन बन्ध के कारण नहीं हैं

परिणामपुव्ववयणं जीवस्स य बधकारणं होई।
परिणामरहियवयणं तम्हा णाणिस्स ण हि बधो।। १७३।।

ईहापुव्वं वयणं जीवस्स य बंधकारणं होई।
ईहारहियं वयणं तम्हा णाणिस्स ण हि बंधो।। १७४।।

परिणामपूर्वक - अभिप्राय पूर्वक वचन जीव के बन्ध का कारण हैं। क्योंकि ज्ञानी का वचन परिणामरहित है इसलिये उसके बन्ध नहीं होता।। १७३।।

इच्छा पूर्वक वचन जीव के बन्ध का कारण होता है। क्योंकि ज्ञानी जीव का वचन इच्छारहित है इसलिये उसके बन्ध नहीं होता।। १७४।।

ठाणणिसेज्जविहारा ईहापुव्वं ण होइ केवलिणो।
तम्हा ण होइ बंधो साकट्ठं मोहणीयस्स।। १७५।।

केवली के खडे रहना, बैठना और विहार करना इच्छा पूर्वक नहीं होते हैं इसलिये उन्हें तन्निमित्तक बन्ध नही होता। बन्ध उसके होता है जो मोह के उदय से इन्द्रियजन्य विषयो के सहित होता है।। १७५।।

कर्मक्षय से मोक्ष प्राप्त होता है

आउस्स खयेण पुणो णिण्णासो होइ सेसपयडीण।
पच्छा पावइ सिग्घं लोयग्ग समयमेत्तेण।। १७६।।

आयु के क्षय से केवली के शेष समस्त प्रकृतियों का क्षय हो जाता है पश्चात् वे समयमात्र में शीघ्र ही लोकाग्र को प्राप्त कर लेते हैं।। १७६।।

कारण परम तत्व का स्वरूप

जाइजरमरणरहियं परम कम्मट्ठवज्जिय सुद्ध।
णाणाइचउसहावं अक्खयमविणासमच्छेय।। १७७।।

वह कारणपरमतत्व जन्म, जरा और मरण से रहित है, उत्कृष्ट है, आठ कर्मों से वर्जित है, शुद्ध है, ज्ञानादिक चार गुणरूप स्वभाव से सहित है, अक्षय है, अविनाशी है और अच्छेद्य - छेदन करने के अयोग्य है।। १७७।।

अव्वाबाहमणिंदियमणोवमं पुण्णपावणिम्मुक्कं।
पुणरागमणविरहियं णिच्चं अचल अणालब।। १७८।।

वह कारणपरमतत्व अव्याबाध, अनिन्द्रिय, अनुपम, पुण्य-पाप से निर्मुक्त पुनरागमन से रहित, नित्य, अचल और अनालम्ब - पर के आलम्बन से रहित है।। १७८।।

निर्वाण कहां होता है ?

णवि दुक्खं णवि सुक्खं णवि पीडा णेव विज्जदे बाहा।
णवि मरणं णवि जणणं तत्थेव य होइ णिव्वाण।। १७९।।

जहां न दु ख है, न सांसारिक सुख है, न पीडा है, न बाधा है, न मरण है और न जन्म है वहीं निर्वाण होता है।। १७९।।

णवि इंदिय उवसग्गा णवि मोहो विम्हियो ण णिद्दा य।
ण य तिण्हा णेय छुहा तत्थेव य होइ णिव्वाण।। १८०।।

जहां न इन्द्रिया हैं, न उपसर्ग हैं, न मोह है, न विस्मय है, न निद्रा है, न तृषा है और न क्षुधा है वहीं

णवि कम्मं णोकम्मं णवि चिंता णेव अट्टरुद्दाणि।

णवि धम्मसुक्कझाणे तत्थेव य होइ णिव्वाणं।। १८१।।

जहां न कर्म है, न नोकर्म है, न चिन्ता है, न आर्तरौद्र ध्यान है, और न धर्म्यशुक्लध्यान है वहीं निर्वाण होता है।। १८१।।

सिद्धभगवान् का स्वरूप

विज्जदि केवलणाणं केवलसोक्खं च केवलं विरयं।

केवलदिट्ठि अमुत्तं अत्थित्तं सपदेसत्त।। १८२।।

उन सिद्धभगवान् के केवलज्ञान है, केवलसुख है, केवलवीर्य है केवलदर्शन है, अमूर्तिकपना है, अस्तित्व है तथा प्रदेशों से सहितनपना है।। १८२।।

निर्वाण और सिद्ध में अभेद

णिव्वाणमेव सिद्धा सिद्धा णिव्वाणमिदि समुद्दिट्ठा।

कम्मविमुक्को अप्पा गच्छइ लोयग्गपज्जत।। १८३।।

निर्वाण ही सिद्ध और सिद्ध ही निर्वाण है ऐसा कहा गया है। कर्म से विमुक्त आत्मा लोकाग्रपर्यन्त जाता है।। १८३।।

कर्मविमुक्त आत्मा लोकाग्रपर्यन्त ही क्यों जाता है ?

जीवाणं पुग्गलाणं गमणं जाणेहि जाव धम्मत्थी।

धम्मत्थिकायऽभावे तत्तो परदो ण गच्छति।। १८४।।

जीव और पुद्गलों का गमन, जहां तक धर्मास्तिकाय है वहा तक होता है। लोकाग्र के आगे धर्मास्तिकाय का अभाव होने से वे उससे आगे नही जाते।। १८४।।

ग्रन्थ का समारोप

णियमं णियमस्स फलं णिद्दिट्ठं पवयणस्स भत्तीए।

पुव्वावरविरोधो जदि अवणीय पूरयंतु समयण्हा।। १८५।।

इस ग्रन्थ में प्रवचन की भक्ति से नियम और नियम का फल दिखलाया गया है। इसमें यदि पूर्वापर विरोध हो तो आगम के ज्ञाता पुरुष उसे दूर कर पूर्ति करें।। १८५।।

ईसाभावेण पुणो केई णिंदंति सुदर मग्ग।

तेसिं वयणं सोच्चाऽभत्तिं मा कुणह जिणमग्गे।। १८५।।

और कितने ही लोग ईर्ष्याभाव से सुन्दर मार्ग की निन्दा करते है इसलिये उनके वचन सुनकर जिनमार्ग में अभक्ति - अश्रद्धा न करो।। १८६।।

णियभावणाणिमित्तं मए कदं णियमसारणामसुदं।

णच्चा जिणोवदेसं पुव्वावरदोसणिम्मुक्कं।। १८७।।

मैंने पूर्वापर दोष से रहित जिनोपदेश को जानकर निजभावना के निमित्त यह नियमसार नाम का शास्त्र रचा है।। १८७।।

इस प्रकार श्रीकुन्दकुन्दाचार्य विरचित नियमसार में शुद्धोपयोगाधिकार नाम का बारहवा अधिकार समाप्त हुआ। १२।

अष्टपाहुड

दर्शनपाहुड

काऊण णमुक्कारं जिणवरवसहस्स वड्ढमाणस्स।
दंसणमग्गं वोच्छामि जहाकम समासेण।। १।।

मैं आद्य जिनेन्द्र श्री वृषभदेव तथा अन्तिम जिनेन्द्र श्री वर्द्धमान स्वामी को नमस्कार कर क्रमानुसार संक्षेप से सम्यग्दर्शन के मार्ग कहूंगा।। १।।

दसणमूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेहि सिस्साण।
तं सोऊणा सकण्णे दंसणहीणो ण वंदिव्वो।। २।।

श्री जिनेन्द्र भगवान् ने शिष्यों के लिये दर्शनमूल धर्म का उपदेश दिया है इसलिये उसे अपने कानों से सुनो। जो सम्यग्दर्शन से रहित है वह वन्दना करने के योग्य नही है।। २।।

दसणभट्टा भट्टा दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाण।
सिज्झंति चरियभट्टा दंसणभट्टा ण सिज्झति।। ३।।

जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं वे ही वास्तव में भ्रष्ट हैं क्योंकि सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट मनुष्य को मोक्ष प्राप्त नही होता। जो सम्यक्चारित्र से भ्रष्ट है वे सिद्ध हो जाते हैं परन्तु जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं वे सिद्ध नही हो सकते।। ३।।

सम्मत्तरयणभट्टा जाणता बहुविहाइ सत्थाइ।
आराहणाविरहिया भमंति तत्थेव तत्थेव।। ४।।

जो सम्यक्त्व रुपी रत्न से भ्रष्ट हैं वे बहुत प्रकार के शास्त्रों को जानते हुए भी आराधनाओं से रहित होने के कारण उसी संसार में भ्रमण करते रहते हैं।। ४।।

सम्मत्तविरहियाण सुट्ठु वि उग्ग तव चरताणं।
ण लहंति बोहिलाहं अवि वाससहस्सकोडीहिं।। ५।।

जो मनुष्य सम्यग्दर्शन से रहित हैं वे भले ही हजारों करोड़ो वर्षो तक उत्तमता पूर्वक कठिन तपश्चरण करें तो भी उन्हें रत्नत्रय प्राप्त नही होता है।। ५।।

सम्मत्तणाणदसणबलवीरियवड्ढमाण जे सव्वे।
कलिकलुसपावरहिया वरणाणी होंति अइरेण।। ६।।

जो पुरुष सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, बल और वीर्य से वृद्धि को प्राप्त हो रहे है तथा कलिकाल सम्बन्धी मलिन पाप से रहित हैं वे सब शीघ्र ही उत्कृष्ट ज्ञानी हो जाते हैं।। ६।।

सम्मत्तसलिलपवहे णिच्च हियए पवट्टए जस्स।
कम्मं वालुयवरणं बंधुच्चिय णासए तस्स।। ७।।

जिस मनुष्य के हृदय में सम्यक्त्व रूपी जल का प्रवाह निरन्तर प्रवाहित होता है उसका पूर्वबन्ध से संचित कर्मरूपी बालु का आवरण नष्ट हो जाता है।।७।।

जे दंसणेसु भट्टा णाणे भट्टा चरित्तभट्टा य।
एदे भट्टविभट्टा सेसं पि जणं विणासंति।।८।।

जो मनुष्य दर्शन से भ्रष्ट है, ज्ञान से भ्रष्ट हैं और चारित्र से भ्रष्ट है वे भ्रष्टों में भ्रष्ट है - अत्यन्त भ्रष्ट है तथा अन्य जनों को भी भ्रष्ट करते हैं।।८।।

जो कोवि धम्मसीलो संजमतवणियमजोयगुणधारी।
तस्स य दोस कहंता भग्गा भग्गत्तणं दिंति।।९।।

जो कोई धर्मात्मा सयम, तप, नियम और योग आदि गुणो का धारक है उसके दोषों का कहते हुए क्षुद्र मनुष्य स्वयं भ्रष्ट है तथा दूसरों को भी भ्रष्टता प्रदान करते है।।९।।

जह मूलम्मि विणट्ठे दुमस्स परिवार णत्थि परवड्ढी।
तह जिणदंसणभट्टा मूलविणट्ठा ण सिज्झंति।।१०।।

जैसे जड के नष्ट हो जाने पर वृक्ष के परिवार की वृद्धि नही होती वैसे ही जो पुरुष जिन दर्शन से भ्रष्ट है वे मूल से विनष्ट है - उनका मूलधर्म नष्ट हो चुका है अत ऐसे जीव सिद्ध अवस्था को प्राप्त नहीं हो पाते।।१०।।

जह मूलाओ खंधो साहापरिवार बहुगुणो होई।
तह जिणदंसणमूलो णिद्दिट्ठो मोक्खमग्गस्स।।११।।

जिस प्रकार वृक्ष की जड से शाखा आदि परिवार से युक्त कई गुणा स्कन्ध उत्पन्न होता है उसी प्रकार मोक्षमार्ग की जड जिनदर्शन - जिनधर्म का श्रद्धान है ऐसा कहा गया है।।११।।

जे दंसणेसु भट्टा पाए पाडंति दंसणधराणं।
ते होंति लुल्लमूआ बोही पुण दुल्लहा तेसिं।।१२।।

जो मनुष्य स्वयं सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट होकर अपने चरणों में सम्यग्दृष्टियों को पडाते हैं अर्थात् सम्यग्दृष्टियों से अपने चरणों में नमस्कार कराते है वे लूले और गूंगे होते है तथा उन्हे रत्नत्रय अत्यन्त दुर्लभ रहता है। यहां लूले और गूंगे से तात्पर्य स्थावर जीवों से है क्योंकि यथार्थ में वे ही गतिरहित तथा शब्दहीन होते।।१२।।

जेवि पडंति च तेसिं जाणंता लज्जगारवभयेण।
तेसिं पि णत्थि बोहि पावं अणुमोयमाणाण।।१३।।

जो सम्यग्दृष्टि मनुष्य मिथ्यादृष्टियों को जानते हुए भी लज्जा गौरव और भय से उनके चरणों में पडते हैं वे भी पाप की अनुमोदना करते हैं अत उन्हें रत्नत्रय की प्राप्ति नही होती।।१३।।

दुविहंपि गंथचायं तीसुवि जोयेसु संजमो ठादि।
णाणम्मि करणसुद्धे उब्भसणे दंसणं होई।।१४।।

जहा अन्तरग और बहिरंग के भेद से दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग होता है मन, वचन, काय इन तीनों योगों में संयम स्थित रहता है ज्ञान, कृत-कारित-अनुमोदना से शुद्ध रहता है और खडे होकर भोजन किया

जाता है वहा सम्यग्दर्शन होता है।। १४।।

सम्मत्तादो णाणं णाणादो सव्वभाव उवलद्धी।

उवलद्धपयत्थे पुण सेयासेयं वियाणेदि।। १५।।

सम्यग्दर्शन से सम्यग्ज्ञान होता है सम्यग्ज्ञान से समस्त पदार्थों की उपलब्धि होती है और समस्त पदार्थों की उपलब्धि होने से यह जीव सेव्य तथा असेव्य को - कर्तव्य- अकर्तव्य को जानने लगता है।। १५।।

सेयासेयविदण्हू उद्धुददुस्सील सीलवंतो वि।

सीलफलेणब्भुदयं तत्तो पुण लहइ णिव्वाण।। १६।।

सेव्य और असेव्य को जानने वाला पुरुष अपने मिथ्यास्वभाव को नष्ट कर शीलवान् हो जाता है तथा शील के फलस्वरूप स्वर्गादि अभ्युदय को पाकर फिर निर्वाण को प्राप्त हो जाता है।। १६।।

जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयण अमिदभूयं।

जरमरणवाहिहरणं खयकरणं सव्वदुक्खाण।। १७।।

यह जिनवचन रूपी औषधी विषय सुख को दूर करने वाली है अमृत रूप है, बुढापा मरण आदि की पीडा को हरने वाली है तथा समस्त दु खों का क्षय करने वाली है।। १७।।

एग जिणस्स रूवं बीय उक्किट्ठसावयाण तु।

अवरट्ठियाण तइयं चउत्थ पुण लिंगदंसण णत्थि।। १८।।

जिनमत मे तीन लिंग - वेष बतलाये है उनमे एक तो जिनेन्द्रभगवान् का निरग्रन्थ लिंग है, दूसरा उत्कृष्ट श्रावकों - ऐलक क्षुल्लकों का है और तीसरा आर्यिकाओं का है इनके सिवाय चौथा लिंग नही है।। १८।।

छहदव्व णवपयत्था पंचत्थी सत्ततच्च णिद्दिट्ठा।

सद्दहइ ताण रूवं सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो।। १९।।

छह द्रव्य, नौ पदार्थ, पाच अस्तिकाय और सात तत्व कहे गये है जो उनके स्वरूप का श्रद्धान करता है उसे सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये।। १९।।

जीवादी सद्दहणं सम्मत्त जिणवरेहिं पण्णत्त।

ववहारा णिच्छयदो अप्पाण हवइ सम्मत्त।। २०।।

जिनेन्द्र भगवान् ने जीवादि सात तत्वों के श्रद्धान को व्यवहार सम्यक्त्व कहा है और शुद्ध आत्मा के श्रद्धान को निश्चय सम्यक्त्व बतलाया है।। २०।।

एवं जिणपण्णत्तं दंसणरयण धरेह भावेण।

सारं गुणरयणत्तयसोवाण पढम मोक्खस्स।। २१।।

इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहा हुआ सम्यग्दर्शन रत्नत्रय में साररूप है और मोक्ष की पहली सीढी है इसलिये हे भव्यजीवो ' उसे अच्छे अभिप्राय से धारण करो।। २१।।

जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्केइ तं च सद्दहणं।

केवलिजिणेहि भणियं सद्दहमाणस्स सम्मत्तं।। २२।।

जितना चारित्र धारण किया जा सकता है उतना धारण करना चाहिये और जितना धारण नही किया

जा सकता, उसका श्रद्धान करना चाहिये क्योंकि केवलज्ञानी जिनेन्द्र देव न श्रद्धान करने वालों के सम्यग्दर्शन बतलाता है।। २२।।

दंसणणाणचरित्ते तवविणये णिच्चकालसुपसत्था।
एदे दं वदणीया जे गुणवादी गुणधराण।। २३।।

जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप तथा विनय में निरन्तर लीन रहते हैं और गुणों के धारक आचार्य आदि का गुणगान करते है वे वन्दना करने योग्य है - पूज्य है।। २३।।

सहजुप्पण्णं रूवं दट्ठुं जो मण्णए ण मच्छरिओ।
सो सजमपडिवण्णो मिच्छाइट्ठी हवइ एसो।। २४।।

मात्सर्य भाव में भरा हुआ जो पुरुष जिनेन्द्र भगवान के सहजात्पन्न दिगम्बर रूप को देखने के योग्य नही मानता है वह सयमी होने पर भी मिथ्यादृष्टि ही है।। २४।।

अमराण वंदियाणं रूव दट्ठूण सीलसहियाण।
ये गारवं करंति य सम्मत्तविवज्जिया होति।। २५।।

शीलसहित तथा देवों के द्वारा वन्दनीय जिनेन्द्र देव के रूप को देखकर जो अपना गौरव करते हैं - अपने को बडा मानते हैं वे भी सम्यग्दर्शन से रहित हैं।। २५।।

असंजद ण वदे वच्छविहीणोवि तो ण वंदिज्ज।
दोण्णिवि होंति समाणा एगो वि ण संजदो होदि।। २६।।

असयमी की वन्दना नही करना चाहिये और भाव सयम से रहित बाह्य नग्न रूप का धारण करने वाला भी वन्दनीय नहीं है। क्योंकि वे दोनों ही समान हैं उनमे एक भी संयमी नहीं है।। २६।।

ण वि देहो वंदिज्जइ ण वि य कुलो ण वि य जाइसजुत्तो।
को वदमि गुणहीणो ण हु सवणो णेव सावओ होइ।। २७।।

न शरीर की वन्दना की जाती है न कुल की वन्दना की जाती है और न जाति सयुक्त की वन्दना की जाती है। गुणहीन को कौन वन्दना करता है ? क्योंकि गुणों के बिना न मुनि होता है और न श्रावक होता है।। २७।।

वंदमि तवसावण्णा सील च गुण च बभचेर च।
सिद्धिगमणं च तेसिं सम्मत्तेण सुद्धभावेण।। २८।।

मै तपस्वी साधुओं को, उनके शील को, मूलोत्तर गुणों को, ब्रह्मचर्य को और मुक्तिगमन को सम्यक्त्व सहित शुद्ध भाव से वन्दना करता हूं।। २८।।

चउसट्ठिचमरसहिओ चउतीसहि अइसएहिं सजुत्तो।
अणवरबहुसत्तहिओ कम्मक्खय कारणणिमित्तो।। २९।।

जो चौसठ चमर सहित हैं चौतीस अतिशयों से युक्त है। निरन्तर अनेक प्राणियों का हित करने वाले है और कर्मक्षय के कारण है ऐसे तीर्थकर परमदेव वन्दना के योग्य है।। २९।।

णाणेण दंसणेण य तवेण चरियेण संजमगुणेण।
चउहिं पि समाजोगे मोक्खो जिणसासणे दिट्ठो।। ३०।।

ज्ञान, दर्शन, तप और चारित्र इन चार गुणो से संयम होता है और इन चारों का समागम होने पर मोक्ष होता है ऐसा जिनशासन में कहा है।।३०।।

णाणं णरस्स सारो सारो वि णरस्स होइ सम्मत्तं।

सम्मत्ताओ चरण चरणाओ होइ णिव्वाण।।३१।।

सर्वप्रथम मनुष्य के लिये ज्ञानसार है और ज्ञान से भी अधिक सार सम्यग्दर्शन है क्योंकि सम्यग्दर्शन से सम्यक्चारित्र होता है और सम्यक्चारित्र से निर्वाण प्राप्त होता है।।३१।।

णाणम्मि दसणम्मि य तवेण चरियेण सम्मसहियेण।

चोण्ह वि समाजोगे सिद्धा जीवा ण संदेहो।।३२।।

ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्वसहित तप और चारित्र इन चारों के समागम होने पर ही जीव सिद्ध हुए है इसमें सन्देह नही है।।३२।।

कल्लाणपरंपरया कहंति जीवा विसुद्धसम्मत्त।

सम्मद्दसणरयण अग्घेदि सुरासुरे लोए।।३३।।

जीव कल्याण की परम्परा के साथ निर्मल सम्यक्त्व को प्राप्त करते है इसलिये सम्यग्दर्शन रूपी रत्न लोक मे देव-दानवों के द्वारा पूजा जाता है।।३३।।

लद्धूण य मणुयत्त सहिय तह उत्तमण गुत्तेण।

लद्धूण य सम्मत्तं अक्खय सुक्ख च मोक्ख च।।३४।।

यह जीव उत्तमगोत्र सहित मनुष्य पर्याय को पाकर तथा वहा सम्यक्त्व को प्राप्त कर अक्षय सुख और मोक्ष को प्राप्त होता है।।३४।।

विहरदि जाव जिणिंदो सहसट्ठ सुलक्खणेहि सजुत्तो।

चउतीस अइसयजुदो सा पडिया थावरा भणिया।।३५।।

एक हजार आठ लक्षणों और चौंतीस अतिशयों से सहित जिनेन्द्र भगवान जब तक विहार करते हैं तब तक उन्हें स्थावर प्रतिमा कहते हैं।।३५।।

बारसविहतवजुत्ता कम्मं खविऊण विहिबलेणस्स।

वोसट्टचत्तदेहा णिव्वाणमणुत्तर पत्ता।।३६।।

जो बारह प्रकार के तप से युक्त हो विधिपूर्वक अपने कर्मों का क्षयकर व्युत्सर्ग - निर्ममता से शरीर छोडते हैं वे सर्वोत्कृष्ट मोक्ष को प्राप्त होते हैं।।३६।।

इस प्रकार दर्शनपाहुड समाप्त हुआ।

*

सूत्रपाहुड

अरहंतभासियत्थं गणधरदेवेहिं गंथियं सम्मं।
सुत्तत्थमग्गणत्थं सवणा साहंति परमत्थं।। १।।

जिसका प्रतिपादनीय अर्थ अर्हन्त देव के द्वारा कहा गया है जो गणधर देवों के द्वारा अच्छी तरह रचा गया है और आगम के अर्थ का अन्वेषण ही जिसका प्रयोजन है ऐसे परमार्थभूत सूत्र का मुनि सिद्ध करते हैं।। १।।

सुत्तम्मि जं सुदिट्ठं आइरियपरंपरेण मग्गेण।
णाऊण दुविहसुत्तं वट्टइ सिवमग्ग जो भव्वो।। २।।

द्वादशांग सूत्र में आचार्यों की परम्परा से जिसका उपदेश हुआ है ऐसे शब्द-अर्थरूप द्विविध श्रुत को जानकर जो मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होता है वह भव्य जीव है।। २।।

सुत्तम्मि जाणमाणो भवस्स भवणासणं च सो कुणदि।
सूई जहा असुत्ता णासदि सुत्ते सहा णोवि।। ३।।

जो मनुष्य सूत्र के जानने में निपुण है वह संसार का नाश करता है। जैसे सूत्र - डोरा से रहित सुई नष्ट हो जाती है और सूत्र सहित सुई नष्ट नहीं होती।। ३।।

पुरिसो वि जो ससुत्तो ण विणासइ सो गओ वि संसारे।
सच्चेयणपच्चक्खं णासदि तं सो अदिस्समाणो वि।। ४।।

वैसे ही जो पुरुष सूत्र - आगम से सहित है वह चतुर्गति रूप संसार के मध्य स्थित होता हुआ भी नष्ट नहीं होता है। भले ही वह दूसरों के द्वारा दृश्यमान न हो फिर भी स्वात्मा के प्रत्यक्ष से वह उस संसार का नष्ट करता है।। ४।।

सुत्तत्थं जिणभणियं जीवाजीवादि बहुविहं अत्थं।
हेयाहेयं च तहा जो जाणइ सो हु सद्दिट्ठी।। ५।।

जो मनुष्य जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे हुए सूत्र के अर्थ को जीव अजीव आदि बहुत प्रकार के पदार्थों को तथा हेय-उपादेय तत्व को जानता है वही वास्तव में सम्यग्दृष्टि है।। ५।।

जं सुत्तं जिणउत्तं ववहारो तह य जाण परमत्थो।
तं जाणिऊण जोई लहइ सुहं खवइ मलपुंजं।। ६।।

जो सूत्र जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहा गया है उसे व्यवहार तथा निश्चय से जानो। उसे जानकर ही योगी सुख प्राप्त करता है और मल के समूह को नष्ट करता है।। ६।।

सुत्तत्थपयविणट्ठो मिच्छाइट्ठी हु सो मुणेयव्वो।
खेडेवि ण कायव्वं पाणिप्पत्तं सचेलस्स।। ७।।

जो मनुष्य सूत्र के अर्थ और पद से रहित है उसे मिथ्यादृष्टि मानना चाहिये। इसलिये वस्त्र सहित मुनि को खेल में भी पाणिपात्र भोजन नहीं करना चाहिये।। ७।।

हरिहरतुल्लोवि णरो सग्गं गच्छेइ एइ भवकोडी।
तहवि ण पावइ सिद्धिं संसारत्थो पुणो भणिदो।। ८।।

जो मनुष्य सूत्र के अर्थ से रहित है वह हरिहर के तुल्य होने पर भी स्वर्ग को प्राप्त होता है करोड़ों पर्याय धारण करता है परन्तु मुक्ति को प्राप्त नहीं होता। वह संसारी ही कहा गया है।।८।।

उक्किट्ठसीहचरियं बहुपरियम्मो य गरुयभारो य।
जो विहरइ सच्छंदं पावं गच्छदि होदि मिच्छत्तं।।९।।

जो मनुष्य उत्कृष्ट सिंह के समान निर्भय चर्या करता है, बहुत तपश्चरणादि परिकर्म करता है, बहुत भारी भार से सहित है और स्वच्छन्द - आगम के प्रतिकूल विहार करता है वह पाप को प्राप्त होता है तथा मिथ्यादृष्टि है।।९।।

णिच्चेलपाणिपत्तं उवइट्ठं परमजिणवरिंदेहिं।
एक्को वि मोक्खमग्गो सेसा य अमग्गया सव्वे।।१०।।

परमोत्कृष्ट श्री जिनेन्द्र भगवान् ने वस्त्ररहित - दिगम्बर मुद्रा और पाणिपात्र का जो उपदेश दिया है वही एक मोक्ष का मार्ग है और अन्य सब अमार्ग हैं।।१०।।

जो संजमेसु सहिओ आरंभपरिग्गहेसु विरओ वि।
सो होइ वंदणीओ ससुरासुरमाणुसे लोए।।११।।

जो संयमों से सहित है तथा आरम्भ और परिग्रह से विरत है वही सुर-असुर एवं मनुष्य सहित लोक में वन्दना करने के योग्य है।।११।।

जे बावीसपरीसह सहंति सत्तीसएहिं संजुत्ता।
ते होंति वंदणीया कम्मक्खयणिज्जरा साहू।।१२।।

जो मुनि सैकड़ों शक्तियों से सहित हैं, बाईस परिषह सहन करते हैं और कर्मों का क्षय तथा निर्जरा करते हैं वे मुनि वन्दना करने के योग्य हैं।।१२।।

अवसेसा जे लिंगी दंसणणाणेण सम्मसंजुत्ता।
चेलेण य परिगहिया ते भणिया इच्छणिज्जा य।।१३।।

दिगम्बर मुद्रा के सिवाय जो अन्य लिंगी हैं, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से संयुक्त हैं तथा वस्त्रमात्र के द्वारा परिग्रही हैं वे उत्कृष्ट श्रावक इच्छाकार कहने के योग्य हैं अर्थात उनसे इच्छामि या इच्छाकार करना चाहिये।।१३।।

इच्छायारमहत्थं सुत्तठिओ जो हु छंडए कम्मं।
ठाणे ठिय सम्मत्तं परलोयसुहंकरो होई।।१४।।

जो पुरुष सूत्र में स्थित होता हुआ इच्छाकार शब्द के महान अर्थ को जानता है आरम्भ आदि समस्त कार्य छोड़ता है और सम्यक्त्व सहित श्रावकों के पद में स्थित रहता है वह परलोक में सुखी होता है।।१४।।

अह पुण अप्पा णिच्छदि धम्माइं करेइ णिरवसेसाइं।
तहवि ण पावइ सिद्धिं संसारत्थो पुणो भणिदो।।१५।।

जो आत्मा को तो नहीं चाहता है किन्तु अन्य समस्त धर्मादि करता है वह इतना करने पर भी सिद्धि को प्राप्त नहीं होता है वह संसारी ही कहा जाता है।।१५।।

एएण कारणेण य तं अप्पा सद्दहेह तिविहेण।
जेण य लहेइ मोक्खं तं जाणिज्जइ पयत्तेण।। १६।।

इस कारण उस आत्मा का मन, वचन, काय से श्रद्धान करो। क्योंकि जिससे मोक्ष प्राप्त होता है उसे प्रयत्न पूर्वक जानना चाहिये।। १६।।

बालग्गकोडिमत्तं परिग्गहगहणं ण होइ साहूण।
भुंजेइ पाणिपत्ते दिण्णण्णं इक्कठाणम्मि।। १७।।

मुनियो के बाल के अग्रभाग के बराबर भी परिग्रह का ग्रहण नही होता है वे एक ही स्थान मे दूसरों के द्वारा दिये हुए प्रासुक अन्न को अपने हाथ रूपी पात्र मे ग्रहण करते है।। १७।।

जहजायरूवसरिसो तिलतुसमित्तं ण गिहदि हत्तेसु।
जइ लेइ अप्पबहुय तत्तो पुण जाइ णिग्गोदं।। १८।।

जो मुनि यथाजात बालक के समान नग्न मुद्रा के धारक है वे अपने हाथ मे तिलतुषमात्र भी परिग्रह ग्रहण नही करते। यदि वे थोडा बहुत परिग्रह ग्रहण करते है तो निगोद जाते है अर्थात निगोद पर्याय मे उत्पन्न होते है।। १८।।

जस्स परिग्गहगहणं अप्पं बहुयं च हवइ लिंगस्स।
सो गरहिउ जिणवयणे परिगहरहिओ णिरायारो।। १९।।

जिस लिंग मे थोडा बहुत परिग्रह का ग्रहण होता है वह निन्दनीय लिंग है। क्योंकि जिनागम मे परिग्रह रहित को ही निर्दोष साधु माना गया है।। १९।।

पचमहव्वयजुत्तो तिहिं गुत्तिहिं जो स संजदो होई।
णिग्गंथमोक्खमग्गो सो होदि हु वंदणिज्जो य।। २०।।

जो मुनि पाच महाव्रत से युक्त और तीन गुप्तियो से सहित है वही सयमी होता है। वही निरग्रन्थ मोक्षमार्ग है और वही वन्दना करने के योग्य है।। २०।।

दुइयं च उत्तलिंगं उक्किट्ठं अवरसावयाणं च।
भिक्खं भमेइ पत्ते समिदीभासेण मोणेण।। २१।।

दूसरा लिंग ग्यारहवी प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावको का है जो भिक्षा के लिये भाषासमिति अथवा मौनपूर्वक भ्रमण करते है और पात्र मे भोजन करते है।। २१।।

लिंगं इत्थीण हवदि भुंजइ पिंडं सुएयकालम्मि।
अज्जिय वि एकवत्था वत्थावरणेण भुंजेइ।। २२।।

तीसरा लिंग स्त्रियों का है। वे दिन मे एक ही बार भोजन करती है। आर्यिका एक ही वस्त्र रखती है और वस्त्र सहित ही भोजन करती है।। २२।।

णवि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणे जइ वि होइ तित्थयरो।
णग्गो विमोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे।। २३।।

जिन शासन मे ऐसा कहा है कि वस्त्रधारी यदि तीर्थंकर भी हो तो वह मोक्ष प्राप्त नही कर सकता। एक नग्न वेष ही मोक्षमार्ग है बाकी सब उन्मार्ग है - मिथ्यामार्ग है।। २३।।

लिंगम्मि य इत्थीणं थणंतरे णाहिकक्खदेसेसु।
भणिओ सुहमो काओ तासि कह होइ पव्वज्जा।। २४।।

स्त्रियों के योनि, स्तनों का मध्य, नाभि तथा काख आदि स्थानों में सूक्ष्म जीव कहे गये हैं अत उनके प्रव्रज्या - महाव्रत रूप दीक्षा कैसे हो सकती है ?।। २४।।

जइ दसणेण सुद्धा उत्ता मग्गेण सावि सजुत्ता।
घोरं चरिय चरित्त इत्थीसु ण पव्वया भणिया।। २५।।

स्त्रियों मे यदि कोई सम्यग्दर्शन से शुद्ध है तो वह भी मोक्षमार्ग से युक्त कही गई है। वह यद्यपि घोर चारित्र का आचरण कर सकती है तो भी उसके मोक्षोपयोगी प्रव्रज्या नहीं कही गया है।

भावार्थ - सम्यग्दृष्टि स्त्री सोलहवें स्वर्ग तक ही उत्पन्न हो सकती है आगे नही अत उसके मोक्षमार्गोपयोगी दीक्षा का विधान नही है। हां, आर्यिका का व्रत उन्हें प्राप्त होता है और उपचार से वे महाव्रत की धारक भी कही जाती है।। २५।।

चित्तासोहि ण तेसिं ढिल्ल भाव तहा सहावेण।
विज्जदि मासा तेसि इत्थीसु ण सकया झाण।। २६।।

स्त्रियों का मन शुद्ध नहीं होता उनका परिणाम स्वभाव से ही शिथिल होता है उनके प्रत्येक मास मे मासिक धर्म होता है और सदा भीरु प्रकृति होने से उनके ध्यान नहीं होता है।। २६।।

माहेण अप्पगाहा समुद्दसलिले सचेलअत्थेण।
इच्छा जाहु णियत्ता ताह णियत्ताइं सव्वदुक्खाइ।। २७।।

जिस प्रकार कोई मनुष्य अपना वस्त्र धोने के लिये समुद्र के जल में से थोडा जल ग्रहण करता है उसी प्रकार जो ग्रहण करने योग्य आहारादि में से थोडा आहारादि ग्रहण करते हैं। इसी प्रकार जिन मुनियों की इच्छा निवृत्त हो गई है उनके सब दु ख निवृत्त हो गये हैं।। २७।।

इस प्रकार सूत्रपाहुड समाप्त हुआ।

चारित्रपाहुड

सव्वण्हु सव्वदसी णिम्मोहा वीयराय परमेट्ठी।
वंदित्तु तिजगवदा अरहंता भव्वजीवेहिं।। १।।
णाण दंसण सम्मं चारित्तं सोहिकारण तेसिं।
मुक्खाराहणहेउं चारित्तं पाहुड वोच्छे।। २।।

मैं सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, निर्मोह, वीतराग, परमपद में स्थित त्रिजगत के द्वारा वन्दनीय भव्यजीवो के द्वारा पूज्य अरहन्तों को वन्दना कर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की शुद्धि का कारण तथा मोक्ष प्राप्ति का हेतु रूप चारित्रपाहुड कहूंगा।। १-२।।

जं जाणइ तं णाणं जं पिच्छइ त च दसण भणियं।
णाणस्स पिच्छियस्स य समवण्णा होइ चारित्तं।। ३।।

जो जानता है वह ज्ञान है, जो देखता है अर्थात् श्रद्धान करता है वह दर्शन कहा गया है। तथा ज्ञान और दर्शन के संयोग से चारित्र होता है।। ३।।

एए तिण्णिवि भावा हवंति जीवस्स अक्खयामेया।
तिण्हं पि सोहणत्थे जिणभणियं दुविह चारित्त।। ४।।

जीव के ये ज्ञानादिक तीनों भाव अक्षय तथा अमेय होते हैं। इन तीनों की शुद्धि के लिये जिनेन्द्रभगवान् ने दो प्रकार का चारित्र कहा है।। ४।।

जिणणाणदिट्ठिसुद्धं पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं।
विदियं संजमचरणं जिणणाणसदेसिय त पि।। ५।।

इनमें पहला सम्यक्त्व के आचरण रूप चारित्र है जो जिनेन्द्रभाषित ज्ञान और दर्शन से शुद्ध है तथा दूसरा सयम के आचरण रूप चारित्र है वह भी जिनेन्द्र भगवान् के ज्ञान से उपदेशित तथा शुद्ध है।। ५।।

एवं चिय णाऊण य सव्वे मिच्छत्तदोससकाइ।
परिहरिसम्मत्तमला जिणभणिया तिविहजोगेण।। ६।।

इस प्रकार जानकर जिनदेव से कहे हुए मिथ्यात्व के उदय में होने वाले शकादि दोषों को तथा त्रिमूढता आदि सम्यक्त्व के सब मलों को मन, वचन, काय से छोडो।। ६।।

णिस्संकिय णिक्कंखिय णिव्विदिगिछा अमूढदिट्ठी य।
उवगूहण ठिदिकरण वच्छल्लपहावणा य ते अट्ठ।। ७।।

नि शंकित, नि कांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये सम्यग्दर्शन के आठ अग अथवा गुण हैं।। ७।।

तं चेव गुणविसुद्ध जिणसम्मत्त सुमुक्खठाणा य।
जं चरइ णाणजुत्त पढमं सम्मत्तचरणचारित्त।। ८।।

वही जिन भगवान् का श्रद्धान जब नि शकित आदि गुणों से विशुद्ध तथा यथार्थ ज्ञान से युक्त होता है तब प्रथम सम्यक्त्वाचरण चारित्र कहलाता है। यह सम्यक्त्वाचरण चारित्र मोक्ष प्राप्ति का साधन है।। ८।।

सम्मत्तचरणसुद्धा संजमचरणस्स जइ व सुपसिद्धा।
णाणी अमूढदिट्ठी अचिरें पावति णिव्वाण।। ९।।

जो सम्यक्त्वाचरण चारित्र से शुद्ध हैं, ज्ञानी हैं और मूढता रहित हैं वे यदि संयमचरण चारित्र से युक्त हों तो शीघ्र ही निर्वाण को प्राप्त होते हैं।। ९।।

सम्मत्तचरणभट्टा संजमचरणं चरंति जे वि णरा।
अण्णाणणाणमूढा तहवि ण पावति णिव्वाण।। १०।।

जो मनुष्य सम्यक्त्वाचरण चारित्र से भ्रष्ट हैं किन्तु संयमचरण चारित्र का आचरण करते हैं वे मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञान के विषय में मूढ होने के कारण निर्वाण को नहीं पाते हैं।। १०।।

वच्छल्लं विणएण य अणुकंपाए सुदाणदच्छाए।
मग्गणगुणसंसणाए उवगूहण रक्खणाए य।। ११।।
एएहिं लक्खणेहिं य लक्खिज्जइ अज्जवेहिं भावेहिं।
जीवो आराहंतो जिणसम्मत्तं अमोहेण।। १२।।

मोह का अभाव होने से जिनोपदिष्ट सम्यक्त्व की आराधना करने वाला सम्यग्दृष्टि पुरुष वात्सल्य, विनय, दान देने में दक्ष, दया, मोक्षमार्ग की प्रशंसा, उपगूहन, संरक्षण - स्थितीकरण और आर्जवभाव इन लक्षणों से जाना जाता है।। ११-१२।।

उच्छाहभावणासंपसंससेवा कुदसणे सद्धा।
अण्णाणमोहमग्गे कुव्वंतो जहदि जिणसम्म।। १३।।

अज्ञान और मोह के मार्ग रूप मिथ्यामत में उत्साह, भावना प्रशंसा, सेवा और श्रद्धा करता हुआ पुरुष जिनोपदिष्ट सम्यक्त्व को छोड देता है।। १३।।

उच्छाहभावणासंपसंससेवा सुदसणे सद्धा।
ण जहदि जिणसम्मत्तं कुव्वंतो णाणमग्गेण।। १४।।

समीचीन मत में ज्ञानमार्ग के द्वारा उत्साह भावना प्रशंसा सेवा और श्रद्धा को करता हुआ पुरुष जिनोपदिष्ट सम्यक्त्व को नहीं छोडता है।। १४।।

अण्णाणं मिच्छत्तं वज्जहि णाणे विसुद्धसम्मत्ते।
अह मोहं सारंभं परिहर धम्मे अहिंसाए।। १५।।

हे भव्य ! तू ज्ञान के होने पर अज्ञान को, विशुद्ध सम्यक्त्व के होने पर मिथ्यात्व को और अहिंसा धर्म के होने पर आरम्भ सहित मोह को छोड दे।। १५।।

पव्वज्ज संगचाए पयट्ट सुतवे सुसजमे भावे।
होइ सुविसुद्धझाणं णिम्मोहे वीयरायत्ते।। १६।।

हे भव्य ! तू परिग्रह का त्याग होने पर दीक्षाग्रहण कर और उत्तम संयमभाव के होने पर श्रेष्ठ तप में प्रवृत्त हो क्योंकि मोह रहित वीतरागभाव के होने पर ही अत्यन्त विशुद्ध ध्यान होता है।। १६।।

मिच्छादंसणमग्गे मलिणे अण्णाणमोहदोसेहिं।
बज्झंति मूढजीवा मिच्छत्ताबुद्धिउदएण।। १७।।

मूढजीव, अज्ञान और मोहरूपी दोषों से मलिन मिथ्यादर्शन के मार्ग में मिथ्यात्व तथा मिथ्याज्ञान के उदय से लीन होते हैं।। १७।।

सम्मद्दंसण पस्सदि जाणदि णाणेण दव्वपज्जाया।
सम्मेण य सद्दहदि य परिहरदि चारित्त जे दोसे।। १८।।

जब यह जीव समीचीन दर्शन के द्वारा सामान्य सत्तात्मक पदार्थों को देखता है सम्यग्ज्ञान के द्वारा द्रव्य और पर्यायों को जानता है तथा सम्यग्दर्शन के द्वारा उनका श्रद्धान करता है तभी चारित्र सम्बन्धी दोषों को छोडता है।। १८।।

एए तिण्णि वि भावा हवंति जीवस्स मोहरहियस्स।
णियगुणमाराहंतो अचिरेण वि कम्म परिहरइ।। १९।।

ये तीनों भाव - सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोहरहित जीव के होते हैं। आत्मगुण की आराधना करने वाला निर्मोह जीव शीघ्र ही कर्मों का नाश करता है।। १९।।

संखिज्जमसंखिज्जगुणं च संसारिमेरुमत्ता णं।
सम्मत्तमणुचरंता करंति दुक्खक्खयं धीरा।। २०।।

सम्यक्त्व का आचरण करने वाले धीर-वीर पुरुष संसारी जीवों की मर्यादा रूप कर्मों की संख्यातगुणी तथा असंख्यातगुणी निर्जरा करते हुए दुःखों का क्षय करते हैं।। २०।।

दुविहं संजमचरणं सायारं तह हवे णिरायारं।
सायारं सग्गंथे परिग्गहरहिय णिरायारं।। २१।।

सागार और निरागार के भेद से संयमचरण चारित्र दो प्रकार का होता है। उनमें से सागार चारित्र परिग्रह सहित श्रावक के होता है और निरागार चारित्र परिग्रहरहित मुनि के होता है।। २१।।

दंसणवयसामाइयपोसहसचित्तरायभत्ते य।
बंभारंभपरिग्गहअणुमण उद्दिट्ठदेसविरदो य।। २२।।

दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्तत्याग, रात्रिभुक्तित्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग और उद्दिष्टत्याग ये ग्यारह भेद देशविरत - श्रावक के हैं।। २२।।

पंचेवणुव्वयाइं गुणव्वयाइं हवंति तह तिण्णि।
सिक्खावय चत्तारि य संजमचरणं च सायारं।। २३।।

पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इस तरह बारह प्रकार का सागार संयमचरण चारित्र है।। २३।।

थूले तसकायवहे थूले मोसे अदत्तथूले य।
परिहारो परमहिला परिग्गहारंभपरिमाणं।। २४।।

त्रस विघातरूप स्थूल हिंसा, स्थूल असत्य, स्थूल अदत्तग्रहण तथा परस्त्री सेवन का त्याग करना एवं परिग्रह और आरम्भ का परिमाण करना ये क्रमशः अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रहपरिमाणाणुव्रत हैं।। २४।।

दिसिविदिसमाण पढमं अणत्थदंडस्स वज्जणं विदियं।
भोगोपभोगपरिमा इयमेव गुणव्वया तिण्णि।। २५।।

दिशाओं और विदिशाओं में गमनागमन का प्रमाण करना सो पहला दिग्व्रत नामा गुणव्रत है। अनर्थदण्ड का त्याग करना सो दूसरा अनर्थदण्डत्याग नामा गुणव्रत है और भोग-उपभोग का परिमाण करना सो तीसरा भोगोपभोगपरिमाण नामा गुणव्रत है। इस प्रकार ये तीन गुणव्रत हैं।। २५।।

सामाइयं च पढमं विदियं च तहेव पोसहं भणियं।
तइयं च अतिहिपुज्जं चउत्थ सल्लेहणा अंते।। २६।।

सामायिक पहला शिक्षाव्रत है, प्रोषध दूसरा शिक्षाव्रत कहा गया है, अतिथिपूजा तीसरा शिक्षाव्रत है और जीवन के अन्त में सल्लेखना धारण करना चौथा शिक्षाव्रत है।। २६।।

एवं सावयधम्मं संजमचरणं उदेसियं सयलं।
सुद्धं संजमचरणं जइधम्मं णिक्कलं वोच्छे।। २७।।

इस प्रकार श्रावकधर्म रूप संयम चरण का निरूपण किया अब आगे यतिधर्म रूप सकल, शुद्ध और निष्कल संयमचरण का निरूपण करूंगा।। २७।।

पंचिंदियसंवरणं पंचवया पचविंसकिरियासु।
पंचसमिदि तयगुत्ती संजमचरणं णिरायार।। २८।।

पाच इन्द्रियों का दमन, पाचव्रत, इनकी पच्चीस भावनाएं पाच समितिया और तीन गुप्तिया यह निरागार संयमचरण चारित्र है।। २८।।

अमणुण्णे य मणुण्णे सजीवदव्वे अजीवदव्वे य।
ण करेइ रायदोसे पंचेदियसंवरो भणिओ।। २९।।

अमनोज्ञ और अमनोज्ञ स्त्री-पुरुषादि सजीव द्रव्यों मे तथा गृह सुवर्ण रजत आदि अजीव द्रव्यों में जो रागद्वेष नही करना है वह पचेन्द्रियों का सवर कहा गया है।। २९।।

हिंसाविरइ अहिंसा असच्चविरई अदत्तविरई य।
तुरियं अबंभविरई पंचम संगम्मि विरई य।। ३०।।

हिंसा का त्याग अहिंसा महाव्रत है, असत्य का त्याग सत्यमहाव्रत है अदत्त वस्तु का त्याग अचौर्य महाव्रत है, कुशील विरत होना ब्रह्मचर्य महाव्रत है और परिग्रह से विरत होना अपरिग्रह महाव्रत है।। ३०।।

साहंति जं महल्ला आयरियं ज महल्लपुव्वेहिं।
जं च महल्लाणि तदो महव्वया महहे याइ।। ३१।।

जिन्हें महापुरुष धारण करते है, जो पहले महापुरुषों के द्वारा धारण किये गये हैं और जो स्वय महान् हैं।। ३१।।

वयगुत्ती मणगुत्ती इरियासमिदी सुदाणणिक्खेवो।
अवलोयभोयणाए अहिंसए भावणा होंति।। ३२।।

वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, सुदाननिक्षेप और आलोकितभाजन ये अहिंसा व्रत की पांच भावनाए हैं।। ३२।।

कोहभयहासलोहापोहाविवरीयभासणा चेव।
विदियस्स भावणाए ए पंचेव य तहा होंति।। ३३।।

क्रोधत्याग, भयत्याग, हास्यत्याग, लोभत्याग और अनुवीचिभाषण (आगमानुकूलभाषण) ये सत्यव्रत की भावनाएं है।। ३३।।

सुण्णायारणिवासो विमोचितावास जं परोध च।
एसणसुद्धिसउत्तं साहम्मीसंविसंवादो।। ३४।।

शून्यागारनिवास, विमोचितावास, परोपरोधकारण, एषणशुद्धि और सधर्माविसवाद ये पाच अचौर्यव्रत की भावनाएं है।। ३४।।

महिलालोयणपुव्वरइसरणसंसत्तवसहि विकहाहिं।
पुट्ठियरसेहिं विरओभावण पंचावि तुरियम्मि।। ३५।।

रागभावपूर्वक स्त्रियों के देखने से विरक्त होना, पूर्वरति के स्मरण का त्याग करना स्त्रियों से संसक्त वसति का त्याग करना, विकथाओं से विरत होना और पुष्टिकर भोजन का त्याग करना ये पाच ब्रह्मचर्यव्रत की भावनाएं है।। ३५।।

अपरिग्गहसमणुण्णेसु सद्दपरिसरसरूवगधेसु।
रायद्दोसाईणं परिहारो भावणा होंति।। ३६।।

मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध में रागद्वेष आदि का त्याग करना ये पांच परिग्रहत्याग व्रत की भावनाएं है।। ३६।।

इरियाभासा एसण जा सा आदाण चेव णिक्खेवो।
संजमसोहिणिमित्ते खंति जिणा पंचसमिदीओ।। ३७।।

ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण तथा प्रतिष्ठापन ये पाच समितिया संयम की शुद्धि के लिये श्री जिनेन्द्र देव ने कही है।। ३७।।

भव्वजणबोहणत्थं जिणमग्गे जिणवरेहि जह भणियं।
णाणं णाणसरूव अप्पाण त वियाणेहि।। ३८।।

भव्यजीवों को समझाने के लिये जिनमार्ग में जिनेन्द्रदेव ने जैसा कहा है वैसा ज्ञान तथा ज्ञान स्वरूप आत्मा को हे भव्य ! तू अच्छी तरह जान।। ३८।।

जीवाजीवविभत्ती जो जाणइ सो हवेइ सण्णाणी।
रायादिदोसरहिओ जिणसासणमोक्खमग्गुत्ति।। ३९।।

जो मनुष्य जीव और अजीव का विभाग जानता है - शरीरादि अजीव तथा आत्मा को जुदा-जुदा जानता है वह सम्यग्ज्ञानी है। जो रागद्वेष से रहित है वह जिन शासन मे मोक्षमार्ग है ऐसा कहा गया है।। ३९।।

दंसणणाणचरित्तं तिण्णिवि जाणेह परमसद्धाए।
जं जाणिऊण जोई अइरेण लहति णिव्वाण।। ४०।।

दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनों को तू अत्यन्त श्रद्धा से जान। जिन्हें जानकर मुनिजन शीघ्र ही निर्वाण प्राप्त करते है।। ४०।।

पाऊण णाणसलिलं णिम्मलसुविसुद्धभावसजुत्ता।
हुंति सिवालयवासी तिहुवणचूडामणी सिद्धा।। ४१।।

जो पुरुष ज्ञान रूपी जल को पीकर निर्मल और अत्यन्त विशुद्धभावों से संयुक्त होते है वे शिवालय में रहने वाले तथा त्रिभुवन के चूडामणि सिद्ध परमेष्ठी होते है।। ४१।।

णाणगुणेहिं विहीणा ण लहंते ते सुइच्छियं लाहं।
इय णाउं गुणदोसं त सण्णाण वियाणेहि।। ४२।।

जो मनुष्य ज्ञान गुण से रहित है वे अपनी इष्ट वस्तु को नही पाते हैं इसलिये गुणदोषा को जानने के लिये तू सम्यग्ज्ञान को अच्छी तरह जान।। ४२।।

चारित्तसमारूढो अप्पासु पर ण ईहए णाणी।
पावइ अइरेण सुहं अणोवमं जाण णिच्छयदो।। ४३।।

जो मनुष्य चारित्र गुण से युक्त तथा सम्यग्ज्ञानी है वह अपन आत्मा मे पर पदार्थ की इच्छा नही करता है। ऐसा मनुष्य शीघ्र ही अनुपम सुख पाता है वह निश्चय से जान।। ४३।।

एवं संखेवेण य भणियं णाणेण वीयरायेण।
सम्मत्तसंजमासयदुण्हं पि उदेसिय चरण।। ४४।।

इस प्रकार वीतराग जिनेन्द्र देव ने केवलज्ञान के द्वारा जिसका निरुपण किया था वह सम्यक्त्व तथा संयम के आश्रयरूप दोनों प्रकार का चारित्र मैंने संक्षेप से कहा है।। ४४।।

भावेह भावसुद्धं फुडु रइयं चरणपाहुडं चेव।
लहु चउगइ चइउणं अइरेणऽपुणब्भवा होई।। ४५।।

हे भव्य जीवो ! प्रकट रूप से रचे हुए इस चारित्रपाहुड का तुम शुद्धभावों से चिन्तन करो जिससे चतुर्गति से छूटकर शीघ्र ही पुनर्जन्म से रहित हो जाओ - जन्म-मरण की व्यथा से छूटकर मुक्त हो जाओ।। ४५।।

इस प्रकार चारित्रपाहुड पूर्ण हुआ।

●

बोधपाहुड

बहुसत्थअत्थजाणे संजमसम्मत्तसुद्धतवयरणे।
वंदित्ता आयरिए कसायमलवज्जिदे सुद्धे।। १।।
सयलजणबोहणत्थं जिणमग्गे जिणवरेहिं जह भणियं।
वुच्छामि समासेण छक्कायसुहंकरं सुणह।। २।।

जो बहुत शास्त्रों के अर्थ को जानने वाले है, जिनका तपश्चरण, संयम और सम्यक्त्व से शुद्ध है, जो कषायरूपी मल से रहित है और जो अत्यन्त शुद्ध है ऐसे आचार्यों की वन्दना कर मैं जिनमार्ग में श्री जिनेन्द्रदेव के द्वारा जैसा कहा गया है तथा जो छह काय के जीवों को सुख उपजाने वाला है ऐसा बोधपाहुड ग्रन्थ समस्त जीवों को समझाने के लिये संक्षेप से कहूंगा। हे भव्य ! तू उसे सुन।। १-२।।

आयदणं चेदिहरं जिणपडिमा दंसणं च जिणबिंबं।
भणियं सुवीयरायं जिणमुद्दा णाणमादत्थं।। ३।।
अरहंतेण सुदिट्ठं जं देवं तित्थमिह य अरहंतं।
पावज्ज गुणविसुद्धा इय णायव्वा जहाकमसो।। ४।।

आयतन, चैत्यगृह, जिनप्रतिमा, दर्शन, रागरहित जिनबिम्ब, जिनमुद्रा, आत्मा के प्रयोजनरूप

ज्ञान, देव, तीर्थ, अरहन्त और गुणों से विशुद्ध दीक्षा ये ग्यारह स्थान जैसे अरहन्त भगवान् ने कहे हैं वैसे यथाक्रम से जानने योग्य हैं।। ३-४।।

मय राय दोस मोहो कोहो लोहो य जस्स आयत्ता।
पंच महव्वयधारी आयदणं महरिसी भणियं।। ५।।

मद, राग, द्वेष, मोह क्रोध और लोभ जिसके आधीन हो गये हैं और जो पांच महाव्रतों को धारण करता है ऐसा महामुनि आयतन कहा गया है।। ५।।

सिद्धं जस्स सदत्थं विसुद्धझाणस्स णाणजुत्तस्स।
सिद्धायदणं सिद्धं मुणिवरवसहस्स मुणिदत्थं।। ६।।

जो विशुद्ध ध्यान तथा केवलज्ञान से युक्त है ऐसे जिस मुनिश्रेष्ठ के शुद्ध आत्मा की सिद्धि हो गई है उस समस्त पदार्थों को जानने वाले केवलज्ञानी को सिद्धायतन कहा है।। ६।।

बुद्धं जं बोहंतो अप्पाणं चेदयाइ अण्णं च।
पंचमहव्वयसुद्धं णाणमयं जाण चेदिहरं।। ७।।

जो आत्मा को ज्ञानस्वरूप तथा दूसरे जीवों को चैतन्यस्वरूप जानता है ऐसे पांच महाव्रतों से शुद्ध और ज्ञान से तन्मय मुनि को, हे भव्य तू चैत्यगृह जान।। ७।।

चेइयबंध मोक्खं दुक्ख सुक्खं च अप्पयं तस्स।
चेइहरं जिणमग्गे छक्कायहियंकरं भणिय।। ८।।

बन्ध, मोक्ष दुःख और सुख का जिस आत्मा को ज्ञान हो गया है वह चैत्य है उसका घर चैत्यगृह कहलाता है तथा जिनमार्ग में छहकाय के जीवों का हित करने वाला संयमी मुनि चैत्यगृह कहा गया है।। ८।।

सपरा जंगमदेहा दंसणणाणेण सुद्धचरणाण।
णिग्गंथ वीयरागा जिणमग्गे एरिसा पडिमा।। ९।।

दर्शन और ज्ञान से पवित्र चारित्र वाले निष्परिग्रह वीतराग मुनियों का जो अपना तथा दूसरे का चलता फिरता शरीर है वह जिनमार्ग में प्रतिमा कहा गया है।। ९।।

जं चरदि सुद्धचरणं जाणइ पिच्छेइ सुद्धसम्मत्तं।
सा होइ वंदणीया णिग्गंथा संजदा पडिमा।। १०।।

जो शुद्ध - निर्दोषचारित्र का आचरण करता है, जीवादिपदार्थों को ठीक-ठीक जानता है और शुद्ध सम्यक्त्व स्वरूप आत्मा को देखता है वह परिग्रह रहित संयमी मनुष्य जंगम प्रतिमा है तथा नमस्कार करने योग्य है।। १०।।

दंसण अणंत णाणं अणंतवीरिय अणंतसुक्खाय।
सासयसुक्ख अदेहा मुक्का कम्मट्ठबंधेहिं।। ११।।
णिरुवममचलमखोहा णिम्मिविया जंगमेण रूवेण।
सिद्धठाणम्मि ठिया वोसरपडिमा धुवा सिद्धा।। १२।।

जो अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तवीर्य और अनन्तसुख से सहित हैं शाश्वत-अविनाशी सुखस्वरूप हैं,

शरीररहित है, आठकर्मों के बन्धन से रहित है, उपमारहित है, चचलता रहित है, क्षोभरहित है, जगमरूप स निर्मित है और लोकाग्रभाग रूप सिद्धस्थान में स्थित है ऐसे शरीर रहित सिद्ध परमेष्ठी स्थावरप्रतिमा है।। ११-१२।।

दंसेइ मोक्खमग्गं सम्मत्तं संजमं सुधम्मं च।

णिग्गंथं णाणमयं जिणमग्गे दंसण भणियं।। १३।।

जो सम्यक्त्व रूप, सयमरूप, उत्तमधर्म रूप, निर्ग्रन्थरूप एवं ज्ञानमय मोक्षमार्ग को दिखलाता है ऐसे मुनि के रूप को जिनमार्ग में दर्शन कहा है।। १३।।

जह फुल्लं गंधमयं भवदि हु खीरं स घियमयं चावि।

तह दंसण हि सम्म णाणमयं होइ रुवत्थं।। १४।।

जिस प्रकार फूल गन्धमय और दूध घृतमय होता है उसी प्रकार दर्शन अन्तरग में सम्यग्ज्ञानमय है और बहिरंग में मुनि श्रावक और आर्यिका के वेषरूप है।। १४।।

जिणबिंबं णाणमयं संजमसुद्धं सुवीयरायं च।

जं देइ दिक्खसिक्खा कम्मक्खयकारणे सुद्धा।। १५।।

जो ज्ञानमय है सयम से शुद्ध है वीतराग है तथा कर्मक्षय में कारणभूत शुद्ध दीक्षा और शिक्षा देता है ऐसा आचार्य जिनबिम्ब कहलाता है।। १५।।

तस्स य करह पणामं सव्वं पुज्जं च विणय वच्छल्लं।

जस्स च दसण णाण अत्थि धुव चेयणाभावो।। १६।।

जिसके नियम से दर्शन ज्ञान और चेतनाभाव विद्यमान है उस आचार्यरूप जिनबिम्ब को प्रणाम करो, सब प्रकार से उसकी पूजा करो और शुद्ध प्रेम करो।। १६।।

तववयगुणेहिं सुद्धो जाणदि पिच्छेइ सुद्धसम्मत्त।

अरहतमुद्द एसा दायारी दिक्खसिक्खा य।। १७।।

जो तप, व्रत और उत्तर गुणों से शुद्ध है, समस्त पदार्थों को जानता देखता है तथा शुद्ध सम्यग्दर्शन को धारण करता है ऐसा आचार्य अर्हन्मुद्रा है यही दीक्षा और शिक्षा को देने वाले हैं।। १७।।

दढसंजममुद्दाए इंदियमुद्दाकसायदढमुद्दा।

मुद्दा इह णाणाए जिणमुद्दा एरिसा भणिया।। १८।।

दृढता से सयम धारण करना सो सयम मुद्रा है, इन्द्रियों को विषयों से विमुख रखना सो इन्द्रियमुद्रा है, कषायों के वशीभूत न होना सो कषायमुद्रा है ज्ञान के स्वरूप में स्थिर होना सो ज्ञानमुद्रा है। जैनशास्त्रों में ऐसी जिनमुद्रा कही गई है।। १८।।

संजमसंजुत्तस्स य सुझाणजोयस्स मोक्खमग्गस्स।

णाणेण लहदि लक्खं तम्हा णाण च णायव्वं।। १९।।

सयम सहित तथा उत्तमध्यान युक्त मोक्षमार्ग का लक्ष्य जो शुद्ध आत्मा है वह ज्ञान से ही प्राप्त किया जाता है इसलिये ज्ञान जानने योग्य है।। १९।।

जह णवि लहदि हु लक्खं रहिओ कंडस्स वेज्झयविहीणो।

तह णवि लक्खदि लक्ख अण्णाणी मोक्खमग्गस्स।। 20।।

जिस प्रकार धनुर्विद्या के अभ्यास से रहित पुरुष बाण के लक्ष्य अर्थात् निशाने को प्राप्त नहीं कर पाता है उसी प्रकार अज्ञानी पुरुष मोक्षमार्ग के लक्ष्यभूत आत्मा को नहीं ग्रहण कर पाता है।। २०।।

णाणं पुरिसस्स हवदि लहदि सुपुरिसो वि विणयसंजुत्तो।
णाणेण लहदि लक्खं लक्खंतो मोक्खमग्गस्स।। २१।।

ज्ञान पुरुष अर्थात् आत्मा में होता है और उसे विनयी मनुष्य ही प्राप्त कर पाता है। ज्ञान द्वारा यह जीव मोक्षमार्ग का चिन्तन करता हुआ लक्ष्य को प्राप्त करता है।। २१।।

मइधणुहं जस्स थिरं सुदगुणबाणा सुअत्थि रयणत्तं।
परमत्थबद्धलक्खो ण वि चुक्कदि मोक्खमग्गस्स।। २२।।

जिस मुनि के पास मतिज्ञान रूपी स्थिर धनुष है, श्रुतज्ञान रूपी डोरी है, रत्नत्रयरूपी बाण है और परमार्थ रूप शुद्ध आत्मस्वरूप में जिसने निशान बाध रक्खा है ऐसा मुनि मोक्षमार्ग से नहीं चूकता है।। २२।।

सो देवो जो अत्थं धम्मं कामं सुदेइ णाणं च।
सो देइ जस्स अत्थि हु अत्थो धम्मो य पव्वज्जा।। २३।।

देव वह है जो जीवों को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का कारणभूत ज्ञान देता है। वास्तव में देता भी वही है जिसके पास धर्म, अर्थ, काम तथा दीक्षा होती है।। २३।।

धम्मो दयाविसुद्धो पव्वज्जा सव्वसंगपरिचत्ता।
देवो ववगयमोहो उदययरो भव्वजीवाणं।। २४।।

धर्म वह है जो दया से विशुद्ध है, दीक्षा वह है जो सर्वपरिग्रह से रहित है और देव वह है जिसका मोह दूर हो गया हो तथा जो भव्य जीवों को अभ्युदय का करने वाला हो।। २४।।

वयसम्मत्तविसुद्धे पंचेंदियसजदे णिरावेक्खे।
ण्हाऊण मुणी तित्थे दिक्खासिक्खासुण्हाणेण।। २५।।

जो व्रत और सम्यक्त्व से विशुद्ध है, पचेन्द्रियों मे सयत है अर्थात् पाचों इन्द्रियों को वश करने वाला है और इस लोक तथा परलोक सम्बन्धी भोग-परिभोग से नि स्पृह है ऐसे शुद्ध आत्मा रूपी तीर्थ में मुनि को दीक्षा-शिक्षा रूपी उत्तम स्नान से पवित्र होना चाहिये।। २५।।

जं णिम्मलं सुधम्मं सम्मत्तं संजमं तवं णाणं।
तं तित्थं जिणमग्गे हवेइ जदि संतभावेण।। २६।।

यदि शान्तभाव से निर्मल धर्म, सम्यग्दर्शन, सयम, तप और ज्ञान धारण किये जायें तो जिनमार्ग में यही तीर्थ कहा गया है।। २६।।

णामे ठवणे हि य सं दव्वे भावे हि सगुणपज्जाया।
चउणागदि संपदिमे भावा भावंति अरहंतं।। २७।।

नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इनके द्वारा गुण और पर्याय सहित अरहन्तदेव जाने जाते है। च्यवन[1], आगति[2] और संपत्ति[3] ये भाव अर्हन्तपने का बोध कराते है।। २७।।

---

1 स्वर्गादि से अवतार लेना। 2 भरतादि क्षेत्रों में आकर जन्म धारण करना। 3 सम्पत् रत्नवृष्टि आदि।

दंसण अणंत णाणे मोक्खो णट्ठट्ठकम्मबंधेण।
णिरुवमगुणमारूढो अरहंतो एरिसो होई।। २८।।

जिसके अनन्तदर्शन और अनन्तज्ञान है, अष्टकर्मों का बन्ध नष्ट होने से जिन्हें भाव मोक्ष प्राप्त हो चुका है तथा जो अनुपम गुणों को धारण करता है ऐसा शुद्ध आत्मा अरहन्त होता है।। २८।।

जरवाहिजम्ममरणं चउगइगमणं च पुण्णपावं च।
हंतूण दोसकम्मे हु उ णाणमये च अरहंतो।। २९।।

जो बुढापा, रोग, जन्म, मरण, चतुर्गतियों में गमन, पुण्य और पाप तथा रागादि दोषों को नष्ट कर ज्ञानमय होता है वह अरहन्त कहलाता है।। २९।।

गुणठाणमग्गणेहिं य पज्जत्तीपाणजीवठाणेहिं।
ठावण पंचविहेहिं पणयव्वा अरहपुरिसस्स।। ३०।।

गुणस्थान, मार्गणा, पर्याप्ति, प्राण और जीवसमास इस तरह पाच प्रकार से अर्हन्तपुरुष की स्थापना करना चाहिये।। ३०।।

तेरहमे गुणठाणे सजोइकेवलिय होइ अरहंतो।
चउतीस अइसयगुणा होंति हु तस्सट्ठ पडिहारा।। ३१।।

तेरहवें गुणस्थान में सयोगकेवली अर्हन्त होते हैं उनके स्पष्ट रूप से चौतीस अतिशय रूप गुण तथा आठ प्रातिहार्य होते हैं।। ३१।।

गइइंदिये च काए जोए वेए कसायणाणे य।
संजमदंसणलेस्सा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे।। ३२।।

गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, सयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, सज्ञी और आहार इन चौदह मार्गणाओं में अरहन्त की स्थापना करनी चाहिये।। ३२।।

आहारो य सरीरो इंदियमण आणपाणभासा य।
पज्जत्तिगुणसमिद्धो उत्तमदेवो हवइ अरहो।। ३३।।

आहार, शरीर, इन्द्रिय, मन, श्वासोच्छ्वास और भाषा इन पर्याप्तिरूप गुणों से समृद्ध उत्तमदेव अर्हन्त होता है।। ३३।।

पंचवि इंदियपाणा मणवयकाएण तिण्णि बलपाणा।
आणप्पाणप्पाणा आउगपाणेण होंति दह पाणा।। ३४।।

पांचों इन्द्रियों मन, वचन, काय की अपेक्षा तीन बल, तथा आयु प्राण से सहित श्वासोच्छ्वास ये दश प्राण होते हैं।। ३४।।

मणुवभवे पंचिंदिय जीवट्ठाणेसु होइ चउदसमे।
एदे गुणगणजुत्तो गुणमारूढो हवइ अरहो।। ३५।।

मनुष्यपर्याय में पंचेन्द्रिय नाम का जो चौदहवां जीवसमास है उसमें इन गुणों के समूह से युक्त, तेरहवें गुणस्थान पर आरूढ मनुष्य अर्हन्त होता है।। ३५।।

जरवाहिदुक्खरहियं आहारणिहारवज्जियं विमलं।
सिंहाण खेल सेओ णत्थि दुगुंछा य दोसो य।। ३६।।
दस पाणा पज्जत्ती अट्ठसहस्सा य लक्खणा भणिया।
गोखीरसंखधवलं मंसं रुहिरं च सव्वंगे।। ३७।।
एरिसगुणेहिं सव्वं अइसयवंतं सुपरिमलामोयं।
ओरालियं च कायं णायव्वं अरहपुरिसस्स।। ३८।।

जो बुढापा, रोग आदि के दु खों से रहित है, आहार नीहार से वर्जित है, निर्मल है और जिसमें नाक का मल, थूक, पसीना, दुर्गन्ध आदि दोष नही हैं।। ३६।।

जिनके १० प्राण ६ पर्याप्तिया और १००८ लक्षण कहे गये हैं वे तथा जिनके सर्वांग में गोदुग्ध और शख के समान सफेद मांस और रुधिर है।। ३७।।

इस प्रकार के गुणों से सहित तथा समस्त अतिशयों से युक्त अत्यन्त सुगन्धित औदारिक शरीर अर्हन्त पुरुष के जानना चाहिये। यह द्रव्य अर्हन्त का वर्णन है।। ३८।।

मयरायदोसरहिओ कसायमलवज्जिओ य सुविसुद्धो।
चित्तपरिणामरहिदो केवलभावे मुणेयव्वो।। ३९।।

केवलज्ञान रूप भाव के होने पर अर्हन्त, मद, रागद्वेष से रहित, कषायरूप मल से वर्जित, अत्यन्त शुद्ध और मन के परिणाम से रहित होता है ऐसा जानना चाहिये।। ३९।।

सम्मद्दंसणि पस्सइ जाणदि णाणेण दव्वपज्जाया।
सम्मत्तगुणविसुद्धो भावो अरहस्स णायव्वो।। ४०।।

अरहंत परमेष्ठी अपने समीचीन दर्शनगुण के द्वारा समस्त द्रव्य पर्यायों को सामान्य रूप से देखते हैं और ज्ञान गुण के द्वारा विशेष रूप से जानते हैं। वे सम्यग्दर्शन रूप गुण से अत्यन्त निर्मल रहते हैं। इस प्रकार अरहन्त का भाव जानना चाहिये।। ४०।।

सुण्णहरे तरुहिट्ठे उज्जाणे तह मसाणवासे वा।
गिरिगुह गिरिसिहरे वा भीमवणे अहव वसिदो वा।। ४१।।
सवसासत्तं तित्थ वचचइदालत्तयं च वुत्तेहिं।
जिणभवणं अह वेज्झं जिणमग्गे जिणवरा विंति।। ४२।।
पंचमहव्वजुत्ता पंचिंदियसंजया णिरावेक्खा।
सज्झायझाणजुत्ता मुणिवरवसहा णिइच्छंति।। ४३।।

शून्यगृह में, वृक्ष के अधस्तल में, उद्यान में, श्मशान में, पहाड के गुफा में, पहाड के शिखर पर, भयकर वन में अथवा वसतिका में मुनिराज रहते हैं।

स्वाधीन मुनियों के निवासरूप तीर्थ, उनके नाम के अक्षररूप वचन, उनकी प्रतिमारूप चैत्य, प्रतिमाओं की स्थापना का आधार रूप आलय और कहे हुए आयतनादि के साथ जिनभवन - अकृत्रिम जिन चैत्यालय आदि को जिनमार्ग में जिनेन्द्रदेव मुनियों के लिये वेद्य अर्थात् जानने योग्य पदार्थ कहते हैं। पाच महाव्रतों से सहित, पाच

इन्द्रियों को जीतने वाले, नि स्पृह तथा स्वाध्याय और ध्यान से युक्त श्रेष्ठ मुनि उपर्युक्त स्थानों का निश्चय से चाहते हैं।। ४१-४३।।

गिहगंथमोहमुक्का बावीसपरीसहा जियकसाया।
पावारंभविमुक्का पव्वज्जा एरिसा भणिया।। ४४।।

जो गृहनिवास तथा परिग्रह के मोह से रहित है, जिसमें बाईस परीषह सहे जाते हैं, कषाय जीती जाती है और जो पाप के आरम्भ से रहित है ऐसी दीक्षा जिनेन्द्र देव ने कही है।। ४४।।

धणधण्णवत्थदाणं हिरण्णसयणासणाइ छत्ताइं।
कुद्दाणविरहरहिया पव्वज्जा एरिसा भणिया।। ४५।।

जो धन, धान्य वस्त्रादि के दान, सोना, चांदी शय्या आसन तथा छत्र आदि के खोटे दान से रहित है। ऐसी दीक्षा कही गई है।। ४५।।

सत्तूमित्ते य समा पसंसणिद्दा अलद्धिलद्धि समा।
तणकणए समभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया।। ४६।।

जो शत्रु और मित्र प्रशंसा और निन्दा हानि और लाभ तथा तृण और सुवर्ण में समान भाव रखती है ऐसी जिनदीक्षा कही गई है।। ४६।।

उत्तममज्झिमगेहे दारिद्दे ईसरे णिरावेक्खा।
सव्वत्थगिहिदपिंडा पव्वज्जा एरिसा भणिया।। ४७।।

जहा उत्तम और मध्यम घर में दरिद्र तथा धनवान में कोई भेद नही रहता तथा सब जगह आहार ग्रहण किया जाता है ऐसी जिनदीक्षा कही गई है।। ४७।।

णिग्गंथा णिस्संगा णिम्माणासा अराय णिद्दोसा।
णिम्मम णिरहंकारा पव्वज्जा एरिसा भणिया।। ४८।।

जो परिग्रह रहित है, स्त्री आदि पर पदार्थ के संसर्ग से रहित है, मानकषाय और भोग-परिभोग की आशा से रहित है, राग रहित है, दोष रहित है, ममता रहित है और अहकार रहित है ऐसी जिन दीक्षा कही गई है।। ४८।।

णिण्णेहा णिल्लोहा णिम्मोहा णिव्वियार णिक्कलुसा।
णिब्भय णिरासभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया।। ४९।।

जो स्नेहरहित है, लोभरहित है, मोहरहित, विकाररहित है, कलुषतारहित है भयरहित है और आशारहित है ऐसी जिन दीक्षा कही गई है।। ४९।।

जहजायरूवसरिसा अवलंबियभुव णिराउहा संता।
परकियणिलयणिवासा पव्वज्जा एरिसा भणिया।। ५०।।

जिसमें सद्योजात बालक के समान नग्न रूप धारण किया जाता है, भुजाएं नीचे की ओर लटकाई जाती हैं जो शस्त्ररहित है, शान्त है और जिसमें दूसरे के द्वारा बनाई हुई वसतिका में निवास किया जाता है ऐसी जिनदीक्षा कही गई है।। ५०।।

उवसमखमदमजुत्ता सरीरसंक्कारवज्जिया रुक्खा।
मयरायदोसरहिया पव्वज्जा एरिसा भणिया।। ५१।।

जो उपशम, क्षमा तथा दम से युक्त है, शरीर के संस्कार से वर्जित है, रुक्ष है, मद, राग एव द्वेष से रहित है ऐसी जिनदीक्षा कही गई है।। ५१।।

विवरीयमूढभावा पणट्ठकम्मट्ठ णट्ठमिच्छत्ता।
सम्मत्तगुण विसुद्धा पव्वज्जा एरिसा भणिया।। ५२।।

जिसका मूढभाव दूर हो गया है, जिसमें आठों कर्म नष्ट हो गये हैं, मिथ्यात्व भाव नष्ट हो गया है और जो सम्यग्दर्शन रूप गुण से विशुद्ध है ऐसी जिनदीक्षा कही गई है।। ५२।।

जिणमग्गे पव्वज्जा छहसंहणणेसु भणिय णिग्गंथा।
भावंति भव्वपुरिसा कम्मक्खयकारणे भणिया।। ५३।।

जिनमार्ग में जिनदीक्षा छहों सहनन वालों के कही गई है। यह दीक्षा कर्म क्षय का कारण बताई गई है। ऐसी दीक्षा की भव्य पुरुष निरन्तर भावना करते हैं।। ५३।।

तिलतुसमत्तणिमित्तं समबाहिरगंथसंगहो णत्थि।
पव्वज्ज हवइ एसा जह भणिया सव्वदरिसीहिं।। ५४।।

जिसमें तिलतुषमात्र बाह्य परिग्रह का सग्रह नही है ऐसी जिनदीक्षा सर्वज्ञ देव के द्वारा कही गई है।। ५४।।

उवसग्गपरिसहसहा णिज्जणदेसे हि णिच्च अत्थेइ।
सिलकट्ठे भूमितले सव्वे आरुहइ सव्वत्थ।। ५५।।

उपसर्ग और परिषहों को सहन करने वाले मुनि निरन्तर निर्जन स्थान में रहते हैं वहां भी सर्वत्र शिला, काष्ठ या भूमितल पर बैठते हैं।। ५५।।

पसुमहिलसंढसंगं कुसीलसंगं ण कुणइ विकहाओ।
सज्झायझाणजुत्ता पव्वज्जा एरिसा भणिया।। ५६।।

जिसमें पशु, स्त्री, नपुसक और कुशील मनुष्यों का सग नही किया जाता, विकथाए नहीं कही जातीं और सदा स्वाध्याय तथा ध्यान में लीन रहा जाता है ऐसी जिनदीक्षा कही गई है।। ५६।।

तववयगुणेहिं सुद्धा संजमसम्मत्तगुणविसुद्धा य।
सुद्धा गुणेहिं सुद्धा पव्वज्जा एरिसा भणिया।। ५७।।

जो तप, व्रत और उत्तर गुणों से शुद्ध है, संजम, सम्यक्त्व और मूलगुणों से विशुद्ध है तथा दीक्षोचित अन्यगुणों से शुद्ध है ऐसी जिनदीक्षा कही गई है।। ५७।।

एवं आयत्तणगुणपज्जत्ता बहुविसुद्धसम्मत्ते।
णिग्गंथे जिणमग्गे संखेवेणं जहाखादं।। ५८।।

इस प्रकार आत्मगुणों से परिपूर्ण जिनदीक्षा, अत्यन्त निर्मल सम्यक्त्व सहित, निष्परिग्रह जिनमार्ग में जैसी कही गई है वैसी संक्षेप से मैंने कही है।। ५८।।

रूवत्थं सुद्धत्थं जिणमग्गे जिणवरेहिं जह भणियं।
भव्वजणबोहणत्थं छक्कायहिदंकरं उत्तं।। ५९।।

जिनेन्द्रदेव ने जिनमार्ग में शुद्धि के लिये जिस स्पस्थ मार्ग का निरूपण किया है, छह काय के जीवों का हित करने वाला वह मार्ग भव्य जीवों को समझाने के लिये मैंने कहा है।। ५६।।

सद्दवियारो हूआ भासासुत्तेसु जं जिणो कहियं।
सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स।। ६०।।

शब्द विकार से उत्पन्न हुए भाषासूत्रों में श्रीजिनेन्द्र देव ने जो कहा है तथा भद्रबाहु के शिष्य ने जिसे जाना है वही मार्ग मैंने यहा कहा है।। ६०।।

वारसअंगवियाणं चउदसपुव्वंगविउलवित्थरणं।
सुयणाणिभद्दबाहू गमयगुरू भयवओ जयओ।। ६१।।

द्वादशाग के जानने वाले, चौदहपूर्वों का बृहत् विस्तार करने वाले और व्याख्याकारों में प्रधान श्रुतकेवली भगवान् भद्रबाहु जयवन्त होवें।। ६१।।

इस प्रकार बोधपाहुड समाप्त हुआ।

●

भावपाहुड

णमिऊण जिणवरिंदे णरसुरभवणिंदवंदिए सिद्धे।
वोच्छामि भावपाहुडमवसेसे संजदे सिरसा।। १।।

चक्रवर्ती, इन्द्र तथा धरणेन्द्र से वन्दित अर्हन्तों को, सिद्धों को तथा अवशिष्ट आचार्य, उपाध्याय और साधु रूप सयतों को शिर से नमस्कार कर मैं भावपाहुड ग्रन्थ को कहूगा।। १।।

भावो हि पढमलिंगं च ण दव्वलिंगं जाण परमत्थं।
भावो कारणभूदो गुणदोसाणं जिणा विंति।। २।।

निश्चय से भाव, जिनदीक्षा का प्रथम लिंग है, द्रव्यलिंग को तू परमार्थ मत जान, भाव ही गुणदोषों का कारण है ऐसा जिनेन्द्र देव कहते हैं।। २।।

भावविसुद्धिणिमित्तं बाहिरगंथस्स कीरए चाओ।
बाहिरचाओ विहओ अब्भंतरगंथजुत्तस्स।। ३।।

भावशुद्धि के कारण ही बाहृय परिग्रह का त्याग किया जाता है। जो आभ्यन्तर परिग्रह से युक्त है उसका बाहृय परिग्रह का त्याग निष्फल है।। ३।।

भावरहिओ ण सिज्झइ जइ वि तवं चरइ कोडिकोडीओ।
जम्मंतराइ बहुसो लंबियहत्थो गलियवत्थो।। ४।।

भावरहित जीव यदि करोड़ों जन्म तक अनेक बार हाथ लटका कर तथा वस्त्रों का त्याग कर तपश्चरण करे तो भी सिद्ध नहीं होता है।। ४।।

परिणामम्मि असुद्धे गंथे मुंचेइ बाहिरे य जई।
बाहिरगंथच्चाओ भावविहूणस्स किं कुणइ।। ५।।

यदि कोई यति भाव अशुद्ध रहते हुए बाह्य परिग्रह का त्याग करता है तो भावहीन यति का वह बाह्य परिग्रह त्याग क्या कर सकता है ? कुछ नहीं।। ५।।

जाणहि भावं पढमं किं ते लिंगेण भावरहिएण।

पंथिय सिरपुरिपथं जिणउवइट्ठं पयत्तेण।। ६।।

हे पथिक ! तू सर्वप्रथम भाव को ही जान, भाव रहित वेष से तुझे क्या प्रयोजन ? भाव ही जिनेन्द्र देव के द्वारा प्रयत्न पूर्वक शिवपुरी का मार्ग बतलाया गया है।। ६।।

भावरहिए सपुरिस अणाइकालं अणंतसंसारे।

गहिउज्झियाइं बहुसो बाहिरणिग्गंथरुवाइं।। ७।।

हे सत्पुरुष ! भाव रहित तू ने अनादिकाल से इस अनन्तसंसार में बाह्यनिर्ग्रन्थ रूप - द्रव्यलिंग अनेक बार ग्रहण किये और छोड़े हैं।। ७।।

भीसणणरयगईए तिरियगईए कुदेवमणुगइए।

पत्तोसि तिव्वदुक्खं भावहि जिणभावणा जीव।। ८।।

हे जीव ! तूने भयकर नरक गति में, तिर्यंच गति में, नीचदेव और नीच मनुष्यगति में तीव्र दु ख प्राप्त किये हैं अत तू जिनेन्द्रप्रणीत भावना का चिन्तवन कर।। ८।।

सत्तसु णरयावासे दारुणभीसाई असहणीयाइ।

भुत्ताइ सुइरकालं दुक्खाइं णिरंतर सहियाइ।। ९।।

हे जीव ! तू ने सात नरकावासों में बहुत काल तक अत्यन्त भयानक और न सहने योग्य दु ख निरन्तर भोगे तथा सहे हैं।। ९।।

खणणुत्तावणवालणवेयणविच्छेयणाणिरोहं च।

पत्तोसि भावरहिओ तिरियगईए चिरं कालं।। १०।।

हे जीव ! भावरहित तू ने तिर्यंचगति में चिरकाल तक खोदा जाना तपाया जाना जलाया जाना हवा किया जाना, तोडा जाना और रोका जाना आदि के दु ख प्राप्त किये हैं।। १०।।

आगंतुअमाणसियं सहजं सारीरियं च चत्तारि।

दुक्खाइ मणुयजम्मे पत्तोसि अणंतयं कालं।। ११।।

हे जीव ! तूने मनुष्य गति में आगन्तुक, मानसिक, साहजिक और शारीरिक ये चार प्रकार के दुख अनन्तकाल तक प्राप्त किये हैं।। ११।।

सुरणिलयेसु सुरच्छरविओयकाले य माणसं तिव्वं।

संपत्तोसि महाजस दुक्खं सुहभावणारहिओ।। १२।।

हे महायश के धारक ! तूने शुभभावना से रहित होकर स्वर्ग लोक में देव-देवियों का वियोग होने पर तीव्र मानसिक दु ख प्राप्त किया है।। १२।।

कदप्पमाइयाओ पंचवि असुहादिभावणाई य।

भाऊण दव्वलिंगी पहीणदेवो दिवे जाओ।। १३।।

हे जीव ! तू द्रव्यलिंगी होकर [1]कांदर्पी आदि पांच अशुभ भावनाओं का चिन्तवन कर स्वर्ग में नीच देव हुआ।। १३।।

पासत्थभावणाओ अणाइकालं अणेयवाराओ।
भाऊण दुहं पत्तो कुभावणाभावबीएहिं।। १४।।

हे जीव ! तूने अनादिकाल से अनेक बार पार्श्वस्थ कुशील, संसक्त, अवसन्न और मृगचारी आदि भावनाओं का चिन्तवन कर खोटी भावनाओं के भावरूप बीजों से दुःख प्राप्त किये हैं।। १४।।

देवाण गुणा विहूई इड्ढी माहप्प बहुविह दट्ठं।
होऊण हीणदेवो पत्तो बहुमाणसं दुक्खं।। १५।।

हे जीव ! तूने नीच देव होकर अन्य देवों के गुण विभूति ऋद्धि तथा बहुत प्रकार का माहात्म्य देखकर बहुत भारी मानसिक दुःख प्राप्त किया है।। १५।।

चउविह विकहासत्तो मयमत्तो असुहभावपयडत्थो।
होऊण कुदेवत्तं पत्तोसि अणेयवाराओ।। १६।।

हे जीव ! तू चार प्रकार की विकथाओं में आसक्त होकर, आठमदों से मत्त होकर और अशुभभावों से स्पष्ट प्रयोजन धारण कर अनेक बार कुदेवपर्याय - भवनत्रिक में उत्पन्न हुआ है।। १६।।

असुहीवीहत्थेहि य कलिमलबहुला हि गब्भवसहीहि।
वसिओसि चिरं कालं अणेयजणणीण मुणिपवर।। १७।।

हे मुनिप्रवर ! तूने अनेक माताओं के अशुद्ध, घृणित और पाप रूप मल से मलिन गर्भ-वसतियों में चिरकाल तक निवास किया है।। १७।।

पीओसि थणच्छीरं अणंतजम्मंतराइं जणणीण।
अण्णण्णाण महाजय सायरसलिला दु अहिययरं।। १८।।

हे महायश के धारक ! तूने अनन्त जन्मों में अन्य-अन्य माताओं के स्तन का इतना अधिक दूध पिया है कि वह इकट्ठा किये जाने पर समुद्र के जल से भी अधिक होगा।। १८।।

तुह मरणे दुक्खेण अण्णण्णाणं अणेयजणणीणं।
रुण्णाण णयणणीरं सायरसलिला दु अहिययरं।। १९।।

हे जीव ! तुम्हारे मरने पर दुःख से रोने वाली भिन्न-भिन्न अनेक माताओं के आंसू समुद्र के जल से भी अधिक होंगे।। १९।।

भवसायरे अणंते छिण्णुज्झियकेसणहरणालट्ठी।
पुंजइ जइ कोवि जए हवदि य गिरिसमधिया रासी।। २०।।

हे जीव ! इस अनन्त संसार सागर में तुम्हारे कटे और छोड़े हुए केश, नख, नाल और हड्डी को यदि कोई देव इकट्ठा करे तो उसकी राशि मेरुपर्वत से भी ऊंची हो जाय।। २०।।

जलथलसिहिपवणंवरगिरिसरिदरितरुवणाइं सव्वत्तो।
वसिओ सि चिर कालं तिहुवणमज्झे अणप्पवसो।। २१।।

---

1 कांदर्पी, किल्विषकी, सम्मोही, दानवी और आभियोगकी ये अशुभभावनाएं हैं।

हे जीव ! तूने पराधीन होकर तीन लोक के बीच जल, स्थल, अग्नि, वायु, आकाश, पर्वत, नदी, गुफा, वृक्ष और वन आदि सभी स्थानों में चिरकाल तक निवास किया है।। २१।।

गसियाइं पुग्गलाइं भुवणोदरवत्तियाइं सव्वाइं।
पत्तोसि तो ण तित्तिं पुणरुत्तं ताइं भुंजंतो।। २२।।

हे जीव ! तूने लोक के मध्य में स्थित समस्त पुद्गलों का भक्षण किया तथा उन्हें बार-बार भोगते हुए भी तृप्ति नही हुई।। २२।।

तिहुयणसलिलं सयलं पीयं तिण्हाये पीडिएण तुमे।
तो वि ण तिण्हाच्छेओ जाओ चिंतेह भवमहणं।। २३।।

हे जीव ! तूने प्यास से पीडित होकर तीन लोक का समस्त जल पी लिया तो भी तेरी प्यास का अन्त नही हुआ। इसलिये तू संसार का नाश करने वाले रत्नत्रय का चिन्तन कर।। २३।।

गहि उज्झियाइं मुणिवर कलेवराइं तुमे अणेयाइं।
ताणं णत्थि पमाणं अणंतभवसायरे धीर।। २४।।

हे मुनीश्वर ! हे धीर ! इस अनन्त संसार सागर में तूने जो अनेक शरीर ग्रहण किये तथा छोडे हैं उनका प्रमाण नही है।। २४।।

विसवेयणरत्तक्खयभयसत्थग्गहणसंकिलेसाणं।
आहारुस्सासाणं णिरोहणा खिज्जए आऊ।। २५।।
हिमजलणसलिलगुरुयरपव्वयतरुरुहणपडणभंगेहिं।
रसविज्जजोयधारण अणयपसंगेहिं विविहेहिं।। २६।।
इय तिरियमणुयजम्मे सुइरं उववज्जिऊण बहुबार।
अवमिच्चुमहादुक्खं तिव्वं पत्तोसि तं मित्त।। २७।।

विष, वेदना, रक्तक्षय, भय, शस्त्रग्रहण, संक्लेश, आहारनिरोध, श्वासोच्छ्वासनिरोध, बर्फ, अग्नि, पानी, बडे पर्वत अथवा वृक्ष पर चढते समय गिरना, शरीर का भंग, रसविद्या के प्रयोग से और अन्याय के विविध प्रसंगों से आयु का क्षय होता है। हे मित्र ! इस प्रकार तिर्यंच और मनुष्यगति में उत्पन्न होकर चिरकाल से अनेक बार अकाल मृत्यु का अत्यन्त तीव्र महादुःख तूने प्राप्त किया है।। २५-२७।।

छत्तीसं तिण्णिसया छावट्ठिसहस्सवारमरणाणि।
अंतोमुहुत्तमज्झे पत्तोसि णिगोयवासम्मि।। २८।।

हे जीव ! तूने निगोदवास में अन्तर्मुहूर्त के भीतर छयासठ हजार तीन सौ छत्तीस बार मरण प्राप्त किया है।। २८।।

वियलिंदिए असीदी सट्ठी चालीसमेव जाणेह।
पंचिंदियचउवीसं खुद्दभवंतो मुहुत्तस्स।। २९।।

हे जीव ! ऊपर जो अन्तर्मुहूर्त के क्षुद्रभव बतलाये हैं उनमें द्वीन्द्रियों के ८०, त्रीन्द्रियों के ६०, चतुरिन्द्रियों के ४०, और पंचेन्द्रियों के २४ भव होते हैं ऐसा तू जान।। २९।।

रयणत्तये अलद्धे एवं भमिओसि दीहसंसारे।
इय जिणवरेहिं भणिओ तं रयणत्तय समायरह।। ३०।।

हे जीव ! इस प्रकार रत्नत्रय प्राप्त न होने से तूने इस दीर्घ संसार में भ्रमण किया है इसलिये तू रत्नत्रय का आचरण कर ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।। ३०।।

अप्पा अप्पम्मि रओ सम्माइट्ठी हवेइ फुडु जीवो।
जाणइ तं सण्णाणं चरदिह चारित्तमग्गुत्ति।। ३१।।

आत्मा आत्मा में लीन होता है यह सम्यग्दर्शन है, जीव उस आत्मा को जानता है यह सम्यग्ज्ञान है तथा उसी आत्मा में चरण करता है यह चारित्र है।। ३१।।

अण्णे कुमरणमरणं अणेयजम्मंतराइ मरिओसि।
भावहि सुमरणमरणं जरमरणविणासणं जीव।। ३२।।

हे जीव ! तू अन्य अनेक जन्मों में कुमरण से मृत्यु को प्राप्त हुआ है अत: अब जरा-मरण का विनाश करने वाले सुमरण का चिन्तन कर।। ३२।।

सो णत्थि दव्वसवणो परमाणुपमाणमेत्तओ णिलओ।
जत्थ ण जाओ ण मओ तियलोयपमाणिओ सव्वो।। ३३।।

तीन लोक प्रमाण इस समस्त लोकाकाश में ऐसा परमाणु मात्र भी स्थान नहीं है जहा कि द्रव्यलिंगी मुनि न उत्पन्न हुआ हो और न मरा हो।। ३३।।

कालमणंत जीवो जम्मजरामरणपीडिओ दुक्खं।
जिणलिंगेण वि पत्तो परंपराभावरहिएण।। ३४।।

आचार्य परम्परा से उपदिष्ट भावलिंग रहित द्रव्यलिंग के द्वारा भी इस जीव ने अनन्तकाल तक जन्म-जरा-मरण से पीडित हो दु:ख ही प्राप्त किया है।। ३४।।

पडिदेससमयपुग्गलआउगपरिणामणामकालट्ठ।
गहिउज्झियाइ बहुसो अणंतभवसायरे जीवो।। ३५।।

अनन्त संसार सागर के बीच इस जीव ने प्रत्येक देश, प्रत्येक समय, प्रत्ययेकपुद्गल, प्रत्येक आयु, प्रत्येक रागादि भाव, प्रत्येक नामादि कर्म तथा उत्सर्पिणी आदि काल में स्थित अनन्तशरीरों को अनेक बार ग्रहण किया और छोडा।। ३५।।

तेयाला तिण्णिसया रज्जूणं लोयखेत्तपरिमाणं।
मुत्तूणट्ठपएसा जत्थ ण दुरुदुल्लियो जीवो।। ३६।।

३४३ राजू प्रमाण लोक क्षेत्र मे आठ मध्यप्रदेशों को छोडकर ऐसा कोई प्रदेश नही जहा इस जीव ने भ्रमण न किया हो।। ३६।।

एक्केक्कंगुलिवाही छण्णवदी होंति जाणमणुयाणं।
अवसेसे य सरीरे रोया भण कित्तिया भणिया।। ३७।।

मनुष्य शरीर के एक-एक अंगुल प्रदेश में जब छियानवे-छियानवे रोग होते हैं तब शेष समस्त शरीर में

कितने-कितने रोग कहे जा सकते है, हे जीव ' यह तू जान।। ३७।।

ते रोया विय सयला सहिया ते परवसेण पुव्वभवे।
एवं सहसि महाजस किंवा बहुएहिं लविएहिं।। ३८।।

हे महायश के धारक जीव ' तूने वे सब दु ख पूर्वभव में परवश होकर सहे है और अब इस प्रकार सह रहा है अधिक कहने से क्या ?।। ३८।।

पित्तंतमुत्तफेफसकालिज्जयरुहिरखरिस किमिजाले।
उयरे वसिओसि चिरं णवदसमासेहिं पत्तेहिं।। ३९।।

हे जीव ' तूने पित्त आत मूत्र, फुप्फुस, जिगर, रुधिर, खारिस और कीडों के समूह से भरे हुए माता के उदर में अनन्तबार नौ-नौ दश-दश मास तक निवास किया है।। ३९।।

दियसंगट्ठियमसणं आहारिय मायभुत्तमण्णंते।
छद्दिखरिसाणमज्झे जठरे वसिओसि जणणीए।। ४०।।

हे जीव ' तूने माता के पेट में दातों के सग में स्थित तथा माता के खाने के बाद उसके खाये हुए अन्न को खाकर वमन और खरिस[1] के बीच निवास किया है।। ४०।।

सिसुकाले य अमाणे असुईमज्झम्मि लोलिओसि तुमं।
असुई असिआ बहुसो मुणिवर बालत्तपत्तेण।। ४१।।

हे मुनिश्रेष्ठ ' तू अज्ञानपूर्ण बाल्य अवस्था में अपवित्र स्थान में लोटा है तथा बालकपन के कारण अनेक बार तू अपवित्र वस्तुओं को खा चुका है।। ४१।।

मंसट्ठिसुक्कसोणियपित्तंतसवत्तकुणिमदुग्गंध।
खरिसवसपूयखिब्भिसभरियं चिंतेहिं देहउड।। ४२।।

हे जीव ' तू इस शरीररूपी घडे का चिन्तन कर जो मास, हड्डी, वीर्य, रुधिर, पित्त और आत से झरती हुए मुर्दे के समान दुर्गन्ध से सहित है तथा खरिस, चर्बी, पीप आदि अपवित्र वस्तुओं से भरा हुआ है।। ४२।।

भावविमुत्तो मुत्तो ण य मुत्तो बंधवाईमित्तेण।
इय भाविऊण उज्झसु गंथं अब्भंतरं धीर।। ४३।।

जो रागादि भावों से मुक्त है वास्तव में वही मुक्त है, जो केवल बान्धव आदि से मुक्त है वह मुक्त नही है। ऐसा विचारकर हे धीर वीर ' तू अन्तरग परिग्रह का त्याग कर।। ४३।।

देहादिचत्तसंगो माणकसाएण कलुसिओ धीर।
अत्तावणेण जादो बाहुबली कित्तियं कालं।। ४४।।

हे धीर मुनि ' देहादि के सम्बन्ध से रहित किन्तु मानकषाय से कलुषित बाहुबली स्वामी कितने समय तक आतापन योग से स्थित रहे थे ?

भावार्थ - यद्यपि बाहुबली स्वामी शरीरादि से विरक्त होकर आतापन से विराजमान थे परन्तु "मैं भरत की भूमि में खडा हू" इस प्रकार सूक्ष्म मान विद्यमान रहने से केवलज्ञान प्राप्त नही कर सके थे। जब उनके हृदय से उक्त प्रकार का मान दूर हो गया था तभी उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ था। इससे यह सिद्ध होता है कि अन्तरंग की उज्ज्वलता के बिना केवल बाह्य त्याग से कुछ नही होता।। ४४।।

1 बिना पके रुधिर से मिले हुए कफ को खरिस कहते हैं।

महुपिंगो णाम मुणी देहा हारादिचत्तवावारो।
सवणत्तणं ण पत्तो णियाणमित्तेण भवियणुय।। ४५।।

हे भव्य जीवों के द्वारा नमस्कृत मुनि ! शरीर तथा आहार आदि व्यापार का त्याग करने वाले मधुपिंग नामक मुनि निदानमात्र से श्रमणपने को प्राप्त नहीं हुए थे।। ४५।।

अण्णं च वसिट्ठमुणी पत्तो दुक्खं णियाणदोसेण।
सो णत्थि वासठाणो जत्थ ण दुरुदुल्लिओ जीवो।। ४६।।

और भी एक वशिष्ठ मुनि निदान मात्र से दुःख को प्राप्त हुए थे। लोक में वह निवास स्थान नहीं है जहा इस जीव ने भ्रमण न किया हो।। ४६।।

सो णत्थि त पएसो चउरासीलक्खजोणिवासम्मि।
भावविरओ वि सवणो जत्थ ण दुरुदुल्लिओ जीवो।। ४७।।

हे जीव ! चौरासी लाख योनि के निवास में वह एक भी प्रदेश नहीं है जहा अन्य की बात जाने दो भावरहित साधु ने भी भ्रमण न किया हो।। ४७।।

भावेण होइ लिंगी ण हु लिंगी होइ दव्वमित्तेण।
तम्हा कुणिज्ज भावं किं कीरइ दव्वलिंगेण।। ४८।।

मुनि, भाव से ही जिनलिगी होता है, द्रव्यमात्र से जिनलिंगी नहीं होता इसलिये भावलिंग ही धारण करो द्रव्यलिंग से क्या काम सिद्ध होता है ?।। ४८।।

दण्डअणयरं सयलं डहिओ अब्भंतरेण दोसेण।
जिणलिंगेण वि बाहू पडिओ सो रउरवे णरये।। ४९।।

बाहुमुनि जिनलिंग से सहित होने पर भी अन्तरंग के दोष से दण्डक नामक समस्त नगर को जलाकर रौरव नामक नरक में उत्पन्न हुआ था।। ४९।।

अवरो वि दव्वसवणो दंसणवरणाणचरणपब्भट्ठो।
दीवायणुत्ति णामो अणंतसंसारिओ जाओ।। ५०।।

और भी एक द्वैपायन नामक द्रव्यलिंगी श्रमण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से भ्रष्ट होकर अनन्तसंसारी हुआ।। ५०।।

भावसमणो य धीरो जुवईजणवेड्ढिओ विसुद्धमई।
णामेण सिवकुमारो परीत्तसंसारिओ जादो।। ५१।।

भावलिंग का धारक धीर वीर शिवकुमार नाम का मुनि, युवतिजनों से परिवृत्त होकर भी विशुद्ध हृदय बना रहा इसीलिये संसार समुद्र से पार हुआ।। ५१।।

अंगाइं दस य दुण्णि य चउदसपुव्वाइं सयलसुयणाणं।
पढिओ अ भव्वसेणो ण भावसवणत्तणं पत्तो।। ५२।।

भव्यसेन नामक मुनि ने बारह अग और चौदह पूर्व रूप समस्त श्रुतज्ञान को पढ लिया तो भी वह भावश्रमणपने को प्राप्त नहीं हुआ।। ५२।।

तुसमासं घोसंतो भावविसुद्धो महाणुभावो य।

णामेण य सिवभूई केवलणाणी फुडं जाओ।। ५३ ।।

यह बात सर्व प्रसिद्ध है कि विशुद्ध भावों के धारक और अत्यन्त प्रभाव से युक्त शिवभूति मुनि "तुषमाष" पद को घोकते हुए - याद करते हुए केवलज्ञानी हो गये।। ५३ ।।

भावेण होइ णग्गो बाहिरलिंगेण किं च णग्गेण।

कम्मपयडीयणियर णासइ भावेण दव्वेण।। ५४ ।।

भाव से ही निर्ग्रन्थ रूप सार्थक होता है केवल बाह्यलिंग रूप नग्न मुद्रा से क्या प्रयोजन है ? कर्म प्रकृतियों का समुदाय भावसहित द्रव्यलिंग से ही नष्ट होता है।। ५४ ।।

णग्गत्तणं अकज्जं भावणरहियं जिणेहिं पण्णत्तं।

इय णाऊण य णिच्चं भाविज्जहि अप्पयं धीर।। ५५ ।।

जिनेन्द्र भगवान् ने भावरहित नग्नता को व्यर्थ कहा है ऐसा जानकर हे धीर ! सदा आत्मा की भावना कर।। ५५ ।।

देहादिसंगरहिओ माणकसाएहिं सयलपरिचत्तो।

अप्पा अप्पम्मि रओ स भावलिंगी हवे साहू।। ५६ ।।

जो शरीरादि परिग्रह से रहित, मान कषाय से सब प्रकार से मुक्त है और जिसका आत्मा आत्मा में रत रहता है वह साधु भावलिंगी है।। ५६ ।।

ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो।

आलंबणं च मे आदा अवसेसाइं वोसरे।। ५७ ।।

भावलिंगी मुनि विचार करता है कि मैं निर्ममत्वभाव को प्राप्त होकर ममता बुद्धि को छोडता हू और आत्मा ही मेरा आलम्बन है इसलिये अन्य समस्त पदार्थों को छोडता हू।। ५७ ।।

आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य।

आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे।। ५८ ।।

निश्चय से मेरे ज्ञान में आत्मा है, दर्शन और चारित्र में आत्मा है, प्रत्याख्यान में आत्मा है, सवर और योग में आत्मा है।। ५८ ।।

एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।

सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा।। ५९ ।।

नित्य तथा ज्ञान, दर्शन लक्षणवाला एक आत्मा ही मेरा है उसके सिवाय पर द्रव्य के सयोग से होने वाले समस्त भाव बाह्य हैं - मुझसे पृथक् हैं।। ५९ ।।

भावेह भावसुद्धं अप्पा सुविसुद्धणिम्मलं चेव।

लहु चउगइ चइऊणं जइ इच्छसि सासयं सुक्खं।। ६० ।।

हे भव्यजीवो ! यदि तुम शीघ्र ही चतुर्गति को छोडकर अविनाशी सुख की इच्छा करते हो तो शुद्ध भावों के द्वारा अत्यन्त पवित्र और निर्मल आत्मा की ही भावना करो।। ६० ।।

जो जीवो भावंतो जीवसहावं सुझावसंजुत्तो।

सो जरमरणविणासं कुडइ फुडं लहइ णिव्वाणं।। ६१ ।।

जो जीव, अच्छे भावों से सहित होकर आत्मा के स्वभाव का चिन्तन करता है वह जरा-मरण का विनाश करता और निश्चय ही निर्वाण को प्राप्त होता है।। ६१ ।।

जीवो जिणपण्णत्तो णाणसहाओ य चेयणासहिओ।

सो जीवो णायव्वो कम्मक्खयकारणणिमित्तो।। ६२ ।।

जीव ज्ञानस्वभाव वाला तथा चेतना सहित है ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। वह जीव ही कर्मक्षय का कारण जानना चाहिये।। ६२ ।।

जेसिं जीवसहावो णत्थि अभावो य सव्वहा तत्थ।

ते होंति भिण्णदेहा सिद्धा वचिगोयरमतीदा।। ६३ ।।

जिनके मन मे जीव का सद्भाव है, उसका सर्वथा अभाव नहीं है वे शरीर से भिन्न तथा वचन के विषय से परे सिद्ध होते हैं।। ६३ ।।

अरसमरूवमगधं अव्वत्तं चेयणागुणमसद्दं।

जाणमलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं।। ६४ ।।

जो रस रहित है, रूप रहित है, गन्ध रहित है, अव्यक्त है, चेतना गुण से युक्त है, शब्द रहित है, इन्द्रियों के द्वारा अग्राह्य है और आकार रहित है उसे जीव जान।। ६४ ।।

भावहि पंचपयारं णाणं अण्णाणणासणं सिग्घं।

भावणभावियसहिओ दिवसिवसुहभायणो होइ।। ६५ ।।

हे जीव ! तू अज्ञान का नाश करने वाले पांच प्रकार के ज्ञान की शीघ्र ही भावना कर। क्योंकि ज्ञानभावना से सहित जीव स्वर्ग और मोक्ष के सुख का पात्र होता है।। ६५ ।।

पढिएणवि किं कीरइ किंवा सुणिएण भावरहिएण।

भावो कारणभूदो सायारणयारभूदाणं।। ६६ ।।

भावरहित पढने अथवा भाव रहित सुनने से क्या होता है ? यथार्थ में भाव ही गृहस्थपने और मुनिपने का कारण है।। ६६ ।।

दव्वेण सयलणग्गा णारयतिरिया य सयलसंघाया।

परिणामेण असुद्धा ण भावसवणत्तणं पत्ता।। ६७ ।।

द्रव्य रूप से सभी नग्न रहते हैं। नारकी और तिर्यंचों का समुदाय भी नग्न रहता है परन्तु परिणामों से अशुद्ध होने के कारण भाव मुनिपने को प्राप्त नहीं होते।। ६७ ।।

णग्गो पावइ दुक्खं णग्गो संसारसायरे भमई।

णग्गो ण लहइ बोहिं जिणभावणवज्जियं सुइरं।। ६८ ।।

जो नग्न जिन भगवान् की भावना से रहित है वह दीर्घकाल तक दु:ख पाता है, संसार सागर में भ्रमण करता है और रत्नत्रय को नहीं प्राप्त करता है।। ६८ ।।

अयसाण भायणेण य किं ते णग्गेण पावमलिणेण।
पेसुण्णहासमच्छरमायाबहुलेण सवणेण।। ६९।।

हे जीव ! तुझे उस नग्न मुनिपने से क्या प्रयोजन ? जो कि अपयश का पात्र है, पाप से मलिन है, पैशुन्य, हास्य, मात्सर्य और माया से परिपूर्ण है।। ६९।।

पयडहिं जिणवरलिंगं अब्भिंतरभावदोसपरिसुद्धो।
भावमलेण य जीवो बाहिरसंगम्मि मयलियई।। ७०।।

हे जीव ! तू अन्तरग भाव के दोषों से शुद्ध होकर जिनमुद्रा को प्रकट कर - धारण कर। क्योंकि भाव दूषित जीव बाह्य परिग्रह के संग में अपने आपको मलिन कर लेता है।। ७०।।

धम्मम्मि णिप्पवासो दोसावासो य इच्छुफुल्लसमो।
णिप्फलणिग्गुणयारो णडसवणो णग्गरूवेण।। ७१।।

जो धर्म से प्रवास करता है - धर्म से दूर रहता है, जिसमें दोषों का आवास रहता है और जो ईख के फूल के समान निष्फल तथा निर्गुण रहता है वह नग्नरूप में रहने वाला नट श्रमण है - साधु नहीं, नट है।। ७१।।

जे रायसंगजुत्ता जिणभावणरहियदव्वणिग्गंथा।
ण लहंति ते समाहिं बोहिं जिणसासणे विमले।। ७२।।

जो मुनि राग रूप परिग्रह से युक्त हैं और जिनभावना से रहित केवल बाह्यरूप में निर्ग्रन्थ हैं - नग्न हैं वे पवित्र जिनशासन में समाधि और बोध - रत्नत्रय को नहीं पाते हैं।। ७२।।

भावेण होइ णग्गो मिच्छत्ताई य दोस चइऊणं।
पच्छा दव्वेण मुणी पयडदि लिंगं जिणाणाए।। ७३।।

मुनि पहले मिथ्यात्व आदि दोषों को छोडकर भाव से - अन्तरग से नग्न होता है और पीछे जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा से बाह्यलिंग - बाह्य वेष को प्रकट करता है।। ७३।।

भावो हि दिव्वसिवसुक्खभायणो भाववज्जिओ सवणो।
कम्ममलमलिणचित्तो तिरियालयभायणो पावो।। ७४।।

भाव ही इस जीव को स्वर्ग और मोक्ष के सुख का पात्र बनाता है। जो मुनि भाव से रहित है वह कर्मरूपी मैल से मलिनचित्त तिर्यंचगति का पात्र तथा पापी है।। ७४।।

खयरामरमणुयकरंजलिमालाहिं च संथुया विउला।
चक्कहररायलच्छी लब्भइ बोही सुभावेण।। ७५।।

उत्तमभाव के द्वारा, विद्याधर देव तथा मनुष्यों के हाथों की अंजलि से स्तुत बहुत बडी चक्रवर्ती राजा की लक्ष्मी और रत्नत्रय रूप सम्पत्ति प्राप्त होती है।। ७५।।

भावं तिविहपयारं सुहासुहं सुद्धमेव णायव्वं।
असुहं च अट्टरुद्दं सुहधम्मं जिणवरिंदेहिं।। ७६।।

भाव तीन प्रकार के जानना चाहिये - शुभ, अशुभ और शुद्ध। इनमें आर्त्त और रौद्र को अशुभ तथा धर्मध्यान को शुभ जानना चाहिये। ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।। ७६।।

सुद्धं सुद्धसहावं अप्पा अप्पम्मि तं च णायव्वं।
इदि जिणवरेहिं भणियं जं सेयं तं समायरह।। ७७।।

शुद्ध स्वभाववाला आत्मा शुद्ध भाव है, वह आत्मा आत्मा में ही लीन रहता है ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है। इन तीन भावों में जो श्रेष्ठ हो उसका आचरण कर।। ७७।।

पयलियमाणकसाओ पयलियमिच्छत्तमोहसमचित्तो।
पावइ तिहुवणसारं बोही जिणसासणे जीवो।। ७८।।

जिसका मान कषाय पूर्ण रूप से नष्ट हो गया है तथा मिथ्यात्व और चारित्र मोह के नष्ट होने से जिसका चित्त इष्ट-अनिष्ट विषयों में समरूप रहता है ऐसा जीव ही जिनशासन में त्रिलोकश्रेष्ठ रत्नत्रय को प्राप्त करता है।। ७८।।

विसयविरत्तो सवणो छद्दसवरकारणाइं भाऊण।
तित्थयरणामकम्मं बंधइ अइरेण कालेण।। ७९।।

विषयों से विरक्त रहने वाला साधु सोलह कारण भावनाओं का चिन्तवन कर थोडे ही समय में तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करता है।। ७९।।

बारसविहतवयरणं तेरसकिरियाउ भावतिविहेण।
धरहि मणमत्तदुरियं णाणांकुसएण मुणिपवर।। ८०।।

हे मुनिश्रेष्ठ ' तू बारह प्रकार का तपश्चरण और तेरह प्रकार की क्रियाओं का मन, वचन, काय से चिनन्त कर तथा मन रूपी मत्त हाथी को ज्ञान रूपी अंकुश से वश कर।। ८०।।

पंचविहचेलचायं खिदिसयणं दुविहसंजमं भिक्खू।
भावं भावियपुव्वं जिणलिंगं णिम्मलं सुद्धं।। ८१।।

जहा पांच प्रकार के वस्त्रों का त्याग किया जाता है, जमीन पर सोया जाता है, दो प्रकार का सयम धारण किया जाता है, भिक्षा से भोजन किया जाता है और पहले आत्मा के शुद्ध भावों का विचार किया जाता है वह निर्मल जिनलिंग है।। ८१।।

जह रयणाणं पवरं वज्जं जह तरुगणाण गोसीरं।
तहधम्माणं पवरं जिणधम्मं भाविभवमहणं।। ८२।।

जिस प्रकार रत्नों में हीरा और वृक्षों के समूह में चन्दन सर्वश्रेष्ठ है उसी प्रकार समस्त धर्मों में ससार को नष्ट करने वाला जिनधर्म सर्वश्रेष्ठ है ऐसा तू चिन्तवन कर।। ८२।।

पूयादिसु वयसहियं पुण्णं हि जिणेहिं सासणे भणियं।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो।। ८३।।

पूजा आदि शुभक्रियाओं में व्रत सहित जो प्रवृत्ति है वह पुण्य है तथा मोह और क्षोभ से रहित आत्मा को जो भाव है वह धर्म है ऐसा जिनशासन में जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है।। ८३।।

सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो वि फासेदि।
पुण्णं भोयणिमित्तं ण हु सो कम्मक्खयणिमित्तं।। ८४।।

जो मुनि पुण्य का श्रद्धान करता है, प्रतीति करता है, उसे अच्छा समझता है और बार-बार उसे धारण करता है उसका यह सब कार्य भोग का ही कारण है, कर्मों के क्षय का कारण नही है।। ८४।।

अप्पा अप्पम्मि रओ रायादिसु सयलदोसपरिचत्तो।
संसारतरणहेउ धम्मोत्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं।। ८५।।

रागादि समस्त दोषों से रहित होकर जो आत्मा आत्मस्वरूप में लीन होता है वह संसार समुद्र में पार होने का कारण धर्म है ऐसा श्री जिनेन्द्र देव ने कहा है।। ८५।।

अह पुण अप्पा णिच्छदि पुण्णाइं करेदि णिरवसेसाइं।
तह वि ण पावदि सिद्धिं संसारत्थो पुणो भणिदो।। ८६।।

जो मनुष्य आत्मा की इच्छा नहीं करता - आत्मस्वरूप की प्रतीति नही करता वह भले ही समस्त पुण्य क्रियाओं को करता हो तो भी सिद्धि को प्राप्त नहीं होता है। वह संसारी ही कहा गया है।। ८६।।

एएण कारणेण य तं अप्पा सद्दहेह तिविहेण।
जेण य लभेह मोक्खं त जाणिज्जह पयत्तेण।। ८७।।

इस कारण तुम मन, वचन काय से उस आत्मा का श्रद्धान करो और यत्नपूर्वक उसे जानो उससे कि मोक्ष प्राप्त कर सको।। ८७।।

मच्छो वि सालिसिक्थो असुद्धभावो गओ महाणरयं।
इय णाउं अप्पाणं भावह जिणभावणं णिच्चं।। ८८।।

अशुद्धभावों का धारक शालिसिक्थ नाम का मच्छ सातवें नरक गया ऐसा जानकर हे मुनि! तू निरन्तर आत्मा में जिनदेव की भावना कर।। ८८।।

बाहिरसंगच्चाओ गिरिसरिदरिकंदराइ आवासो।
सयलो णाणज्झयणो णिरत्थओ भावरहियाण।। ८९।।

भावरहित मुनियो का बाह्य परिग्रह का त्याग, पर्वत, नदी, गुफा खोह आदि में निवास और ज्ञान के लिये शास्त्रों का अध्ययन यह सब व्यर्थ है।। ८९।।

भंजसु इंदियसेणं भंजसु मणोमक्कडं पयत्तेण।
मा जणरंजणकरणं बाहिरवयवेस तं कुणसु।। ९०।।

तू इन्द्रिय रूपी सेना को भंग कर, और मन रूपी बन्दर को प्रयत्नपूर्वक वश कर। हे बाह्यव्रत के वेष को धारण करने वाले! तू लोगों को प्रसन्न करने वाले कार्य मत कर।। ९०।।

णवणोकसायवग्गं मिच्छत्तं चयसु भावसुद्धीए।
चेइयपवयणगुरुणं करेहिं भत्तिं जिणाणाए।। ९१।।

हे मुनि! तू भावों की शुद्धि से नव नोकषायों के समूह को तथा मिथ्यात्व को छोड और जिनेन्द्र देव की आज्ञानुसार चैत्य, प्रवचन और गुरुओं की भक्ति कर।। ९१।।

तित्थयरभासियत्थं गणधरदेवेहिं गंथियं सम्मं।
भावहि अणुदिणु अतुलं विसुद्धभावेण सुयणाणं।। ९२।।

जिसका अर्थ तीर्थकर भगवान् के द्वारा कहा गया है तथा गणधर देव ने जिसकी सम्यक् प्रकार से ग्रन्थ

रचना की है, उस अनुपम श्रुतज्ञान का तू विशुद्ध भाव से प्रतिदिन चिन्तन कर।। ९२।।

पाऊण णाणसलिलं णिम्महतिसडाहसोसउम्मुक्का।
हुंति सिवालयवासी तिहुवणचूडामणी सिद्धा।। ९३।।

हे जीव ! मुनिगण, ज्ञानरूपी जल पीकर दुर्दम्य तृष्णारूपी प्यास की दाह और शोषण क्रिया से रहित होकर मोक्ष महल में निवास करने वाले और तीन लोक के चूडामणि सिद्ध परमेष्ठी होते हैं।। ९३।।

दस दस दो सुपरीसह सहदि मुणी सयलकाल काएण।
सुत्तेण अप्पमत्तो संजमघादं पमुत्तूण।। ९४।।

हे मुनि ! तू जिनागम के अनुसार प्रमादरहित होकर तथा सयम के घात को छोडकर शरीर से सदा बाईस परीषहों को सह।। ९४।।

जह पत्थरो ण भिज्जइ परिट्ठिओ दीहकालमुदएण।
तह साहू वि ण भिज्जइ उवसग्गपरीसहेहिंतो।। ९५।।

जिस प्रकार पत्थर दीर्घकाल तक पानी में स्थित रहकर भी खण्डित नहीं होता है उसी प्रकार उपसर्ग और परिषहों से साधु भी खण्डित नही होता - विचलित नही होता।। ९५।।

भावहि अणुवेक्खाओ अवरे पणवीसभावणा भावि।
भावरहिएण किं पुण बाहिरलिंगेण कायव्वं।। ९६।।

हे मुनि ! तू अनित्यत्वादि बारह अनुप्रेक्षाओं तथा पाचमहाव्रतों की पच्चीस भावनाओं का चिन्तवन कर। भावरहित बाह्यलिंग से क्या काम सिद्ध होता है ?।। ९६।।

सव्वविरओ वि भावहि णव य पयत्थाइं सत्त तच्चाइं।
जीवसमासाइं मुणी चउदसगुणठाणणामाइं।। ९७।।

हे मुनि ! यद्यपि तू सर्व विरत है तो भी नौ पदार्थ, सात तत्त्व, चौदह जीव समास और चौदह गुणस्थानों का चिन्तन कर।। ९७।।

णवविहबंभं पयडहि अब्बभं दसविहं पमोत्तूण।
मेहुणसण्णासत्तो भमिओसि भवण्णवे भीमे।। ९८।।

हे मुनि ! तू दस प्रकार के अब्रह्म का त्याग कर नव प्रकार के ब्रह्मचर्य को प्रकट कर क्योंकि मैथुनसज्ञा में आसक्त होकर ही तू इस भयंकर संसार समुद्र में भ्रमण कर रहा है।। ९८।।

भावसहिदो य मुणिणो पावइ आराहणाचउक्कं च।
भावरहिदो य मुणिवर भमइ चिरं दीहसंसारे।। ९९।।

हे मुनिवर ! भावसहित मुनिनाथ ही चार आराधनाओं को पाता है तथा भावरहित मुनि चिरकाल तक दीर्घसंसार में भ्रमण करता रहता है।। ९९।।

पावंति भावसवणा कल्लाणपरंपराइं सोक्खाइं।
दुक्खाइं दव्वसवणा णरतिरियकुदेवजोणीए।। १००।।

भावलिंगी मुनि कल्याणों की परम्परा तथा अनेक सुखों को पाते हैं और द्रव्यलिंगी मुनि मनुष्य, तिर्यंच और कुदेवों की योनि में दु ख पाते हैं।। १००।।

छादालदोसदूसियमसणं गसिउं असुद्धभावेण।
पत्तोसि महावसणं तिरियगईए अणप्पवसो।। १०१।।

हे मुनि ! तूने अशुद्ध भाव से छयालीस दोषों से दूषित आहार ग्रहण किया इसलिये तिर्यंच गति में पर वश होकर बहुत दु ख पाया है।। १०१।।

सच्चित्तभत्तपाणं गिद्धीदप्पेणऽधी पभुत्तूण।
पत्तोसि तिव्वदुक्खं अणाइकालेण तं चिंत।। १०२।।

हे मुनि ! तूने अज्ञानी होकर अत्यन्त आसक्ति और अभिमान के साथ सचित्त भोजन-पान ग्रहणकर अनादिकाल से तीव्र दु ख प्राप्त किया है, इसका तू विचार कर।। १०२।।

कंदं मूलं बीयं पुप्फं पत्तादि किंचि सच्चित्तं।
असिऊण माणगव्वं भमिओसि अणंतसंसारे।। १०३।।

हे जीव ! तूने मान और घमण्ड से कन्द, मूल, बीज, पुष्प, पत्र आदि कुछ सचित्त वस्तुओं को खाकर इस अनन्त ससार मे भ्रमण किया है।। १०३।।

विणय पचपयार पालहि मणवयणकायजोएण।
अविणयणरा सुविहियं तत्तो मुत्तिं ण पावंति।। १०४।।

हे मुनि ! तू मन, वचन, काय रूप योग से पाच प्रकार[1] के विनय का पालन कर क्योकि अविनयी मनुष्य तीर्थकर पद तथा मुक्ति को नही पाते हैं।। १०४।।

णियसत्तिए महाजस भत्तीराएण णिच्चकालम्मि।
तं कुण जिणभत्तिपरं विज्जावच्चं दसवियप्पं।। १०५।।

हे महायश के धारक ! तू भक्ति और राग से निजशक्ति के अनुसार निरन्तर जिनेन्द्र भक्ति मे तत्पर करने वाला दस प्रकार[2] का वैयावृत्य कर।। १०५।।

जं किंचि कयं दोस मणवयकाएहिं असुहभावेण।
तं गरहि गुरुसयासे गारव मायं च मोत्तूण।। १०६।।

हे मुनि ! अशुभभाव से मन, वचन, काय के द्वारा जो कुछ भी दोष तूने किया हो गर्व और माया छोडकर गुरु के समीप उसकी निन्दा कर।। १०६।।

दुज्जणवयणचडक्कं णिट्ठुरकडुय सहंति सप्पुरिसा।
कम्ममलणासणट्ठं भावेण य णिम्मया सवणा।। १०७।।

सज्जन तथा ममता से रहित मुनीश्वर कर्मरूपी मल का नाश करने के लिये अत्यन्त कठोर और कटुक दुर्जन मनुष्यों के वचन रूपी चपेटा को अच्छे भावों से सहन करते हैं।। १०७।।

पावं खवइ असेसं खमाय परिमंडिओ य मुणिपवरो।
खेयरअमरणराणं पसंसणीओ धुवं होई।। १०८।।

---

1 दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और उपचार ये विनय के पाच भेद हैं। 2 आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, सघ, साधु और मनोज्ञ इस दस प्रकार के मुनियों की सेवा करना दस प्रकार का वैयावृत्य है।

क्षमा गुण से सुशोभित श्रेष्ठ मुनि समस्त पापों को नष्ट करता है तथा विद्याधर, देव और मनुष्यों के द्वारा निरन्तर प्रशसनीय रहता है।। १०८।।

इय णाऊण खमागुण खमेहि तिविहेण सयलजीवाणं।
चिरसंचियकोहसिहिं वरखमसलिलेण सिंचेह।। १०९।।

हे क्षमागुण के धारक मुनि ! ऐसा जानकर मन, वचन, काय से समस्त जीवों को क्षमा कर और चिरकाल से संचित क्रोधरूपी अग्नि को उत्कृष्ट क्षमारूपी जल से सींच।। १०९।।

दिक्खाकालाईयं भावहि अवियारदंसणविसुद्धो।
उत्तमबोहिणिमित्तं असारसंसारमुणिऊण।। ११०।।

हे विचाररहित मुनि ! तू उत्तम रत्नत्रय के लिये संसार को असार जानकर सम्यग्दर्शन से विशुद्ध होता हुआ दीक्षाकाल आदि का विचार कर।। ११०।।

सेवहि चउविहलिंगं अब्भंतरलिंगसुद्धिमावण्णो।
बाहिरलिंगमकज्जं होइ फुडं भावरहियाणं।। १११।।

हे मुनि ! तू भावलिंग की शुद्धि को प्राप्त होकर[1] चार प्रकार के बाह्यलिंगों का सेवन कर क्योंकि भावरहित जीवो का बाहयलिंग स्पष्ट ही अकार्यकर है - व्यर्थ है।। १११।।

आहारभयपरिग्गहमेहुण सण्णाहिमोहिओसे तुमं।
भमिओ संसारवणे अणाइकालं अणप्पवसो।। ११२।।

हे मुनि ! तू आहार, भय, परिग्रह और मैथुन सज्ञाओं से मोहित हो रहा है इसीलिये पराधीन होकर अनादिकाल से ससाररूपी वन में भटक रहा है।। ११२।।

बाहिरसयणत्तावणतरुमूलाईणि उत्तरगुणाणि।
पालिह भावविसुद्धो पूयालाहं ण ईहंतो।। ११३।।

हे मुनि ! तू भावों से विशुद्ध होकर पूजा लाभ न चाहता हुआ बाहर सोना, आतापनयोग धारण करना तथा वृक्ष के मूल में रहना आदि उत्तर गुणों का पालन कर।। ११३।।

भावहि पढमं तच्चं विदियं तदियं चउत्थ पंचमयं।
तियरणसुद्धो अप्पं अणाइणिहणं तिवग्गहरं।। ११४।।

हे मुनि ! तू मन, वचन, काय से शुद्ध होकर प्रथम जीव तत्व, द्वितीय अजीवतत्व, तृतीय आस्रवतत्व, चतुर्थ बन्ध तत्व, पंचम सवरतत्व तथा अनादिनिधन आत्मस्वरूप और धर्म, अर्थ, कामरूप त्रिवर्ग को हररने वाले निर्जरा एव मोक्ष तत्व का चिन्तन कर - उन्हीं सबका विचार कर।। ११४।।

जाव ण भावइ तच्चं जाव ण चिंतेइ चिंतणीयाइं।
ताव ण पावइ जीवो जरमरणविवज्जियं ठाणं।। ११५।।

जब तक यह जीव तत्वों की भावना नहीं करता है और जब तक चिन्ता करने योग्य धर्म्य-शुक्लध्यान तथा अनित्यत्वादि बारह अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन नहीं करता है तब तक जरा-मरण से रहित स्थान को - मोक्ष को नहीं पाता है।। ११५।।

---

1 केशलोंच, वस्त्रत्याग, स्नानत्याग और पीछी कमण्डलु रखना ये चार बाह्यलिंग हैं।

पावं हवइ असेसं पुण्णमसेसं च हवइ परिणामा।
परिणामादो बंधो मुक्खो जिणसासणे दिट्ठो।। ११६।।

समस्त पाप और समस्त पुण्य परिणाम से ही होता है तथा बन्ध और मोक्ष भी परिणाम से ही होता है ऐसा जिनशासन में कहा गया है।। ११६।।

मिच्छत्त तह कसायाऽसंजमजोगेहिं असुहलेस्सेहिं।
बंधइ असुहं कम्मं जिणवयणपरम्मुहो जीवो।। ११७।।

जिन वचन से विमुख रहने वाला जीव मिथ्यात्व, कषाय, असंयम, योग और अशुभ लेश्याओं के द्वारा अशुभकर्म को बाधता है।। ११७।।

तव्विवरीओ बंधइ सुहकम्मं भावसुद्धिमावण्णो।
दुविहपयार बंधइ सखेवेणेव वज्जरियं।। ११८।।

उससे विपरीत जीव भाव शुद्धि को प्राप्त होकर शुभ कर्म का बन्ध करता है। इस प्रकार जीव अपने शुभ भाव से दो प्रकार के कर्म बांधता है ऐसा सक्षेप से ही कहा है।। ११८।।

णाणावरणादीहिं य अट्ठहि कम्मेहिं बेढिओ य अहं।
डहिऊण इण्हिं पयडमि अणंतणाणाइ गुणाचित्तां।। ११९।।

हे मुनि ! ऐसा विचार कर कि मै ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से घिर हुआ हू अब मैं इन्हें जलाकर अनन्तज्ञानादि गुणरूप चेतना को प्रकट करता हू।। ११९।।

सीलसहस्सट्ठारस चउरासी गुणगणाण लक्खाइ।
भावहि अणुदिणु णिहिलं असप्पलावेण किं बहुणा।। १२०।।

हे मुनि ! तू अठारह हजार प्रकार का शील और चौरासी लाख प्रकार के गुण इन सबका प्रतिदिन चिन्तन कर। व्यर्थ ही बहुत बकवाद करने से क्या लाभ है ?।। १२०।।

झायहि धम्मं सुक्कं अट्टरउद्दं च झाणमुत्तूण।
रुद्दट्ट झाइयाइं इमेण जीवेण चिरकालं।। १२१।।

आर्त और रौद्र ध्यान को छोडकर धर्म्य और शुक्ल ध्यान इन दो ध्यानों का ध्यान करो। आर्त और रौद्र ध्यान तो इस जीव ने चिरकाल से ध्याये हैं।। १२१।।

जे केवि दव्वसवणा इंदियसुहआउला ण छिंदंति।
छिंदंति भावसवणा झाणकुठारेहिं भवरुक्खं।। १२२।।

जो कोई द्रव्यलिंगी मुनि इन्द्रिय सुखों से व्याकुल हो रहे हैं वे ससार रूपी वृक्ष को नहीं काटते हैं परन्तु जो भावलिंगी मुनि हैं वे ध्यानरूपी कुठारों से इस संसार रूपी वृक्ष को काट डालते हैं।। १२२।।

जह दीवो गब्भहरे मारुयबाहा विवज्जिओ जलइ।
तह रायाणिलरहिओ झाणपईवो वि पज्जलई।। १२३।।

जिस प्रकार गर्भगृह में रखा हुआ दीपक हवा की बाधा से रहित होकर जलता रहता है उसी प्रकार रागरूपी हवा से रहित ध्यान रूपी दीपक जलता रहता है।। १२३।।

झायहि पंच वि गुरुवे मंगलचउसरणलोयपरियरिए।

णरसुरखेयरमहिए आराहणणायगे वीरे।। १२४।।

हे मुनि ! तू पांच परमेष्ठियों का ध्यान कर। जो कि मंगलरूप है, चार शरण रूप है, लोकोत्तम है, मनुष्य, देव और विद्याधरों के द्वारा पूजित है, आराधनाओं के स्वामी है और वीर है।। १२४।।

णाणमयविमलसीयलसलिलं पाऊण भविय भावेण।

वाहिजरामरणवेयणडाहविमुक्का सिवा होंति।। १२५।।

भव्य जीव, अपने उत्तम भाव से ज्ञानमय निर्मल शीतल जल को पीकर व्याधि, बुढापा, मरण, वेदना और दाह से विमुक्त होते हुए सिद्ध होते हैं।। १२५।।

जह बीयम्मि य दड्ढे णवि रोहइ अंकुरो य महिवीढे।

तह कम्मबीयदड्ढे भवंकुरो भावसवणाणं।। १२६।।

जिस प्रकार बीज जल जाने पर पृथिवी पृष्ठ पर अंकुर नहीं उगता है उसी प्रकार कर्म रूपी बीज के जल जाने पर भावलिंगी मुनियों के संसार रूपी अंकुर नहीं उगता है।। १२६।।

भावसवणो वि पावइ सुक्खाइं दुहाइं दव्वसवणो य।

इय णाउं गुणदोसे भावेण य संजुदो होह।। १२७।।

भावश्रमण - भावलिंगी मुनि सुख पाता है और द्रव्यश्रमण - द्रव्यलिंगी मुनि दुःख पाता है इस प्रकार गुण और दोषों को जानकर हे मुनि ! तू भाव सहित संयमी बन।। १२७।।

तित्थयरगणहराइं अब्भुदयपरंपराइं सोक्खाइं।

पावंति भावसहिआ संखेवि जिणेहिं वज्जरियं।। १२८।।

भावसहित मुनि, अभ्युदयों की परम्परा से युक्त तीर्थंकर, गणधर आदि के सुख पाते हैं ऐसा संक्षेप में जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है।। १२८।।

ते धण्णा ताण णमो दंसणवरणाणचरणसुद्धाणं।

भावसहियाण णिच्चं तिविहेण पणट्ठमायाणं।। १२९।।

वे मुनि धन्य हैं और उन मुनियों को मेरा मन, वचन, काय से निरन्तर नमस्कार हो जो कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से शुद्ध हैं, भावसहित हैं तथा जिनकी माया नष्ट हो गई है।। १२९।।

इड्ढिमतुलं विउव्विय किंणरकिंपुरिसअमरखयरेहिं।

तेहिं वि ण जाइ मोहं जिणभावणभाविओ धीरो।। १३०।।

जिनभावना से सहित धीर-वीर मुनि किन्नर, किम्पुरुष, कल्पवासी देव और विद्याधरों के द्वारा विक्रिया से दिखाई हुई अतुल्य ऋद्धि को देखकर उनके द्वारा भी मोह को प्राप्त नहीं होता।। १३०।।

किं पुण गच्छइ मोहं णरसुरसुक्खाण अप्पसाराणं।

जाणंतो पस्संतो चिंतंतो मोक्ख मुणिधवलो।। १३१।।

जो श्रेष्ठ मुनि, मोक्ष को जानता है, देखता है और उसका विचार करता है वह क्या अल्प सार वाले मनुष्यों और देवों के सुखों में मोह को प्राप्त हो सकता है ? अर्थात् नहीं।। १३१।।

उत्थरइ जा ण जरओ रोयग्गी जा ण डहइ देहउडिं।
इंदियबलं ण वियलइ ताव तुमं कुणहि अप्पहियं।। १३२।।

हे मुनि ! जब तक बुढ़ापा आक्रमण नहीं करता है, रोग रूपी अग्नि जब तक शरीर रूपी कुटी को नहीं जलाती है और इन्द्रियों का बल जब तक नहीं घटता है तब तक तू आत्मा का हित कर ले।। १३२।।

छज्जीव सडायदणं णिच्चं मणवयणकायजोएहिं।
कुरु दय परिहर मुणिवर भावि अपुव्वं महासत्त।। १३३।।

हे उत्कृष्ट धैर्य के धारक मुनिवर ! तू मन, वचन, काय रूप योगों से निरन्तर छह काय के जीवों की दया कर, छह अनायतनों का परित्याग कर और अपूर्व आत्मभावना का चिन्तन कर।। १३३।।

दसविहपाणाहारो अणंतभवसायरे भमंतेण।
भोयसुहकारणट्ठं कदो य तिविहेण सयलजीवाणं।। १३४।।

हे मुनि ! अनन्त संसार सागर में घूमते हुए तूने भोग सुख के निमित्त मन, वचन, काय से समस्त जीवों के दस प्रकार के प्राणों का आहार किया है।। १३४।।

पाणिवहेहि महाजस चउरासीलक्खजोणिमज्झम्मि।
उप्पज्जंत मरंतो पत्तोसि णिरंतरं दुक्खं।। १३५।।

हे महायश के धारक मुनि ! प्राणिवध के कारण तूने चौरासी लाख योनियों में उत्पन्न होते और मरते हुए निरन्तर दुःख प्राप्त किया है।। १३५।।

जीवाणमभयदाणं देहि मुणी पाणिभूयसत्ताणं।
कल्लाणसुहणिमित्तं परंपरा तिविहसुद्धीए।। १३६।।

हे मुनि ! तू परम्परा से तीर्थंकरों के कल्याण सम्बन्धी सुख के लिये मन, वचन, काय की शुद्धता से प्राणीभूत अथवा सत्त्व नाम धारक समस्त जीवों को अभयदान दे।। १३६।।

असियसय किरियावाई अक्किरियाणं च होइ चुलसीदी।
सत्तट्ठी अण्णाणी वेणइया होंति बत्तीसा।। १३७।।

क्रियावादियों के एक सौ अस्सी, अक्रियावादियों के चौरासी, अज्ञानियों के सड़सठ और वैनयिकों के बत्तीस भेद हैं। इस प्रकार सब मिलाकर मिथ्यादृष्टियों के ३६३ भेद हैं।। १३७।।

ण मुयइ पयडि अभव्वो सुट्ठुवि आयण्णिऊण जिणधम्मं।
गुडदुद्धं पि पिबंता ण पण्णया णिव्विसा होंति।। १३८।।

अभव्य जीव जिनधर्म को अच्छी तरह सुनकर भी अपने स्वभाव को - मिथ्यात्व को नहीं छोड़ता है सो ठीक ही है क्योंकि गुडमिश्रित दूध को पीते हुए भी सांप विषरहित नही होते हैं।। १३८।।

मिच्छत्तछण्णदिट्ठी दुद्धीए दुम्मएहिं दोसेहिं।
धम्मं जिणपण्णत्तं अभव्वजीवो ण रोचेदि।। १३९।।

जिसकी दृष्टि मिथ्यात्व से आच्छादित है ऐसा अभव्य जीव मिथ्यामत रूपी दोषों से उत्पन्न हुई दुर्बुद्धि के कारण जिनोपदिष्ट धर्म का श्रद्धान नहीं करता है।। १३९।।

कुच्छियधम्मम्मि रओ कुच्छियपासण्डिभत्तिसंजुत्तो।
कुच्छियतवं कुणंतो कुच्छियगइभायणं होई।। १४०।।

कुत्सित धर्म में लीन, कुत्सित पाखण्डियों की भक्ति से सहित और कुत्सित तप करने वाला मनुष्य कुत्सित गति का पात्र होता है - नरकादि खोटी गतियों में उत्पन्न होता है।। १४०।।

इय मिच्छत्तावासे कुणयकुसत्थेहिं मोहिओ जीवो।
भमिओ अणाइकालं संसारे धीर चिंतेहि।। १४१।।

इस प्रकार मिथ्यात्व के निवासभूत ससार से मिथ्यानय और मिथ्याशास्त्रों से मोहित हुआ जीव अनादिकाल से भ्रमण कर रहा है। हे धीर मुनि ' तू ऐसा विचार कर।। १४१।।

पासंडि तिण्णिसया तिसट्ठिभेया उमग्ग मुत्तूण।
रुंभहि मणु जिणमग्गे असप्पलावेण किं बहुणा।। १४२।।

हे जीव ' तू तीन सौ त्रेसठ भेद रूप पाखण्डियों के उन्मार्ग को छोडकर जिनमार्ग में अपना मन रोक - स्थिरकर, निष्प्रयोजन बहुत कथन करने से क्या लाभ ?।। १४२।।

जीवविमुक्को सवओ दंसणमुक्को य होइ चलसवओ।
सवओ लोयअपुज्जो लोउत्तरयम्मि चलसवओ।। १४३।।

इस लोक में जीव रहित शरीर शव कहलाता है और सम्यग्दर्शन से रहित जीव चलशव - चलता-फिरता मुर्दा कहलाता है। इनमें से शव इस लोक में अपूज्य है और चलशव - मिथ्यादृष्टि परलोक में अपूज्य है।। १४३।।

जह तारयाण चंदो मयराओ मयउलाण सव्वाणं।
अहिओ तह सम्मत्तो रिसिसावय दुविहधम्माणं।। १४४।।

जिस प्रकार समस्त ताराओं में चन्द्रमा और समस्त मृग समूह में सिंह प्रधान है उसी प्रकार मुनि और श्रावक सम्बन्धी दोनों प्रकार के धर्मों में सम्यग्दर्शन प्रधान है।। १४४।।

जह फणिराओ सोहइ फणमणिमाणिक्ककिरणविप्फुरिओ।
तह विमलदंसणधरो जिणभत्ती पवयणे जीवो।। १४५।।

जिस प्रकार नागेन्द्र, फणा के मणियों के मध्य में स्थित माणिक्य की किरणों से देदीप्यमान होता हुआ शोभित होता है उसी प्रकार निर्मल सम्यक्त्व का धारक जिनभक्त जीव जिनागम में सुशोभित होता है।। १४५।।

जह तारायणसहियं ससहरबिंबं खमंडले विमले।
भाविय तववयविमलं जिणलिंगं दंसणविसुद्धं।। १४६।।

जिस प्रकार निर्मल आकाश मण्डल में ताराओं के समूह से सहित चन्द्रमा का बिंब शोभित होता है उसी प्रकार तप और व्रत से निर्मल तथा सम्यग्दर्शन से विशुद्ध जिनलिंग शोभित होता है।। १४६।।

इय णाउं गुणदोसं दंसणरयणं धरेह भावेण।
सारं गुणरयणाणं सोवाणं पढमभोक्खस्स।। १४७।।

इस प्रकार गुण और दोष को जानकर हे भव्य जीवो ' तुम उस सम्यग्दर्शन रूपी रत्न को शुद्ध भाव

से धारण करो जो कि गुणरूपी रत्नों में श्रेष्ठ है तथा मोक्ष की पहली सीढ़ी है।। १४७।।

कत्ता भोइ अमुत्तो सरीरमित्तो अणाइणिहणो य।

दंसणणाणुवओगो णिदि्दट्ठो जिणवरिंदेहिं।। १४८।।

यह आत्मा कर्ता है, भोक्ता है, अमूर्तिक है, शरीरप्रमाण है, अनादिनिधन है और दर्शनोपयोग तथा ज्ञानोपयोग रूप है ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है।। १४८।।

दंसणणाणावरणं मोहणियं अंतराइयं कम्मं।

णिट्ठवइ भवियजीवो सम्मं जिणभावणाजुत्तो।। १४९।।

भलीभाति जिनभावना से युक्त भव्य जीव दर्शनावरण ज्ञानावरण, मोहनीय और अन्तराय कर्म को नष्ट करता है।। १४९।।

बलसोक्खणाणदंसण चत्तारि वि पायडा गुणा होंति।

णट्ठे घाइचउक्के लोयालोयं पयासेदि।। १५०।।

घातिचतुष्क के नष्ट होने पर अनन्तबल, अनन्तसुख, अनन्तज्ञान और अनन्तदर्शन ये चारों गुण प्रकट होते है तथा यह जीव लोकालोक को प्रकाशित करने लगता है।। १५०।।

णाणी सिव परमेट्ठी सव्वण्हू विण्हू चउमुहो बुद्धो।

अप्पो वि य परमप्पो कम्मविमुक्को य होइ फुडं।। १५१।।

यह आत्मा कर्मों से विमुक्त होने पर स्पष्ट ही परमात्मा हो जाता है और ज्ञानी, शिव, परमेष्ठी, सर्वज्ञ, विष्णु, चतुर्मुख तथा बुद्ध कहा जाने लगता है।

भावार्थ - कर्म विमुक्त आत्मा केवलज्ञान से मुक्त होता है अत ज्ञानी कहलाता है कल्याणरूप अत शिव कहलाता है, परम पद में स्थित है अत परमेष्ठी कहलाता है, समस्त पदार्थों को जानता है अत सर्वज्ञ कहलाता है, ज्ञान के द्वारा समस्त लोक-अलोक में व्यापक है अत विष्णु कहलाता है, चारों ओर से सबको देखता है अत चतुर्मुख कहलाता है और ज्ञाता है अत बुद्ध कहलाता है।। १५१।।

इय घाइकम्ममुक्को अट्ठारहदोसवज्जिओ सयलो।

तिहुवणभवणपदीवो देऊ मम उत्तमं बोहिं।। १५२।।

इस प्रकार घातिया कर्मों से मुक्त, अठारह दोषों से वर्जित, परमौदारिक शरीर से सहित और तीन लोक रूपी घर को प्रकाशित करने के लिये दीपक स्वरूप अरहन्त परमेष्ठी मुझे उत्तम रत्नत्रय प्रदान करें।। १५२।।

जिणवरचरणंबुरुहं णमंति जे परमभत्तिरायेण।

ते जम्मवेलिमूलं खणंति वरभावसत्थेण।। १५३।।

जो भव्य जीव, उत्कृष्ट भक्ति तथा अनुराग से भी जिनेन्द्र देव के चरण कमलों को नमस्कार करते हैं वे उत्कृष्ट भावरूपी शस्त्र के द्वारा जन्मरूपी वेल की जड को खोद देते हैं।। १५३।।

जह सलिलेण ण लिप्पइ कमलिणिपत्तं सहावपयडीए।

तह भावेण ण लिप्पइ कसायविसएहिं सप्पुरिसो।। १५४।।

जिस प्रकार कमलिनी का पत्र स्वभाव से ही जल से लिप्त नही होता है उसी प्रकार सत्पुरुष -

सम्यग्दृष्टि जीव, भाव के द्वारा कषाय और विषयों से लिप्त नहीं होता है।। १५४।।

तेवि य भणामिहं जे सयलकलासीलसंजमगुणेहिं।

बहुदोसाणावासो सुमलिणचित्तो ण सावयसमो सो।। १५५।।

हम उन्हीं को मुनि कहते हैं जो समस्त कला, शील और संयम आदि गुणों से युक्त हैं। जो अनेक दोषों का स्थान तथा अत्यन्त मलिन चित्त है वह मुनि तो दूर रहा श्रावक के भी समान नहीं है।। १५५।।

ते धीरवीरपुरिसा खमदमखग्गेण विप्फुरंतेण।

दुज्जयपबलबलुद्धरकसायभडणिज्जिआ जेहिं।। १५६।।

वे पुरुष धीर वीर हैं जिन्होंने चमकती हुई क्षमा और इन्द्रियदमन रूपी तलवार के द्वारा कठिनता से जीतने योग्य, अतिशय बलवान् तथा बल से उत्कट कषाय रूपी योद्धाओं को जीत लिया है।। १५६।।

धण्णा ते भयवंता दंसणणाणग्गपवरहत्थेहिं।

विसयमयरहरपडिया भविया उत्तारिया जेहिं।। १५७।।

वे भगवान् धन्य हैं जिन्होंने दर्शन-ज्ञानरूपी मुख्य तथा श्रेष्ठ हाथों से विषरूपी समुद्र में पडे हुए भव्य जीवों को पार कर दिया है।। १५७।।

मायावेल्लि असेसा मोहमहातरुम्मि आरुढा।

विसयविसपुप्फफुल्लिय लुणंति मुणि णाणसत्थेहिं।। १५८।।

मोहरूपी महावृक्ष पर चढी हुई तथा विषयरूपी विषपुष्पों से फूली हुई सम्पूर्ण मोहरूपी लता को मुनिजन ज्ञान रूपी शस्त्र के द्वारा छेदते हैं।। १५८।।

मोहमयगारवेहिं य मुक्का जे करुणभावसंजुत्ता।

ते सव्वदुरियखंभं हणंति चारित्तखग्गेण।। १५९।।

जो मुनि मोह, मद और गौरव से रहित तथा करुणाभाव से सहित हैं वे चारित्ररूपी तलवार के द्वारा समस्त पाप रूपी स्तम्भ को काटते हैं।। १५९।।

गुणगणमणिमालाए जिणमयगयणे णिसायरमुणिंदो।

तारावलिपरियरिओ पुण्णिमइंदुव्व पवणपहे।। १६०।।

जिस प्रकार आकाश में ताराओं की पंक्ति से घिरा हुआ पूर्णिमा का चन्द्र सुशोभित होता है उसी प्रकार जिनमत रूपी आकाश में गुणसमुदाय रूपी मणियों की मालाओं से युक्त मुनीन्द्ररूपी चन्द्रमा सुशोभित होता है।। १६०।।

चक्कहररामकेसवसुरवरजिणगणहराइ सोक्खाइं।

चारणमुणिरिद्धीओ विसुद्धभावा णरा पत्ता।। १६१।।

विशुद्धभावों के धारक पुरुष, चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण, देवेन्द्र, जिनेन्द्र और गणधरादि के सुखों को तथा चारणमुनियों की ऋद्धियों को प्राप्त होते हैं।। १६१।।

सिवमजरामरलिंगमणोवममुत्तमं परमविमलमतुलं।

पत्ता वरसिद्धिसुहं जिणभावणभाविया जीवा।। १६२।।

जिनेन्द्र देव की भावना से विशोभित जीव उस उत्तम मोक्षसुख को पाते हैं जो कि आनन्दरूप है, जरामरण के चिन्हों से रहित है, अनुपम है, उत्तम है, अत्यन्त निर्मल है और तुलना रहित है।। १६२।।

ते मे तिहुवणमहिया सिद्धा सुद्धा णिरंजणा णिच्चा।
दिंतु वरभावसुद्धिं दंसणणाणे चरित्ते य।। १६३।।

वे सिद्ध परमेष्ठी जो कि त्रिभुवन के द्वारा पूज्य, शुद्ध, निरंजन तथा नित्य हैं मेरे दर्शन, ज्ञान और चारित्र में उत्कृष्ट भावों की शुद्धता प्रदान करें।। १६३।।

किं जंपिएण बहुणा अत्थो धम्मो य काममोक्खो य।
अण्णेवि य वावारा भावम्मि परिट्ठिया सव्वे।। १६४।।

बहुत कहने से क्या? धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थ तथा अन्य जितने भी व्यापार हैं वे सब भावों में ही अवस्थित हैं - भावों के ही अधीन हैं।। १६४।।

इय भावपाहुडमिण सव्वं बुद्धेहिं देसियं सम्मं।
जो पढइ सुणइ भावइ सो पावइ अविचलं ठाणं।। १६५।।

इस प्रकार सर्वज्ञदेव के द्वारा उपदिष्ट इस भावपाहुड ग्रन्थ को जो भलीभांति पढता है, सुनता है और उसका चिन्तन करता है वह अविचलस्थान - मोक्षधाम को प्राप्त करता है।। १६५।।

इस प्रकार भावपाहुड पूर्ण हुआ।

*

मोक्खपाहुड

णाणमयं अप्पाणं उवलद्धं जेण झडियकम्मेण।
चइऊण य परदव्वं णमो णमो तस्स देवस्स।। १।।

जिन्होंने कर्मों का क्षय करके तथा परद्रव्य का त्यागकर ज्ञानमय आत्मा को प्राप्त कर लिया है उन श्री सिद्ध परमेष्ठी रूप देव के लिये बार-बार नमस्कार हो।। १।।

णमिऊण य तं देवं अणंतवरणाणदंसणं सुद्धं।
वोच्छं परमप्पाणं परमपयं परमजोईणं।। २।।

अनन्त उत्कृष्ट ज्ञान तथा अनन्त उत्कृष्ट दर्शन से युक्त निर्मलस्वरूप उन सर्वज्ञ वीतराग देव को नमस्कार कर मैं परमयोगियों के लिये परमपद रूप परमात्मा का कथन करूंगा।। २।।

जं जाणिऊण [1]जोअत्थो जोइऊण अणवरयं।
अव्वावाहमणंतं अणोवमं हवइ णिव्वाणं।। ३।।

जिस आत्मतत्व को जानकर तथा जिसका निरन्तर साक्षात् कर योगी ध्यानस्थ मुनि, बाधा रहित, अनन्त, अनुपम निर्वाण को प्राप्त होता है।। ३।।

1 यं अर्थं तत्व जोइऊण दृष्ट्वा इति संस्कृतटीका, पुस्तकान्तरे जोयत्था योगस्योध्यानस्य इत्यर्थ स्वीकृत।

तिपयारो सो अप्पा परभिंतरबाहिरो दु हेऊणं।
तत्थ परो झाइज्जइ अंतोवायेण चयहि बहिरप्पा।। ४।।

वह आत्मा परमात्मा अभ्यन्तरात्मा और बहिरात्मा के भेद से तीन प्रकार का है। इनमें से बहिरात्मा को छोडकर अन्तरात्मा के उपाय से परमात्मा का ध्यान किया जाता है। हे योगिन ! तुम बहिरात्मा का त्याग करो।। ४।।

अक्खाणि बाहिरप्पा अंतरअप्पा हु अप्पसकप्पो।
कम्मकलंकविमुक्को परमप्पा भण्णए देवो।। ५।।

इन्द्रिया बहिरात्मा है आत्मा का सकल्प अन्तरात्मा है और कर्मरूपी कलक से रहित आत्मा परमात्मा कहलाता है। परमात्मा की देव सज्ञा है।। ५।।

मलरहिओ कलचत्तो अणिंदिओ केवलो विसुद्धप्पा।
परमेट्ठी परमजिणो सिवंकरो सासओ सिद्धो।। ६।।

वह परमात्मा मलरहित है कल अर्थात शरीर से रहित है अतीन्द्रिय है, केवल है, विशुद्धात्मा है परमेष्ठी है परमजिन है शिवशकर है शाश्वत है और सिद्ध है।। ६।।

[1]आरुहवि अंतरप्पा बहिरप्पा छंडिऊण तिविहेण।
झाइज्जइ परमप्पा उवइट्ठ जिणवरिंदेहिं।। ७।।

मन, वचन काय इन तीनों योगों से बहिरात्मा को छोडकर तथा अन्तरात्मा पर आरूढ होकर अर्थात भेदज्ञान के द्वारा अन्तरात्मा का अवलम्बन लेकर परमात्मा का ध्यान किया जाता है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने उपदेश दिया है।। ७।।

बहिरत्थे फुरियमणो इंदियदारेण णियसरूवचुओ।
– णियदेहं अप्पाणं अज्झवसदि मूढदिट्ठीओ।। ८।।

बाह्यपदार्थों मे जिसका मन स्फुरित हो रहा है तथा इन्द्रिय रूप द्वार के द्वारा जो निजस्वरूप से च्युत हो गया है ऐसा मूढदृष्टि - बहिरात्मा पुरुष अपने शरीर को ही आत्मा समझता है।। ८।।

णियदेहसरिस्सं पिच्छिऊण परविग्गहं पयत्तेण।
अच्चेयणं पि गहियं झाइज्जइ[2]परमभाएण।। ९।।

ज्ञानी मनुष्य जिन शरीर के समान परशरीर को देखकर भेदज्ञान पूर्वक विचार करता है कि देखो इसने अचेतन शरीर को भी प्रयत्नपूर्वक ग्रहण कर रखा है।। ९।।

सपरज्झवसाएणं देहेसु य अविदिदत्थमप्पाणं।
सुयदाराईविसए मणुयाणं वड्ढए मोहो।। १०।।

[3]स्वपराध्यवसाय के कारण अर्थात् पर को आत्मा समझने के कारण यह जीव अज्ञानवश शरीरादि को

---

1 इस गाथा के पूर्व समस्त प्रतियों में तदुक्त - पाठ है परन्तु उसके आगे कोई गाथा उद्धृत नहीं है। ऐसा जान पडता है कि "आरुहवि" - आदि गाथा ही उद्धृत गाथा है क्योंकि यह गाथा न. 4 की गाथार्थ से गत[illegible] जाती है। संस्कृत टीकाकार ने इसे मूल ग्रन्थ समझकर इसकी टीका कर दी है। इसलिये यह मूल में सामिल हो गई। यह गाथा कहा [illegible] है इसकी खोज आवश्यक है।

2 मिच्छभावेण इति पुस्तकान्तरपाठः। 3 "स्वम् इति परस्मिन् अध्यवसायः स्वपराध्यवसायः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार "यह आत्मा है" इस प्रकार परपदार्थों में जो निश्चय होता है वह स्वपराध्यवसाय कहलाता है।

आत्मा जानता है। इस विपरीत अभिनिवेश के कारण ही मनुष्यों का पुत्र तथा स्त्री आदि विषयों मे मोह बढ़ता है।। १०।।

मिच्छाणाणेसु रओ मिच्छाभावेण भाविओ संतो।
मोहोदएण पुणरवि अंगं सं मण्णए मणुओ।। ११।।

यह मनुष्य मोह के उदय से मिथ्याज्ञान में रत है तथा मिथ्याभाव से वासित होता हुआ फिर भी शरीर को आत्मा मान रहा है।। ११।।

जो देहे णिरवेक्खो णिद्दंदो णिम्ममो णिरारंभो।
आदसहावे सुरओ जोई सो लहइ णिव्वाणं।। १२।।

जो शरीर में निपरेक्ष है, द्वन्द्वरहित है, ममतारहित है, आरम्भरहित है और आत्मस्वभाव में सुरत है सलग्न है, वह योगी निर्वाण को प्राप्त होता है।। १२।।

परदव्वरओ बज्झइ विरओ मुच्चेइ विविहकम्मेहि।
एसो जिणउवएसो समासओ बंधमोक्खस्स।। १३।।

पर द्रव्यों में रत पुरुष नाना कर्मों से बन्ध को प्राप्त होता है और परद्रव्यों से विरत पुरुष नाना कर्मों से मुक्त होता है, बन्ध और मोक्ष के विषय में जिनेन्द्र भगवान का यह सक्षेप से उपदेश है।। १३।।

सद्दव्वरओ सवणो सम्माइट्ठी हवेइ णियमेण।
सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ दुट्ठट्ठकम्माणि।। १४।।

स्वद्रव्य में रत साधु नियम से सम्यग्दृष्टि होता है और सम्यक्त्व रूप परिणत हुआ साधु दुष्ट आठ कर्मों को नष्ट करता है।। १४।।

जो पुण परदव्वरओ मिच्छाइट्ठी हवेइ सो साहू।
मिच्छत्तपरिणदो उण बज्झदि दुट्ठट्ठकम्मेहि।। १५।।

जो साधु परद्रव्य में रत है वह मिथ्यादृष्टि होता है और मिथ्यात्व रूप परिणत हुआ साधु दुष्ट आठ कर्मों से बंधता है।। १५।।

परदव्वादो दुगई सद्दव्वादो हु सुग्गई हवइ।
इय णाऊण सदव्वे कुणह रई विरइ इयरम्मि।। १६।।

परद्रव्य से दुर्गति और स्वद्रव्य से निश्चित ही सुगति होती है ऐसा जानकर स्वद्रव्य मे रति करो और परद्रव्य में विरति करो।। १६।।

आदसहावादण्णं सच्चित्ताचित्तमिस्सिय हवदि।
त परदव्वं भणिय अवितत्थं सव्वदरसीहिं।। १७।।

आत्मस्वभाव से अतिरिक्त जो सचित्त, अचित्त अथवा मिश्र द्रव्य है वह सब पर द्रव्य है, ऐसा यथार्थ रूप से समस्त पदार्थों को जानने वाले सर्वज्ञ देव ने कहा है।। १७।।

दुट्ठट्ठकम्मरहियं अणोवम णाणविग्गहं णिच्चं।
सुद्धं जिणेहि कहियं अप्पाणं हवदि सद्दव्वं।। १८।।

आठ दुष्ट कर्मों से रहित, अनुपम, ज्ञानशरीरी, नित्य और शुद्ध जो आत्मद्रव्य है उसे जिनेन्द्र भगवान ने स्वद्रव्य कहा है।। १८।।

जे झायंति सदव्वं परदव्वपरम्मुहा दु सुचरित्ता।
ते जिणवराण मग्गं अणुलग्गा लहदि णिव्वाण।। १९।।

जो स्वद्रव्य का ध्यान करते हैं, पर द्रव्य से पराङ् मुख रहते हैं और सम्यक्चारित्र का निरतिचार पालन करते हुए जिनेन्द्र देव के मार्ग में लगे रहते हैं वे निर्वाण को प्राप्त होते हैं।। १९।।

जिणवरमएण जोई झाणे झाएइ सुद्धमप्पाणं।
जेण लहइ णिव्वाणं ण लहइ किं तेण सुरलोयं।। २०।।

जो योगी ध्यान में जिनेन्द्र देव के मतानुसार शुद्ध आत्मा का ध्यान करता है वह स्वर्गलोक को प्राप्त होता है सो ठीक ही है क्योंकि जिस ध्यान से निर्वाण प्राप्त हो सकता है उससे क्या स्वर्गलोक प्राप्त नहीं हो सकता ?।। २०।।

जो जाइ जोयणसय दियहेणेक्केण लेवि गुरुभार।
सो किं कोसद्ध पि हु ण सक्कए जाहु भुवणयलं।। २१।।

जो मनुष्य बहुत भारी भार लेकर एक दिन में सौ योजन जाता है वह क्या पृथिवीतल पर आधा कोश भी नहीं जा सकता ? अवश्य जा सकता है।। २१।।

जो कोडिए ण जिप्पइ सुहडो संगाम एहि सव्वेहि।
सो किं जिप्पइ इक्कि णरेण संगामए सुहडो।। २२।।

जो सुभट संग्राम में करोड़ों की संख्या में विद्यमान सब योद्धाओं के द्वारा मिलकर भी नहीं जीता जाता वह क्या एक योद्धा के द्वारा जीता जा सकता है ? अर्थात नहीं जीता जा सकता।। २२।।

सग्ग तवेण सव्वो वि पावए तहिवि झाणजोएण।
जो पावइ सो पावइ परलोए सासय सोक्ख।। २३।।

तप से स्वर्ग सभी प्राप्त करते हैं, पर जो ध्यान से स्वर्ग प्राप्त करता है वह परभव में शाश्वत - अविनाशी मोक्ष सुख को प्राप्त होता है।। २३।।

अइसोहणजोएण सुद्धं हेमु हवेइ जह तह य।
कालाईलद्धीए अप्पा परमपओ हवदि।। २४।।

जिस प्रकार अत्यन्त शुभ सामग्री से - शोधन सामग्री से अथवा सुहागा से स्वर्ण शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार काल आदि लब्धियों से आत्मा परमात्मा हो जाता है।। २४।।

[1]वरवयतवेहि सग्गो मा दुक्ख होउ णिरइ इयरेहिं।
छायातवट्ठियाण पडिवालताण गुरुभेय।। २५।।

व्रत और तप के द्वारा स्वर्ग का प्राप्त होना अच्छा है परन्तु अव्रत और अतप के द्वारा नरक के दुःख प्राप्त होना अच्छा नहीं है। छाया और आतप में बैठकर इष्टस्थान की प्रतीक्षा करने वालों में बड़ा भेद है।। २५।।

1 वर व्रतैः पदं दैवं नाव्रतैर्वत नारकम्।
छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतो महान्।। इष्टोपदेशे पूज्यपादस्य।

जो इच्छइ णिस्सरिदु संसारमहण्णवस्स रुदस्स।
कम्मिंधणाण डहण सो झायइ अप्पय सुद्ध।। २६।।

जो मुनि अत्यन्त विस्तृत संसार महासागर से निकलने की इच्छा करता है वह कर्मरूपी ईंधन का जलाने वाले शुद्ध आत्मा का ध्यान करता है।। २६।।

सव्वे कसायमोत्तुं गारवमयरायदोसवामोहं।
लोयववहारविरदो अप्पा झाएइ झाणत्थो।। २७।।

ध्यानस्थ मुनि समस्त कषायों और गारव, मद, राग, द्वेष तथा व्यामोह को छोडकर लोकव्यवहार से विरत होता हुआ आत्मा का ध्यान करता है।। २७।।

मिच्छत्तं अण्णाणं पावं पुण्णं चएवि तिविहेण।
मोणव्वएण जोई जोयत्थो जोयए अप्पा।। २८।।

मिथ्यात्व, अज्ञान, पाप और पुण्य को मन-वचन-काय रूप त्रिविध योगों से छोडकर जो योगी मौन व्रत से ध्यानस्थ होता है, वही आत्मा को द्योतित करता है - प्रकाशित करता है - आत्मा का साक्षात्कार करता है।। २८।।

[1]जं मया दिस्सदे रूवं तण्ण जाणादि सव्वहा।
जाणगं दिस्सदे णंतं तम्हा जंपेमि केण ह।। २९।।

जो रूप मेरे द्वारा देखा जाता है वह बिलकुल नहीं जानता और जो जानता है वह दिखाई नहीं देता तब मैं किसके साथ बात करू।। २९।।

सव्वासवणिरोहेण कम्मं खवदि संचिद।
जोयत्थो जाणए जोई जिणदेवेण भासियं।। ३०।।

सब प्रकार के आस्रवों का निरोध होने से संचित कर्म नष्ट हो जाते हैं तथा ध्याननिमग्न योगी केवलज्ञान को उत्पन्न करता है ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।। ३०।।

[2]जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणे कज्जे।। ३१।।

जो मुनि व्यवहार में सोता है वह आत्मकार्य में जागता है और जो व्यवहार में जागता है वह आत्मकार्य में सोता है।। ३१।।

इय जाणिऊण जाई ववहार चयइ सव्वहा सव्वं।
झायइ परमप्पाणं जह भणिय जिणवरिंदेण।। ३२।।

ऐसा जानकर योगी सब तरह से सब प्रकार के व्यवहार को छोडता है और जिनेन्द्र देव ने जैसा कहा है वैसा परमात्मा का ध्यान करता है।। ३२।।

---

1 यन्मया दृश्यते रूप तन्न जानाति सर्वथा।
जानन्न दृश्यते रूप तत केन ब्रवीम्यहम्।। 18।। समाधिशतक पूज्यपादस्य।

2 व्यवहारे सुषुप्तो य स जागर्त्यात्मगोचरे।
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्तश्चात्मगोचरे।। 78।। समाधिशतक पूज्यपादस्य।

पंच महव्वयजुत्तो पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु।
रयणत्तयसंजुत्तो झाणज्झयणं सया कुणह।। ३३।।

हे मुनि ! तूं पांच महाव्रतों से युक्त होकर पाच समितियों तथा तीन गुप्तियों में प्रवृत्ति करता हुआ रत्नत्रय से युक्त हो सदा ध्यान और अध्ययन कर।। ३३।।

रयणत्तयमाराहं जीवो आराहओ मुणेयव्वो१
आराहणाविहाणं तस्स फलं केवलं णाणं।। ३४।।

रत्नत्रय की आराधना करने वाले जीव को आराधक मानना चाहिये, आराधना करना सो आराधना है और उसका फल केवलज्ञान है।। ३४।।

सिद्धो सुद्धो आदा सव्वण्हू सव्वलोयदरसी य।
सो जिणवरेहिं भणियो जाण तुमं केवल णाण।। ३५।।

जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहा हुआ वह आत्मा सिद्ध है, शुद्ध है, सर्वज्ञ है, णाण।। ३४।। केवलज्ञान रूप है, ऐसा तुम जानो।। ३५।।

रयणत्तय पि जोई आराहइ जो हु जिणवरमएण।
सो झायदि अप्पाणं परिहरदि परं ण संदेहो।। ३६।।

जो योगी - ध्यानस्थ मुनि जिनेन्द्र देव के मतानुसार रत्नत्रय की आराधना करता है वह आत्मा का ध्यान करता है और पर पदार्थ का त्याग करता है इसमें सदेह नहीं है।। ३६।।

जं जाणइ तं णाणं जं पिच्छइ तं च दंसणं णेयं।
तं चारित्तं भणियं परिहारे पुण्णपावाणं।। ३७।।

जो जानता है वह ज्ञान है, जो देखता है - सामान्य अवलोकन करता है वह दर्शन है अथवा जो प्रतीति करता है वह दर्शन है - सम्यग्दर्शन है और जो पुण्य-पाप का परित्याग है वह चारित्र है।। ३७।।

तच्चरुई सम्मत्तं तच्चग्गहणं च हवइ सण्णाण।
चारित्त परिहारो पजपियं जिणवरिंदेहि।। ३८।।

तत्वरुचि होना सम्यग्दर्शन है, तत्वज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है और पापक्रिया का परिहार - त्याग होना सम्यक्चारित्र है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।। ३८।।

दंसणसुद्धो सुद्धो दंसणसुद्धो लहेइ णिव्वाणं।
दंसणविहीणपुरिसो ण लहइ तं इच्छियं लाहं।। ३९।।

सम्यग्दर्शन से शुद्ध मनुष्य, शुद्ध कहलाता है। सम्यग्दर्शन से शुद्ध मनुष्य निर्वाण को प्राप्त होता है। जो मनुष्य सम्यग्दर्शन से रहित है वह इष्ट लाभ को नहीं पाता।। ३९।।

इय उवएसं सारं जरमरणहरं खु मण्णए ज तु।
तं सम्मत्तं भणियं समणाणं सावयाणं पि।। ४०।।

यह श्रेष्ठतर उपदेश स्पष्ट ही जन्म मरण को हरने वाला है, इसे जो मानता है - इसको श्रद्धा करता है वह सम्यक्त्व है। यह सम्यक्त्व मुनियों के, श्रावकों के तथा चतुर्गति के जीवों के होता है।। ४०।।

जीवाजीवविहत्ती जोई जाणेइ जिणवरमएणं।
तं सण्णाणं भणिय अवियत्थं सव्वदरिसीहिं।। ४१।।

जो मुनि जिनेन्द्र देव के मत से जीव और अजीव के विभाग को जानता है, उसे सर्वदर्शी भगवान ने सम्यग्ज्ञान कहा है।। ४१।।

ज जाणिऊण जोई परिहार कुणइ पुण्णपावाणं।
त चारित्तं भणियं अवियप्प कम्मरहिएण।। ४२।।

यह सब जानकर योगी जो पुण्य और पाप दोनो का परिहार करता है उसे कर्मरहित सर्वज्ञ देव ने निर्विकल्पक चारित्र कहा है।। ४२।।

जो रयणत्तयजुत्तो कुणइ तव सजदो ससत्तीए।
सो पावइ परमपय झायतो अप्पय सुद्ध।। ४३।।

रत्नत्रय को धारण करने वाला जो मुनि शुद्ध आत्मा का ध्यान करता हुआ अपनी शक्ति से तप करता है वह परम पद को प्राप्त होता है।। ४३।।

तिहि तिण्णि धरवि णिच्च तियरहिओ तह तिण्ण परियरिओ।
दोदोसविप्पमुक्को परमप्प झायए जोई।। ४४।।

तीन के द्वारा तीन को धारण कर निरन्तर तीन से रहित तीन से सहित और दो दोषो से मुक्त रहने वाला योगी परमात्मा का ध्यान करता है।

विशेषार्थ - तीन के द्वारा अर्थात मन वचन काय के द्वारा तीन को अर्थात वर्षाकालयोग शीतकालयोग और उष्णकालयोग को धारण कर निरन्तर अर्थात दीक्षाकाल से लेकर सदा तीन से रहित अर्थात माया मिथ्या निदान इन शल्यो से रहित तीन से सहित अर्थात सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से सहित और दो दोषों से विप्रमुक्त अर्थात राग द्वेष इन दो दोषो से सर्वथा रहित योगी - ध्यानस्थ मुनि परमात्मा अर्थात सिद्ध के समान उत्कृष्ट निज आत्मस्वरूप का ध्यान करता है।। ४४।।

मयमायकोहरहिओ लोहेण विवज्जिओ य जो जीवो।
णिम्मलसहावजुत्तो सो पावइ उत्तम सोक्ख।। ४५।।

जो जीव मद माया और क्रोध से रहित है, लोभ से वर्जित है तथा निर्मल स्वभाव से युक्त है वह उत्तम सुख को प्राप्त होता है।। ४५।।

विसयकसाएहि जुदो रुद्दो परमप्पभावरहियमणो।
सो ण लहइ सिद्धिसुहं जिणमुद्दपरम्मुहो जीवो।। ४६।।

जो विषय और कषायो से युक्त है, जिसका मन परमात्मा की भावना से रहित है तथा जो जिनमुद्रा से पराङ्मुख - भ्रष्ट हो चुका है ऐसा रुद्रपदधारी जीव सिद्धिसुख को प्राप्त नही होता।। ४६।।

जिणमुद्दं सिद्धिसुहं हवेइ णियमेण जिणवरुद्दिट्ठा।
सिविणे वि ण रुच्चइ पुण जीवा अच्छंति भवगहणे।। ४७।।

जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कही हुई जिनमुद्रा सिद्धि सुख रूप है। जिन जीवों को यह जिनमुद्रा स्वप्न में भी नही रुचती व संसाररूप वन में रहते है अर्थात कभी मुक्ति को प्राप्त नहीं होते।। ४७।।

परमप्पय झायंतो जोई मुच्चेइ मलदलोहेण।
णादियदि णवं कम्मं णिदि्दट्ठं जिणवरिंदेहिं।। ४८।।

परमात्मा का ध्यान करने वाला योगी पापदायक लोभ से मुक्त हो जाता है और नवीन कर्म को नही ग्रहण करता ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है।। ४८।।

होऊण दिढचरित्तो दिढसम्मत्तेण भावियमईओ।
झायंतो अप्पाणं परमपयं पावए जोई।। ४९।।

योगी - ध्यानस्थ मुनि दृढ चारित्र का धारक तथा दृढ सम्यक्त्व से वासित हृदय होकर आत्मा का ध्यान करता हुआ परम पद को प्राप्त होता है।। ४९।।

[1]चरणं हवइ सधम्मो धम्मो सो हवइ अप्पसमभावो।
सो रागरोसरहिओ जीवस्स अणण्णपरिणामो।। ५०।।

चारित्र आत्मा का धर्म है अर्थात चारित्र आत्मा के धर्म को कहते हैं, धर्म आत्मा का समभाव है अर्थात् आत्मा के समभाव को धर्म कहते हैं और समभाव राग, द्वेष से रहित जीव का अभिन्न परिणाम है अर्थात् राग, द्वेष से रहित जीव के अभिन्न परिणाम को समभाव कहते हैं।। ५०।।

जह फलिहमणि विसुद्धो परदव्वजुदो हवेइ अण्णं सो।
तह रागादिविजुत्तो जीवो हवदि हु अणण्णविहो।। ५१।।

जिस प्रकार स्फटिकमणि स्वभाव से विशुद्ध अर्थात् निर्मल है परन्तु पर द्रव्य से संयुक्त होकर वह अन्य रूप हो जाता है उसी प्रकार यह जीव भी स्वभाव से विशुद्ध है अर्थात वीतराग है परन्तु रागादि विशिष्ट कारणो से युक्त होने पर स्पष्ट ही अन्य रूप हो जाता है।

यहां गाथा का भाव यह भी समझ में आता है कि जिस प्रकार स्फटिकमण स्वभाव से विशुद्ध है परन्तु परपदार्थ के संयोग से वह अन्य रूप हो जाता है उसी प्रकार यह जीव स्वभाव से रागादि वियुक्त है अर्थात् रागद्वेष आदि विकार भावों से रहित है परन्तु परद्रव्य अर्थात कर्म-नोकर्म पर पदार्थों के संयोग से अन्यान्य प्रकार हो जाता है। इस अर्थ में वियुक्त शब्द के प्रचलित अर्थ को बदलकर "विशेषेण युक्ता वियुक्त अर्थात् सहित" ऐसी जो क्लिष्ट कल्पना करना पडता है उससे बचाव हो जाता है।। ५१।।

देवगुरुम्मि य भत्तो साहम्मि य संजदेसु अणुरत्तो।
सम्मत्तमुव्वहंतो झाणरओ होइ जोई सो।। ५२।।

जो देव और गुरु का भक्त है, सहधर्मी भाई तथा संयमी जीवों का अनुरागी है तथा सम्यक्त्व को ऊपर उठाकर धारण करता है अर्थात अत्यन्त आदर से धारण करता है ऐसा योगी ही ध्यान में तत्पर होता है।। ५२।।

[2]उग्गतवेणण्णाणी जं कम्मं खवदि भवहि बहुएहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेइ अंतो मुहुत्तेण।। ५३।।

अज्ञानी जीव उग्र तपश्चरण के द्वारा जिस कर्म को अनेक भवों मे खिपा पाता है उसे तीन गुप्तियों से

---

1 चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिदि्दट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो।। प्रवचनसारे।

2 कोटि जन्म तप तपै ज्ञान बिन कर्म झरैं जे।
ज्ञानी के छिन मांहि त्रिगुप्ति तैं सहज टरैं ते।। छहढाला।

सुरक्षित रहने वाला ज्ञानी जीव अन्तर्मुहूर्त में खिपा देता है।। ५३।।

ज्ञानी और अज्ञानी का लक्षण

सुभजोगेण सुभावं परदव्वे कुणइ रागदो साहू।
सो तेण दु अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो।। ५४।।

जो साधु शुभ पदार्थ के संयोग से रागवश परद्रव्य में प्रीतिभाव करता है वह अज्ञानी है और इससे जो विपरीत है वह ज्ञानी है।। ५४।।

आसवहेदू य तहा भावं मोक्खस्स कारणं हवदि।
सो तेण दु अण्णाणी आदसहावस्स विवरीदो।। ५५।।

जिस प्रकार इष्टविषय का राग कर्मास्रव का हेतु है उसी प्रकार मोक्ष विषयक राग भी कर्मास्रव का हेतु है और इसी राग भाव के कारण यह जीव अज्ञानी तथा आत्मस्वभाव से विपरीत होता है।। ५५।।

जो कम्मजादमइओ सहावणाणस्स खंडदूसयरो।
सो तेण दु अण्णाणी जिणसासणदूसगो भणिदो।। ५६।।

कर्मजन्य मतिज्ञान को धारण करने वाला जो जीव स्वभावज्ञान - केवलज्ञान का खण्डन करता है, अथवा उसमें दोष लगाता है वह अपने इस कार्य से अज्ञानी तथा जिनधर्म का दूषक कहा गया है।। ५६।।

णाणं चरित्तहीणं दंसणहीणं तवेहिं संजुत्तं।
अण्णेसु भावरहियं लिंगग्गहणेण किं सोक्खं।। ५७।।

चारित्ररहित ज्ञान सुख करने वाला नहीं है सम्यग्दर्शन से रहित तपों से युक्त कर्म सुख करने वाला नहीं है, तथा छह आवश्यक आदि अन्य कार्यों में भी भावरहित प्रवृत्ति सुख करने वाली नहीं है फिर मात्र लिंगग्रहण करने से क्या सुख मिल जायगा ?।।

[इस गाथा का एक भाव यह भी हो सकता है - हे साधो ! तेरा ज्ञान यथार्थ चारित्र से रहित है तेरा तपश्चरण सम्यग्दर्शन से रहित है तथा तेरा अन्य कार्य भी भाव से रहित है अतः तुझे लिंगग्रहण से - मात्र वेष धारण करने से क्या सुख प्राप्त हो सकता है ? अर्थात् नहीं।। ५७।।]

अच्चेयणं पि चेदा जो मण्णइ सो हवेइ अण्णाणी।
सो पुण णाणी भणिओ जो मण्णइ चेयणे चेदा।। ५८।।

जो अचेतन को भी चेतयिता मानता है वह अज्ञानी है और जो चेतन को चेतयिता मानता है वह ज्ञानी है।। ५८।।

तवरहियं जं णाणं णाणविजुत्तो तवो वि अकयत्थो।
तम्हा णाणतवेण संजुत्तो लहइ णिव्वाणं।। ५९।।

जो ज्ञान तप से रहित है वह व्यर्थ है और जो तप ज्ञान से रहित है वह भी व्यर्थ है, इसलिये ज्ञान और तप से युक्त पुरुष ही निर्वाण को प्राप्त होता है।। ५९।।

धुवसिद्धी तित्थयरो चउणाणजुदो करेइ तवयरणं।
णाऊणं धुवं कुज्जा तवयरणं णाणजुत्तो वि।। ६०।।

जो ध्रुवसिद्धि है अर्थात् जिन्हे अवश्य ही मोक्ष प्राप्त होना है तथा जो चार ज्ञानों से सहित हैं, ऐसे

तीर्थंकर भगवान् भी तपश्चरण करते है ऐसा जानकर ज्ञानयुक्त पुरुष को भी तपश्चरण करना चाहिये।। ६०।।

बाहिरलिंगेण जुदो अब्भंतर लिंगरहिदपरियम्मो।

सो सगचरित्तभट्टो मोक्खपहविणासगो साहू।। ६१।।

जो साधु बाह्यलिंग से तो सहित है परन्तु जिसके शरीर का संस्कार (प्रवर्तन) आभ्यन्तरलिंग से रहित है वह आत्मचारित्र से भ्रष्ट है तथा मोक्षमार्ग का नाश करने वाला है।। ६१।।

सुहेण भाविदं णाणं दुहे जादे विणस्सदि।

तम्हा जहाबलं जोई अप्पा दुक्खेहि भावए।। ६२।।

सुख से वासित ज्ञान दुःख उत्पन्न होने पर नष्ट हो जाता है इसलिये योगी को यथाशक्ति आत्मा को दुःख से वासित करना चाहिये।। ६२।।

आहारासणणिद्दाजयं च काऊण जिणवरमएण।

झायव्वो णियअप्पा णाऊण गुरुपसाएण।। ६३।।

आहार, आसन और निद्रा को जीतकर जिनेन्द्र देव के मतानुसार गुरुओं के प्रसाद से निज आत्मा को जानना चाहिये और उसी का ध्यान करना चाहिये।। ६३।।

अप्पा चरित्तवंतो दसणणाणेण संजुदो अप्पा।

सो झायव्वो णिच्चं णाऊण गुरुपसाएण।। ६४।।

आत्मा चारित्र से सहित है, आत्मा दर्शन और ज्ञान से युक्त है इस प्रकार गुरु के प्रसाद से जानकर उसका नित्य ही ध्यान करना चाहिये।। ६४।।

दुक्खे णज्जइ अप्पा अप्पा णाऊण भावणा दुक्खं।

भावियसहावपुरिसो विसएसु विरच्चए दुक्खं।। ६५।।

प्रथम तो आत्मा दुःख से जाना जाता है, फिर जानकर उसकी भावना दुःख से होती है, फिर आत्मस्वभाव की भावना करने वाला पुरुष दुःख से विषयों में विरक्त होता है।। ६५।।

ताम ण णज्जइ अप्पा विसएसु णरो पवट्टए जाम।

विसए विरत्तचित्तो जोई जाणेइ अप्पाण।। ६६।।

जब तक मनुष्य विषयों में प्रवृत्ति करता है तब तक आत्मा नही जाना जाता अर्थात् आत्मज्ञान नही होता। विषयों से विरक्तचित्त योगी ही आत्मा को जानता है।। ६६।।

अप्पा णाऊण णरा केई सब्भावभावपब्भट्टा।

हिंडति चाउरंगं विसएसु विमोहिया मूढा।। ६७।।

आत्मा को जानकर भी कितने ही लोग सद्भाव की भावना से - निजात्मभावना से भ्रष्ट होकर विषयों में मोहित होते हुए चतुर्गति रूप संसार में भटकते रहते है।। ६७।।

जे पुण विसयविरत्ता अप्पा णाऊण भावणासहिया।

छंडंति चाउरंगं तवगुणजुत्ता ण संदेहो।। ६८।।

और जो विषयों से विरक्त होते हुए आत्मा को जानकर उसकी भावना से सहित रहते है वे तपरूपी गुण अथवा तप और मूलगुणों से युक्त होकर चतुरंग - चतुर्गति रूप संसार को छोड देते है इसमें सन्देह नही है।। ६८।।

परमाणुपमाण वा परदव्वे रदि हवेदि मोहादो।
सो मूढो अण्णाणी आदसहावस्स विवरीदो।। ६९।।

जिसकी अज्ञानवश पर द्रव्य मे परमाणु प्रमाण भी रति है वह मूढ है अज्ञानी है और आत्मस्वभाव से विपरीत है।। ६९।।

अप्पा झायंताणं दसणसुद्धीण दिढचरित्ताणं।
होदि धुवं णिव्वाणं विसएसु विरत्तचित्ताणं।। ७०।।

जो आत्मा का ध्यान करते है जिनके सम्यग्दर्शन की शुद्धि विद्यमान है जो दृढ चारित्र के धारक हैं तथा जिनका चित्त विषयों से विरक्त है ऐसे पुरुषों को निश्चित ही निर्वाण प्राप्त होता है।। ७०।।

जेण रागे परे दव्वे संसारस्स हि कारणं।
तेणावि जोइणो णिच्चं कुज्जा अप्पे सभावणा।। ७१।।

जिस स्त्री आदि पर्याय से पर द्रव्य मे राग होने पर वह राग संसार का कारण होता है योगी उसी पर्याय से निरन्तर आत्मा मे आत्मभावना करता है।

भावार्थ - साधारण मनुष्य स्त्री को देखकर उसमे राग करता है जिससे उसके संसार की वृद्धि होती है परन्तु योगी - ज्ञानी मनुष्य स्त्री को देखकर विचार करता है कि जिस प्रकार मेरा आत्मा अनन्तकेवलज्ञानमय है उसी प्रकार इस स्त्री का आत्मा भी अनन्तकेवलज्ञानमय है। यह स्त्री और मैं दोनो ही केवलज्ञानमय हैं। इस कारण यह स्त्री भी मेरी आत्मा है मुझसे पृथक् इसमे है ही क्या ? जिससे स्नेह करू।। ७१।।

(प जयचन्द्र जी ने अपनी वचनिका मे 'जेण रागो परे दव्वे' ऐसा पाठ स्वीकृत कर यह अर्थ प्रकट किया है - चूंकि परद्रव्य सम्बन्धी राग संसार का कारण है इसलिये योगी को निरन्तर आत्मा मे ही आत्मभावना करनी चाहिये। परन्तु इस अर्थ मे "तेणावि - तेनापि" यहा तेन शब्द के साथ दिये हुए अपि शब्द की निरर्थकता सिद्ध होती है।)

णिंदाए य पसंसाए दुक्खे य सुहएसु य।
सत्तूण चेव बंधूण चारित्त समभावदो।। ७२।।

निन्दा और प्रशसा, दु ख और सुख तथा शत्रु और मित्र मे समभाव से ही चारित्र होता है।। ७२।।

यह ध्यान के योग्य समय नहीं है इस मान्यता का निराकरण करते है -

चरियावरिया वदसमिदिवज्जिया सुद्धभावपब्भट्टा।
केई जंपंति णरा ण हु कालो झाणजोयस्स।। ७३।।

जो चारित्र का आवरण करने वाले चारित्रमोहनीय कर्म से युक्त हैं व्रत और समिति से रहित हैं तथा शुद्धभाव से च्युत है ऐसे कितने ही मनुष्य कहते है कि यह ध्यानरूप योग का समय नहीं है अर्थात इस समय ध्यान नही हो सकता।। ७३।।

सम्मत्तणाणरहिओ अभव्वजीवो हु मोक्खपरिमुक्को।
ससारसुहे सुरदो ण हु कालो भणइ झाणस्स।। ७४।।

जो सम्यक्त्व तथा सम्यग्ज्ञान से रहित है, जिसे कभी मोक्ष होता नहीं है तथा जो संसार सम्बन्धी सुख में अत्यन्त रत है ऐसा अभव्य जीव ही कहता है कि यह ध्यान का काल नही है अर्थात इस समय ध्यान नही हो सकता।। ७४।।

पचसु महव्वदेसु य पचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु।
जो मूढो अण्णाणी ण हु कालो भणइ झाणस्स।। ७५।।

जो पाच महाव्रतों, पाच समितियों तथा तीन गुप्तियों के विषय में मूढ है और अज्ञानी है वही कहता है कि यह ध्यान का काल नही है अर्थात् इस समय ध्यान नहीं हो सकता।। ७५।।

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स।
तं अप्पसहावठिदे ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी।। ७६।।

भरतक्षेत्र में दुषम नामक पचम काल में मुनि के धर्मध्यान होता है तथा वह धर्म ध्यान आत्मस्वभाव में स्थित साधु के होता है ऐसा जो नही मानता वह अज्ञानी है।। ७६।।

अज्ज वि तिरयणसुद्धा अप्पा झाएवि लहदि इंदत्त।
लोयतिय देवत्त तत्थ चुआ णिव्वुदि जंति।। ७७।।

आज भी रत्नत्रय से शुद्धता का प्राप्त हुए मनुष्य आत्मा का ध्यान कर इन्द्रपद तथा लौकान्तिक देवो के पद को प्राप्त होते हैं और वहा से च्युत होकर निर्वाण को प्राप्त होते हैं।। ७७।।

जे पावमोहियमई लिंग घेत्तूण जिणवरिंदाणं।
पाव कुणंति पावा ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि।। ७८।।

जो पाप से मोहितबुद्धि मनुष्य, जिनेन्द्रदेव का लिग धारणकर पाप करते है वे पापी मोक्षमार्ग से पतित हैं।। ७८।।

जे पचचेलसत्ता गंथग्गाहीय जायणासीला।
आधाकम्मम्मि रया ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि।। ७९।।

जो [1] पाच प्रकार के वस्त्रों में आसक्त हैं, परिग्रह को ग्रहण करने वाले हैं याचना करते है तथा अध कर्म - निन्द्यकर्म मे रत हैं वे मुनि मोक्षमार्ग से पतित हैं।। ७९।।

णिग्गंथमोहमुक्का बावीसपरीसहा जिसकसाया।
पावारंभविमुक्का ते गहिया मोक्खमग्गम्मि।। ८०।।

जो परिग्रह से रहित है, पुत्र-मित्र आदि के मोह से मुक्त हैं, बाईस परीषहों को सहन करने वाले हैं कषायों को जीतने वाले हैं तथा पाप और आरम्भ से दूर हैं वे मोक्षमार्ग में अगीकृत हैं।। ८०।।

उद्धद्धमज्झलोए केई मज्झं ण अहयमेगागी।
इयभावणाए जोई पावंति हु सासय सोक्ख।। ८१।।

ऊर्ध्व, मध्य और अधोलोक में कोई जीव मेरा नही है, मै अकेला ही हू इस प्रकार की भावना से योगी शाश्वत - अविनाशी सुख को प्राप्त होते हैं।। ८१।।

देवगुरूणं भत्ता णिव्वेयपरंपरा विचिंतंता।
झाणरया सुचरित्ता ते गहिया मोक्खमग्गम्मि।। ८२।।

---

1 अण्डज - कोशा आदि, बुण्डज - सूती वस्त्र, वल्कज - सन तथा जूट आदि से निर्मित, चर्मज - चमडे से उत्पन्न और रोमज - ऊनी वस्त्र, ये पाच प्रकार के वस्त्र हैं।

जो देव और गुरु के भक्त हैं, वैराग्य की परम्परा का विचार करते रहते हैं, ध्यान में तत्पर रहते हैं, तथा शोभन-निर्दोष आचार का पालन करते हैं वे मोक्षमार्ग में अंगीकृत हैं।। ८२।।

णिच्छयणायस्स एवं अप्पा अप्पम्मि अप्पणे सुरदो।

सो होदि हु सुचरित्तो जोइ सो लहइ णिव्वाणं।। ८३।।

निश्चय नय का ऐसा अभिप्राय है कि जो आत्मा, आत्मा के लिये, आत्मा में तन्मयीभाव को प्राप्त है वही सुचारित्र - उत्तम चारित्र है। इस चारित्र को धारण करने वाला योगी निर्वाण को प्राप्त होता है।। ८३।।

पुरिसायारो अप्पा जोई वरणाणदंसणसमग्गो।

जो झायदि सो जोई पावहरो भवदि णिद्दंदो।। ८४।।

पुरुषाकार अर्थात् मनुष्य शरीर में स्थित जो आत्मा योगी बनकर उत्कृष्ट ज्ञान और दर्शन से पूर्ण होता हुआ आत्मा का ध्यान करता है, वह पापों को हरने वाला तथा निर्द्वन्द्व होता है।। ८४।।

एव जिणेहि कहिय सवणाण सावयाण पुण पुणसु।

संसारविणासयर सिद्धियरं कारणं परम।। ८५।।

इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा बार-बार कहे हुए वचन मुनियों तथा श्रावकों के संसार को नष्ट करने वाले तथा सिद्धि को प्राप्त कराने वाले उत्कृष्ट कारण स्वरूप हैं।। ८५।।

गहिऊण य सम्मत्तं सुणिम्मल सुरगिरीव णिक्कंप।

तं झाणे झाइज्जइ सावय दुक्खक्खयट्ठाए।। ८६।।

हे श्रावक ! (हे सम्यग्दृष्टि उपासक अथवा हे मुने !) अत्यन्त निर्मल और मेरुपर्वत के समान निश्चल सम्यग्दर्शन को ग्रहणकर दुःखों को क्षय करने के लिये ध्यान में उसी का ध्यान किया जाता है।। ८६।।

सम्मत्त जो झायदि सम्माइट्ठी हवंइ सो जीवो।

सम्मत्तपरिणदो उण खवंइ दुट्ठट्ठकम्माणि।। ८७।।

जो जीव सम्यक्त्व का ध्यान करता है वह सम्यग्दृष्टि हो जाता है और सम्यक्त्व रूप परिणत हुआ जीव दुष्ट आठ कर्मों का क्षय करता है।। ८७।।

किं बहुणा भणिएणं जे सिद्धा णरवरा गए काले।

सिज्झिहहि जे वि भविया त जाणह सम्ममाहप्प।। ८८।।

अधिक कहने से क्या ? अतीत काल में जितने श्रेष्ठपुरुष सिद्ध हुए हैं और भविष्यत काल में जितने सिद्ध होंगे उस सबको तुम सम्यग्दर्शन का ही माहात्म्य जानो।। ८८।।

ते धण्णा सुकयत्था ते सूरा ते वि पंडिया मणुया।

सम्मत्तं सिद्धियर सिवणे वि ण मइलिय जेहि।। ८९।।

वे ही मनुष्य धन्य हैं, वे ही कृतकृत्य हैं वे ही शूरवीर हैं और वे ही पण्डित हैं जिन्होंने सिद्धि को प्राप्त कराने वाले सम्यक्त्वव को स्वप्न में भी मलिन नहीं किया है।। ८९।।

हिंसारहिए धम्मे अट्ठारहदोसवज्जिए देवे।

णिग्गंथे पावयणे सद्दहण होइ सम्मत्तं।। ९०।।

हिंसा रहित धर्म, अठारह दोष रहित देव, निर्ग्रन्थ गुरु और अर्हन्तप्रवचन - समीचीन शास्त्र में जो श्रद्धा है वह सम्यग्दर्शन है।। ९० ।।

जहजायरूवरूवं सुसंजयं सव्वसंगपरिचत्तं।

लिंगं ण परावेक्खं जो मण्णइ तस्स सम्मत्तं।। ९१ ।।

दिगम्बर मुनि का लिंग (वेष) यथाजात - तत्काल उत्पन्न हुए बालक के समान होता है, उत्तमसंयम से सहित होता है, सब परिग्रह से रहित होता है और पर की अपेक्षा से रहित होता है - ऐसा जो मानता है उसके सम्यक्त्व होता है।। ९१ ।।

कुच्छियदेवं धम्मं कुच्छियलिंगं च वंदए जो दु।

लज्जाभयगारवदो मिच्छादिट्ठी हवे सो हु।। ९२ ।।

जो लज्जा, भय, और गारव से कुत्सित देव, कुत्सित धर्म और कुत्सित लिंग की वन्दना करता है वह मिथ्यादृष्टि होता है।। ९२ ।।

सपरावेक्खं लिंगं राई देवं असंजयं वंदे।

माणइ मिच्छादिट्ठी ण हु मण्णइ सुद्धसम्मत्तो।। ९३ ।।

पर की अपेक्षा से सहित लिंग को तथा रागी और असंयत देव की वन्दना करता हूं ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव मानता है शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव नहीं।। ९३ ।।

सम्माइट्ठी सावय धम्मं जिणदेवदेसियं कुणदि।

विवरीयं कुव्वंतो मिच्छादिट्ठी मुणेयव्वो।। ९४ ।।

सम्यग्दृष्टि श्रावक अथवा मुनि, जिनदेव के द्वारा उपदेशित धर्म को करता है। जो विपरीत धर्म को करता है उसे मिथ्यादृष्टि जानना चाहिये।। ९४ ।।

मिच्छादिट्ठि जो सो संसारे संसरेइ सुहरहिओ।

जम्मजरमरणपउरे दुक्खसहस्साउले जीवो।। ९५ ।।

जो मिथ्यादृष्टि जीव है वह जन्म, जरा और मरण से युक्त तथा हजारों दुःखों से परिपूर्ण संसार में दुःखी होता हुआ भ्रमण करता है।। ९५ ।।

सम्मगुण मिच्छदोसो मणेण परिभाविऊण तं कुणसु।

जं ते मणस्स रुच्चइ किं बहुणा पलविएण तु।। ९६ ।।

सम्यक्त्व गुण है और मिथ्यात्व दोष है ऐसा मन से विचार करके तेरे मन के लिये जो रुचे वह कर अधिक कहने से क्या लाभ है ?।। ९६ ।।

बाहिरसंगविमुक्को ण वि मुक्को मिच्छभाव णिग्गंथो।

किं तस्स ठाणमउणं ण वि जाणदि अप्पसमभावं।। ९७ ।।

जो साधु बाह्य परिग्रह से तो छूट गया है परन्तु मिथ्याभाव से नहीं छूटा है, उसका कायोत्सर्ग के लिये खड़ा होना अथवा मौन से रहना क्या है ? अर्थात् कुछ भी नहीं है क्योंकि वह आत्मा के समभाव को तो जानता ही नहीं है।। ९७ ।।

मूलगुणं छित्तूण य बाहिरकम्मं करेइ जो साहू।

सो ण लहइ सिद्धिसुहं जिणलिंगविराधगो णिच्चं।। ९८ ।।

जो साधु मूलगुणों को छेद कर बाह्यकर्म करता है वह सिद्धि के सुख को नहीं पाता। वह तो निरन्तर जिनलिंग की विराधना करने वाला माना गया है।। ९८।।

किं काहिदि बहिकम्मं किं काहिदि बहुविहं च खवणं च।

किं काहिदि आदावं आदसहावस्स विवरीदो।। ९९।।

जो साधु आत्मस्वभाव से विपरीत है मात्र बाह्य कर्म उसका क्या कर देगा ? नाना प्रकार का उपवासादि क्या कर देगा ? और आतापनयोग क्या कर देगा ? अर्थात कुछ नहीं।। ९९।।

जदि पढदि बहुसुदाणि य जदि काहिदि बहुविहं य चारित्ते।

तं बालसुदं चरणं हवेइ अप्पस्स विवरीदं।। १००।।

यदि ऐसा मुनि अनेक शास्त्रों को पढता है तथा नाना प्रकार के चारित्रों का पालन करता है तो उसकी वह सब प्रवृत्ति आत्मस्वरूप से विपरीत होने के कारण बालश्रुत और बाल चारित्र कहलाती है।। १००।।

वेरग्गपरो साहू परदव्वपरम्मुहो य सो होदि।

संसारसुहविरत्तो सगसुद्धसुहेसु अणुरत्तो।। १०१।।

जो साधु वैराग्य में तत्पर होता है वह परद्रव्य से पराङ् मुख रहता है इसी प्रकार जो साधु संसार सुख से विरक्त रहता है वह स्वकीय शुद्ध सुख में अनुरक्त होता है।। १०१।।

गुणगणविहूसियंगो हेयोपादेयणिच्छिदो साहू।

झाणज्झयणे सुरदो सो पावइ उत्तमं ठाणं।। १०२।।

गुणों के समूह से जिसका शरीर शोभित है, जो हेय और उपादेय पदार्थों का निश्चय कर चुका है तथा ध्यान और अध्ययन में जो अच्छी तरह लीन रहता है वही साधु उत्तम स्थान को प्राप्त होता है।। १०२।।

णवियेहिं जं णविज्जइ झाइज्जइ झाइएहिं अणवरयं।

थुव्वंतेहिं थुणिज्जइ देहत्थं किं पि तं मुणह।। १०३।।

दूसरों के द्वारा नमस्कृत इन्द्रादिदेव जिसे नमस्कार करते हैं, दूसरों के द्वारा ध्यान किये गये तीर्थंकर देव जिसका निरन्तर ध्यान करते हैं और दूसरों के द्वारा स्तूयमान - स्तुत किये गये तीर्थंकर जिनेन्द्र भी जिसकी स्तुति करते हैं शरीर के मध्य में स्थित उस अनिर्वचनीय आत्मतत्व को तुम जानो।। १०३।।

अरुहा सिद्धायरिया उज्झाया साहु पंचपरमेट्ठी।

ते वि हु चिट्ठहि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं।। १०४।।

अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पांच परमेष्ठी हैं। ये पांचों परमेष्ठी भी जिस कारण आत्मा में स्थित हैं, उस कारण आत्मा ही मेरे लिये शरण हो।। १०४।।

सम्मत्तं सण्णाणं सच्चारित्तं हि सत्तवं चेव।

चउरो चिट्ठहि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं।। १०५।।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप ये चारों आत्मा में स्थित हैं इसलिये आत्मा ही मेरे लिये शरण है।। १०५।।

एवं जिणपण्णत्तं मोक्खस्स य पाहुडं सुभत्तीए।

जो पढइ सुणइ भावइ सो पावइ सासयं सोक्खं।। १०६।।

इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान के द्वारा इस मोक्ष प्राभृत को जो उत्तम भक्ति से पढता है सुनता है और इसकी भावना करता है वह शाश्वत सुख - अविनाशी मोक्षसुख को प्राप्त होता है।। १०६।।

इस प्रकार कुन्दकुन्दाचार्य विरचित मोक्षप्राभृत समाप्त हुआ।

लिंगपाहुड

काऊण णमोकारं अरहंताणं तहेव सिद्धाण।
वोच्छामि समणलिंग पाहुडसत्थ समासेण।। १।।

मैं अरहन्तो तथा सिद्धों को नमस्कार कर संक्षेप से मुनिलिंग का वर्णन करने वाले प्राभृत शास्त्र को कहूंगा।। १।।

धम्मेण होइ लिंग ण लिंगमत्तेण धम्मसंपत्ती।
जाणेहि भावधम्मं किं ते लिंगेण कायव्वो।। २।।

धर्म से लिंग होता है लिंगमात्र धारण करने से धर्म की प्राप्ति नही होती इसलिये भाव को धर्म जानो भावरहित लिंग से तुझे क्या कार्य है ?

भावार्थ - लिंग अर्थात् शरीर का वेष धर्म से होता है जिसने भाव के बिना मात्र शरीर का वेष धारण किया है उसके धर्म की प्राप्ति नही होती, इसलिये भाव ही धर्म है भाव के बिना मात्र वेष कार्यकारी नही है।। २।।

जो पावमोहिदमदी लिंग घेत्तूण जिणवरिंदाणं।
उवहसइ लिंगि भाव लिंग णसेदि लिंगीण।। ३।।

जिसकी बुद्धि पाप से मोहित हो रही है ऐसा जो पुरुष, जिनेन्द्र देव के लिंग को - नग्न दिगम्बर वेष का ग्रहण कर लिंगी के यथार्थ भाव की हसी करता है वह सच्चे वेषधारियो के वेष को नष्ट करता है अर्थात् लजाता है।। ३।।

णच्चदि गायदि ताव वाय वाएदि लिंगरूवेण।
सो पावमोहिदमदी तिरिक्खजोणी ण सो समणो।। ४।।

जो मुनिलिंग धारण कर नाचता है गाता है अथवा बाजा बजाता है वह पाप से मोहितबुद्धि पशु है मुनि नही।। ४।।

सम्मूहदि रक्खेदि य अट्टं झाएदि बहुपयत्तेण।
सो पावमोहिदमदी तिरिक्खजोणी ण सो समणो।। ५।।

जो बहुत प्रकार के प्रयत्नो से परिग्रह को इकट्ठा करता है उसकी रक्षा करता है तथा आर्तध्यान करता है वह पाप से मोहितबुद्धि पशु है मुनि नही है।। ५।।

कलहं वादं जूवा णिच्च बहुमाणगव्विओ लिंगी।
वच्चदि णरयं पाओ करमाणो लिंगिरूवेण।। ६।।

जो पुरुष मुनिलिंग का धारक होकर भी निरन्तर अत्यधिक गर्व से युक्त होता हुआ कलह करता है, वादविवाद करता है, अथवा जुवा खेलता है वह चूंकि मुनिलिंग से ऐसे कुकृत्य करता है अत पापी है और नरक जाता है।। ६।।

पावोपहदिभावो सेवदि य अबंभु लिंगिरूवेण।
सो पावमोहिदमदी हिंडदि संसारकांतारे।। ७।।

पाप से जिसका यथार्थ भाव नष्ट हो गया है ऐसा जो पुरुष मुनिलिंग धारणकर अब्रह्म का सेवन करता है वह पाप से मोहिदबुद्धि होता हुआ संसाररूपी अटवी में भ्रमण करता रहता है।। ७।।

दंसणणाणचरित्ते उवहाणे जइ ण लिंगरूवेण।
अट्टं झायदि झाणं अणंतसंसारिओ होदी।। ८।।

जो मुनिलिंग धारण कर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का उपधान अर्थात् आश्रय नहीं बनाता है तथा आर्तध्यान करता है वह अनन्तसंसारी होता है।। ८।।

जो जोडदि विव्वाहं किसिकम्मवणिज्जजीवघादं च।
वच्चदि णरयं पाओ करमाणो लिंगिरूवेण।। ९।।

जो मुनि का लिंग रखकर भी दूसरों के विवाह सम्बन्ध जोड़ता है, तथा खेती और व्यापार के द्वारा जीवों का घात करता है वह चूंकि मुनि लिंग के द्वारा इस कुकृत्य को करता है अतः पापी है और नरक जाता है।। ९।।

चोराण मिच्छवाण य जुद्धं विवादं च तिव्वकम्मेहिं।
जंतेण दिव्वमाणो गच्छदि लिंगी णरयवासं।। १०।।

जो लिंगी चोरों तथा झूठ बोलने वालों के युद्ध और विवाद को कराता है तथा तीव्रकर्म - खरकर्म अर्थात अधिक हिंसा वाले कार्यों से और यन्त्र अर्थात चौपड आदि से क्रीडा करता है वह नरकवास को प्राप्त होता है।। १०।।

दंसणणाणचरित्ते तवसंजमणियमणिच्चकम्मम्मि।
पीडयदि वट्टमाणो पावदि लिंगी णरयवासं।। ११।।

जो मुनिवेषी दर्शन, ज्ञान, चारित्र तथा तप संयम नियम और नित्यकार्यों में प्रवृत्त होता हुआ दूसरे जीवों को पीड़ा पहुंचाता है वह नरकवास को प्राप्त होता है।। ११।।

कंदप्पाइय वट्टइ करमाणो भोयणेसु रसगिद्धिं।
माई लिंगविवाई तिरिक्खजोणी ण सो समणो।। १२।।

जो पुरुष मुनिवेषी होकर भी कांदर्पी आदि कुत्सित भावनाओं को करता है तथा भोजन में रससम्बन्धी लोलुपता को धारण करता है वह मायाचारी, मुनिलिंग को नष्ट करने वाला पशु है मुनि नहीं।। १२।।

धावदि पिंडणिमित्तं कलहं काऊण भुंजदे पिंडं।
अवरूपरूई संतो जिणमग्गि ण होइ सो समणो।। १३।।

जो आहार के निमित्त दौड़ता है कलहकर भोजन को ग्रहण करता है और उसके निमित्त दूसरे से ईर्ष्या करता है वह जिनमार्गी श्रमण नहीं है।

भावार्थ - इस काल में कितने ही लोग जिनलिंग से भ्रष्ट होकर अर्धफालक हुए फिर उनमें श्वेताम्बरादिक संघ हुए। उन्होंने शिथिलाचार का पोषणकर लिंग की प्रवृत्ति विकृत कर दी। उन्हीं का यहां निषेध समझना चाहिये। उनमें अब भी कोई ऐसे साधु हैं जो आहार के निमित्त शीघ्र दौड़ते हैं - ईर्यासमिति को भूल जाते

है और गृहस्थ के घर मे लाकर दो-चार सम्मिलित बैठकर खाते है और बटवारा मे सरस-नीरस आने पर परस्पर कलह करते है तथा इस निमित्त को लेकर दूसरो से ईर्ष्या भी करते है सो ऐसे साधु जिनमार्गी नही है।। १३।।

गिण्हदि अदत्तदाणं परणिंदा वि य परोक्खदूसेहिं।
जिणलिंगं धारंतो चोरेण व होइ सो समणो।। १४।।

जो मनुष्य जिनलिंग को धारण करता हुआ भी बिना दी हुई वस्तु को ग्रहण करता है तथा परोक्ष में दूषण लगा-लगा कर दूसरे की निन्दा करता है वह चोर के समान है, साधु नहीं है।। १४।।

उप्पडदि पडदि धावदि पुढवीओ खणदि लिंगरूवेण।
इरियावह धारंतो तिरिक्खजोणी ण सो समणो।। १५।।

जो मुनिलिंग धारणकर चलते समय कभी उछलता है, कभी दौडता है और कभी पृथिवी को खोदता है वह पशु है मुनि नही।। १५।।

बंधे णिरओ संतो सस्सं खंडेदि तह य वसुहं पि।
छिंददि तरुगण बहुसो तिरिक्खजोणी ण सो समणो।। १६।।

जो किसी के बन्ध में लीन होकर अर्थात उसका आज्ञाकारी बनकर धान कूटता है, पृथिवी खोदता है और वृक्षों के समूह को छेदता है वह पशु है मुनि नही।

भावार्थ - यह कथन अन्य साधुओं की अपेक्षा है। जो साधु वन मे रहकर स्वय धान तोडते है, उसे कूटते है, अपने आश्रम में वृक्ष लगाने आदि के उददेश्य से पृथिवी खोदते है तथा वृक्ष, लता आदि को छेदते है वे पशु के तुल्य है उन्हे हिंसा पाप की चिन्ता नहीं ऐसा मनुष्य साधु नही कहला सकता।। १६।।

रागो (रागं) करेदि णिच्चं महिला वग्गं परं व दूसेदि।
दंसणणाणविहीणो तिरिक्खजोणी ण सो समणो।। १७।।

जो स्त्रियों के समूह के प्रति निरन्तर राग करता है, दूसरे निर्दोष प्राणियों को दोष लगाता है तथ स्वय दर्शनज्ञान से रहित है वह पशु है साधु नही।। १७।।

पव्वज्जहीणगहिणं णेहं सीसम्मि वट्टदे बहुसो।
आयारविणयहीणो तिरिक्खजोणी ण सो सवणो।। १८।।

जो दीक्षा से रहित गृहस्थ शिष्य पर अधिक स्नेह रखता है तथा आचार और विनय से रहित है वह तिर्यंच है साधु नही।

भावार्थ - कोई-कोई साधु अपने गृहस्थ शिष्य पर अधिक स्नेह रखते हैं, अपने पद का ध्यान न कर उसके घर आते-आते है, सुख-दुःख में आत्मीयता दिखाते हैं तथा स्वयं मुनि के योग्य आचार तथा पूज्य पुरुषों की विनय से रहित होते हैं, आचार्य कहते है कि वे मुनि नही हैं किन्तु पशु हैं।। १८।।

एवं सहिओ मुणिवर संजदमज्झम्मि वट्टदे णिच्चं।
बहुलं पि जाणमाणो भावविणट्ठो ण सो सवणो।। १९।।

हे मुनिवर ! ऐसी खोटी प्रवृत्तियों से सहित मुनि, यद्यपि संयमी जनों के मध्य में रहता है और बहुत ज्ञानवान् भी है तो भी वह भाव से विनष्ट है अर्थात् भावलिंग से रहित है - यथार्थ मुनि नहीं है।। १९।।

दंसणणाणचरित्ते महिलावग्गम्मि देदि वोपट्टो।
पासत्थ वि हु णियट्ठो भावविणट्ठो ण सो समणो।।२०।।

जो स्त्रियों में विश्वास उपजाकर उन्हें दर्शन, ज्ञान और चारित्र देता है वह पार्श्वस्थ मुनि से भी निकृष्ट है तथा भावलिंग से शून्य है, वह परमार्थ मुनि नहीं है।

भावार्थ - जो मुनि अपने पद का ध्यान न कर स्त्रियों से संपर्क बढ़ाता है, उन्हें पास में बैठाकर पढ़ाता है तथा दर्शन या चारित्र आदि का उपदेश देता है वह पार्श्वस्थ नामक भ्रष्ट मुनि से भी अधिक निकृष्ट है। जब मुनि एकान्त में आर्यिकाओं से भी बात नहीं करते, सात हाथ की दूरी पर दो या दो से अधिक संख्या में बैठी हुई आर्यिकाओं से ही धर्मचर्चा करते हैं, उनके प्रश्नों का समाधान करते हैं तब गृहस्थ स्त्रियों को एकदम पास में बैठाकर उनसे सम्पर्क बढ़ाना मुनिपद के अनुकूल नहीं है। ऐसा मुनि भावलिंग से शून्य है अर्थात् द्रव्यलिंगी है, परमार्थमुनि नहीं है।।२०।।

पुंश्चलिघरि जसु भुंजइ णिच्च संथुणदि पोसए पिंड।
पावदि बालसहावं भावविणट्ठो ण सो सवणो।।२१।।

जो साधु व्यभिचारिणी स्त्री के घर आहार लेता है, निरन्तर उसकी स्तुति करता है तथा पिण्ड के पालता है अर्थात् उसकी स्तुति कर निरन्तर आहार प्राप्त करता है वह बालस्वभाव को प्राप्त होता है तथा भाव से विनष्ट है, वह मुनि नहीं है।।२१।।

इय लिंगपाहुडमिण सव्वं बुद्धेहि देसियं धम्मं।
पालेहि कट्ठसहियं सो गाहदि उत्तमं ठाणं।।२२।।

इस प्रकार यह लिंगप्राभृत नामका समस्त शास्त्र ज्ञानी - गणधरादि के द्वारा उपदिष्ट है। इसे जानकर जो कष्ट सहित धर्म का पालन करता है अर्थात् कष्ट भोगकर भी धर्म की रक्षा करता है वह उत्तम स्थान को प्राप्त होता है।।२२।।

इस प्रकार कुन्दकुन्दाचार्य विरचित लिंगपाहुड समाप्त हुआ।

❋

सीलपाहुड

वीरं विसालणयण रत्तुप्पलकोमलस्समप्पायं।
तिविहेण पणमिऊणं सीलगुणाणं णिसामेह।।१।।

(बाह्य में) जिनके विशाल नेत्र हैं तथा जिनके पांव लाल कमल के समान कोमल हैं (अन्तरंग में) जो केवलज्ञान रूपी विशाल नेत्रों के धारक हैं उन महावीर भगवान् को मन, वचन, काय से प्रणामकर शील के गुणों को अथवा शील और गुणों का कथन करता हूं।।१।।

सीलस्स य णाणस्स य णत्थि विरोहो बुधेहि णिद्दिट्ठो।
णवरि य सीलेण विणा विसया णाणं विणासंति।।२।।

विद्वानों ने शील का और ज्ञान का विरोध नहीं कहा है किन्तु यह कहा है कि शील के बिना विषय ज्ञान को नष्ट कर देते हैं।

भावार्थ - शील और ज्ञान का विरोध नही है, किन्तु सहभाव है। जहा शील होता है वहा ज्ञान अवश्य होता है और शील न हो तो पंचेन्द्रियों के विषय ज्ञान को नष्ट कर देते है।।२।।

दुक्खेणज्जहि णाणं णाणां णाऊण भावणा दुक्खं।
भावियमई व जीवो विसएसु विरज्जए दुक्खं।।३।।

प्रथम तो ज्ञान ही दु ख से जाना जाता है अथवा दु ख से प्राप्त किया जाता है, फिर यदि कोई ज्ञान को जानता भी है तो उसकी भावना दु ख से होती है, फिर कोई जीव उसकी भावना भी करता है तो विषयों में विरक्त दु ख से होता है।।३।।

ताव ण जाणदि णाणं विसयबलो जाव वट्टए जीवो।
विसए विरत्तमेत्तो ण खवेइ पुराइयं कम्मं।।४।।

जब तक जीव विषयों के वशीभूत रहता है तब तक ज्ञान को नहीं जानता और ज्ञान के बिना मात्र विषयों से विरक्त हुआ जीव पुराने बंधे हुए कर्मों का क्षय नहीं करता।।४।।

णाणं चरित्तहीणं लिंगग्गहणं च दंसणविहूणं।
संजमहीणो य तवो जइ चरइ णिरत्थयं सव्वं।।५।।

यदि कोई साधु चारित्ररहित ज्ञान का, सम्यग्दर्शनरहित लिंग का और सयम रहित तप का आचरण करता है तो उसका यह सब आचरण निरर्थक है।

भावार्थ - हेय और उपादेय का ज्ञान तो हुआ परन्तु तदनुरूप चारित्र न हुआ तो वह ज्ञान किस काम का ? मुनिलिंग तो धारण किया परन्तु सम्यग्दर्शन न हुआ तो वह मुनिलिंग किस काम का ? इसी तरह तप तो किया परन्तु जीवरक्षा अथवा इन्द्रिय वशीकरण रूप संयम नही हुआ तो वह तप किस काम का ? इस सबका उद्देश्य कर्मक्षय करके मोक्ष प्राप्त करना है परन्तु उसकी सिद्धि न होने से सबका निरर्थकपना दिखाया है।।५।।

णाणं चरित्तसुद्धं लिंगग्गहणं च दंसणविसुद्धं।
संजमसहिदो य तवो थोओ वि महाफलो होइ।।६।।

चारित्र से शुद्ध ज्ञान, दर्शन से शुद्ध लिंग धारण और संयम से सहित तप थोडा भी हो तो वह महाफल से युक्त होता है।।६।।

णाणं णाऊण णरा केई विसयाइभावसंसत्ता।
हिंडंति चादुरगदिं विसएसु विमोहिया मूढा।।७।।

जो कोई मनुष्य ज्ञान को जानकर भी विषयादिकरूप भाव में आसक्त रहते है वे विषयों में मोहित रहने वाले मूर्ख प्राणी चतुर्गतिरूप ससार में भ्रमण करते रहते है।।७।।

जे पुण विसयविरत्ता णाणं णाऊण भावणासहिदा।
छिंदंति चादुरगदिं तवगुणजुत्ता ण संदेहो।।८।।

किन्तु जो ज्ञान को जानकर उसकी भावना करते है अर्थात् पदार्थ के स्वरूप को जानकर उसका चिन्तन करते है और विषयों से विरक्त होते हुए तपश्चरण तथा मूलगुण और उत्तरगुणों से युक्त होते है वे चतुर्गति रूप संसार को छेदते है - नष्ट करते है इसमें सन्देह नही है।।८।।

जह कंचणं विसुद्धं धम्मइय खडियलवणलेवेण।
तह जीवो वि विसुद्धं णाणविसलिलेण विमलेण।। ९।।

जिस प्रकार सुहागा और नमक के लेप से युक्त कर फूका हुआ सुवर्ण विशुद्ध हो जाता है उसी प्रकार ज्ञान रूपी निर्मल जल से यह जीव भी विशुद्ध हो जाता है।। ९।।

णाणस्स णत्थि दोसो का पुरिसाणो वि मंदबुद्धीणो।
जे णाण गव्विदा होऊणं विसएसु रज्जंति।। १०।।

जो पुरुष ज्ञान के गर्व से युक्त हो विषयों में राग करते हैं वह उनके ज्ञान का अपराध नही है किन्तु मन्दबुद्धि से युक्त उन कापुरुषों का ही अपराध है।। १०।।

णाणेण दंसणेण य तवेण चरिएण सम्मसहिएण।
होहदि परिणिव्वाणं जीवाण चरित्तसुद्धाण।। ११।।

निर्दोष चारित्र पालन करने वाले जीवों को सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन सम्यक्तप और सम्यक्चारित्र से निर्वाण प्राप्त होता है।

भावार्थ - जैनागम में सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्तप और सम्यक्चारित्र इन चार आराधनाओं से मोक्ष प्राप्ति होती है ऐसा कहा गया है परन्तु ये चारों आराधनाए उन्ही जीवों के मोक्ष का कारण होती है जो चारित्र से शुद्ध होते हैं अर्थात् प्रमाद छोडकर निर्दोष चारित्र का पालन करते हैं।। ११।।

सीलं रक्खंताण दसणसुद्धाण दिढचरित्ताण।
अत्थि धुवं णिव्वाणं विसएसु विरत्तचित्ताण।। १२।।

जो शील की रक्षा करते है, जो शुद्धदर्शन - निर्मल सम्यक्त्व से सहित हैं जिनका चारित्र दृढ है और जो विषयों से विरक्तचित्त रहते है उन्हें निश्चित ही निर्वाण की प्राप्ति होती है।। १२।।

विसएसु मोहिदाणं कहियं मग्गं पि इट्ठदरिसीणं।
उम्मगं दरिसीणं णाण पि णिरत्थयं तेसिं।। १३।।

जो मनुष्य इष्ट - लक्ष्य को देख रहे हैं वे वर्तमान में भले ही विषयों में मोहित हों तो भी उन्हें मार्ग प्राप्त हो गया है ऐसा कहा गया है परन्तु जो उन्मार्ग को देख रहे हैं अर्थात लक्ष्य से भ्रष्ट हैं उनका ज्ञान भी निरर्थ है।

भावार्थ - एक मनुष्य दर्शनमोहनीय का अभाव होने से श्रद्धा गुण के प्रकट हो जाने पर लक्ष्य - प्राप्तव्य मार्ग को देख रहा है परन्तु चारित्रमोह का तीव्र उदय होने से उस मार्ग पर चलने के लिये असमर्थ है तो भी कहा जाता है कि उसे मार्ग मिल गया परन्तु दूसरा मनुष्य अनेक शास्त्रों का ज्ञाता होने पर भी मिथ्यात्व के उदय के कारण गन्तव्य मार्ग को न देख उन्मार्ग को ही देख रहा है तो ऐसे मनुष्य का वह भारी ज्ञान भी निरर्थक होता है।। १३।।

कुमयकुसुदपसंसा जाणंता बहुविहाइं सत्थाणि।
सीलवदणाणरहिदा ण हु ते आराधया होंति।। १४।।

जो नाना प्रकार के शास्त्रों को जानते हुए मिथ्यामत और मिथ्याश्रुत की प्रशंसा करते है तथा शील, व्रत और ज्ञान से रहित है वे स्पष्ट ही आराधक नहीं हैं।। १४।।

रूवसिरिगव्विदाणं जुव्वणलावण्णकंतिकलिदाणं।
सीलगुणवज्जिदाणं णिरत्थयं माणुसं जम्मं।। १५।।

जो मनुष्य सौन्दर्य रूपी लक्ष्मी से गर्वीले तथा यौवन, लावण्य और कान्ति से युक्त हैं किन्तु शीलगुण से रहित हैं उनका मनुष्य जन्म निरर्थक है।। १५।।

वायरणछंदवइसेसियववहारणायसत्थेसु।
वेदेऊण सुदेसु य तेसु सुयं उत्तम सीलं।। १६।।

कितने ही लोग व्याकरण, छन्द, वैशेषिक, व्यवहार - गणित तथा न्यायशास्त्रों को जानकर श्रुत के धारी बन जाते हैं परन्तु उनका श्रुत तभी श्रुत है जबकि उनमें शील भी हो।। १६।।

सीलगुणमंडिदाणं देवा भवियाण वल्लहा होंति।
सुदपारयपउरा णं दुस्सीला अप्पिला लोए।। १७।।

जो भव्यपुरुष शीलगुण से सुशोभित हैं उनके देव भी प्रिय होते हैं अर्थात् देव भी उनका आदर करते हैं और जो शीलगुण से रहित हैं वे श्रुत के पारगामी होकर भी तुच्छ - अनादरणीय बने रहते हैं।

भावार्थ - शीलवान् जीवों की पूजा प्रभावना मनुष्य तो करते ही हैं परन्तु देव भी करते देखे जाते हैं। परन्तु दु शील अर्थात खोटे शील से युक्त मनुष्यों को अनेक शास्त्रों के ज्ञाता होने पर भी कोई पूछता नहीं है वे सदा तुच्छ बने रहते हैं। यहा "अल्पका" का अर्थ सख्या मे अल्प नही है किन्तु तुच्छ अर्थ है। सख्या की अपेक्षा तो दु शील मनुश्य ही अधिक हैं, शीलवान् नही।। १७।।

सव्वे वि य परिहीणा रूवविरूवा वि वदिदसुवया वि।
सील जेसु सुसील सुजीविद माणुसं तेसिं।। १८।।

जो सभी में हीन हैं अर्थात हीन जाति के हैं, रूप मे विरूप हैं अर्थात् कुरूप हैं और जिनकी अवस्था बीत गई है अर्थात् वृद्धावस्था से युक्त हैं - इन सबक होने पर भी जिनमें सुशील है अर्थात् जो उत्तमशील के धारक हैं उनका मनुष्यपना सुजीवित है - उनका मनुष्य भव उत्तम है।

भावार्थ - जाति रूप, तथा अवस्था की न्यूनता होने पर भी उत्तम शील मनुष्य के जीवन को सफल बना देता है इसलिये सुशील प्राप्त करना चाहिये।। १८।।

जीवदया दम सच्चं अचोरियं बंभचेरसंतोसे।
सम्मद्दंसणणाणं तओ य सीलस्स परिवारो।। १९।।

जीवदया, इन्द्रियदमन, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, सन्तोष, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्तप ये सब शील के ही परिवार हैं।। १९।।

सीलं तवो विसुद्धं दंसणसुद्धी य णाणसुद्धी य।
सीलं विसयाण अरी सीलं मोक्खस्स सोवाणं।। २०।।

शील विशुद्ध तप है, शील दर्शन की शुद्धि है, शील ही ज्ञान की शुद्ध है, शील विषयों का शत्रु है और शील मोक्ष की सीढी है।। २०।।

जह विसय लुद्धविसदो तह थावरजंगमाण घोराणं।
सव्वेसिं पि विणासदि विसयविसं दारुणं होई।। २१।।

जिस प्रकार विषय, लोभी मनुष्य को विष देने वाले हैं - नष्ट करने वाले हैं उसी प्रकार भयंकर स्थावर तथा जंगम - त्रस जीवों का विष भी सबको नष्ट करता है परन्तु विषयरूपी विष अत्यन्त दारुण होता है।

भावार्थ - जिस प्रकार हाथी, मीन, भ्रमर, पतंग तथा हरिण आदि के विषय उन्हें विष की भांति नष्ट कर देते हैं उसी प्रकार स्थावर के विष मोहरा, सोमल आदि और जगम अर्थात् सांप, बिच्छू आदि भयंकर जीवों के विष सभी को नष्ट करते हैं। इस प्रकार जीवों को नष्ट करने की अपेक्षा विषय और विष में समानता है परन्तु विचार करने पर विषयरूपी विष अत्यन्त दारुण होता है। क्योंकि विष से तो जीव का एक भव ही नष्ट होता है और विषय से अनेक भव नष्ट होते हैं।। २१।।

वार एकम्मि य जम्मे मरिज्ज विसवेयणाहदो जीवो।
विसयविसपरिहया णं भमंति संसारकांतारे।। २२।।

विष की वेदना से पीडित हुआ जीव एक जन्म मे एक ही बार मरण को प्राप्त होता है परन्तु विषयरूपी विष से पीडित हुए जीव ससाररूपी अटवी में निश्चय से भ्रमण करते रहते हैं।। २२।।

णरएसु वेयणाओ तिरिक्खए माणुएसु दुक्खाइं।
देवेसु वि दोहग्गं लहंति विसयासता जीवा।। २३।।

विषयासक्त जीव नरकों में वेदनाओं को, तिर्यंच और मनुष्यों में दु खों को तथा देवों में दौर्भाग्य को प्राप्त होते हैं।। २३।।

तुसधम्मतबलेण य जह दव्वं ण हि णराण गच्छेदि।
तवसीलमंत कुसली खवंति विसयं विस व खलं।। २४।।

जिस प्रकार तुषों के उडा देने से मनुष्यो का कोई सारभूत द्रव्य नष्ट नहीं होता उसी प्रकार तप और शील से युक्त कुशल पुरुष विषयरूपी विष को खल के समान दूर छोड देते हैं।

भावार्थ - तुष को उडा देने वाला सूपा आदि तुषध्मत कहलाता है उसके बल से मनुष्य सारभूत द्रव्य को बचाकर तुष को उडा देता है - फेक देता है उसी प्रकार तप और उत्तमशील के धारक पुरुष ज्ञानोपयोग के द्वारा विषयभूत पदार्थों के सार को ग्रहणकर विषयो को खल के समान दूर छोड देते हैं। तप और शील से सहित ज्ञानी जीव इन्द्रियों के विषय को खल के समान समझते हैं जिस प्रकार इक्षु का रस ग्रहण कर लेने पर छिलका फेंक दिया जाता है उसी प्रकार विषयों का सार जानना था सो ज्ञानी जीव इस सार को ग्रहणकर छिलके के समान विषयों का त्याग कर देता है। ज्ञानी मनुष्य विषयों को ज्ञेयमात्र जान उन्हें जानता तो है परन्तु उनमें आसक्त नहीं होता। अथवा एक भाव यह भी प्रकट होता है कि कुशल मनुष्य विषय को दुष्ट विष के समान छोड देते हैं।। २४।।

वट्टेसु य खंडेसु य भद्देसु य विसालेसु अंगेसु।
अंगेसु य पप्पेसु य सव्वेसु य उत्तम सील।। २५।।

इस मनुष्य के शरीर में कोई अग वृत्त अर्थात गोल है, कोई खण्ड अर्थात अर्धगोलाकार है, कोई भद्र अर्थात सरल है और कोई विशाल अर्थात् चौडा है सो इन अगों के यथास्थान प्राप्त होने पर भी सबमें उत्तम अग शील ही है।

भावार्थ - शील के बिना मनुष्य के समस्त अगों की शोभा नि सार है इसलिये विवेकीजन शील की ओर ही लक्ष्य रखते हैं।। २५।।

पुरिसेण वि सहियाए कुसमयमूढेहि विसयलोलेहिं।
संसारे भमिदव्व अरयघरट्टं व भूदेहिं।। २६।।

मिथ्यामत में मूढ हुए कितने ही विषयों के लोभी मनुष्य ऐसा कहते हैं कि हमारा पुरुष - ब्रह्म तो निर्विकार है। विषयों में प्रवृत्ति भूतचतुष्ट की होती है इसलिये उनसे हमारा कुछ बिगाड नहीं है सो यथार्थ बात ऐसी नहीं है क्योंकि उस भूतचतुष्टय रूप शरीर के साथ पुरुष - ब्रह्म को भी अरहट की घडी के समान संसार में भ्रमण करना पडता है।

भावार्थ - जब तक यह जीव शरीर के साथ एकीभाव को प्राप्त हो रहा है तब तक शरीर के साथ इसे भी भ्रमण करना पड़ता है इसलिये मिथ्यामत के चक्र में पडकर अपनी विषयलोलुपता को बढाना श्रेयस्कर नहीं है।। २६ ।।

आदेहि कम्मगंठी जावद्धा विसयरायमोहेहिं।

तं छिंदंति कयत्था तवसंजमसीलयगुणेण।। २७।।

विषय सम्बन्धी राग और मोह के द्वारा आत्मा में जो कर्मों की गाठ बाधी गई है उसे कृतकृत्य - ज्ञानी मनुष्य तप संयम और शील रूप गुण के द्वारा छेदते हैं।। २७।।

उदधी व रदणभरिदो तवविणयसीलदाणरयणाणं।

सोहे तोय ससीलो णिव्वाणमणुत्तरं पत्तो।। २८ ।।

जिस प्रकार समुद्र रत्नों से भरा होता है तो भी तोय अर्थात जल से ही शोभा देता है उसी प्रकार यह जीव भी तप, विनय, शील दान आदि रत्नों से युक्त है तो भी शील से सहित होता ही सर्वोत्कृष्ट निर्वाण को प्राप्त होता है।

भावार्थ - तप, विनय आदि से युक्त होने पर भी यदि मोह और क्षोभ से रहित समता परिणाम रूपी शील प्रकट नही होता है तो मोक्ष की प्राप्ति नही होती इसलिये शील को प्राप्त करना चाहिये।। २८ ।।

सुणहाण गद्दहाण य गोपसुमहिलाण दीसदे मोक्खो।

जे सोधंति चउत्थं पिच्छिज्जता जणेहि सव्वेहि।। २९।।

सब लोग देखो, क्या कुत्ते गधे, गाय आदि पशु तथा स्त्रियों को मोख देखने में आता है ? अर्थात् नहीं आता। किन्तु चतुर्थ पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष का जो साधन करते हैं उन्ही का मोक्ष देखा जाता है।

भावार्थ - बिना शील के मोक्ष नही होता है। यदि शील के बिना भी मोक्ष होता तो कुत्ते, गधे, गाय आदि पशु और स्त्रियों को भी मोक्ष होता परन्तु नहीं होता। यहा काकु द्वारा आचार्य ने "दृश्यते" क्रिया का प्रयोग किया है इसलिये उसका निषेधपरक अर्थ होता है। अथवा "चउत्थ" के स्थान पर "चउक्क" पाठ ठीक जान पडता है उसका अर्थ होता है - क्रोधादि चार कषायों को शोधते हैं - दूर करते हैं अर्थात् कषायों को दूर कर शील से - वीतराग भाव से सहित होते हैं वे ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं।। २९।।

जइ विसयलोलएहि णाणीहि हविज्ज साहिदो मोक्खो।

तो सो सुरत्तपुत्तो दसपुव्वीओ वि किं गदो णरयं।। ३०।।

यदि विषयों के लोभी ज्ञानी मनुष्य मोक्ष को प्राप्त कर सकते होते तो दशपूर्वों का पाठी रुद्र नरक क्यों जाता ?

भावार्थ - विषयों के लोभी मनुष्य शील से रहित होते हैं अत ग्यारह अंग और नौ पूर्व का ज्ञान होने पर भी मोक्ष से वंचित रहते हैं। इसके विपरीत शीलवान् मनुष्य अष्टप्रवचन मातृका के जघन्य ज्ञान से भी अन्तर्मुहूर्त के भीतर केवलज्ञानी होकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है। शील की - वीतरागभाव की कोई अद्भुत महिमा है।। ३०।।

जइ णाणेण विसोहो सीलेण विणा बुहेहि णिद्दिट्ठो।
दस पुव्विस्स य भावो ण कि पुण णिम्मलो जादो।। ३१।।

यदि विद्वान् शील के बिना मात्र ज्ञान से भाव को शुद्ध हुआ कहते हैं तो दशपूर्व के पाठी रुद्र का भाव निर्मल - शुद्ध क्यों नहीं हो गया ?

भावार्थ - मात्र ज्ञान से भाव की निर्मलता नहीं होती। भाव की निर्मलता के लिये राग, द्वेष और मोह के अभाव की आवश्यकता होती है। राग, द्वेष और मोह के अभाव से भाव की जो निर्मलता होती है वही शील कहलाती है। इस शील से ही जीव का कल्याण होता है।। ३१।।

जाए विसयविरत्तो सो गमयदि णरयवेयणां पउरां।
ता लेहदि अरुहपयं भणियं जिणवड्ढमाणेण।। ३२।।

जो विषयों से विरक्त है वह नरक की भारी वेदना को दूर हटा देता है तथा अरहन्त पद को प्राप्त करता है ऐसा वर्धमान जिनेन्द्र ने कहा है।

भावार्थ - जिनागम में ऐसा कहा है कि तीसरे नरक तक से निकलकर जीव तीर्थंकर हो सकता है सो सम्यग्दृष्टि मनुष्य नरक में रहता हुआ भी अपने सम्यक्त्व के प्रभाव से नरक की उस भारी वेदना का अनुभव नहीं करता - उसे अपनी नहीं मानता और वहा से निकलकर तीर्थंकर पद को प्राप्त होता है यह सब शील की ही महिमा है।। ३२।।

एवं बहुप्पयारं जिणेहि पच्चक्खणाणदरिसीहिं।
सीलेण य मोक्खपय अक्खातीदं च लोयणाणेहि।। ३३।।

इस प्रकार प्रत्यक्षज्ञान और प्रत्यक्षदर्शन से युक्त लोक के ज्ञाता जिनेन्द्र भगवान ने अनेक प्रकार के कथन किया है कि अतीन्द्रिय मोक्षपद शील से प्राप्त होता है।। ३३।।

सम्मत्तणाणदसणतववीरियपंचयारमप्पाणं।
जलणो वि पवणसहिदो डहति पोराणय कम्म।। ३३।।

सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, तप और वीर्य ये पंच आचार पवन सहित अग्नि के समान जीवो के पुरातन कर्मों को दग्ध कर देते हैं।। ३४।।

णिद्दट्ठअट्ठकम्मा विसयविरत्ता जिदिंदिया धीरा।
तवविणयसीलसहिदा सिद्धा सिद्धिगदि पत्ता।। ३५।।

जिन्होंने इन्द्रियो को जीत लिया है, जो विषयों से विरक्त हैं, धीर हैं अर्थात् परिषहादि के आने पर विचलित नही होते हैं, जो तप, विनय और शील से सहित हैं ऐसे जीव आठ कर्मों का समग्र रूप से दग्धकर सिद्धि गति को प्राप्त होते हैं। उनकी सिद्ध सज्ञा है।। ३५।।

लावण्णसीकुसलो जम्ममहीरुहो जस्स सवणस्स।
सो सीलो स महप्पा भमित्थ गुणवित्थरो भविए।। ३६।।

जिस मुनि का जन्म रूपी वृक्ष लावण्य और शील से कुशल है वह शीलवान् है, महात्मा है तथा उसके गुणों का विस्तार लोक में व्याप्त होता है।

भावार्थ - जिस मुनि का जन्म जीवों को अत्यन्त प्रिय है तथा समता भाव रूप शील से सुशोभित है

वही मुनि शीलवान् कहलाता है, वही महात्मा कहलाता है और उसी के गुण लोक में विस्तार को प्राप्त होते हैं।। ३६।।

णाणं झाणं जोगो दसणसुद्धी य वीरियावत्त।
सम्मत्तदंसणेण य लहंति जिणसासणे बोहि।। ३७।।

ज्ञान, ध्यान, योग और दर्शन की शुद्ध - निरतिचार प्रवृत्ति ये सब वीर्य के आधीन हैं और सम्यग्दर्शन के द्वारा जीव जिनशासन सम्बन्धी बोधि - रत्नत्रय रुप परिणति को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ - आत्मा में वीर्यगुण का जैसा विकास होता है उसी के अनुरुप ज्ञान, ध्यान, योग और दर्शन की शुद्धता होती है तथा सम्यग्दर्शन के द्वारा जीव जिनशासन मे बोधि - रत्नत्रय का जैसा स्वरुप बतलाया है उस रुप परिणति को प्राप्त होता है।। ३७।।

जिणवयणगहिदसारा विसयविरत्ता तवोधणा धीरा।
सीलसलिलेण ण्हावा ते सिद्धालयसुहं जति।। ३८।।

जिन्होंने जिनेन्द्र देव के वचनों से सार ग्रहण किया है, जो विषयो से विरक्त हैं जो तप को धन मानते है धीर-वीर हैं और जिन्होंने शील रुपी जल मे स्नान किया है वे सिद्धालय के सुख को प्राप्त होते हैं।। ३८।।

सव्वगुणखीणकम्मा सुहदुक्खविवज्जिदा मणविसुद्धा।
पप्फोडियकम्मरया हवंति आराहणापयडा।। ३९।।

जिन्होंने समस्त गुणों से कर्मों को क्षीण कर दिया है, जो सुख और दु ख से रहित हैं मन से विशुद्ध हैं और जिन्होंने कर्मरुपी धूलि को उडा दिया है ऐसे आराधनाओं को प्रकट करने वाले होते हैं।। ३९।।

अरहंते सुहभत्ती सम्मत्तं दंसणेण सुविसुद्धं।
सीलं विसयविरागो णाण पुण केरिसं भणियं।। ४०।।

अरहन्त भगवान् में शुभभक्ति होना सम्यक्त्व है, यह सम्यक्त्व तत्वार्थश्रद्धान से अत्यन्त शुद्ध है और विषयो से विरक्त होना ही शील है। ये दोनों ही ज्ञान हैं, इनसे अतिरिक्त ज्ञान कैसा कहा गया है ?

भावार्थ - सम्यक्त्व और शील से सहित जो ज्ञान है वही ज्ञान, ज्ञान है, इनसे रहित ज्ञान कैसा ? अन्यमतों में ज्ञान को सिद्धि का कारण कहा गया है परन्तु जिस ज्ञान के साथ सम्यक्त्व तथा शील नही है वह अज्ञान है, उस अज्ञान रुप ज्ञान से मुक्ति नही हो सकती।। ४०।।

इस प्रकार कुन्दकुन्दाचार्य विरचित शीलपाहुड समाप्त हुआ।

* * *

बारसणुवेक्खा [द्वादशानुप्रेक्षा]

मंगलाचरण और प्रतिज्ञावाक्य

णमिऊण सव्वसिद्धे झाणुत्तमखविददीहसंसारे।

दस दस दो दो व जिणे दस दो अणुपेहणं वोच्छे।। १ ।।

जिन्होंने उत्तमध्यान के द्वारा दीर्घ संसार का नाश कर दिया है ऐसे समस्त सिद्धों तथा चौबीस तीर्थकरों को नमस्कार कर बारह अनुप्रेक्षाओं को कहूंगा।। १ ।।

बारह अनुप्रेक्षाओं के नाम

अद्धुवमसरणमेगत्तमण्णसंसारलोगमसुचित्तं।

आसवसंवरणिज्जरधम्मं बोहिं च चिंतेज्जो।। २ ।।

अध्रुव, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार लोक, अशुचित्व, आस्रव, संवर निर्जरा धर्म और बोधि इन बारह अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करना चाहिये।। २ ।।

अध्रुव अनुप्रेक्षा

वरभवणजाणवाहणसयणासणदेवमणुवरायाणं।

मादुपिदुसजणभिच्चसंबंधिणो य पिदिवियाणिच्चा।। ३ ।।

उत्तम भवन यान, वाहन, शयन, आसन, देव, मनुष्य, राजा, माता पिता कुटुम्बी और सेवक आदि सभी अनित्य तथा पृथक हो जाने वाले हैं।। ३ ।।

सामग्गिंदियरूवं आरोग्गं जोव्वणं बलं तेजं।

सोहग्ग लावण्णं सुरधणुमिव सस्सयं ण हवे।। ४ ।।

सब प्रकार की सामग्री - परिग्रह, इन्द्रियां, रूप, निरोगता, यौवन, बल तेज, सौभाग्य और सौन्दर्य ये सब इन्द्र धनुष के समान-शाश्वत् रहने वाले नहीं हैं अर्थात् सब नश्वर हैं।। ४ ।।

जलबुब्बुदसक्कधणुखणरुचिघणसोहमिव थिरं ण हवे।

अहमिंदट्ठाणाइं बलदेवप्पहुदिपज्जाया।। ५ ।।

अहमिन्द्र के पद और बलदेव आदि की पर्यायें जल के बबूले, इन्द्रधनुष, बिजली और मेघ की शोभा के समान स्थिर रहने वाली नहीं हैं।। ५ ।।

जीवणिबद्धं देहं खीरोदयमिव विणस्सदे सिग्घं।

भोगोपभोगकारणदव्वं णिच्चं कहं होदि।। ६ ।।

जब दूध और पानी की तरह जीव के साथ मिला हुआ शरीर शीघ्र नष्ट हो जाता है तब भोगोपभोग का कारणभूत द्रव्य - स्त्री आदि परिकर नित्य कैसे हो सकता है ?।। ६ ।।

परमट्ठेण दु आदा देवासुरमणुवरायविभवेहिं।

वदिरित्तो सो अप्पा सस्सदमिदि चिंतए णिच्चं।। ७ ।।

परमार्थ से आत्मा देव, असुर और नरेन्द्रों के वैभवों से भिन्न है और वह आत्मा शाश्वत है ऐसा निरन्तर चिन्तन करना चाहिये।। ७।।

अशरणानुप्रेक्षा

मणिमंतोसहरक्खा हयगयरहओ य सयलविज्जाओ।
जीवाणं ण हि सरणं तिसु लोए मरणसमयम्हि।। ८।।

मरण के समय तीनों लोकों में मणि, मन्त्र, औषधि, रक्षक सामग्री, हाथी, घोडे, रथ और समस्त विद्याए जीवों के लिये शरण नही हैं, अर्थात् मरण से बचाने में समर्थ नही हैं।। ८।।

सग्गो हवे हि दुग्गं भिच्चा देवा य पहरणं वज्जं।
अइरावणो गइंदो इंदस्स ण विज्जदे सरणं।। ९।।

स्वर्ग ही जिसका किला है देव सेवक हैं, वज्र शस्त्र है और ऐरावत गजराज है उस इन्द्र का भी कोई शरण नही है - उसे भी मृत्यु से बचाने वाला कोई नहीं है।। ९।।

णवणिहि चउदहरयण हयमत्तगइंदचाउरंगबल।
चक्केसस्स ण सरणं पेच्छतो कद्दये कालो।। १०।।

नौ निधिया चौदह रत्न, घोडे मत्तहाथी और चतुरगिणी सेना चक्रवर्ती के लिये शरण नही है। देखते-देखते काल उसे नष्ट कर देता है।। १०।।

जाइजरामरणरोगभयदो रक्खेदि अप्पणो अप्पा।
तम्हा आदा सरणं बधोदयसत्तकम्मवदिरित्तो।। ११।।

जिस कारण आत्मा ही जन्म, जरा मरण, रोग और भय से आत्मा की रक्षा करता है उस कारण बन्ध, उदय और सत्ता रूप अवस्था को प्राप्त कर्मों से पृथक् रहने वाला आत्मा ही शरण है - आत्मा की निष्कर्म अवस्था ही उसे जन्म-जरा आदि से बचाने वाली है।। ११।।

अरुहा सिद्धाइरिया उवज्झाया साहु पंचपरमेट्ठी।
ते वि हु चिट्ठदि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं।। १२।।

अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पाच परमेष्ठी हैं। चूकि ये परमेष्ठी रूप परिणमन करता है इसलिये आत्मा ही मेरा शरण है।। १२।।

सम्मत्त सण्णाण सच्चारित्तं च सत्तवो चेव।
चउरो चिट्ठदि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं।। १३।।

चूकि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप ये चारों भी आत्मा में स्थित हैं इसलिये आत्मा ही मेरा शरण है।। १३।।

एकत्वानुप्रेक्षा

एक्को करेदि कम्मं एक्को हिंडदि य दीहसंसारे।
एक्को जायदि मरदि य तस्स फलं भुंजदे एक्को।। १४।।

जीव अकेला ही कर्म करता है, अकेला ही दीर्घ संसार में भ्रमण करता है, अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही मरता है और अकेला ही कर्म का फल भोगता है।। १४।।

एक्को करेदि पावं विसयणिमित्तेण तिव्वलोहेण।
णिरयतिरियेसु जीवो तस्स फलं भुंजदे एक्को।। १५।।

विषयों के निमित्त तीव्र लोभ से जीव अकेला ही पाप करता है और नरक तथा तिर्यंचगति मे अकेला ही उसका फल भोगता है।। १५।।

एक्को करेदि पुण्ण धम्मणिमित्तेण पत्तदाणेण।
मणुवदेवेसु जीवो तस्स फलं भुंजदे एक्को।। १६।।

धर्म के निमित्त पात्रदान के द्वारा जीव अकेला ही पुण्य करता है और मनुष्य तथा देवों में अकेला ही उसका फल भोगता है।। १६।।

पात्र के तीन भेदों तथा अपात्र का वर्णन

उत्तमपत्तं भणियं सम्मत्तगुणेण सजुदो साहू।
सम्मादिट्ठी सावय मज्झिमपत्तो हु विण्णेओ।। १७।।
णिद्दिट्ठो जिणसमये अविरदसम्मो जहण्णपत्तो त्ति।
सम्मत्तरयणरहिओ अपत्तमिदि संपरिक्खेज्जो।। १८।।

सम्यक्त्वरूपी गुण से युक्त साधु को उत्तम पात्र कहा है, सम्यग्दृष्टि श्रावक को मध्यम पात्र जानना चाहिये जिनागम में अविरत सम्यग्दृष्टि को जघन्य पात्र कहा गया है और जो सम्यग्दर्शन रूपी रत्न से रहित है वह अपात्र है इस प्रकार पात्र और अपात्र की अच्छी तरह परीक्षा करनी चाहिये।। १७-१८।।

दंसणभट्टा भट्टा दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झंति चरियभट्टा दंसणभट्टा ण सिज्झंति।। १९।।

जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं वे ही भ्रष्ट हैं, सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट मनुष्य का मोक्ष नहीं होता। जो चारित्र से भ्रष्ट हैं वे तो (पुन चारित्र धारण कर लेने पर) सिद्ध हो जाते हैं परन्तु जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट है व सिद्ध नही हो सकते।

भावार्थ - जो मनुष्य सम्यग्दृष्टि तो है परन्तु चारित्रमोह का तीव्र उदय आ जाने के कारण चारित्र से भ्रष्ट हो गया है वह पुन चारित्र को धारण कर मोक्ष प्राप्त कर लेता है परन्तु जो सम्यग्दर्शन से भी भ्रष्ट हो गया है उसका मोक्ष प्राप्त करना सरल नही है।। १९।।

एक्कोहं णिम्ममो सुद्धो णाणदंसणलक्खणो।
सुद्धेयत्तमुपादेयमेवं चिंतेइ संजदो।। २०।।

मैं अकेला हू, ममत्व से रहित हू, शुद्ध हू तथा ज्ञान-दर्शन रूप लक्षण से युक्त हू इसलिये शुद्ध एकत्वभाव ही उपादेय है - ग्रहण करने के योग्य है इस प्रकार संयमी-साधु को सदा विचार करते रहना चाहिये।। २०।।

अन्यत्वानुप्रेक्षा

मादापिदरसहोदरपुत्तकलत्तादिबंधुसंदोहो।
जीवस्स ण संबंधो णियकज्जवसेण वट्टंति।। २१।।

माता, पिता, सगा भाई, पुत्र तथा स्त्री आदि बन्धुजनों-इष्टजनों का समूह जीव से सम्बन्ध रखने

वाला नहीं है। ये सब अपने कार्य के वश साथ रहते हैं।। २१।।

अण्णो अण्णं सोयदि मदो त्ति मम णाहगो त्ति मण्णंतो।
अप्पाणं ण हु सोयदि संसारमहण्णवे बुड्डं।। २२।।

"यह मेरा स्वामी था, यह मर गया" इस प्रकार मानता हुआ अन्य जीव अन्य जीव के प्रति शोक करता है परन्तु ससार रूपी महासागर में डूबते हुए अपने आपके प्रति शोक नही करता।। २२।।

अण्णं इमं सरीरादिगं पि होज्ज बाहिरं दव्वं।
णाणं दंसणमादा एवं चिंतेहिं अण्णत्तं।। २३।।

यह जो शरीरादिक बाह्य द्रव्य है वह सब मुझसे अन्य है, ज्ञान-दर्शन ही आत्मा है अर्थात् ज्ञान-दर्शन ही मेरे है इस प्रकार अन्यत्व भावना का चिन्तन करो।। २३।।

संसारानुप्रेक्षा

पंचविहे संसारे जाइजरामरणरोगभयपउरे।
जिणमग्गमपेच्छंतो जीवो परिभमदि चिरकालं।। २४।।

जिन भगवान् के द्वारा प्रणीत मार्ग की प्रतीति को नहीं करता हुआ जीव, चिरकाल से जन्म जरा मरण, रोग और भय से परिपूर्ण पांच प्रकार के ससार में परिभ्रमण करता रहता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल भव और भाव ये पाच परिवर्तन ही पांच प्रकार का ससार कहलाते हैं।। २४।।

सव्वे वि पोग्गला खलु एगे भुत्तुज्झिया हु जीवेण।
असयं अणंतखुत्तो पुग्गलपरियट्टसंसारे।। २५।।

पुद्गल परिवर्तन (द्रव्यपरिवर्तन) रूप ससार में इस जीव ने अकेले ही समस्त पुदगलों को अनन्त बार भोगकर छोड दिया है।। २५।।

क्षेत्र परिवर्तन का स्वरूप

सव्वम्हि लोयखेत्ते कमसो तं णत्थि जं ण उप्पण्णं।
उग्गाहणेण बहुसो परिभमिदो खेत्तसंसारे।। २६।।

समस्त लोकरूपी क्षेत्र में ऐसा कोई स्थान नहीं है जहां यह क्रम से उत्पन्न न हुआ हो। समस्त अवगाहनाओं के द्वारा इस जीव ने क्षेत्र ससार में अनेक बार परिभ्रमण किया है।

भावार्थ - क्षेत्र परिवर्तन के स्वक्षेत्र परिवर्तन और परक्षेत्र परिवर्तन की अपेक्षा दो भेद है। समस्त लोकाकाश में क्रम से उत्पन्न हो लेने में जितना समय लगता है वह परक्षेत्र परिवर्तन है और क्रम से जघन्य अवगाहना से लेकर उत्कृष्ट अवगाहना तक धारण करने मे जितना समय लगता है उतना स्वक्षेत्र परिवर्तन है। इस गाथा में दोनों प्रकार के क्षेत्र परिवर्तनों की चर्चा की गई है।। २६।।

काल परिवर्तन का स्वरूप

अवसप्पिणिउस्सप्पिणिसमयावलियासु णिरवसेसासु।
जादो मुदो य बहुसो परिभमिदो कालसंसारे।। २७।।

यह जीव अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल की समस्त समयावलियों में उत्पन्न हुआ है तथा मरा है इस तरह इसने काल संसार में अनेक बार परिभ्रमण किया है।। २७।।

भव परिवर्तन का स्वरूप

णिरयाउजहण्णादिसु जाव दु उवरिल्लया दु गेवेज्जा।
मिच्छत्तसंसिदेण दु बहुसो वि भवट्ठिदी भमिदो।। २८।।

मिथ्यात्व के आश्रय से इस जीव ने नरक की जघन्य आयु से लेकर उपरिम ग्रैवेयक तक की भवस्थिति को धारण कर अनेक बार भ्रमण किया है।

भावार्थ - नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति में जघन्य से लेकर उत्कृष्ट आयु तक को क्रम से प्राप्त कर लेने में जितना समय लगता है उतने समय को भवपरिवर्तन कहते हैं। नरकगति की जघन्य स्थिति दश हजार वर्ष की और उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर की है। मनुष्य और तिर्यंचगति की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य की है। तथा देवगति की जघन्य स्थिति दश हजार वर्ष की और उत्कृष्ट तेतीस सागर की है। परन्तु मिथ्यादृष्टि जीव की उत्पत्ति देवगति में इकतीस सागर की आयु से युक्त उपरिम ग्रैवेयक तक ही होती है। इसलिये देवगति में भवस्थिति की अन्तिम सीमा ग्रैवेयक तक ही बतलाई गई है।। २८।।

भाव परिवर्तन का स्वरूप

सव्वे पयडिट्ठिदिओ अणुभागपदेसबंधठाणाणि।
जीवो मिच्छत्तवसा भमिदो पुण भावसंसारे।। २९।।

इस जीव ने मिथ्यात्व के वश समस्त कर्मप्रकृतियों की सब स्थितियों, सब अनुभागबन्ध स्थानों और सब प्रदेशबन्ध स्थानों को प्राप्तकर बार-बार भाव संसार में परिभ्रमण किया है।

भावार्थ - ज्ञानावरणादि समस्त कर्म प्रकृतियों के जघन्यस्थिति बन्ध से लेकर उत्कृष्ट स्थिति बन्ध तक के योग्य समस्त कषायाध्यवसायस्थान, समस्त अनुभागाध्यवसाय स्थान और समस्त योगस्थानों को प्राप्त कर लेना भावसंसार है। ये पांचों परिवर्तन ही पांच प्रकार के संसार हैं। इन ससारों में जीव का परिभ्रमण मिथ्यात्व के कारण होता है।। २९।।

पुत्तकलत्तणिमित्तं अत्थं अज्जयदि पापबुद्धीए।
परिहरदि दयादाण सो जीवो भमदि संसारे।। ३०।।

जो जीव पुत्र तथा स्त्री के निमित्त पाप बुद्धि से धन कमाता है और दयादान का परित्याग करता है वह ससार में भ्रमण करता है।। ३०।।

मम पुत्तं मम भज्जा मम धणधण्णो त्ति तिव्वकंखाए।
चइऊण धम्मबुद्धिं पच्छा परिपडदि दीहसंसारे।। ३१।।

जो जीव, यह मेरा पुत्र है, यह मेरी स्त्री है, यह मेरा धनधान्य है इस प्रकार की तीव्र आकाक्षा से धर्म बुद्धि को छोडता है वह पीछे दीर्घ संसार में पड़ता है।। ३१।।

मिच्छोदयेण जीवो णिंदंतो जोण्हभासियं धम्मं।
कुधम्मकुलिंगकुतित्थं मण्णंतो भमदि संसारे।। ३२।।

मिथ्यात्व के उदय से यह जीव जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कथित धर्म की निन्दा करता हुआ तथा कुधर्म, कुलिंग और कुतीर्थ को मानता हुआ संसार में भ्रमण करता है।। ३२।।

हंतूण जीवरासिं महुमंसं सेविऊण सुरपाण।
परदव्वपरकलत्तं गहिऊण य भमदि संसारे।। ३३।।

जीवराशि का घातकर, मधु, मांस और मदिरा का सेवन कर तथा परद्रव्य और परस्त्री को ग्रहणकर यह जीव संसार में भ्रमण करता है।। ३३।।

जत्तेण कुणइ पाव विसयणिमित्तं च अहणिस जीवो।
मोहंधयारसहिओ तेण दु परिपडदि संसारे।। ३४।।

मोहरूपी अन्धकार से सहित जीव विषयों के निमित्त यत्नपूर्वक पाप करता है और उससे संसार में पडता है।। ३४।।

णिच्चिदरधादुसत्तय तरुदसवियलिंदिएसु छच्चेव।
सुरणिरयतिरियचउरो चोद्दस मणुए सदसहस्सा।। ३५।।

नित्य निगोद, इतर निगोद, पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक और वायुकायिक इन छह प्रकार के जीवों में प्रत्येक की सात-सात लाख, प्रत्येक वनस्पतिकायिक की दश लाख, विकलेन्द्रियों की छह लाख, देव, नारकी तथा पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में प्रत्येक की चार-चार लाख और मनुष्यों की चौदह लाख इस प्रकार सब मिला कर चौरासी लाख योनियां हैं इनमें संसारी जीव भ्रमण करता है।। ३५।।

संजोगविप्पजोगं लाहालाहं सुहं च दुक्खं च।
संसारे भूदाणं होदि हु माणं तहावमाणं च।। ३६।।

संसार में जीवों को संयोग-वियोग, लाभ-अलाभ, सुख-दुःख तथा मान-अपमान प्राप्त होते हैं।। ३६।।

कम्मणिमित्त जीवो हिंडदि संसारघोरकंतारे।
जीवस्स ण संसारो णिच्चयणयकम्मविमुक्को।। ३७।।

कर्मों के निमित्त से यह जीव संसार रूपी भयानक वन में भ्रमण करता है किन्तु निश्चयनय से जीव कर्मों से रहित है इसलिये उसका संसार भी नही है।

भावार्थ - जीव के संसारी और मुक्त भेद व्यवहारनय से बनते हैं निश्चयनय से नही बनते क्योंकि निश्चयनय से जीव और कर्म दोनों भिन्न-भिन्न द्रव्य हैं।। ३७।।

संसारमदिक्कंतो जीवोवादेयमिति विचिंतेज्जो।
संसारदुहक्कंतो जीवो सो हेयमिति विचिंतेज्जो।। ३८।।

संसार से छूटा हुआ जीव उपादेय है ऐसा विचार करना चाहिये और संसार के दुःखों से आक्रान्त जीव छोडने योग्य है ऐसा चिन्तन करना चाहिये।। ३८।।

लोकानुप्रेक्षा

जीवादिपयट्ठाणं समवाओ सो णिरुच्चए लोगो।
तिविहो हवेइ लोगो अहमज्झिमउड्ढभेएण।। ३९।।

जीव आदि पदार्थों का जो समूह है वह लोक कहा जाता है। अधोलोक, मध्यमलोक और ऊर्ध्वलोक के भेद से लोक तीन प्रकार का होता है।। ३९।।

णिरया हवंति हेट्ठा मज्झे दीवंबुरासयो संखा।
सग्गो तिसट्ठिभेओ एत्तो उड्ढं हवे मोक्खो।। ४०।।

नीचे नरक है, मध्य में असंख्यात द्वीपसमुद्र है ऊपर त्रेसठ भेदों से युक्त स्वर्ग है और इनके ऊपर मोक्ष है।।४०।।

स्वर्ग के त्रेसठ भेदों का वर्णन

इगतीस सत्त चत्तारि दोण्णि एक्केक्क छक्क चदुकप्पे।
तित्तिय एक्केक्केंदियणामा उडुआदि तेसट्ठी।।४१।।

सौधर्म और ऐशान कल्प में इकतीस, सनत्कुमार और माहेन्द्र कल्प में सात, ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर कल्प में चार, लान्तव और कापिष्ठ कल्प में दो, शुक्र और महाशुक्र कल्प में एक, शतार और सहस्रार कल्प में एक तथा आनत, प्राणत, आरण और अच्युत इन अन्त के चार कल्पों में छह इस तरह सोलह कल्पों में कुल ५२ पटल हैं। इनके आगे अधोग्रैवेयक, मध्यमग्रैवेयक और उपरिमग्रैवेयकों के त्रिक में प्रत्येक के तीन-तीन अर्थात् नौ ग्रैवेयकों के नौ, अनुदिशों का एक और अनुत्तरविमानों का एक पटल है इस तरह सब मिलाकर ऋतु आदि त्रेसठ पटल हैं।।४१।।

असुहेण णिरयतिरियं सुहउवजोगेण दिविजणरसोक्खं।
सुद्धेण लहइ सिद्धिं एवं लोयं विचिंतिज्जो।।४२।।

अशुभोपयोग से नरक और तिर्यञ्चगति प्राप्त होती है, शुभोपयोग से देव और मनुष्यगति का सुख मिलता है और शुद्धोपयोग से जीव मुक्ति को प्राप्त होता है - इस प्रकार लोक का विचार करना चाहिये।।४२।।

अशुचित्वानुप्रेक्षा

अट्ठीहिं पडिबद्धं मंसविलित्तं तएण ओच्छण्णं।
किमिसंकुलेहिं भरियमचोक्खं देहं सयाकालं।।४३।।

यह शरीर हड्डियों से बना है, मांस से लिपटा है, चर्म से आच्छादित है, कीटसमूहों से भरा है और सदा मलिन रहता है।।४३।।

दुग्गंधं बीभच्छं कलिमलभरिदं अचेयणं मुत्तं।
सडणप्पडणसहावं देहं इदि चिंतए णिच्चं।।४४।।

यह शरीर दुर्गन्ध से युक्त है, घृणित है, गन्दे मल से भरा हुआ है, अचेतन है, मूर्तिक है तथा सडना और गलना स्वभाव से सहित है ऐसा सदा चिन्तन करना चाहिये।।४४।।

रसरुहिरमंसमेदट्ठीमज्जसंकुलं पुत्तपूयकिमिबहुलं।
दुग्गंधमसुचि चम्ममयमणिच्चमचेयणं पडणं।।४५।।

यह शरीर रस, रुधिर, मांस, चर्बी, हड्डी तथा मज्जा से युक्त है, मूत्र, पीव और कीडों से भरा है, दुर्गन्धित है, अपवित्र है, चर्ममय है, अनित्य है, अचेतन है और पतनशील है - नश्वर है।।४५।।

देहादो वदिरित्तो कम्मविरहिओ अणंतसुहणिलयो।
चोक्खो हवेइ अप्पा इदि णिच्चं भावणं कुज्जा।।४६।।

आत्मा इस शरीर से भिन्न है, अनन्त सुखों का भण्डार है तथा श्रेष्ठ है इस प्रकार निरन्तर भावना करनी चाहिये।।४६।।

आस्रवानुप्रेक्षा

मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य आसवा होंति।
पण पण चउतियभेदा सम्मं परिकित्तिदा समए।। ४७।।

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग से आस्रव है। उक्त मिथ्यात्व आदि आस्रव क्रम से पांच, पांच, चार और तीन भेदों से युक्त है आगम में इनका अच्छी तरह वर्णन किया गया है।। ४७।।

मिथ्यात्व तथा अविरति के पाच भेद

एयंतविणयविवरियसंसयमण्णाणमिदि हवे पंच।
अविरमणं हिंसादी पंचविहो सो हवइ णियमेण।। ४८।।

एकान्त, विनय, विपरीत, सशय और अज्ञान यह पाच प्रकार का मिथ्यात्व है तथा हिंसा आदि के भेद से पांच प्रकार की अविरति नियम से होती है।। ४८।।

चार कषाय और तीन योग

कोहो माणो माया लोहो वि य चउव्विहं कसायं खु।
मण वचिकाएण पुणो जोगो तिवियप्पमिदि जाणे।। ४९।।

क्रोध, मान, माया और लोभ यह चार प्रकार की कषाय है। तथा मन, वचन और काय के भेद से योग के तीन भेद हैं यह जानना चाहिये।। ४९।।

असुहेदरभेदेण दु एक्केक्कं वण्णिदं हवे दुविहं।
आहारादी सण्णा असुहमण इदि विजाणेहि।। ५०।।

मन वचन, काय इन तीनों योगों में से प्रत्येक योग अशुभ और शुभ के भेद से दो प्रकार का कहा गया है। आहार आदि सज्ञाओं का होना अशुभ मन है ऐसा जानो।। ५०।।

किण्हादि तिण्णि लेस्सा करणजसोक्खेसु गिद्धिपरिणामो।
ईसा विसादभावो असुहमणं त्ति य जिणा वेंति।। ५१।।

कृष्णादि तीन लेश्याए, इन्द्रियजन्य सुखों में तीव्र लालसा, ईर्ष्या तथा विषादभाव अशुभमन है ऐसा जिनेन्द्र देव जानते हैं।। ५१।।

रागो दोसो मोहो हस्सादिणोकसायपरिणामो।
थूलो व सुहुमो वा असुहमणो त्ति य जिणा होंति।। ५२।।

राग, द्वेष, मोह तथा हास्यादिक नोकषायरूप परिणाम चाहे स्थूल हो चाहे सूक्ष्म, अशुभमन हैं ऐसा जिनेन्द्रदेव जानते हैं।। ५२।।

भत्तित्थिरायचोरकहाओ वयणं वियाण असुहमिदि।
बंधणछेदणमारणकिरिया सा असुहकायेत्ति।। ५३।।

भक्तकथा, स्त्रीकथा, राजकथा और चोरकथा अशुभ वचन है ऐसा जानो। तथा बन्धन, छेदन और मारणरूप जो क्रिया है वह अशुभकाय है।। ५३।।

मोत्तूण असुहभावं पुव्वुत्तं णिरवसेसदो दव्वं।
वदसमिदिसीलसंजमपरिणामं सुहमणं जाणे।। ५४।।

पहले कहे हुए अशुभभाव तथा अशुभ द्रव्य को सम्पूर्णरूप से छोडकर व्रत, समिति, शील और संयम रूप परिणामों का होना शुभमन है ऐसा जानो।।५४।।

संसारछेदकारणवयणं सुहवयणमिदि जिणुद्दिट्ठं।

जिणदेवादिसु पूजा सुहकायं त्ति य हवे चेट्ठा।।५५।।

जो वचन संसार का छेद करने में कारण है वह शुभवचन है ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है। तथा जिनेन्द्रदेव आदि की पूजा रूप जो चेष्टा - शरीर की प्रवृत्ति है वह शुभकाय है।।५५।।

जम्मसमुद्दे बहुदोसवीचिये दुक्खजलचराकिण्णे।

जीवस्स परिब्भमणं कम्मासवकारणं होदि।।५६।।

अनेक दोषरूपी तरंगों से युक्त तथा दुःखरूपी जलचर जीवों से व्याप्त संसार रूपी समुद्र में जीव का जो परिभ्रमण होता है वह कर्मास्रव के कारण होता है। अर्थात् कर्मास्रव के कारण ही जीव संसार समुद्र में परिभ्रमण करता है।।५६।।

कम्मासवेण जीवो बूडदि संसारसागरे घोरे।

जं णाणवसं किरिया मोक्खणिमित्तं परंपरया।।५७।।

कर्मास्रव के कारण जीव संसाररूपी भयंकर समुद्र में डूब रहा है। जो क्रिया ज्ञानवश होती है वह परम्परा से मोक्ष का कारण होती है।।५७।।

आसवहेदू जीवो जम्मसमुद्दे णिमज्जदे खिप्पं।

आसवकिरिया तम्हा मोक्खणिमित्तं ण चिंतेज्जो।।५८।।

आस्रव के कारण जीव संसार रूपी समुद्र में शीघ्र डूब जाता है इसलिये आस्रव रूप क्रिया मोक्ष का निमित्त नहीं है ऐसा विचार करना चाहिये।

भावार्थ - अशुभास्रव रूप क्रिया तो मोक्ष का कारण है ही नहीं, परन्तु शुभास्रव रूप क्रिया भी मोक्ष का कारण नहीं है ऐसा चिन्तन करना चाहिये।।५८।।

पारंपज्जाएण दु आसवकिरियाए णत्थि णिव्वाणं।

संसारगमणकारणमिदि णिंदं आसवो जाण।।५९।।

परम्परा से भी आस्रव रूप क्रिया के द्वारा निर्वाण नहीं होता। आस्रव ससारगमन का ही कारण है इसलिये निन्दनीय है ऐसा जानो।।५९।।

पुव्वुत्तासवभेदा णिच्छयणयएण णत्थि जीवस्स।

उहयासवणिम्मुक्कं अप्पाणं चिंतए णिच्चं।।६०।।

पहले जो आस्रव के भेद कहे गये हैं वे निश्चयनय से जीव के नहीं हैं। इसलिये आत्मा को दोनों प्रकार के आस्रवों से रहित ही निरन्तर विचारना चाहिये।।६०।।

संवरानुप्रेक्षा

चलमलिणमगाढं च वज्जिय, सम्मत्तदिढकवाडेण।

मिच्छत्तासवदारणिरोहो होदि त्ति जिणेहि णिद्दिट्ठं।।६१।।

चल, मलिन और अगाढ दोष को छोडकर सम्यक्त्वरूपी दृढकपाटों के द्वारा मिथ्यात्व रूपी आस्रव द्वार

का निरोध हो जाता है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

भावार्थ - चल, मलिन और अगाढ ये सम्यग्दर्शन के दोष हैं। इनका अभाव हो जाने पर सम्यग्दर्शन में दृढता आती है। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार आस्रव हैं। यहां मिथ्यात्व के निमित्त से होने वाले आस्रव को द्वार की तथा सम्यग्दर्शन को सुदृढ कपाट की उपमा दी गई है और उस उपमा के द्वारा कहा गया है कि सम्यग्दर्शन रूपी सुदृढ कपाटों से मिथ्यात्व के निमित्त से होने वाले आस्रव रूप द्वार का निरोध हो जाता है। आस्रव का रुक जाना ही संवर कहलाता है।। ६१।।

पंचमहव्वयमणसा अविरमणणिरोहणं हवे णियमा।
कोहादि आसवाणं दाराणि कसायरहियपल्लगेहिं।। ६२।।

पंचमहाव्रतों से युक्त मन से अविरति रूप आस्रव का निरोध नियम से हो जाता है और क्रोधादि कषायरूप आस्रवों के द्वार कषाय के अभावरूप फाटकों से रुक जाते हैं - बन्द हो जाते हैं।। ६२।।

सुहजोगस्स पवित्ती संवरणं कुणदि असुहजोगस्स।
सुहजोगस्स णिरोहो सुद्धुवजोगेण संभवदि।। ६३।।

शुभयोग की प्रवृत्ति, अशुभयोग का संवर करती है और शुद्धोपयोग के द्वारा शुभयोग का निरोध हो जाता है।। ६३।।

सुद्धुवजोगेण पुणो धम्मं सुक्कं च होदि जीवस्स।
तम्हा संवरहेदू झाणो त्ति विचिंतए णिच्चं।। ६४।।

शुद्धोपयोग से जीव के धर्मध्यान और शुक्लध्यान होते हैं इसलिये ध्यान संवर का कारण है ऐसा निरन्तर विचार करना चाहिये।। ६४।।

जीवस्स ण संवरणं परमट्ठणएण सुद्धभावादो।
संवरभावविमुक्कं अप्पाणं चिंतए णिच्चं।। ६५।।

परमार्थनय - निश्चयनय से जीव के संवर नहीं है क्योंकि वह शुद्धभाव से सहित है। अत एव आत्मा को सदा संवर भाव से रहित विचारना चाहिए।। ६५।।

बंधपदेसग्गलणं णिज्जरणं इदि जिणेहिं पण्णत्तं।
जेण हवे संवरणं तेण दु णिज्जरणमिदि जाण।। ६६।।

बंधे हुए कर्मप्रदेशों का गलना निर्जरा है ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है। जिस कारण से संवर होता है उसी कारण से निर्जरा होती है।। ६६।।

सा पुण दुविहा णेया सकालपक्का तवेण कयमाणा।
चदुगदियाणं पढमा वयजुत्ताणं हवे विदिया।। ६७।।

फिर वह निर्जरा दो प्रकार की जाननी चाहिये - एक अपना उदय काल आने पर कर्मों का स्वयं पककर झड जाना और दूसरी तप के द्वारा की जाने वाली। इनमें पहली निर्जरा तो चारों गतियों के जीवों के होती है और दूसरी निर्जरा व्रती जीवों के होती है।। ६७।।

धर्मानुप्रेक्षा

एयारसदसभेयं धम्मं सम्मत्तपुव्वयं भणियं।
सागारणगाराणं उत्तमसुहसंपजुत्तेहिं।। ६८।।

उत्तम सुख से सम्पन्न जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है कि गृहस्थों तथा मुनियों का वह धर्म क्रम से ग्यारह और दश भेदों से युक्त है तथा सम्यग्दर्शन पूर्वक होता है।

भावार्थ - आत्मा की निर्मल परिणति को धर्म कहते है। वह धर्म गृहस्थ और मुनि के भेद से दो प्रकार का होता है। गृहस्थधर्म के दर्शन प्रतिमा आदि ग्यारह भेद हैं और मुनिधर्म के उत्तमक्षमा आदि दश भेद हैं। इन दोनों प्रकार के धर्मों के पहले सम्यग्दर्शन का होना आवश्यक है उसके बिना धर्म का प्रारम्भ नहीं होता।। ६८।।

गृहस्थ के ग्यारह धर्म

दंसणवयसामाइयपोसहसच्चित्तरायभत्ते य।

बम्हारंभपरिग्गहअणुमणमुद्दिट्ठ देसविरदेदे।। ६९।।

दर्शन व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्तत्याग, रात्रिभक्तव्रत, ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग और उद्दिष्टत्याग ये ग्यारह देशविरत अर्थात गृहस्थधर्म के भेद हैं।। ६९।।

मुनिधर्म के दश भेद

उत्तमखममद्दवज्जवसच्चसउच्चं च संजमं चेव।

तवचागमकिंचण्हं बम्हा इदि दसविहं होदि।। ७०।।

उत्तमक्षमा, उत्तममार्दव, उत्तमआर्जव, उत्तमसत्य उत्तमशौच उत्तमसंयम, उत्तमतप, उत्तमत्याग उत्तमआकिंचन्य और उत्तमब्रह्मचर्य ये मुनिधर्म के दश भेद हैं।। ७०।।

उत्तमक्षमा का लक्षण

कोहुप्पत्तिस्स पुणो बहिरंगं जदि हवेदि सक्खादं।

ण कुणदि किंचि वि कोहो तस्स खमा होदि धम्मो त्ति।। ७१।।

यदि क्रोध की उत्पत्ति का साक्षात् बहिरंग कारण हो फिर भी जो कुछ भी क्रोध नही करता उसके क्षमा धर्म होता है।। ७१।।

मार्दवधर्म का लक्षण

कुलरूवजादिबुद्धिसु तवसुदसीलेसु गारवं किंचि।

जो ण वि कुव्वदि समणो मद्दवधम्मं हवे तस्स।। ७२।।

जो मुनि कुल, रूप, जाति, बुद्धि, तप, श्रुत तथा शील के विषय में कुछ भी गर्व नहीं करता, उसके मार्दव धर्म होता है।। ७२।।

आर्जवधर्म का लक्षण

मोत्तूण कुडिलभावं णिम्मलहिदएण चरदि जो समणो।

अज्जवधम्मं तइयो तस्स दु संभवदि णियमेण।। ७३।।

जो मुनि कुटिल भाव को छोडकर निर्मल हृदय से आचरण करता है उसके नियम से तीसरा आर्जव धर्म होता है।। ७३।।

सत्यधर्म का लक्षण

परसंतावयकारणवयणं मोत्तूण सपरहिदवयणं।

जो वददि भिक्खु तुरियो तस्स दु धम्मो हवे सच्चं।। ७४।।

दूसरों को संताप करने वाले वचन को छोडकर जो भिक्षु स्व-पर हितकारी वचन बोलता है उसके

चौथा सत्यधर्म होता है।। ७४।।

शौचधर्म का लक्षण

कंखाभावणिविर्ति किच्चा वेरग्गभावणाजुत्तो।
जो वट्टदि परममुणी तस्स दु धम्मो हवे सोच्चं।। ७५।।

जो उत्कृष्ट मुनि कांक्षाभाव से निवृत्ति कर वैराग्यभाव से युक्त रहता है, उसके शौचधर्म होता है।। ७५।।

संयमधर्म का लक्षण

वदसमिदिपालणाए दंडच्चाएण इंदियजएण।
परिणममाणस्स पुणो संजमधम्मो हवे णियमा।। ७६।।

मन, वचन, काय की प्रवृत्तिरूप दण्ड को त्यागकर तथा इन्द्रियों को जीतकर जो व्रत और समितियों के पालन रूप प्रवृत्ति करता है उसके नियम से संयमधर्म होता है।। ७६।।

उत्तम तप का लक्षण

विसयकसायविणिग्गहभावं काऊण झाणसज्झाए।
जो भावइ अप्पाणं तस्स तवं होदि णियमेण।। ७७।।

विषय और कषाय के विनिग्रह रूप भाव को करके जो ध्यान और स्वाध्याय के द्वारा आत्मा की भावना करता है उसके नियम से तप होता है।। ७७।।

त्यागधर्म का स्वरूप

णिव्वेगतियं भावइ मोहं चइऊण सव्वदव्वेसु।
जो तस्स हवे चागो इदि भणिदं जिणवरिंदेहिं।। ७८।।

जो समस्त द्रव्यों के विषय में मोह का त्याग कर तीन प्रकार के निर्वेद की भावना करता है उसके त्याग धर्म होता है, ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।। ७८।।

आकिंचन्य धर्म का लक्षण

होऊण य णिस्संगो णियभावं णिग्गहित्तु सुहदुहदं।
णिद्दंदेण दु वट्टदि अणयारो तस्स किंचण्हं।। ७९।।

जो मुनि नि संग - निष्परिग्रह होकर सुख और दु ख देने वाले अपने भावों का निग्रह करता हुआ निर्द्वन्द्व रहता है अर्थात् किसी इष्ट-अनिष्ट के विकल्प में नहीं पडता है उसके आकिंचन्य धर्म होता है।। ७९।।

ब्रह्मचर्य धर्म का लक्षण

सव्वंगं पेच्छंतो इत्थीणं तासु मुयदि दुब्भावं।
सो बम्हचेरभावं सक्कदि खलु दुद्धरं धरिदुं।। ८०।।

जो स्त्रियों के सब अंगो को देखता हुआ उनमें खोटे भाव को छोडता है अर्थात् किसी प्रकार के विकार भाव को प्राप्त नहीं होता वह निश्चय से अत्यन्त कठिन ब्रह्मचर्य धर्म को धारण करने के लिये समर्थ होता है।। ८०।।

सावयधम्मं चत्ता जदि धम्मे जो हु वट्टए जीवो।
सो णय वज्जदि मोक्खं धम्मं इदि चिंतए णिच्चं।। ८१।।

जो जीव श्रावक धर्म को छोडकर मुनिधर्म धारण करता है वह मोक्ष को नहीं छोडता है अर्थात् उसे मोक्ष की प्राप्ति अवश्य होती है इस प्रकार निरन्तर धर्म का चिन्तन करना चाहिये।

भावार्थ - गृहस्थ धर्म परम्परा से मोक्ष का कारण है और मुनिधर्म साक्षात् मोक्ष का कारण है इसलिये यहां गृहस्थ के धर्म को गौणकर मुनिधर्म की प्रभुता बतलाने के लिये कहा गया है कि जो गृहस्थ धर्म को छोडकर मुनिधर्म में प्रवृत्त होता है वह मोक्ष को नहीं छोडता अर्थात उसे मोक्ष अवश्य प्राप्त होता है।। ८१।।

णिच्छयणएण जीवो सागारणगारधम्मदो भिण्णो।

मज्झत्थभावणाए सुद्धप्पं चिंतए णिच्चं।। ८२।।

निश्चयनय से जीव गृहस्थ धर्म और मुनिधर्म से भिन्न है इसलिये दोनों धर्मों में मध्यस्थ भावना रखते हुए निरन्तर शुद्ध आत्मा का चिन्तन करना चाहिये।

भावार्थ - मोह और लोभ से रहित आत्मा की निर्मल परिणति को धर्म कहते हैं। गृहस्थ धर्म तथा मुनि धर्म उस निर्मल परिणति के प्रकट होने में सहायक होने से धर्म कहे जाते हैं, परमार्थ से धर्म नहीं है इसलिये दोनों में मध्यस्थभाव रखते हुए शुद्ध आत्मा के चिन्तन की ओर आचार्य ने यहा प्रेरणा दी है।। ८२।।

बोधिदुर्लभ भावना

उपज्जदि सण्णाणं जेण उवाएण तस्सुवायस्स।

चिंता हवेइ बोहो अच्चंतं दुल्लहं होदि।। ८३।।

जिस उपाय से सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होता है उस उपाय की चिन्ता बोधि है, यह बोधि अत्यन्त दुर्लभ है।

भावार्थ - सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को बोधि कहते हैं इसकी दुर्लभता का विचार करना सो बोधिदुर्लभभावना है।। ८३।।

कम्मुदयजपज्जायं हेयं खाओवसमियणाणं तु।

सगदव्वमुवादेयं णिच्छयत्ति होदि सण्णाणं।। ८४।।

कर्मोदय से होने वाली पर्याय होने के कारण क्षायोपशमिक ज्ञान हेय है और आत्मद्रव्य उपादेय है ऐसा निश्चय होना सम्यग्ज्ञान है।। ८४।।

मूलुत्तरपयडीओ मिच्छत्तादी असंखलोगपरिमाणा।

परदव्वं सगदव्वं अप्पा इदि णिच्छयणएण।। ८५।।

मिथ्यात्व को आदि लेकर असख्यात लोक प्रमाण जो कर्मों की मूल तथा उत्तर प्रकृतियां हैं वे परद्रव्य हैं और आत्मा स्वद्रव्य है ऐसा निश्चयनय से कहा जाता है।

भावार्थ - ज्ञायक स्वभाव से युक्त आत्मा स्वद्रव्य है और उसके साथ लगे हुए जो नोकर्म, द्रव्यकर्म तथा भावकर्म हैं वे सब परद्रव्य हैं ऐसा निश्चयनय से जानना चाहिये।। ८५।।

एवं जायदि णाणं हेयमुवादेय णिच्छये णत्थि।

चिंतिज्जइ मुणि बोहिं संसारविरमणट्ठे य।। ८६।।

इस प्रकार स्वद्रव्य और परद्रव्य का चिन्तन करने से हेय और उपादेय का ज्ञान होता है अर्थात् परद्रव्य हेय है और स्वद्रव्य उपादेय है। निश्चयनय में हेय और उपादेय का विकल्प नहीं है। मुनि को संसार का विराम करने के लिये बोधि का विचार करना चाहिये।। ८६।।

बारसअणुवेक्खाओ पच्चक्खाणं तहेव पडिक्कमणं।
आलोयणं समाहिं तम्हा भावेज्ज अणुवेक्खं।। ८७।।

ये बारह अनुप्रेक्षाएं ही प्रत्याख्यान प्रतिक्रमण, आलोचना और समाधि है इसलिये इन अनुप्रेक्षाओं की निरन्तर भावना करनी चाहिए।। ८७।।

रत्तिदिवं पडिकमणं पच्चक्खाणं समाहिं सामइयं।
आलोयणं पकुव्वदि जदि विज्जदि अप्पणो सत्ती।। ८८।।

यदि अपनी शक्ति है तो रात दिन प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, समाधि सामायिक और आलोचना करना चाहिये।। ८८।।

मोक्खगया जे पुरिसा अणाइकालेण बारसअणुवेक्खं।
परिभाविऊण सम्मं पणमामि पुणो पुणो तेसिं।। ८९।।

जो पुरुष अनादिकाल से बारह अनुप्रेक्षाओं का अच्छी तरह चिन्तन कर मोक्ष गये हैं मैं उन्हें बार-बार प्रणाम करता हूं।। ८९।।

किं पलविएण बहुणा, जे सिद्धा णरवरा गये काले।
सिज्झिहदि जेवि भविया तं जाणह तस्स माहप्पं।। ९०।।

बहुत कहने से क्या लाभ है ? भूतकाल में जो श्रेष्ठ पुरुष सिद्ध हुए हैं और जो भविष्यत् काल में सिद्ध होवेंगे उसे अनुप्रेक्षाओं का ही माहात्म्य जानो।। ९०।।

इदि णिच्छयववहारं जं भणियं कुंदकुंदमुणिणाहे।
जो भावइ सुद्धमणो सो पावइ परमणिव्वाणं।। ९१।।

इस प्रकार कुन्दकुन्द मुनिराज ने निश्चय और व्यवहार का आलम्बन लेकर जो कहा है शुद्ध हृदय होकर जो उसकी भावना करता है वह परम निर्वाण को प्राप्त होता है।। ९१।।

इस प्रकार कुन्दकुन्दाचार्यविरचित बारसणुवेक्खा - बारह अनुप्रेक्षा ग्रन्थ में बारह अनुप्रेक्षाओं का वर्णन समाप्त हुआ।

* *

भक्तिसंग्रह

थोस्सामि हं जिणवरे तित्थयरे केवली अणंतजिणे।
णरपवरलोयमहिए विहुयरयमले महप्पण्णे।। १।।

जो कर्मरूप शत्रुओं को जीतने वालों में श्रेष्ठ हैं, केवलज्ञान से युक्त हैं, अनन्तसंसार को जीतने वाले हैं, लोकश्रेष्ठ चक्रवर्ती आदि जिन की पूजा करते हैं, जिन्होंने ज्ञानावरण, दर्शनावरण नामक रजरूपी मल को दूर कर दिया है तथा जो महाप्राज्ञ - उत्कृष्ट ज्ञानवान् हैं ऐसे तीर्थंकरों की स्तुति करूंगा।। १।।

लोयस्सुज्जोययरे धम्मं तित्थंकरे जिणे वंदे।
अरहंते कित्तिस्से चउवीसं चेव केवलिणो।। २।।

मैं लोक को प्रकाशित करने वाले तथा धर्मरूपी तीर्थ के कर्ता जिनों को नमस्कार करता हूं। और अरहंत पद को प्राप्त केवलज्ञानी चौबीस तीर्थंकरों का कीर्तन करूंगा।। २।।

उसहमजियं च वंदे संभवमभिणंदणं च सुमइं च।
पउमप्पहं सुपासं जिणं च चंदप्पहं वंदे।। ३।।

मैं ऋषभ, अजित, संभव, अभिनन्दन और सुमति जिनेन्द्र की वन्दना करता हूं। इसी प्रकार पद्मप्रभ, सुपार्श्व और चन्द्रप्रभ भगवान् को नमस्कार करता हूं।। ३।।

सुविहिं च पुप्फयंतं सीयल सेयं च वासुपुज्जं च।
विमलमणंतं भयवं धम्मं संतिं च वंदामि।। ४।।

मैं सुविधि अथवा पुष्पदन्त, शीतल, श्रेयांस, वासुपूज्य, विमल, अनन्त, धर्म और शान्तिनाथ भगवान् को नमस्कार करता हूं।। ४।।

कुंथुं च जिणवरिंदं अरं च मल्लिं च सुव्वयं च णमिं।
वंदामि रिट्ठणेमिं तह पासं वड्ढमाणं च।। ५।।

मैं कुन्थु, अर, मल्लि, मुनिसुव्रत, नमि, अरिष्टनेमि, पार्श्व और वर्धमान जिनेन्द्र को नमस्कार करता हूं।। ५।।

एवं मए अभित्थुया विहुयरयमला पहीणजरमरणा।
चउवीसं पि जिणवरा तित्थयरा मे पसीयंतु।। ६।।

इस प्रकार मेरे द्वारा जिनकी स्तुति की गई है, जिन्होंने आवरणरूपी मल को नष्ट कर दिया है, जिनके जरा और मरण नष्ट हो गये हैं तथा जो जिनों में श्रेष्ठ हैं ऐसे चौबीस तीर्थंकर मेरे ऊपर प्रसन्न हों।। ६।।

कित्तिय वंदिय महिया एदे लोगोत्तमा जिणा सिद्धा।
आरोग्गणाणलाहं दिंतु समाहिं च मे बोहिं।। ७।।

जो मेरे द्वारा कीर्तित, वन्दित और पूजित हैं, लोक में उत्तम हैं तथा कृतकृत्य हैं ऐसे ये जिनेन्द्र - चौबीस भगवान् मेरे लिये आरोग्यलाभ, ज्ञानलाभ, समाधि और बोधि प्रदान करें।। ७।।

चंदेहिं णिम्मलयरा आइच्चेहिं अहिय पयासंता।
सायरमिव गंभीरा सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु।। ८।।

जो चन्द्रों से अधिक निर्मल हैं, सूर्यों से अधिक प्रभासमान हैं, समुद्र के समान गंभीर हैं तथा सिद्ध पद को प्राप्त हुए हैं ऐसे चौबीस जिनेन्द्र मेरे लिये सिद्धि प्रदान करें।। ८।।

अचंलिका

इच्छामि भंते ! चउवीसतित्थयरभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं, पंचमहाकल्लाणसंपण्णाणं अट्ठमहापाडिहेरसहियाणं चउतीसातिसयविसेससंजुत्ताणं बत्तीसदेविंदमणिमउडमत्थयमहिदाणं बलदेववासुदेव-चक्कहररिसिमुणिजइअणगारो व गूढाणं थुइसहस्सणिलयाणं उसहाइ वीरपच्छिम मंगलमहापुरिसाणं णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ती होउ मज्झं।।

हे भगवन् ! जो मैंने चौबीस तीर्थंकर भक्ति सम्बन्धी कायोत्सर्ग किया है उसकी आलोचना करना चाहता हूं। जो पाच महाकल्याणकों से सम्पन्न हैं, आठ महाप्रातिहार्यों से सहित हैं, चौंतीस अतिशय विशेषों से संयुक्त हैं, बत्तीस इन्द्रों के मणिमय मुकुटों से युक्त मस्तकों से जिनकी पूजा होती है, बलदेव, नारायण, चक्रवर्ती, ऋषि, मुनि, यति और अनगार इन चार प्रकार के मुनियों से जो परिवृत हैं तथा हजारों स्तुतियों के जो घर हैं ऐसे ऋषभादि महावीर पर्यन्त के मंगलमय महापुरुषों की मैं निरन्तर अर्चा करता हूं, पूजा करता हूं, वन्दना करता हूं, उन्हें नमस्कार करता हूं। उसके फल स्वरूप मेरे दुःखों का क्षय हो, कर्मों का क्षय हो, रत्नत्रय की प्राप्ति हो, सुगति में गमन हो, समाधिमरण हो और मुझे जिनेन्द्र भगवान् के गुणों की सम्प्राप्ति हो।।

*

२ सिद्धभक्ति

अट्ठविहकम्ममुक्के अट्ठगुणड्ढे अणोवमे सिद्धे।
अट्ठमपुढविणिविट्ठे णिट्ठियकज्जे य वंदिमो णिच्चं।। १।।

जो आठ प्रकार के कर्मों से मुक्त हैं, जो आठ गुणों से सम्पन्न हैं, अनुपम हैं, अष्टम पृथिवी में स्थित हैं, तथा अपने समस्त कार्य को जिन्होंने समाप्त किया है ऐसे सिद्धों को मैं नित्य नमस्कार करता हूं।। १।।

तित्थयरेदरसिद्धे जलथलआयासणिव्वुदे सिद्धे।
अंतयडेदरसिद्धे उक्कस्सजहण्णमज्झिमोगाहे।। २।।
उड्ढमहतिरियलोए छव्विहकाले य णिव्वुदे सिद्धे।
उवसग्गणिरुवसग्गे दीवोदहिणिव्वुदे य वंदामि।। ३।।

जो तीर्थंकर होकर सिद्ध हुए हैं, जो तीर्थंकर न होकर सिद्ध हुए हैं, जो जल से, स्थल से अथवा आकाश से निर्वाण को प्राप्त हुए हैं, जो अन्तकृत् होकर सिद्ध हुए, जो अन्तकृत न होकर सिद्ध हुए, जो उत्कृष्ट, जघन्य और मध्यम अवगाहना से सिद्ध हुए हैं, जो ऊर्ध्वलोक, अधोलोक अथवा तिर्यक्लोक से सिद्ध हुए हैं, जो छह प्रकार के कालों में निर्वाण को प्राप्त हुए हैं, जो उपसर्ग सहकर अथवा बिना उपसर्ग के सिद्ध हुए हैं तथा जो द्वीप

अथवा समुद्र से निर्वाण को प्राप्त हुए है ऐसे समस्त सिद्धों को मै नमस्कार करता हूं।। २-३।।

पच्छायडेय सिद्धे दुगतिगचदुणाण पंचचदुरजमे।

परिपडिदा परिपडिदे संजमसम्मत्तणाणमादीहिं।। ४।।

साहरणासाहरणे समुग्घादेदरे य णिव्वादे।

ठिदपलियंकणिसण्णो विगयमले परमणाणे वंदे।। ५।।

जिन्होंने [1]दो, [2]तीन अथवा [3]चार ज्ञानों के पश्चात् केवलज्ञान प्राप्त कर सिद्ध पद प्राप्त किया है, जिन्होंने पांचों अथवा परिहारविशुद्धि से रहित शेष चार संयमों से सिद्ध पद प्राप्त किया है, जो सयम, सम्यक्त्व तथा ज्ञान आदि के द्वारा पतित होकर अथवा बिना पतित हुए सिद्ध हुए हैं, जो संहरण से अथवा संहरण के बिना ही सिद्ध हुए हैं, अथवा उपसर्गवश साभरण अथवा निराभरण सिद्ध हुए, जो समुद्घात से अथवा समुद्घात के बिना ही निर्वाण को प्राप्त हुए, जो खड्गासन अथवा पल्यंकासन से बैठकर सिद्ध हुए है, जिन्होंने कर्ममल को नष्ट कर दिया है और जो परमज्ञान उत्कृष्ट केवलज्ञान को प्राप्त है ऐसे सिद्धों को नमस्कार करता हू।। ४-५।।

पुंवेदं वेदंता जे पुरिसा खवगसेढिमारूढा।

सेसोदयेण वि तहा झाणुवजुत्ता य ते हु सिज्झंति।। ६।।

जो पुरुष भावपुरुष वेद का अनुभव करते हुए क्षपक श्रेणि पर आरूढ हुए अथवा भावस्त्री अथवा भावनपुसक वेद के उदय से क्षपकश्रेणि पर आरूढ हुए वे शुक्लध्यान में तल्लीन होते हुए सिद्ध अवस्था को प्राप्त होते हैं।। ६।।

पत्तेयसयंबुद्धा बोहियबुद्धा य होंति ते सिद्धा।

पत्तेयं पत्तेयं समयं समयं पडिवदामि सदा।। ७।।

जो प्रत्येकबुद्ध, स्वयबुद्ध अथवा बोधितबुद्ध होकर सिद्ध होते हैं उन सबको पृथक्-पृथक् अथवा एक साथ मै सदा नमस्कार करता हूं।

भावार्थ - जो वैराग्य का कोई कारण देखकर विरक्त होते हैं वे प्रत्येकबुद्ध कहलाते हैं, जो किसी कारण को बिना देखे ही स्वयं विरक्त होते हैं वे स्वयंबुद्ध कहलाते हैं और भोगों में आसक्त रहने वाले जो मनुष्य दूसरे के द्वारा समझाये जाने पर विरक्त होते हैं वे बोधितबुद्ध कहलाते हैं।। ७।।

पण णव दु अट्ठवीसा चउतियणवदी य दोण्णि पंचेव।

बावण्णहीणवियसया पयडि विणासेण होंति ते सिद्धा।। ८।।

पांच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, तेरानवे, दो और पांच इस प्रकार क्रम से ज्ञानावरणादि कर्मों की बावन कम दो सौ अर्थात् एक सौ अडतालीस प्रकृतियों के क्षय से सिद्ध होते हैं।। ८।।

अइसयमव्वाबाहं सोक्खमणंतं अणोवमं परमं।

इंदियविसयातीदं अप्पत्तं अच्चवं च ते पत्ता।। ९।।

वे सिद्ध भगवान् अतिशय, अव्याबाध, अनन्त, अनुपम, उत्कृष्ट, इन्द्रिय विषयों से अतीत, अप्राप्त - जो पहले कभी प्राप्त नहीं हुआ तथा स्थायी सुख को प्राप्त हुए हैं।। ९।।

1 मतिज्ञान और श्रुतज्ञान। 2 मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान अथवा मति, श्रुत और मन पर्ययज्ञान। 3 मति, श्रुत, अवधि और मन.पर्ययज्ञान।

लोयग्गमत्थयत्था चरमसरीरेण ते हु किंचूणा।
गयसित्थमूसगब्भे जारिस आयार तारिसायारा।। १०।।

व सिद्ध भगवान् लोकाग्र के मस्तक पर विराजमान हैं, चरम शरीर से किंचित् न्यून हैं तथा जिसके भीतर का मोम गल गया है ऐसे सांचे के भीतरी भाग का जैसा आकार होता है वैसे आकार से युक्त हैं।। १०।।

जरमरणजम्मरहिया ते सिद्धा मम सुभत्तिजुत्तस्स।
दिंतु वरणाणलाहं बुहयण परियत्थणं परमसुद्धं।। ११।।

जरा, मरण, और जन्म से रहित वे सिद्ध भगवान् समीचीन भक्ति से युक्त मुझ कुन्दकुन्द को बुधजनों के द्वारा प्रार्थित तथा परम शुद्ध उत्कृष्ट ज्ञान का लाभ दें।। ११।।

किच्चा काउस्सग्गं चतुरट्ठयदोसविरहियं सुपरिसुद्धं।
अइभत्तिसंपउत्तो जो वंदइ लहु लहइ परमसुहं।। १२।।

जो बत्तीस दोषों से रहित, अत्यन्त शुद्ध कायोत्सर्ग करके अतिशय भक्ति से युक्त होता हुआ वन्दना करता है वह शीघ्र ही परमसुख को प्राप्त होता है।। १२।।

अंचलिका

इच्छामि भंते ! सिद्धि भत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं सम्मणाणसम्मदंसणसम्मचारित्तजुत्ताणं, अट्ठविहकम्मविप्पमुक्काण अट्ठगुणसंपण्णाण, उड्ढलोयमत्थयम्मि पयट्ठियाण, नवसिद्धाणं, संजमसिद्धाण, अतीताणागदवट्टमाणकालत्तयसिद्धाण, सव्वसिद्धाण, णिच्चकाल अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमण समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झ।

हे भगवन् ! मैंने जो सिद्ध भक्ति सम्बन्धी कायोत्सर्ग किया है उसकी आलोचना करना चाहता हू। जो सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र से युक्त है, आठ प्रकार के कर्मों से सर्वथा रहित है, आठ गुणों से सहित है, ऊर्ध्वलोक के अग्रभाग पर स्थित है, नय से सिद्ध है, संजम से सिद्ध है, अतीत, अनागत और वर्तमान काल सम्बन्धी सिद्ध है, ऐसे समस्त सिद्धो की मै नित्यकाल अर्चा करता हू, पूजा करता हू वन्दना करता हू, उन्हे नमस्कार करता हू, मेरे दुःखों का क्षय हो, कर्मों का क्षय हो, रत्नत्रय की प्राप्ति हो, सुगति में गमन हो, समाधिमरण हो और मुझे जिनेन्द्र भगवान् के गुणों की संप्राप्ति हो।

*

३ श्रुतभक्ति

सिद्धवरसासणाणं सिद्धाणं कम्मचक्कमुक्काणं।
काऊण णमुक्कारं भत्तीए णमामि अंगाइं।। १।।

जिनका उत्कृष्ट शासन लोक में प्रसिद्ध है तथा जो कर्मों के चक्र से युक्त हो चुके है ऐसे सिद्धों को नमस्कार कर मै भक्ति पूर्वक बारह अंगों को नमस्कार करता हू।। १।।

अंगों के नाम

आयारं सुद्दयणं ठाणं समवाय वियाहपण्णत्ती।
णादा धम्मकहाओ उवासयाणं च अज्झयणं।। २।।

वंदे अंतयडदयं अणुत्तरदसं च पण्हवायरणं।
एयारसमं च तहा विवायसुत्तं णमंसामि।। ३।।
परिकम्मसुत्तपढमाणुओगपुव्वगयचूलिया चेव।
पवरवरदिट्ठिवादं तं पंचविहं पणिवदामि।। ४।।
उप्पायपुव्वमग्गायणीय वीरियत्थि णत्थि य पवाद।
णाणासच्चपवादं आदा कम्मपवादं च।। ५।।
पच्चक्खाणं विज्जाणुवादकल्लाणणामवरपुव्व।
पाणावायं किरियाविसालमध लोयबिंदुसारसुदं।। ६।।

आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकाध्ययन, अन्त कृद्दश, अनुत्तरोपपाददश, प्रश्नव्याकरण तथा ग्यारहवें विपाकसूत्र अंग को नमस्कार करता हू।। २-३।।

परिकर्म, सूत्र प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका ये पांच दृष्टिवाद अंग के भेद है। मै उक्त पांच प्रकार के उत्कृष्ट दृष्टिवाद अंग को नमस्कार करता हूं।। ४।।

उत्पादपूर्व, अग्रायणीय, वीर्यप्रवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यान विद्यानुवाद कल्याणनामपूर्व, प्राणवाद, क्रियाविशाल और लोकबिन्दुसार ये चौदह पूर्व हैं।। ५-६।।

पूर्वो मे वस्तु नामक अधिकारों की संख्या

दस चउदस अट्ठट्ठारस बारस तह य दोसु पुव्वेसु।
सोलस वीसं तीसं दसमम्मि य पण्णरसवत्थू।। ७।।
एदेसिं पुव्वाणं जावदिओ वत्थुसंगहो भणिओ।
सेसाणं पुव्वाणं दस दस वत्थू पडिवदामि।। ८।।

पहले पूर्व में दश, दूसरे पूर्व मे चौदह, तीसरे पूर्व में आठ, चौथे पूर्व में अठारह, पांचवें और छठवें इन दो पूर्वों में बारह-बारह, सातवें पूर्व मे सोलह, आठवें पूर्व में बीस, नौवें पूर्व में तीस, दशवें पूर्व में पन्द्रह और शेष चार पूर्वों में दश-दश वस्तु नामक अधिकार है। इन पूर्वों मे जितने वस्तु अधिकारों का सग्रह कहा गया है मै उन सबको नमस्कार करता हूं।। ७-८।।

वस्तु में प्राभृतों की संख्या

एक्केक्कम्मि य वत्थू वीसं वीसं च पाहुडा भणिया।
विसमसमावि य वत्थू सव्वे पुण पाहुडेहि समा।। ९।।

एक-एक वस्तु नामक अधिकार में बीस-बीस पाहुड कहे गये है। वस्तु अधिकार तो विषय और सम दोनों प्रकार के है जैसे किसी में चौदह किसी में अठारह और किन्हीं में बारह-बारह आदि। परन्तु प्राभृतों की अपेक्षा सब वस्तु अधिकार समान हैं अर्थात् सब वस्तु अधिकारों में प्राभृतों की संख्या एक समान बीस-बीस है।। ९।।

चौदह पूर्वो में वस्तुओं और प्राभृतों की संख्या

पुव्वाणं वत्थुसयं पंचाणउदी हवंति वत्थूओ।
पाहुड तिण्णि सहस्सा णवयसया चउदसाणं पि।। १०।।

चौदह पूर्वों के एक सौ पंचानवे वस्तु अधिकार होते हैं पाहुड तीन हजार नौ सौ होते हैं।। १०।।

एव मए सुदपवरा भत्तीराएण सत्थुया तच्चा।
सिग्घं मे सुदलाहं जिणवर वसहा पयच्छंतु।। ११।।

इस प्रकार मैंने भक्ति के राग से द्वादशांग रूप श्रेष्ठ श्रुत का स्तवन किया। जिनवर वृषभदेव, मुझे शीघ्र ही श्रुत का लाभ देवें।। ११।।

अंचलिका

इच्छामि भंते ' सुदभत्ति काउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं, अगोवंगपइण्णए-पाहुड-परियम्म-सुत्त-पढमाणुओग-पुव्वगय-चूलिया चेव सुत्तत्थवथुइ धम्मकहाइय णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं।।

हे भगवन् ' मैंने जो श्रुतभक्ति सम्बन्धी कायोत्सर्ग किया है उसकी आलोचना करना चाहता हू। अंग, उपांग, प्रकीर्णक, प्राभृत, परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत, चूलिका तथा सूत्र, स्तव, स्तुति तथा धर्मकथा आदि की नित्यकाल अर्चा करता हू, पूजन करता हू, वन्दना करता हू, उन्हे नमस्कार करता हू। इसके फलस्वरूप मेरे दु खो का क्षय हो, कर्मों का क्षय हो, रत्नत्रय की प्राप्ति हो, सुगति मे गमन हो, समाधिमरण हो और मेरे लिये जिनेन्द्र भगवान् के गुणों की सप्राप्ति हो।

*

४ चारित्रभक्ति

तिलोए सव्वजीवाणं हिदं धम्मोवदेसिणं।
वड्ढमाणं महावीरं वंदित्ता सव्ववेदिणं।। १।।
घादिकम्मविघादत्थं घादिकम्मविणासिणा।
भासिय भव्वजीवाणं चारित्तं पंचभेददो।। २।।

तीनों लोकों मे समस्त जीवों का हित करने वाले, धर्मोपदेशक, सर्वज्ञ, वर्धमान महावीर को वन्दना करके चारित्र भक्ति कहता हू। घातिया कर्मों का विनाश करने वाले महावीर भगवान् ने घातिया कर्मों का विघात करने के लिये भव्य जीवों को पाच प्रकार का चारित्र कहा है।। १-२।।

पांच प्रकार का चारित्र

सामाइयं तु चारित्तं छेदोवट्ठावणं तहा।
तं परिहारविसुद्धिं च संजमं सुहुमं पुणो।। ३।।
जहाखादं तु चारित्तं तहाखादं तु तं पुणो।
किच्चाहं पंचहाचारं मंगलं मलसोहणं।। ४।।

सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात यह पांच प्रकार का चारित्र है। इनमे यथाख्यात को तथाख्यात भी कहते हैं। मैं मल का शोधन करने वाले और मंगल स्वरूप पाच प्रकार का चारित्र धारण कर मुक्ति सम्बन्धी सुख को प्राप्त करता हू।। ३-४।।

मुनियों के मूलगुण तथा उत्तरगुण

अहिंसादीणि उत्ताणि महव्वयाणि पंच य।
समिदीओ तदो पंच पंच इंदियणिग्गहो।। ५।।
छब्भेयावास भूसिज्जा अण्हाणत्तमचेलदा।
लोयत्तिं ठिदिभुत्तिं च अदंतधावणमेव च।। ६।।
एयभत्तेण संजुत्ता रिसिमूलगुणा तहा।
दसधम्मा तिगुत्तीओ सीलाणि सयलाणि य।। ७।।
सव्वेवि य परीसहा उत्तुत्तरगुणा तहा।
अण्णो वि भासिया संता तेसिं हाणि मए कया।। ८।।

अहिंसा आदि पांच महाव्रत कहे गये है, पांच समितियां, पांच इन्द्रियों का निग्रह, छह आवश्यक, भूमिशयन, अस्नान, अचेलकता - वस्त्ररहितपना, लोच करना, स्थितिभुक्ति - खडे खडे आहार लेना, अदन्तधावन और एकभक्त - एक बार भोजन करना ये मुनियों के मूलगुण कहे गये हैं। दश धर्म, तीन गुप्तियां, समस्त प्रकार के शील और सब प्रकार के परिषह से उत्तरगुण कहे गये है, इनके सिवाय और भी उत्तरगुण कहे गये हैं। यदि उनका पालन करते हुए मैंने उनकी हानि की तो -।। ५-८।।

जइ राएण दोसेण मोहेणाणादरेण वा।
वंदित्ता सव्वसिद्धाणं संजदा सा मुमुक्खुणा।। ९।।
संजदेण मए सम्मं सव्वसंजमभाविणा।
सव्वसंजमसिद्धीओ लब्भदे मुत्तिजं सुदं।। १०।।

यदि राग से, द्वेष से, मोह से अथवा अनादर से उक्त मूलगुणों अथवा उत्तरगुणों से जो हानि पहुंची हो तो सम्यक रीति से सम्पूर्ण संयम का पालन करने वाले मुझ सयमी मुमुक्षु को सब सिद्धों को नमस्कार कर उस हानि का परित्याग करना चाहिये, क्योंकि सकल सयम से मुक्ति सम्बन्धी सुख प्राप्त होता है।। ९-१०।।

अचलिका

इच्छामि भंते ' चारित्तभत्ति काउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं, सम्मणाणुज्जोयस्स, सम्मत्ताहिट्ठिस्स, सव्वपहाणस्स, णिव्वाणमग्गस्स, कम्मणिज्जरफलस्स, खमाहारस्स, पंचमहव्वयसंपुण्णस्स, तिगुत्तिगुत्तस्स, पंचसमिदिजुत्तस्स, णाणज्झाणसाहणस्स, समया इव पवेसयस्स, सम्मचारित्तस्स, णिच्चकालं अचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगयण, समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं।

हे भगवन् ' जो मैने चारित्रभक्ति सम्बन्धी कायोत्सर्ग किया है उसकी आलोचना करना चाहता हूं। जो सम्यग्ज्ञान उद्योत - प्रकाश से सहित है, सम्यग्दर्शन से अधिष्ठित युक्त है, सब में प्रधान है, मोक्ष का मार्ग है, कर्मनिर्जरा ही जिसका फल है, क्षमा ही जिसका आधार है, जो पांच महाव्रतों से परिपूर्ण है, तीन गुप्तियों से गुप्त - सुरक्षित है, पांच समितियों से सहित है, ज्ञान और ध्यान का साधन है तथा आगम आदि में प्रवेश कराने वाला है ऐसे सम्यक्चारित्र को मैं नित्य ही अर्चा करता हूं, पूजा करता हूं, वन्दना करता हूं, नमस्कार करता हूं। इसके फलस्वरूप मेरे दु खों का क्षय हो, कर्मों का क्षय हो, मुझे रत्नत्रय की प्राप्ति हो, सुगति में गमन हो, समाधिमरण हो और जिनेन्द्रभगवान् के गुणों की संप्राप्ति हो।

•

५ योगिभक्ति

थोस्सामि गुणधराणं अणयाराणं गुणेहि तच्चेहिं।
अंजलिमउलियहत्थो अभिवंदंतो सविभवेण।। १।।

अजलि द्वारा दोनों हाथों को मुकुलित कर अपनी सामर्थ्य के अनुसार वन्दना करता हुआ मैं गुणों के धारक अनगारों - योगियों - मुनियों की परमार्थभूत गुणों के द्वारा स्तुति करता हूं।। १।।

सम्मं चेव य भावे मिच्छाभावे तहेव बोद्धव्वा।
चइऊण मिच्छभावे सम्मम्मि उवट्ठिदे वंदे।। २।।

मुनि दो प्रकार के जानना चाहिये - एक समीचीन भावों से सम्पन्न - भावलिंगी और एक मिथ्याभाव से सम्पन्न - द्रव्यलिंगी। इनमें मिथ्याभाव वाले - द्रव्यलिंगियों को छोडकर समीचीन भाव वाले - भावलिंगी मुनियों को वन्दना करता हूं।। २।।

दोदोसविप्पमुक्के तिदंडविरदे तिसल्लपरिसुद्धे।
तिण्णियगारवरहिदे तियरणसुद्धे णमंसामि।। ३।।

जो राग और द्वेष - इन दो दोषों से रहित हैं, जो मन-वचन-काय की प्रवृत्ति रूप तीन दण्डों से विरत हैं, जो माया-मिथ्या-निदान इन तीन शल्यों से अत्यन्त शुद्ध अर्थात् रहित हैं, जो ऋद्धिगारव, रसगारव और सातगारव इन तीन गारवों से रहित हैं, तथा तीन करण - मन, वचन, काय की प्रवृत्ति से शुद्ध हैं उन मुनियों को मैं नमस्कार करता हूं।। ३।।

चउविहकसायमहणे चउगइसंसारगमणभयभीए।
पंचासवपडिविरदे पंचिंदियणिज्जिदे वंदे।। ४।।

जो चार प्रकार की कषायों का मनन करने वाले हैं, जो चतुर्गति रूप संसार के गमन रूप भय से भीत हैं, जो मिथ्यात्व आदि पांच पकार के आस्रव से विरत हैं और पंच इन्द्रियों को जिन्होंने जीत लिया है ऐसे मुनियों को मैं वन्दना करता हूं।। ४।।

छज्जीवदयापण्णे छडायदणविवज्जिदे समिदभावे।
सत्तभयविप्पमुक्के सत्ताणभयंकरे वंदे।। ५।।

जो छह काय के जीवों पर दयालु हैं, जो छह अनायतनों (कुगुरु, कुदेव, कुधर्म और इनके सेवकों) से रहित हैं, जो शान्त भावों को प्राप्त हैं, जो सात प्रकार (इहलोक, परलोक, अकस्मात्, वेदना, अत्राण, अगुप्ति और मरण) के भयों से मुक्त हैं तथा जो जीवों को अभय प्रदान करने वाले हैं ऐसे मुनियों को मैं नमस्कार करता हूं।। ५।।

णट्ठट्ठमयट्ठाणे पणट्ठकम्मट्ठणट्ठसंसारे।
परमट्ठणिट्ठियट्ठे अट्ठगुणड्ढीसरे वंदे।। ६।।

जिन्होंने ज्ञान, पुजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीर सम्बन्धी आठ मदों को नष्ट कर दिया है, जिन्होंने ज्ञानावरणादि आठ कर्मों को तथा संसार को नष्ट कर दिया है, परमार्थ - मोक्ष प्राप्त करना ही जिनका ध्येय है और जो अणिमा, महिमा आदि आठ गुणरूपी ऋद्धियों के स्वामी है उन मुनियों को मैं वन्दना करता हूं।। ६।।

णव बंभचेरगुत्ते णव णयसब्भावजाणवो वंदे।

दहविहधम्मट्ठाई दससंजमसंजदे वंदे।। ७।।

जो मन, वचन, काय और कृत, कारित और अनुमोदन के भेद से नौ प्रकार के ब्रह्मचर्य से सुरक्षित हैं तथा जो नौ प्रकार (द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दो तथा उनके नैगम, संग्रह आदि सात भेद इस तरह नौ) के नयों के सद्भाव को जानने वाले हैं ऐसे मुनियों को वन्दना करता हू। इसी प्रकार जो उत्तमक्षमा आदि दश प्रकार के धर्मों में स्थित हैं तथा जो दश प्रकार (एकेन्द्रियादि पाच प्रकार के जीवों की रक्षा करना तथा स्पर्शनादि पाच इन्द्रियों को वश करना इस तरह दश भेद वाले) संयम से सहित हैं उन मुनियों को मैं नमस्कार करता हूं।। ७।।

एयारसंगसुदसायरपारगे बारसंगसुदणिउणे।

बारसविहतवणिरदे तेरसकिरियादरे वंदे।। ८।।

जो ग्यारह अग रूपी श्रुतसागर के पारगामी हैं, जो बारह अंग रूप श्रुत में निपुण हैं, जो बारह प्रकार के तप में लीन हैं तथा जो तेरह प्रकार की क्रियाओं (पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्तियों) का आदर करने वाले हैं उन मुनियों को वन्दना करता हू।। ८।।

भूदेसु दयावण्णे चउदस चउदससु गंथपरिसुद्धे।

चउदसपुव्वपगब्भे चउदसमलवज्जिदे वंदे।। ९।।

जो एकेन्द्रियादि चौदह जीवसमास रूप जीवों पर दया को प्राप्त हैं, जो मिथ्यात्व आदि चौदह प्रकार के अन्तरंग परिग्रह से रहित होने के कारण अत्यन्त शुद्ध हैं, जो चौदह पूर्वों के पाठी हैं तथा जो चौदह मलों से रहित हैं ऐसे मुनियों को मैं नमस्कार करता हू।। ९।।

वंदे चउत्थभत्तादि जाव छम्मासखवणपडिवण्णे।

वंदे आदावंते सूरस्स य अहिमुहट्ठिदे सूरे।। १०।।

जो चतुर्थभक्त अर्थात् एक दिन के उपवास से लेकर छह मास तक के उपवास करते हैं उन मुनियों को मैं नमस्कार करता हू। जो दिन के आदि और अन्त में सूर्य के सन्मुख स्थित होकर तपस्या करते हैं तथा कर्मों का निर्मूलन करने में जो शूर हैं उन मुनियों को वन्दना करता हू।। १०।।

बहुविहपडिमट्ठायी णिसिज्जवीरासणेक्कवासी य।

अणिट्ठीवकंडुयवदे चत्तदेहे य वंदामि।। ११।।

जो अनेक प्रकार के प्रतिमा योगों से स्थित रहते हैं, जो निषद्या, वीरासन और एक पार्श्व आदि आसन धारण करते हैं, जो नहीं थूकने तथा नहीं खुजलाने का व्रत धारण करते हैं तथा शरीर से जिन्होंने ममत्वभाव छोड दिया है ऐसे मुनियों को मैं नमस्कार करता हूं।। ११।।

ठाणी मोणवदीए अब्भोवासी य रुक्खमूली य।

धुदकेसमंसुलोमे णिप्पडियम्मे य वंदामि।। १२।।

जो खडे होकर ध्यान करते हैं, मौन व्रत का पालन करते हैं, शीतकाल में आकाश के नीचे निवास करते है, वर्षा ऋतु में वृक्ष के मूल में निवास करते हैं, जो केश तथा डाडी और मूछ के बालों का लोच करते हैं तथा जो रोगादि के प्रतीकार से रहित हैं ऐसे मुनियों को मैं नमस्कार करता हूं।। १२।।

जल्लमल्ललित्तगत्ते वंदे कम्ममलकलुसपरिसुद्धे।

दीहणहमंसुलोमे तवसिरि भरिये णमंसामि।। १३।।

जल्ल (सर्वांगमल) और मल्ल (एक अंग का मल) से जिनका शरीर लिप्त है, जो कर्म रूपी मल से उत्पन्न होने वाली कलुषता से रहित हैं, जिनके नख तथा डाडी मूछों के बाल बढ़े हुए हैं और जो तप की लक्ष्मी से परिपूर्ण हैं उन मुनियों को मैं नमस्कार करता हूं।। १३।।

णाणोदयाहिसित्ते सीलगुणविहूसिदे तवसुगंधे।

ववगयरायसुदड्ढे सिवगइ पहणायगे वंदे।। १४।।

जो ज्ञानरूप जल से अभिषिक्त हैं, शीलरूपी गुणों से विभूषित हैं, तप से सुगन्धित हैं राग रहित हैं, श्रुत से सहित हैं और मोक्षगति के मार्ग के नायक हैं उन मुनियों को मैं वन्दना करता हूं।। १४।।

उग्गतवे दित्ततवे तत्ततवे महातवे य घोरतवे।

वंदामि तवमहंते तवसंजमइड्ढिसंजुत्ते।। १५।।

जो उग्रतप, दीप्ततप, तप्ततप, महातप और घोरतप को धारण करने वाले हैं, जो तप के कारण इन्द्रादि के द्वारा पूजित हैं तथा जो तप, सयम और ऋद्धियों से सहित हैं उन मुनियों को मैं नमस्कार करता हूं।। १५।।

आमोसहिए खेलोसहिए जल्लोसहिए तवसिद्धे।

विप्पोसहिए सव्वोसहिए वंदामि तिविहेण।। १६।।

जो आमौषधि, खेलौषधि, जल्लौषधि, विप्रष औषधि और सर्वौषधि के धारक हैं तथा तप से प्रसिद्ध अथवा कृतकृत्य हैं उन मुनियों को मैं नमस्कार करता हूं।। १६।।

अमयमहुखीरसप्पिसवीए अक्खीणमहाणसे वंदे।

मणबलिवचबलिकायबलिणो य वंदामि तिविहेण।। १७।।

अमृतस्रावी, मधुस्रावी, क्षीरस्रावी, सर्पि स्रावी, ऋद्धियों के धारक, अक्षीणमहानस ऋद्धि के धारक तथा मनोबल, वचनबल और कायबल ऋद्धि के धारक मुनियों को मैं तीन प्रकार से - मन, वचन, काय से नमस्कार करता हूं।। १७।।

वरकुट्ठबीयबुद्धी पदाणुसारी य भिण्णसोदारे।

उग्गहईहसमत्थे सुत्तत्थविसारदे वंदे।। १८।।

उत्कृष्ट कोष्ठबुद्धि, बीजबुद्धि, पदानुसारी और संभिन्नश्रोतृत्व ऋद्धि के धारक, अवग्रह और ईहा ज्ञान में समर्थ तथा सूत्र के अर्थ में निपुण मुनियों को मैं नमस्कार करता हूं।। १८।।

आभिणिबोहिय सुद ओहिणाणिमणणाणि सव्वणाणी य।

वंदे जगप्पदीवे पच्चक्खपरोक्खणाणी य।। १९।।

मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मन पर्ययज्ञानी और सर्वज्ञानी अर्थात् केवलज्ञानी इस तरह जगत् को प्रकाशित करने के लिये प्रदीप स्वरूप प्रत्यक्षज्ञानी और परोक्षज्ञानी मुनियों को मैं नमस्कार करता हूं।। १९।।

आयासतंतुजलसेढिचारणे जंघचारणे वंदे।

विउवणइड्ढिपहाणे विज्जाहरपण्णसवणे य।। 20।।

आकाश, तन्तु, जल तथा पर्वत की अटवी आदि का आलम्बन लेकर चलने वाले मुनियों को, जंघाचारण ऋद्धि के धारक, विक्रियाऋद्धि के धारक, विद्याधर मुनियों को और प्रज्ञाश्रमण ऋद्धि के धारक मुनियों को मैं नमस्कार करता हूं।। २०।।

गइचउरंगुलगमणे तहेव फलफुल्लचारणे वंदे।

अणुवमतवमहंते देवासुरवंदिदे वंदे।। २१।।

मार्ग में चार अंगुल ऊपर गमन करने वाले, फल और फूलों पर चलने वाले, अनुपम तप से पूजनीय तथा देव और असुरों के द्वारा वन्दित मुनियों को मैं नमस्कार करता हूं।। २१।।

जियभयउवसग्गे जियइंदियपरीसहे जियकसाए।

जियरायदोसमोहे जियसुहदुक्खे णमंसामि।। २२।।

जिन्होंने भय को जीत लिया है, उपसर्ग को जीत लिया है, इन्द्रियों को जीत लिया है, परीषहों को जीत लिया है, कषायों को जीत लिया है, राग, द्वेष और मोह को जीत लिया है तथा सुख और दु ख को जीत लिया है उन मुनियों को मैं नमस्कार करता हूं।। २२।।

एवं मए अभित्थुया अणयारा रागदोसपरिसुद्धा।

संघस्स वरसमाहिं मज्झवि दुक्खक्खयं विंतु।। २३।।

इस प्रकार मेरे द्वारा स्तुत, तथा रागद्वेष से विशुद्ध - रहित मुनि, संघ को उत्तमसमाधि प्रदान करें और मेरे भी दु खों का क्षय करें।। २३।।

अंचलिका

इच्छामि भंते ! योगिभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं अड्ढाइज्जदीवदोसमुद्देसु पण्णारस-कम्मभूमिसु आदावणरुक्खमूलअब्भोवासठाणमोणवीरासणेक्कपासकुक्कडासणचउत्थपक्खखवणादियोगजुत्ताण सव्व-साहूणं णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ति होऊ मज्झं।।

हे भगवन् ! मैंने योगिभक्ति सम्बन्धी कायोत्सर्ग किया है। उसकी आलोचना करना चाहता हूं। अढाई द्वीप, दो समुद्रों तथा पन्द्रह कर्मभूमियों में आतापनयोग, वृक्षमूलयोग, अभ्रावास (खुले आकाश के नीचे बैठना) योग, मौन, वीरासन, एकपार्श्व, कुक्कुटासन, उपवास तथा पक्षोपवास आदि योगों से युक्त समस्त साधुओं की नित्य ही अर्चा करता हूं, पूजा करता हूं, वन्दना करता हूं, नमस्कार करता हूं। उसके फलस्वरूप मेरे कर्मों का क्षय हो, रत्नत्रय की प्राप्ति हो, सुगति में गमन हो, समाधिमरण हो और जिनेन्द्र भगवान् के गुणों की संप्राप्ति हो।

•

६ आचार्यभक्ति

देसकुलजाइसुद्धा विसुद्धमणवयणकायसंजुत्ता।

तुम्हं पायपयोरुहमिह मंगलमत्थु मे णिच्चं।। १।।

देश, कुल और जाति से विशुद्ध तथा विशुद्ध मन, वचन, काय से संयुक्त हे आचार्य ! तुम्हारे चरणकमल मुझे इस लोक में नित्य ही मंगल रूप हों।। १।।

सगपरसमयविदण्हू आगमहेदूहिं चावि जाणित्ता।

सुसमत्था जिणवयणे विणये सत्ताणुरूवेण।। २।।

वे आचार्य स्वसमय और परसमय के जानकार होते हैं, आगम और हेतुओं के द्वारा पदार्थों को

जानकर जिनवचनों के कहने में समर्थ होते हैं और शक्ति अथवा प्राणियों के अनुसार विनय करने में समर्थ रहते हैं।।२।।

बालगुरुवुड्ढसेहे गिलाणथेरे य खमणसंजुत्ता।
वट्टावयगा अण्णे दुस्सीले चावि जाणित्ता।। ३।।

वे आचार्य, बालक, गुरु, वृद्ध, शैक्ष्य, रोगी और स्थविर मुनियों के विषय में क्षमा से सहित होते हैं तथा अन्य दु शील शिष्यों को जानकर सन्मार्ग में वर्ताते हैं - लगाते हैं।।३।।

वदसमिदिगुत्तिजुत्ता मुत्तिपहे ठावया पुणो अण्णे।
अज्झावयगुणणिलये साहुगुणेणावि संजुत्ता।। ४।।

वे आचार्य व्रत, समिति और गुप्ति से सहित होते हैं, अन्य जीवों को मुक्ति के मार्ग में लगाते हैं, उपाध्यायों के गुणों के स्थान होते हैं तथा साधु परमेष्ठी के गुणों से सयुक्त रहते हैं।।४।।

उत्तमखमाए पुढवी पसण्णभावेण अच्छजलसरिसा।
कम्मिंधणदहणादो अगणी वाऊ असंगादो।। ५।।

वे आचार्य उत्तमक्षमा से पृथिवी के समान हैं, निर्मलभावों से स्वच्छ जल के सदृश हैं, कर्म रूपी ईंधन के जलाने से अग्नि स्वरूप हैं तथा परिग्रह से रहित होने के कारण अग्निरूप हैं।।५।।

गयणमिव णिरुवलेवा अक्खोहा सायरुव्व मुणिवसहा।
एरिसगुणणिलयाणं पायं पणमामि सुद्धमणो।। ६।।

वे मुनिश्रेष्ठ - आचार्य, आकाश की तरह निर्लेप और सागर की तरह क्षोभरहित होते हैं। ऐसे गुणों के घर आचार्य परमेष्ठी के चरणों को मैं शुद्ध मन से नमस्कार करता हू।।६।।

संसारकाणणे पुण बंभममाणेहिं भव्वजीवेहिं।
णिव्वाणस्स हु मग्गो लद्धो तुम्हं पसाएण।। ७।।

हे आचार्य ' ससाररूपी अटवी में भ्रमण करने वाले भव्य जीवों ने आपके प्रसाद से निर्वाण का मार्ग प्राप्त किया है।।७।।

अविसुद्धलेस्सरहिया विसुद्धलेस्साहि परिणदा सुद्धा।
रुद्दट्ठे पुण चत्ता धम्मे सुक्के य संजुत्ता।। ८।।

वे आचार्य, अविशुद्ध अर्थात् कृष्ण, नील और कापोत लेश्या से रहित तथा विशुद्ध अर्थात् पीत, पद्म और शुक्ल लेश्याओं से युक्त होते हैं। रौद्र तथा आर्तध्यान के त्यागी और धर्म तथा शुक्लध्यान से सहित होते हैं।।८।।

उग्गहईहावायाधारणगुणसंपदेहिं संजुत्ता।
सुत्तत्थभावणाए भावियमाणेहिं वंदामि।। ९।।

वे आचार्य, आगम के अर्थ की भावना से भाव्यमान अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा नामक गुणरूपी संपदाओं से संयुक्त होते है, उन्हें मै नमस्कार करता हूं।।९।।

तुम्हं गुणगणसंथुदि अजाणमाणेण जो मया वुत्तो।
देउ मम बोहिलाहं गुरुभत्तिजुदत्थओ णिच्चं।। १०।।

हे आचार्य ! आपके गुण समूह की स्तुति को न जानते हुए मैंने जो बहुत भारी भक्ति से युक्त स्तवन कहा है वह मेरे लिये निरन्तर बोधिलाभ - रत्नत्रय की प्राप्ति प्रदान करे।। १०।।

अंचलिका

इच्छामि भंते ! आयरियभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं, सम्मणाणसम्मदंसणसम्मचारित्तजुत्ताणं पंचविहाचाराणं आयरियाणं, आयारादिसुदणाणोवदेसयाणं उवज्झायाणं, तिरयणगुणपालणरयाणं सव्वसाहूणं, णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोधिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं।

हे भगवन् ! मैंने आचार्यभक्ति सम्बन्धी कायोत्सर्ग किया है। उसकी आलोचना करना चाहता हूं। जो सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र से युक्त हैं, तथा पांच प्रकार के आचार का पालन करते हैं ऐसे आचार्यों की, आचारांग आदि श्रुतज्ञान का उपदेश देने वाले उपाध्यायों की और रत्नत्रय रूपी गुणों के पालन करने में लीन समस्त साधुओं की मैं निरन्तर अर्चा करता हूं, पूजा करता हूं, वन्दना करता हूं, नमस्कार करता हूं, उसके फलस्वरूप मेरे दु खों का क्षय हो, कर्मों का क्षय हो, रत्नत्रय की प्राप्ति हो, सुगति में गमन हो, समाधिमरण हो और मेरे लिये जिनेन्द्र भगवान् के गुणों की प्राप्ति हो।

*

७ निर्वाणभक्ति

अट्ठावयम्मि उसहो चंपाए वासुपुज्जजिणणाहो।
उज्जंते णेमिजिणो पावाए णिव्वुदो महावीरो।। १।।

अष्टापद (कैलासपर्वत) पर ऋषभनाथ चम्पापुर में वासुपूज्य जिनेन्द्र, ऊर्जयन्तगिरि (गिरनारपर्वत) पर नेमिनाथ और पावापुर में महावीर स्वामी निर्वाण को प्राप्त हुए हैं।। १।।

वीसं तु जिणवरिंदा अमरासुरवंदिदा धुदकिलेसा।
सम्मेदे गिरिसिहरे णिव्वाणगया णमो तेसिं।। २।।

जो देव और असुरों के द्वारा वन्दित हैं तथा जिन्होंने समस्त क्लेशों को नष्ट कर दिया है ऐसे बीस जिनेन्द्र सम्मेदाचल की शिखर पर निर्वाण को प्राप्त हुए हैं उन सबको नमस्कार हो।। २।।

सत्तेव य बलभद्दा जदुवणरिंदाण अट्ठकोडीओ।
गजपंथे गिरिसिहरे णिव्वाणगया णमो तेसिं।। ३।।

सात बलभद्र और आठ करोड यादव वशी राजा गजपन्थागिरि के शिखर पर निर्वाण को प्राप्त हुए हैं उन्हें नमस्कार हो।। ३।।

वरदत्तो य वरंगो सायरदत्तो य तारवरणयरे।
आहुट्ठयकोडीओ णिव्वाणगया णमो तेसिं।। ४।।

वरदत्त, वरांग, सागरदत्त और साढे तीन करोड मुनिराज तारवर नगर में निर्वाण को प्राप्त हुए हैं, उन्हें नमस्कार हो।। ४।।

णेमिसामी पज्जुण्णो संबुकुमारो तहेव अणिरुद्धो।
बाहत्तरकोडीओ उज्जंते सत्तसया सिद्धा।। ५।।

नेमिनाथ स्वामी, प्रद्युम्न, शम्बुकुमार, अनिरुद्ध और बहत्तर करोड सात सौ मुनि ऊर्जयन्त गिरि पर सिद्ध हुए हैं।।५।।

रामसुआ तिण्णि जणा लाडणरिंदाण पंचकोडीओ।
[1]पावागिरिवरसिहरे णिव्वाणगया णमो तेसिं।।६।।

रामचन्द्र के दो पुत्र, लाटदेश के पांच करोड राजा पावागिरि के शिखर पर निर्वाण को प्राप्त हुए, उन्हें नमस्कार हो।।६।।

पंडुसुआ तिण्णि जणा दविडणरिंदाण अट्ठकोडीओ।
सत्तुंजयगिरिसिहरे णिव्वाणगया णमो तेसिं।।७।।

पाण्डु के तीन पुत्र (युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन) और आठ करोड द्रविड राजा शत्रुंजयगिरि के शिखर पर निर्वाण को प्राप्त हुए, उन्हें नमस्कार हो।।७।।

[2]रामहणूसुग्गीवो गवयगवक्खो य णीलमहणीला।
णवणवदीकोडीओ तुंगीगिरिणिव्वुदे वंदे।।८।।

राम, हनूमान, सुग्रीव, गवय, गवाक्ष, नील, महानील तथा निन्यानवे करोड मुनिराज तुंगी पर्वत से निर्वाण को प्राप्त हुए, उन्हें वन्दना करता हूं।।८।।

[3]अंगाणंगकुमारा विक्खापंचद्धकोडिरिसिसहिया।
सुवण्णगिरिमत्थयत्थे णिव्वाणगया णमो तेसिं।।९।।

अंग और अनंग कुमार साढे पांच करोड प्रसिद्ध मुनियों के साथ सोनागिरि के शिखर से निर्वाण को प्राप्त हुए उन्हें नमस्कार हो।।९।।

दसमुहराअस्स सुआ कोडीपंचद्धमुणिवरे सहिया।
रेवाउहयतडग्गे णिव्वाणगया णमो तेसिं।।१०।।

दशमुख राजा अर्थात् रावण के पुत्र साढे पांच करोड मुनियों के साथ रेवा नदी के दोनों तटों से मोक्ष को प्राप्त हुए उन्हें नमस्कार हो।।१०।।

[4]रेवाणइए तीरे पच्छिमभायम्मि सिद्धवरकूडे।
दो चक्की दह कप्पे आहुट्ठयकोडि णिव्वुदे वंदे।।११।।

रेवा नदी के तीर पर पश्चिम भाग में स्थित सिद्धवरकूट पर दो चक्रवर्ती, दश कामदेव और साढे तीन करोड मुनिराज निर्वाण को प्राप्त हुए उन्हें नमस्कार करता हूं।।११।।

वडवाणीवरणयरे दक्खिणभायम्मि चूलगिरिसिहरे।
इंदजियकुंभकण्णो णिव्वाणगया णमो तेसिं।।१२।।

बडवानी नगर के दक्षिण भाग में स्थित चूलगिरि के शिखर पर इन्द्रजीत और कुम्भकर्ण निर्वाण को प्राप्त हुए उन्हें नमस्कार हो।।१२।।

---

1 पावाए गिरिसिहरे- इति क्रियाकलापे पाठ । 2 रामो सुग्गीव हणुओ इति पुस्तकान्तरे पाठ । 3 णंगाणगकुमारा कोडिपंचद्ध मुणिवरा सहिया। सुवण्णवरगिरिसिहरे णिव्वाणगया णमो तेसिं।।9।। इति पाठान्तरम्।

4 अन्यत्र पुस्तके त्वेव पाठ - रेवातडम्मि तीरे दक्खिणभायम्मि सिद्धवरकूडे।

पावागिरिवरसिहरे सुवण्णभद्दाइ मुणिवरा चउरो।
चेलणाणईतडग्गे णिव्वाणगया णमो तेसिं।। १३।।

चेलना नदी के तट पर स्थित पावागिरि के उत्कृष्ट शिखर सुवर्णभद्र आदि चार मुनिराज मोक्ष को प्राप्त हुए उन्हें नमस्कार हो।। १३।।

फलहोडीवरगामे पच्छिमभायम्मि दोणगिरिसिहरे।
गुरुदत्ताइमुणिंदा णिव्वाणगया णमो तेसिं।। १४।।

फलहोडी नामक उत्कृष्ट ग्राम के पश्चिम भाग में द्रोणगिरि के शिखर पर गुरुदत्त आदि मुनिराज निर्वाण को प्राप्त हुए। उन्हें नमस्कार हो।। १४।।

णायकुमारमुणींदो वालिमहावालि चेव अज्झेया।
अट्ठावयगिरिसिहरे णिव्वाणगया णमो तेसिं।। १५।।

नागकुमार, मुनिराज, वाली और महावाली कैलास पर्वत के शिखर पर निर्वाण को प्राप्त हुए, उन्हें नमस्कार हो।। १५।।

अच्चलपुरवरणयरे ईसाणभाए मेढगिरिसिहरे।
आहुट्ठयकोडीओ णिव्वाणगया णमो तेसिं।। १६।।

अचलपुर (एलिचपुर) नामक उत्कृष्ट नगर की ऐशान दिशा में मेढगिरि (मुक्तागिरि) के शिखर पर साढे तीन करोड मुनिराज मोक्ष को प्राप्त हुए, उन्हें नमस्कार हो।। १६।।

[1]वंसत्थलम्मि णयरे पच्छिमभायम्मि कुंथगिरिसिहरे।
कुलदेसभूसणमुणी णिव्वाणगया णमो तेसिं।। १७।।

वशस्थल नगर के पश्चिम भाग में स्थित कुन्थगिरि (कुन्थलगिरि) के शिखर पर कुलभूषण और देशभूषण मुनि निर्वाण को प्राप्त हुए, उन्हें नमस्कार हो।। १७।।

जसहररायस्स सुआ पंचसया कलिंगदेसम्मि।
कोडिसिला कोडीमुणी णिव्वाणगया णमो तेसिं।। १८।।

यशोधर राजा के पांच सौ पुत्र और एक करोड मुनि कलिंग देश में स्थित कोटिशिला से निर्वाण को प्राप्त हुए, उन्हें नमस्कार हो।। १८।।

[2]पासस्स समवसरणे गुरुदत्तवरदत्तपंचरिसिपमुहा।
रिस्सिंदीगिरिसिहरे णिव्वाणगया णमो तेसिं।। १९।।

भगवान् पार्श्वनाथ के समवसरण में गुरुदत्त, वरदत्त आदि प्रमुख पांच मुनिराज रेशन्दीगिरि के शिखर पर निर्वाण को प्राप्त हुए, उन्हें नमस्कार हो।। १९।।

जे जिणु जित्थु तत्था जे दु गया णिव्वुदिं परमं।
ते वंदामि य णिच्चं तियरणसुद्धो णमंसामि।। 20।।

आहुट्ठयकोडीओ णिव्वाणगया णमो तेसिं।। १।।
रेवातडम्मि तीरे संभवणाहस्स केवलुप्पत्ती।
आहुट्ठयकोडीओ णिव्वाणगया णमो तेसिं।। २।।

1 वंसत्थलवरणियडे इति पाठान्तरम्। 2 पासस्स समवसरणे सहिया वरदत्तमुणिवरा पंच इति पाठान्तरम्।

जो जिन जहां-जहा से परम निर्वाण को प्राप्त हुए है मै उनकी वन्दना करता हू तथा त्रिकरण - मन, वचन, काय से शुद्ध होकर उन्हें नमस्कार करता हूं।। २०।।

सेसाणं तु रिसीणं णिव्वाणं जम्मि जम्मि ठाणम्मि।
ते हं वंदे सव्वे दुक्खक्खयकारणट्ठाए।। २१।।

शेष मुनियों का निर्वाण जिस-जिस स्थान पर हुआ है दु खों का क्षय करने के लिये मैं उन सबको नमस्कार करता हू।। २१।।

अंचलिका

इच्छामि भंते ! परिणिव्वाणभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं, इमम्मि अवसप्पिणीए चउत्थसमयस्स पच्छिमे भाए आहुट्ठमासहीणे वासचउक्कमि सेसकम्मि, पावाए णयरीए कत्तियमासस्स किण्हचउद्दसिए रत्तीए सादीए णक्खत्ते पच्चूसे भयवदो महदिमहावीरो वड्ढमाणो सिद्धिं गदो, तिसुवि लोएसु भवणवासियवाणवितरजोयसियकप्पवासियत्ति चउव्विहा देवा सपरिवारा दिव्वेण गंधेण, दिव्वेण पुप्फेण, दिव्वेण धूवेण, दिव्वेण चुण्णेण, दिव्वेण वासेण, दिव्वेण ण्हाणेण, णिच्चकालं अच्चंति, पूजंति, वंदंति, णमंसंति, परिणिव्वाणमहाकल्लाणपुज्जं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमण, समाहिमरणं जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं।

हे भगवन् ' मैंने निर्वाणभक्ति सम्बन्धी कायोत्सर्ग किया है उसकी आलोचना करना चाहता हूं। इस अवसर्पिणी सम्बन्धी चतुर्थकाल के पिछले भाग में साढे तीन माह कम चार वर्ष शेष रहने पर पावानगरी में कार्तिकमास श्रीकृष्ण चतुर्दशी की रात्रि में स्वाति नक्षत्र के रहते हुए प्रभात काल में भगवान् महति, महावीर अथवा वर्धमान स्वामी निर्वाण को प्राप्त हुए। उसके उपलक्ष्य में तीनों लोकों में जो भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और कल्पवासी के भेद से चार प्रकार के देव रहते हैं वे सपरिवार दिव्यगन्ध, दिव्यपुष्प, दिव्यधूप, दिव्यचूर्ण, दिव्यसुगन्धित पदार्थ और दिव्यस्नान के द्वारा निरन्तर उनकी अर्चा करते हैं, पूजा करते है, वन्दना करते है, नमस्कार करते हैं और निर्वाण नामक महाकल्याण की पूजा करते है। मै भी यहा रहता हुआ वहां स्थित उन निर्वाण क्षेत्रों की नित्य काल अर्चा करता हूं, पूजा करता हूं, वन्दना करता हूं, नमस्कार करता हूं, इसके फलस्वरूप मेरे दु खों का क्षय हो, कर्मों का क्षय हो, रत्नत्रय की प्राप्ति हो, सुगति मे गमन हो, समाधिमरण हो और मुझे जिनेन्द्र भगवान् के गुणों की सप्राप्ति हो।।[1]

●

---

1 अतिशयक्षेत्र भक्ति के नाम पर २१ वीं गाथा के आगे निम्नाकित गाथाए प्रक्षिप्त हो गई है -

पास तह अहिणदण णायद्दहि मगलाउरे वंदे।
अस्सारम्मे पट्टणि मुणिसुव्वओ तहेव वदामि।। 1।।

नागह्रद मे पार्श्वनाथ, मंगलापुर मे अभिनन्दन और आशारम्य नगर मे मुनिसुव्रतनाथ की वन्दन करता हू।। 1।।

बाहूबलि तह वदमि पोदनपुर हत्थिनापुरे वंदे।
सती कुंथुव अरिहो वाराणसीए सुपास पास च।। 2।।

पोदनपुर मे बाहुबली, हस्तिनापुर मे शान्ति, कुन्थु और अरनाथ तथा वाराणसी मे सुपार्श्व और पार्श्वनाथ को वन्दना करता हू।। 2।।

महुराए अहिछित्ते वीरं पास तहेव वदामि।
जबुमुणिदो वंदे णिव्वुइ पत्तोसि जबुवणगहणे।। 3।।

मथुरा मे भगवान् महावीर, अहिच्छत्रनगर मे पार्श्वनाथ और जम्बूनामा सघन वन मे निर्वाण को प्राप्त हुए जम्बूस्वामी को नमस्कार करता हूं।। 3।।

८ नन्दीश्वरभक्ति

अंचलिका

इच्छामि भंते ! णंदीसरभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं, णंदीसरदीवम्मि चउदिसविदिसासु अंजणदधिमुहरदिपुरुणवावरेसु जाणि जिणचेइयाणि ताणि सव्वाणि तिसुवि लोएसु भवणवासियवाणविंतर-जोइसियकप्पवासियत्ति चउविहा देवा सपरिवारा दिव्वेहि गंधेहि, दिव्वेहि पुप्फेहि, दिव्वेहि धूवेहि, दिव्वेहि चुण्णेहि, दिव्वेहि वासेहि, दिव्वेहि ण्हाणेहि आसाढकत्तियफागुणमासाणं अट्ठमिमाइं काऊण जाव पुण्णिमंति णिच्चकालं अच्चंति, पूजंति, वदंति, णमसंति णंदीसरमहाकल्लाणं करंति, अहमवि, इह संतो तत्थ संताइं णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरण, जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं।

हे भगवन् ! मैंने नन्दीश्वर भक्ति सम्बन्धी कायोत्सर्ग किया है। उसकी आलोचना करना चाहता हूं। नन्दीश्वर द्वीप की चारों दिशाओं तथा विदिशों में अंजनगिरि, दधिमुख तथा रतिकर नामक विशाल श्रेष्ठ पर्वतों पर जो जिनप्रतिमाएं हैं उन सबको त्रिलोकवर्ती भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और कल्पवासी ये चार प्रकार के देव परिवार सहित, दिव्यगन्ध, दिव्यपुष्प, दिव्यधूप, दिव्यचूर्ण, दिव्यसुगन्धित पदार्थ और दिव्य अभिषेक के द्वारा आषाढ, कार्तिक और फागुन मास की अष्टमी से लेकर पूर्णिमा पर्यन्त नित्यकाल अर्चा करते हैं, पूजा करते हैं, वन्दना करते हैं, नमस्कार करते हैं तथा नन्दीश्वरद्वीप महान् उत्सव करते हैं। हम भी यहां स्थित रहते हुए, वहां स्थित रहने वाली उन प्रतिमाओं की नित्यकाल अर्चा करते हैं, पूजा करते हैं, वन्दना करते हैं, नमस्कार करते हैं। इसके फलस्वरूप हमारे दुःखों का क्षय हो, कर्मों का क्षय हो, रत्नत्रय की प्राप्ति हो, सुगति में गमन हो, समाधिमरण हो और जिनेन्द्र भगवान् के गुणों की संप्राप्ति हो।।

●

पंचकल्लाणठाणइं जाणिवि संजादमच्चलोयम्मि।
मणवयणकायसुद्धो सव्वे सिरसा णमंसामि।। 4।।
मनुष्य लोक में पंचकल्याणकों के जितने भी स्थान हैं मन, वचन, काय से शुद्ध होकर उन सबको शिर से नमस्कार करता हूं।। 4।।
अग्गलदेवं वंदमि वरणवरे णिवडकुंडली वंदे।
पासं सिरिपुरि वंदमि लोहागिरि संखदीवम्मि।। 5।।
वर नगर में अर्गलदेव को तथा निवडकुंडली (?) को वन्दना करता हूं। श्रीपुर, लोहागिरि और शंखद्वीप के पार्श्वनाथ को नमस्कार करता हूं।। 5।।
गोम्मटदेवं वंदमि पंचसयंधणुहदेहउच्चं तं।
देवा कुणंति वुट्ठी केसरकुसुमाण तस्स उवरिम्मि।। 6।।
जिनका शरीर पांच सौ धनुष ऊंचा है, ऐसे गोम्मट स्वामी को नमस्कार करता हूं। उनके ऊपर देव केशर और पुष्पों की वर्षा करते हैं।। 6।।
णिव्वाणठाण जाणि वि अइसयठाणाणि अइसये सहिया।
संजादमच्चलोए सव्वे सिरसा णमंसामि।। 7।।
मनुष्य लोक में जितने निर्वाणस्थान और अतिशयों से सहित अतिशय स्थान हैं मैं उन सबको शिर से नमस्कार करता हूं।। 7।।
जो जण पढइ तियालं णिव्वुइ कंडंपि भावसुद्धीए।
भुंजदि णरसुरसुक्खं पच्छा सो लहइ णिव्वाणं।। 8।।
जो मनुष्य भावशुद्धि पूर्वक तीनों काल में निर्वाणकाण्ड को पढता है वह मनुष्य और देवों के सुख को भोगता है और पश्चात् निर्वाण को प्राप्त होता है।। 8।।

९ शान्ति भक्ति

इच्छामि भंते ! संतिभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं, पंचमहाकल्लाणसंपण्णाणं, अट्ठमहा-पाडिहेरसहियाणं, चउतीसातिसयविसेससंजुत्ताणं, बत्तीसदेवेंदमणिमउडमत्थयमहियाणं बलदेववासुदेवचक्कहररिसि-मुणिजदिअणगारोवगूढाणं थुइसयसहस्सणिलयाणं, उसहाइवीरपच्छिममंगलमहापुरिसाणं णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं।

हे भगवन् ! मैंने शान्ति भक्ति सम्बन्धी कायोत्सर्ग किया है। उसकी आलोचना करना चाहता हूं। जो गर्भ, जन्मादि पांच महाकल्याणों से संपन्न हैं, आठ प्रातिहार्यों से सहित हैं, चौंतीस अतिशय विशेषों से संयुक्त हैं, बत्तीस इन्द्रों के मणिमयमुकुटों से युक्त मस्तकों से पूजित हैं, बलदेव, नारायण, चक्रवर्ती, ऋषि, मुनि, यति और अनगारों से परिवृत हैं और लाखों स्तुतियों के घर हैं ऐसे ऋषभादि महावीरान्त मंगलमय महापुरुषों की मैं नित्यकाल अर्चा करता हूं, पूजा करता हूं, वन्दना करता हूं, नमस्कार करता हूं, इसके फलस्वरूप मेरे दुःखों का क्षय हो, कर्मों का क्षय हो, रत्नत्रय की प्राप्ति हो, सुगति में गमन हो, समाधिमरण हो और जिनेन्द्र भगवान् के गुणों की संप्राप्ति हो।

●

१० समाधिभक्ति

इच्छामि भंते ! समाहिभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं, रयणत्तयपरूवपरमप्पज्झाण-लक्खणसमाहिभत्तीए णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं।

हे भगवन् ! मैंने समाधिभक्ति सम्बन्धी कायोत्सर्ग किया है। उसकी आलोचना करना चाहता हूं। रत्नत्रय के प्ररूपक परमात्मा के ध्यान रूप समाधि भक्ति के द्वारा मैं नित्यकाल अर्चा करता हूं, पूजा करता हूं, वन्दना करता हूं, नमस्कार करता हूं, उसके फलस्वरूप मेरे दुःखों का क्षय हो, कर्मों का क्षय हो, रत्नत्रय की प्राप्ति हो, सुगति में गमन हो, समाधिमरण हो और जिनेन्द्र भगवान् के गुणों की संप्राप्ति हो।

●

११ पंचगुरुभक्ति

मणुयणाइंदसुरधरियछत्तत्तया पंचकल्लाणसोक्खावलीपत्तया।
दंसणं णाणझाणं अणंतं बलं ते जिणा दिंतु अम्हं वरं मंगलं।। १।।

राजा, नागेन्द्र और सुरेन्द्र जिन पर तीन छत्र धारण कराते हैं तथा जो पंचकल्याणकों के सुखसमूह को प्राप्त हैं वे जिनेन्द्र हमारे लिये उत्कृष्ट मंगल स्वरूप अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तबल और उत्कृष्ट ध्यान को देवें।। १।।

जेहिं झाणग्गिवाणेहि अइथद्दयं जम्मजरमरणणयरत्तयं दड्ढयं।
जेहिं पत्तं सिवं सासयं ठाणयं ते महं दिंतु सिद्धा वरं णाणयं।। २।।

जिन्होंने ध्यान रूपी अग्नि बाणों से उत्पन्न मजबूत जन्म, जरा और मरण रूपी तीन नगरों को जला

डला तथा जिन्होंने शाश्वत मोक्षस्थान को प्राप्त कर लिया वे सिद्ध भगवान् मुझे उत्तमज्ञान प्रदान करें।। २।।

पंचमहाचारपंचग्गिसंसाहया वारसंगाइं सुअजलहि अवगाहया।

मोक्खलच्छी महंती महं ते सया सूरिणो दिंतु मोक्खं गयासं मया।। ३।।

जो पांच आचाररूपी पांच अग्निओं का साधन करते हैं, द्वादशांग रूपी समुद्र में अवगाहन करते हैं तथा जो आशाओं से रहित मोक्ष को प्राप्त हुए हैं ऐसे आचार्य परमेष्ठी मेरे लिये सदा महती मोक्षरूपी लक्ष्मी को प्रदान करें।। ३।।

घोरसंसारभीमाडवीकाणणे तिक्खवियरालणहपावपंचाणणे।

णट्ठमग्गाण जीवाण पहदेसिया वंदिमो ते उवज्झाय अम्हे सया।। ४।।

जिसमें तीक्ष्ण विकराल नख तथा पैर वाला पापरूपी सिंह निवास करता है ऐसे घोर संसार रूपी भयंकर वन में मार्ग भूले हुए जीवों को जो मार्ग दिखलाते हैं उन उपाध्याय परमेष्ठियों को मैं सदा वन्दना करता हूं।। ४।।

उग्गतवचरणकरणेहिं झीणंगया धम्मवरझाण सुक्केक्कझाणं गया।

णिब्भरं तवसिरीए समालिंगया साहणो ते महं मोक्खपहमग्गया।। ५।।

उग्र तपश्चरण करने से जिनका शरीर क्षीण हो गया है, जो उत्तम धर्मध्यान और शुक्लध्यान को प्राप्त हैं तथा तप रूपी लक्ष्मी के द्वारा जो अत्यन्त आलिंगित हैं वे साधु परमेष्ठी मुझे मोक्षमार्ग के दर्शक हों।। ५।।

एण थोत्तेण जो पंचगुरु वंदए, गरुयसंसारघणवेल्लि सो छिंदए।

लहइ सो सिद्धिसोक्खाइवरमाणणं कुणइ कम्मिंधणं पुंजपज्जालणं।। ६।।

जो इस स्तोत्र के द्वारा पंचगुरुओं - पंचपरमेष्ठियों की वन्दना करते हैं, वह अनन्त संसार रूपी सघन वेल को काट डालता है, उत्तमजनों के द्वारा मान्य मोक्ष के सुखों को प्राप्त होता है, तथा कर्मरूपी ईन्धन के समूह को जला डालता है।। ६।।

अरुहा सिद्धाइरिया उवज्झाया साहु पंचपरमेट्ठी।

एयाण णमुक्कारा भवे भवे मम सुहं दिंतु।। ७।।

अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पांच परमेष्ठी हैं। इनके लिये किये गये नमस्कार मुझे भव-भव में सुख देवें।। ७।।

अंचलिका

इच्छामि भंते ! पंचमहागुरुभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं, अट्ठमहापाडिहेरसंजुत्ताणं अरहंताणं, अट्ठगुणसंपण्णाणं उड्ढलोयमत्थयम्मि पइट्ठियाणं सिद्धाणं, अट्ठपवयणमाउसंजुत्ताणं आयरियाणं, आयारादिसुदणाणोवदेसयाणं उवज्झायाणं, तिरयणगुणपालणरयाणं सव्वसाहूणं, णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं।

हे भगवन ! मैंने पंचमहागुरु भक्ति सम्बन्धी कायोत्सर्ग किया है। उसकी आलोचना करना चाहता हूं। आठ महाप्रातिहार्यों से सहित अरहन्त, आठगुणों से सम्पन्न तथा ऊर्ध्वलोक के मस्तक पर स्थित सिद्ध, आठ प्रवचनमातृका से संयुक्त आचार्य, आचारांग आदि श्रुतज्ञान का उपदेश करने वाले उपाध्याय और रत्नत्रय रूपी गुणों के पालन करने में तत्पर सर्वसाधुओं की मैं नित्यकाल अर्चा करता हूं, पूजा करता हूं, वन्दना करता हूं और

नमस्कार करता हूं। इसके फलस्वरूप मेरे दुःखों का क्षय हो, कर्मों का क्षय हो, रत्नत्रय की प्राप्ति हो, सुगति में गमन हो, समाधिमरण हो और जिनेन्द्र भगवान् के गुणों की संप्राप्ति हो।

*

१२ चैत्यभक्ति

अंचलिका

इच्छामि भंते ! चेइयभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं अहलोय-तिरियलोय-उड्ढलोयम्मि किट्टिमाकिट्टिमाणि जाणि जिणचेइयाणि ताणि सव्वाणि तिसुवि लोएसु भवणवासियवाणविंतरजोइसियकप्पवासियत्ति चउविहा देवा सपरिवारा दिव्वेण गंधेण, दिव्वेण पुप्फेण, दिव्वेण धूवेण, दिव्वेण चुण्णेण, दिव्वेण वासेण, दिव्वेण ण्हाणेण णिच्चकाल अच्चंति, पुज्जंति, वंदंति, णमंसंति, अहमवि इह संतो तत्थ संताइं णिच्चकालं अंचेमि, पुज्जेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं समाहिमरणं जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं।

हे भगवन् ! मैंने चैत्यभक्ति सम्बन्धी कायोत्सर्ग किया है, उसकी आलोचना करना चाहता हूं। अधोलोक, मध्यलोक तथा ऊर्ध्वलोक में जो कृत्रिम व अकृत्रिम जिन प्रतिमाएं हैं उन सबको तीनों लोकों में निवास करने वाले भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और कल्पवासी इस तरह चार प्रकार के देव अपने परिवार सहित, दिव्यगन्ध, दिव्यपुष्प, दिव्यधूप, दिव्यसुगन्धित पदार्थ और दिव्य अभिषेक के द्वारा नित्यकाल अर्चा करते हैं, पूजा करते हैं, वन्दना करते हैं, नमस्कार करते हैं। मैं भी यहां रहता हुआ वहां रहने वाली प्रतिमाओं की नित्यकाल अर्चा करता हूं, पूजा करता हूं, वन्दना करता हूं, नमस्कार करता हूं। इसके फलस्वरूप मेरे दुःखों का क्षय हो, कर्मों का क्षय हो, रत्नत्रय की प्राप्ति हो, सुगति में गमन हो, समाधिमरण हो और जिनेन्द्र भगवान् के गुणों की प्राप्ति हो।।

***